श्रीमान् सेठ मुकन्दीलालजी
छेदीलालजी आगरा वाला
की तरफ से सप्रेम भेट

ॐ

भगवान महावीर का आदर्श जीवन

लेखक

प्रसिद्धवक्ता पं० मुनि श्रीचौथमलजी म०

प्रकाशक

श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति,

रतलाम

मूल्य सजिल्द २॥)

श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम

ॐ

भगवान महावीर
का
आदर्श-जीवन

लेखक-

सरल स्वभावी पण्डित मुनि श्री हीरालालजी

महाराज के सुशिष्य प्रसिद्ध वक्ता

पण्डित मुनि श्री चौथमलजी

महाराज

प्रकाशक-

श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति,

रतलाम.

प्रथमावृत्ति २०००	मूल्य ढाई रुपये	वीराब्द २४५८ विक्रम १९८९

प्रकाशकः-
मास्टर मिश्रीमल
मंत्री
श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति,
रतलाम.

मुद्रकः-
श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस,
रतलाम.

वन्दे वीरम्

श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम.

के

जन्म-दाता

श्रीमान् प्रसिद्ध वक्ता पण्डित मुनि श्री चौथमलजी महाराज

सदस्य-गण

स्तम्भ

श्रीमान् दानवीर राय बहादुर सेठ कुन्दनमलजी लालचंदजी ब्यावर

श्रीमान् सेठ नेमीचंदजी सरदारमलजी नागपुर
" " चुन्नीलालजी पुनमचन्दजी न्यायडोंगरी
" " तखतमलजी सौभागमलजी जावरा
श्रीमान् सेठ सरूपचन्दजी भागचन्दजी कलमसरा
" " बादरमलजी सूरजमलजी यादगिरी

संरक्षक

श्रीमान् सेठ उदयचन्दजी छोटमलजी उज्जैन
" " लालचन्दजी प्रेमलजी गुलेजगढ़
" " गणेशमलजी गुलाबचन्दजी जैना
श्रीमती अनारबाई लोहामण्डी आगरा
श्रीमती पिस्ताबाई लोहामण्डी आगरा
श्रीमान् सेठ रतनलालजी लोहामन्डी आगरा
" " वरधीचन्दजी सुगनचन्दजी धामक
" " श्रीमान् छोटेलालजी जेठमलजी कोठारी कनेरा (मेवाड़)
श्रीमती राजीबाई वरोरा सी० पी०

सहायक

श्रीमान् सेठ पूनमचन्दजी नारायणदासजी मनमाड़
" " सागरमलजी सुगालचन्दजी जलगांव
" " चान्दमलजी सूरजमलजी लासूर
" " जीतमलजी जीवनचन्दजी राजनांदगांव
" " बख्तावरमलजी रतनचन्दजी भड़गांव
" " बंशीलालजी गुलाबचन्दजी न्यायडोंगरी
" " लक्ष्मीचन्दजी फौजमलजी न्यायडोंगरी
" " चौथमलजी मुलतानमलजी सूरापुर
" " रायचन्दजी लालचन्दजी मनमाड़
" " नथमलजी रतनचन्दजी मनमाड़
" " सरूपचन्दजी भूरजी कोपरगांव
" " जीवराजजी मेघराजजी वाम्बोरी
" " इन्दरमलजी वच्छराजजी वाघली
" " लालचन्दजी हरखचन्दजी रोहिणी
श्रीमान् सेठ मोतीलालजी रामचन्दजी नसीराबाद
" " सरूपचन्दजी छगनीरामजी बेजापुर
" " तखतमलजी चुन्नीलालजी घोटीबाज़ार
" " रामलालजी सुखलालजी वरोरा
" " लक्ष्मीचन्दजी पुनमचन्दजी तम्बोला
" " चुन्नीलालजी भींवराजजी न्यायडोंगरी
" " उदयराजजी कालूरामजी ढाणकी
" " कचरदासजी हरखचन्दजी घोटीबाज़ार
" " शोभाचन्दजी दलिचन्दजी सिलेगांव
" " लादूरामजी मनोहरमलजी इगतपुरी
" " अमोलखचन्दजी रतनचन्दजी वाघली
" " पुनमचन्दजी हीराचन्दजी पीसर्वे
" " कस्तुरचन्दजी किशनदासजी आष्टी

मेम्बर

श्रीमान् सेठ बख्तावरमलजी वरदीचन्दजी ब्यावर
" " ताराचन्दजी बेचरदासजी वरणगांव
" " राजमलजी नन्दरामजी वरणगांव
श्रीमान् सेठ लालचन्दजी मोतीलालजी अंजनखेड़ा
" " चौथमलजी पुरणमलजी वेलदे
" " पन्नालालजी मोतीलालजी सिवनी

श्रीमान् सेठ सुखराजजी जेठमलजी दारवा
" " चुन्नीलालजी फूलचन्दजी इन्द्रठाणा
" " हेमराजजी जसराजजी वरोरा
" " चम्पालालजी लक्ष्मीचन्दजी वरोरा
" " जीवराजजी जसराजजी भांज (वरोरा)
" " ताराचन्दजी वरदीचन्दजी वाघली
" " पेमचन्दजी लखीचन्दजी केड़गांव
" " किशनदासजी वीरचन्दजी घाटसिरस
" " प्रेमराजजी पन्नालालजी अहमदनगर
" " गेनमलजी मेघराजजी अहमदनगर
" " मोहनलालजी अयदानजी सोलापुर
" " पंजी दौलतरामजी अहमदनगर
" " मन्नालालजी चान्दमलजी ताल
" " हंसराजजी पुनमचन्दजी बोरी
" " मोतीलालजी भिकनदासजी बारामती
" " रतनचन्दजी दौलतरामजी बारामती
" " जीवराजजी खुशालचन्दजी डौंड
" " रामचन्दजी किशनदासजी डौंड
" " श्यामलालजी हजारीमलजी आगरा
" " जसकरण भाइ गुदरभाई बम्बई
" " हीरालालजी वाडीलाल बम्बई
" " बंडूलालजी हरकचन्दजी नसीराबाद
" " रतनचन्दजी चन्दूलालजी न्यायडोंगरी
" " हीराचन्दजी गुलाबचन्दजी चालीसगांव
" " चान्दमलजी मुलतानमलजी मनमाड़
" " गुलाबचन्दजी कचरदासजी "
" " खेमराजजी राजमलजी "
" " किशनदासजी नंदरामजी येवला
" " कुन्दनमलजी भ्रमरमलजी घोड़नदी
" " दीपचन्दजी श्रेमलजी "
" " वर्द्धमान मण्डल हीवड़ा
" " दीपचन्दजी राजरूपजी उन्दरगांव
" " रूपचन्दजी कनकमलजी गंगापुर
" " ताराचन्दजी बालचन्दजी वर्गी
" " टीकमचंदजी उत्तमचंदजी पारसीवनी
" " अमृतलालजी सौभागमलजी "
" " मांगीलालजी मदनलालजी वरोरा
" " फूलचंदजी गणेशदासजी आष्टी
" " उमेदमलजी धनराजजी परभणी
" " नरसिंहदासजी दगडूलालजी हिंगोना

श्रीमान् सेठ डुंगरसिंहजी रतनचन्दजी किशनगढ़
" " पुरखचन्दजी हस्तीमलजी छुईखदान
" " रावतमलजी चोरड़िया वरोरा
" " छीतरमलजी गुलाबचन्दजी वरोरा
" " पीरोदानजी हीराचन्दजी वरोरा
" " चुन्नीलालजी मोतीलालजी खेड़गांव
" " हीरालालजी पृथ्वीराजजी केड़गांव
" " धनराजजी मगनमलजी गुलेदगढ़
" " राजमलजी चन्दनमलजी देहर
" " गणेशमलजी चनर सिवनी
" " पुनमचन्दजी मोहनलालजी हिंगनगांव
" " रावतमलजी मिश्रीमलजी सतारा
" " आसकरणजी रतनचन्दजी वैद्य मुंगेली
" " भागचन्दजी खुशालचन्दजी बारामती
" " उजमसी सोमचन्द भाई बारामती
" " बालारामजी सरूपचन्दजी वाघली
" " कालिदास भाईचन्द सतारा
" " अन्नराजजी अभयराजजी सिंधनूर
" " नाथूलालजी छगनलालजी मल्हारगढ़
" " चुन्नीलाल भाईचन्द बम्बई
" " रसिकलाल हीरालाल बम्बई
" " कपूरचन्दजी हंसराजजी न्यायडोंगरी
" " ऊंकारलालजी विट्ठलजी धार
" " पेमराजजी कन्हैयालालजी उम्बरखेड़ा
" " भीकचन्दजी केवलचन्दजी मनमाड़
" " छगनीरामजी पेमराजजी वर्गी
" " दीपचन्दजी नवलखा इन्दौर
" " सूरजमलजी किशनदासजी सयदापुर
" " नानचन्दजी भागचन्दजी घोड़नदी
" " नवलमलजी रतनचन्दजी म्हसा
" " किशनलालजी विरधीचन्दजी वर्गी
" " उत्तमचन्दजी श्रेमलजी रास्तापुर
" " चंपालालजी छगनलालजी सी. पु. मन्दसौर
" " दुल्हेसिंहजी खांपा
" " भीकमचंदजी लखमीचंदजी पारसीवनी
" " केशरीमलजी नथमलजी कामटी
" " मेघराजजी वसंतीलालजी कृष्णा
" " भुरजी रघुनाथजी लातुर
" " चुन्नीलालजी मोहनलालजी बाम्बोरी
" " लालचन्दजी पन्नालालजी सुराणा अहमदनगर

❀ ॐ ❀

मूल ग्रन्थ पर मिली हुई सम्मतियां

शास्त्रोद्धारक बाल ब्रह्मचारी श्रीमज्जैनाचार्य पूज्यवर श्री अमोलख ऋषिजी महाराज की सम्मति

श्रमण भगवान् महावीर वर्त्तमान कालीन जिन शासन-नायक हैं। उन का परम पावन चरित संसार के लिए-विशेषतः जैनों के लिए-अवश्य मेव पठनीय है। भगवान् के दिव्य चरित्र पर कई लेखकों ने प्रकाश डाला है किन्तु सुप्रसिद्ध वक्ता प्रभावक व्याख्यानी मुनिराज श्री चौथमलजी द्वारा लिखित इस महावीर की शैली अपूर्व है। भगवान् के चरित में से वर्त्तमान काल में जिन जिन बातों का अनुकरण किया जा सकता है, उन का अच्छा विवेचन किया गया है। हमारी सम्मति में यह शैली विशेष उपयोगी है। जैन और जैनेतर सभी को इस ग्रन्थ का संग्रह कर लाभ उठाना चाहिए।

ता० माघ वि० ८

शास्त्र-रहस्य-ज्ञाता शान्तस्वभावी श्रीमद् उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज की सम्मति

मैंने श्री महावीर चरित के उपयोगी विषयों को सुना व पढ़ा ग्रन्थ कर्त्ताने अपनी ओजस्वनी लेखनी द्वारा शास्त्रीय व ऐतिहासिक प्रमाणों से उन विषयों को स्फुट करके स्वकीय अनुपम प्रतिभा का परिचय दिया है। अद्यावधि पर्यन्त इस प्रकार से महावीर चरित की रचना किसी विद्वान् की लेखनी द्वारा प्रकट नहीं हुई थी। अतएव हिन्दी संसार को इस ग्रन्थ रत्न की अमूल्य प्राप्ति हुई है। इसलिए ग्रन्थ-कर्त्ता को धन्यवाद देते हुए, इस ग्रन्थ से शिक्षा धारण कर स्व आत्मा को गुणों से अलंकृत करना चाहिए।

ग्रन्थ कर्त्ताने प्रसंगवशात् उन घटनाओं का भी बड़ी विशाल (कुशाग्र) बुद्धि से संग्रह कर दिया है, जिन का संबंध वर्तमान्-लोक-स्थिति से है। अतः यह ग्रन्थ जैनेतर लोगों को भी लाभ-प्रद होगा। ऐतिहासिक तथा शास्त्रीय दृष्टि वाले व्यक्तियों के लिए इस ग्रन्थ में काफी सामग्री एकत्रित की गयी है। अतः हिन्दी साहित्य प्रेमियों के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ अवश्य स्वाध्याय करने योग्य है।

ग्रन्थ-कर्त्ता ने उक्त ग्रन्थ की रचना कर यह बतलादिया है कि भगवद्भक्ति, संघ और साहित्य सेवा में उन की कितनी अभिरुचि है। ग्रन्थ कर्त्ता हर प्रकार से धन्यवाद के पात्र हैं

सं० १६८६ श्रावण शुक्ल २ शुक्रवार



ॐ

कृतज्ञता प्रकाशन

धर्मानुरागी साहित्यज्ञ सुयोग्य लेखक प्रसिद्ध विद्वान श्रीमान् कन्नोमलजी साहब एम. ए. सेशन जज धौलपुर (स्टेट) ने इस पुस्तक की भूमिका लिखने में अपने अमूल्य समय को व्यय कर जिस अतुल प्रेम व धर्मानुरागता का परिचय दिया है। उस के लिये हम आप के अत्यन्त कृतज्ञ हैं। समय समय पर आपने और भी पुस्तकों में अपनी सुयोग्य लेखनी का सहयोग देकर जो अनुरागता दिखलाई है वह हमारे लिये चिरस्मर्णीय है और हृदय से आप को धन्यवाद देते हैं और आशा करते हैं कि आप अपनी सुयोग्य लेखनी का हर समय परिचय देते रहकर समाज को लाभ पहुंचावेंगे।

प्रकाशक

भूमिका

अरिहन्त— वे भव्य, दिव्य, पवित्र, विशुद्ध, महान् आत्माएं हैं जिन्हों ने अपने प्रगाढ़ कर्मबन्धनों का समूल नाश करदिया है, जिन्हों ने विषय विकारों पर विजय प्राप्त करली है, जिन्हों ने अपने आत्मिक योगबल और आध्यात्मिक उज्ज्वल प्रकाश से केवल ज्ञान केवलदर्शनादि गुणों पर अधिकार जमालिया है और जिनके विषय में यह श्लोक—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

पूर्ण चरितार्थ है। जो इसी मर्त्यशरीर में रहते हुये जीवनमुक्त अर्थात् ईश्वर हो-गये है, वे अज्ञानतिमिर उन्मूलक हैं। वे पापों के नाश करनेवाले हैं। वे पतितों के उद्धारक हैं। वे मलीनों के पवित्रकर हैं। वे अतिदुःखिया पीड़ितों के दुःखभञ्जक हैं। वे सर्वाङ्गाहिंसाके अवतार हैं। वे निस्वार्थ प्रेम की दिव्यमूर्तियां हैं। वे दयाके अगाध भाण्डार हैं। वे तप, त्याग, क्षमा, सदाचार, सदुपदेश, लोककल्याण, दिव्यविचार, एवं लौकिक और पारलौकिक सुखसम्पत्ति के अटूट स्रोत हैं ।

तीर्थङ्कर होना कोई साधारण बात नहीं। बच्चों का खेल नहीं है। वह तो एक सु-नियमित घटना है जो अगणित कालकल्पों से शनैः शनैः गुप्तरूपेण विकसित होती रहती है। अरिहन्तपदवी प्राप्त करने के लिये अनेक जन्मजन्मान्तरों में सहस्रों वरन् लाखों वर्षों से अतुल, अटूट, अविश्राम, धोर, कठिन, दृढ़संकल्प प्रयत्न किये जाते हैं। संचि-तपूर्वभवकल्मषावरोधों का उच्छेदन किया जाता है। आन्तरिक अन्धकारावरणों का विध्वंस कियाजाता है। कर्मोंकी उलझी ग्रन्थियों को सुलझाया जाता है। बार बार धक्का लगने और पराजय होने परभी निर्भीक बढ़ चलाजाना होता है। निर्भय, निर्द्वन्द्व, निष्कपट,निष्पाप कदम बढ़ाये जाना होता है जबतक कि वह अक्षय, अव्यय, अतुल अमूल्य आत्मिक शक्तिका अटूट खज़ाना न प्राप्त होजावे। जबतक उस अटल, अमृत, अमित, अचल, अदृष्ट, दिव्य ज्ञान की शिखर की अन्तिम सीढ़ी न चढ़ली जाय। यह कार्य सहल नहीं हैं। यह योजना कुसुमशय्यापर सोना नहीं है। यहतो कठिन भागीरथी योजना है । क्या आध्यात्मिक, नैतिक, मानसिक एवं शारीरिक गुप्त शक्तियों की जागृति करना और उनके द्वारा असीम ज्ञान और शक्ति की सिद्धियों को प्राप्त करना बालकों का खेल है ? भौतिकशरीर की वासनावृत्तियों का विध्वंस करना होता है, पूर्वसंस्कारजनित प्रकृतियों का परिवर्तन करना होता है तब कहीं तीर्थङ्कर बनने की योग्यता का आविर्भाव होता है। पहले अरिहन्तों के उपदेशों के अनुसार शुद्ध, सत्य, निर्मल आचरण करना--नैतिक साधनों का कठिन अभ्यास करना जिससे आदर्श चारित्र का प्रादुर्भाव होवे--पंचमहाव्रतों का अनन्तर और अटूट साधन करना, कठिन से कठिन व्रत उपवासों को रखना जिससे मन में दुष्ट

भावों का लवलेश न रहे, घोर शारीरिक तप करना, दान का अकुण्ठित वितरण करना, आचार्य और उपाध्यायों की अनन्यभक्ति करना, उनके पवित्र उपदेशों में अगाध श्रद्धा रखना, दिव्य आध्यात्मिक सत्यज्योति का अनुभव करना, प्राणीमात्र के उपकार की दृढनिष्ठा रखना, शनैः शनैः आत्मा के स्वाभाविक गुणों का निर्मल विकास करना: ये कुछ ऐसे साधन हैं जिनसे वह जन्म हो जिसका अन्त संसार के कर्म-बन्धनों से छुटकारा या तीर्थंकर पदवी की प्राप्ति का आत्यन्तिक फल है। जन्म से ही तीर्थङ्कर में आत्मिक गौरव होता है जो उस की बुद्धिजागृति यानि केवल ज्ञान प्राप्ति के समय हजारों गुना बढ जाता है। उस समय समस्त विश्व-स्वर्ग, भूलोक तथा अन्य सब लोक उसके सामने अपनी श्रद्धा, भक्ति, अपने सम्मान और प्रेम की भेट विविध प्रकार करता है। सूक्ष्मतः तीर्थङ्करों में ३४ अतिशय होते हैं, ३५ वाणी गुण होते हैं और १८ दोषों का अभाव होता है *

जैन धर्म में ऐसे २४ तीर्थङ्कर हुये हैं, जिनमें अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर हैं।

जो स्थान हिन्दूधर्म में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का है, बौद्ध धर्म में महात्मा बुद्ध का है, पारसी धर्म में महातेजस्वी जरथोस्त का है, ईसाई धर्म में त्यागमूर्ति ईसा का है, इस्लाम धर्म में महोजस्वी मोहम्मद साहब का है, वही वरन उससे भी उच्चतर स्थान जैनधर्म में तीर्थङ्कर महावीर का है।

यह वह वीर है जिनके अहिंसा धर्म की उच्चध्वनि भारतवर्ष में २५०० वर्षों से गूंज रही है। महात्मा बुद्ध का भी उच्च सिद्धान्त यही था पर बौद्ध धर्म के झंडे के नीचे आनेवाले इस श्रेष्ठ आदर्श को जीवित न रखसके और उन में अधिकांश मांसाहारी होगये। इस में कोई संदेह नहीं कि बौद्धधर्म ने अपना प्रभाव दुनिया की अधिकाँश जनसंख्या पर जमादिया और वह अब भी है: क्यों कि जब यह प्रश्न पूछा जाता है कि पृथिवी पर सब से अधिक जनसंख्या किस धर्म के लोगों की है तो उत्तर यही मिलता है कि बौद्ध धर्म वालों की। चीन, जापान, मंगोलिया, ब्रह्मा, श्याम, अनाम, कम्बोडिया, सीलोन आदि आदि देशों में बौद्धधर्मवालों का ही बोल बाला है, पर इस का महत्व इस समय न राष्ट्रीय दृष्टि से है और न धार्मिकदृष्टि से ही अधिक है। महात्मा बुद्धने अहिंसा और दया धर्म की उच्च आवाज उठाई थी पर उनदेशों के घोर मांसाहारियों पर उसका कुछभी प्रभाव न रहा। आज भी वे देश वैसे के वैसे ही मांसाहार लोलुप बने हैं। कहा जाता है कि उन देशों में किसी भी जीव जन्तु का मांस वर्जित नहीं है। इसके अतिरिक्त जिस अहिंसा धर्म का उपदेश भगवान् महावीर ने किया और जिस जिस पर उसका प्रभाव पड़ा उनमें कोई भी ऐसा नहीं है जो मांसाहारी हो। भगवान महावीर महात्मा बुद्ध के समकालीन थे। कुछ थोड़े ही बड़े थे पर तबसे अबतक जैन समाज, जिसकी संख्या इस समय १३ लाख है, अहिंसा धर्म पालन में मांसाहार का सर्वथा त्याग करती रही है। वह क्या सच्चाई ? क्या कार्य कुशलता ? क्या चतुराई ? क्या खूबी थी जिसके

* फुटनोट—३४ अतिशयादि के लिये पुस्तक के ७-८ पृष्ठों को देखो।

द्वारा भगवान् महावीर के उपदेश का विशेषतः ' अहिंसा परमो धर्मः ' सिद्धान्त का प्रभाव अबतक अक्षत, अक्षुण्ण एवं अटूट बना रहा है। जैन धर्म में कई शाखाएं हैं—दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानक वासी इत्यादि। पर इनमें कोई शाखा या उपशाखा ऐसी नहीं है, जो मांसाहारी हो और अहिंसाधर्म का कोरा ढकोसला दिखाती हो। इन सभी शाखा उपशाखाओं के नर--नारी, बाल--वृद्ध, बालक--बालिकाएं मांसाहार के कट्टरविरोधी हैं। यहांतक कि यदि भोजन करते समय कोई मांसका नाम लेदे तो वे भोजन छोड़ देते हैं।

मांसाहार का निषेध सभी धर्मों में है। वेदों में 'माहिंस्यात् सर्वभूतानि' मोटे अक्षरों में लिखाहै। मनुस्मृति में ' अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहः ' नियमों का उल्लेख है जो जैनधर्ममें पंचमहाव्रतों के नाम से प्रतिपादित हैं। भर्तृहरिजीने अपने वैराग्य शतकमें

प्राणाघातान्निवृत्तिः पर धन हरणे संयमः सत्य वाक्यं।
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजन कथामूकभावः परेषां॥
तृष्णास्रोतो विभंगो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा।
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहत विधिः श्रेयसामेष पंथा॥

का उज्ज्वल उपदेश कियाहै पर मांसाहार सुधार की नींव भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने ५००० वर्ष पहले डालीथी। उन्होंने अपने जीवन कालमें कभी मांसाहार नहीं किया। माखन मिश्री और सात्विक भोजन ही करते रहे और उसीका प्रचार किया। इसका प्रभाव यह है कि भारतवर्ष में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के लाखों मन्दिरों में केवल सात्विक भोजन का ही भोग लगता है। सभी प्रकार की वर्जित वस्तुओं का बहिष्कार है। यह होने पर भी यदि हिन्दू जाति से पूछा जाय कि उसमें कितने इस शुद्धाहार व्रतका पालन करने वाले हैं तो उत्तर यही होगा कि सिवाय वैश्यों और गौड़, नागर और सनाढ्य ब्राह्मणों के सभी हिन्दू भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी को मानते हुये भी अभी मांसाहार के चक्कर में हैं। क्या यह शोचनीय अवस्था नहीं है ? पर किया क्या जाय ' धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्। ' भगवान् महावीर में क्या शक्ति थी, उनके उपदेश में क्या जादू था और है, जैनधर्म में क्या गुप्त रहस्य है कि जिसने उनका उपदेश सुना, जो जैनधर्म की ध्वजा के नीचे आया, वही पक्का शाकपाताहारी होगया, हिंसा का कठोर विरोधी होगया। कोई न कोई बात अद्भुत अवश्य है, कोई गुप्त धार्मिक शक्ति जरूर है जो अपना जादू का काम करजाती है। दुनिया के बड़े से बड़े धर्मनेता, उपदेष्टा, नबी, पैगम्बर, मांसाहार की निन्दा करते करते थक गये, उसके त्याग का उपदेश करते करते हार गये, पर उनके अनुयायियों पर कुछभी असर न हुआ। एक इसी बात की तुलना से भगवान् महावीर और उनके धर्म का महत्व समझलें। यदि यह कहा जाय कि भगवान महावीर के सिद्धान्त मानने वालों की संख्या बहुत कम है सिर्फ १३ लाख हैं और बौद्धधर्म अथवा दूसरे धर्मवालों की संख्या करोड़ों की है तो उत्तर है कि संख्या की अधिकता किसी सिद्धान्त के महत्व की माप नहीं है। दुनिया में अधिकांश मनुष्य अपढ़, निरक्षर, असभ्य एवं

विचारहीन हैं। देशकी सभ्यता, संस्कृति, कलाकौशल और महिमा उसके अधिकांश मनुष्यों की गणना से नहीं है बल्कि उन थोड़े से सभ्य, विद्वान्, कला-कुशल, चारित्रवान् मनुष्यों से है जो उस देश के अधिकांश मनुष्यों के नेता और मार्ग प्रदर्शक हैं। महात्मा गांधी एक होने पर भी लाखों मनुष्यों से अधिक प्रभावशाली हैं। सचही कहा है "चन्दन की चुकटी भली, गाड़ी भरा न काठ"। इस नय से जैन समाज छोटी सी होने पर भी बड़ी महत्वशाली है। धर्मदृष्टि से जन संख्या का अधिक या न्यून होना कुछभी महत्व नहीं रखता है, रखता महत्व है धर्मोपदेश की सफलता का प्रभाव।

जैन धर्म की अहिंसा पर लोगों ने अनेक आक्षेप किये हैं। किसी ने उसे अव्यवहार्य कहा है। किसी ने उसे भारत की पराधीनता का कारण बताया है। किसी ने उसे कायरों और पोच मनुष्यों का धर्म कहा है;पर ये सब आक्षेप निरर्थक और भ्रम पूर्ण हैं। इन आक्षेपों का मुँह तोड़ उत्तर और जैन अहिंसा धर्म का महत्त्व इस पुस्तक के दूसरे खण्ड के पांचवें प्रकरण में है जो अवश्यमेव अवलोकनीय है।

स्मरण रहे कि जैन धर्म का प्रारम्भ और प्रचार तीर्थङ्कर महावीर से ही नहीं है, यह तो सब से पीछे के तीर्थङ्कर हैं। इनसे पहले २३ तीर्थङ्कर और हो चुके हैं। जिन में सब से प्रथम ऋषभदेवजी हैं। इनका विशद वर्णन हिन्दू पुराणों में भी मिलता है विशेषतः श्रीमद्भागवत पुराण में। इससे भली भाँति ज्ञात होगा कि जैनधर्म नवीन नहीं, अत्यन्त प्राचीन है। इसके मुकावले में बौद्धधर्म, पारसी, ईसाई, इस्लामादि धर्म आधुनिक हैं। पहले लोगों को भ्रम था कि जैनधर्म बौद्धधर्म की एक शाखा है पर अब यह भ्रम समूल नष्ट होगया है। इस समय पाश्चात्य अथवा प्राच्य विद्वानों में कोई ऐसा नहीं है जो इस बात को मानता हो। इस धर्म की प्राचीनता इस से भी स्पष्ट है कि इसके आद्य तीर्थङ्कर का समय हिन्दू शास्त्रों में भी अत्यन्त प्राचीन बताया गया है।

जैनधर्म के आलोचकों का मत है कि यह धर्म इतना कठिन और दुःसाध्य है कि इसका पालन साधुही कर सकते हैं। गृहस्थों के लिये तो इसके सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करना असम्भव है। यह कथन किसी सीमातक ठीक मालूम होता है, पर जैनधर्म में ही साधु और गृहस्थों के धर्म पृथक् पृथक् प्रतिपादित हैं। गृहस्थों के लिये कुछ रियायत रखी गई है और यह रियायत वाजिव है। यदि जैनधर्म के सिद्धान्तों पर मनुष्य पूर्णतया चले तो वह मनुष्य नहीं वरन् देवता कहलाया जासकता है। उसकी तो वह अवस्था होजावे जो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने श्रीमद्भगवद्गीता में दैवीसम्पद्वालों की बताई है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥

अर्थ—अभय, सात्विक शुद्धि, ज्ञान, योग में अवस्थान, दान, इन्द्रिय-दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोध न करना, त्याग, शान्ति, दूसरों का छिद्रान्वेषण न करना, सब प्राणियों पर दया रखना, लालच से दूर रहना, कोमल स्वभाव, लज्जा, व्यर्थ चंचलता नहीं दिखाना, तेज, क्षमा, धृति, पवित्रता, किसी से द्वेष न करना, घमण्ड न करना, हे भारत! ये दैवी सम्पद् में जन्म लेने वाले पुरुषों के चिन्ह हैं।

जैन धर्म का साहित्य बड़ा विस्तृत है। इसमें इतिहास, पुराण, जीवन चरित्र, दार्शनिक ग्रन्थ, काव्य, नाटक इत्यादि साहित्य के सभी अङ्ग हैं, पर खूबी यह है कि किसी ग्रन्थ में कहीं भी कोई बात ऐसी नहीं है जिसे पढ़ने में संकोच करना पड़े। अश्लीलता का नाम भी नहीं है। जैन साहित्य की कोई भी पुस्तक आप अपनी माता बहिन, पुत्री के सामने बेधड़क पढ़ सकते हैं। यह बात और किसी साहित्य के लिये नहीं कही जासकती है। वेदान्त तत्त्वज्ञान तक के ग्रन्थों में कहीं कहीं ऐसे अश्लील वर्णन हैं कि आपको चुप होना पड़ता है। जिन स्थलों में ऐसी बातें हैं उनका अनुवाद अंग्रेजोंने लेटिन भाषा में करदिया है जिस से सबकोई न पढ़ सके। देखिये, बृहदारण्यकोपनिषत् के कुछ स्थल ऐसे ही हैं इनका अनुवाद लेटिन में करादिया गया है। अवधूत गीता का अंग्रेजी अनुवाद करने में मुझे भी इसी प्रकार की आपत्ति हुई थी। अन्त में अक्षरशः अनुवाद छोड़ना पड़ा।

जैनसाधुओं में श्रीमान् परमादरणीय मुनि चौथमलजी महाराज एक नितान्त प्रभावशाली, ओजस्वी एवं लोकप्रिय धर्मोपदेशक और व्याख्यानदाता हैं। आप विद्या, आध्यात्मिक ज्ञान एवं आचारशास्त्र के प्रकाण्ड पंडित हैं। अपने सारगर्भित, विचारपूर्ण एवं धर्म मार्मिक व्याख्यानों से मनुष्यों को सन्मार्गपर लगाते हैं, और दुराचार व कुकर्मों से इन्हें घृणा कराते हैं। जहां जहां आप पधारते हैं और व्याख्यान देते हैं वहां वहां एक प्रकार की धूम मच जाती है और आप को जनता घेरे रहती है। आपके भाषण की खूबी यह है, कि श्रोता किसी भी धर्म का क्यों न हो, वह उस समय तो मुग्ध और चित्रलिखितसा हो जाता है। उसपर पूरा प्रभाव पड़जाता है। आप अन्य संकुचितविचार धर्मान्ध उपदेशकों के समान नहीं हैं। आप किसीभी धर्म, सम्प्रदाय, मत, पन्थ की निन्दा नहीं करते बल्कि जिस जिस में जैसा गुण हो उसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रहते। यही उनके लोकप्रिय होने का रहस्य है। जैनधर्म की व्याख्या करते हुये आप अन्य धर्मों के वाक्यों का प्रमाण भी देते हैं। इनही मुनिराज की ओजस्विनी लेखनी की लिखी 'भगवान् महावीर का आदर्श जीवन' नामक यह पुस्तक है, जिसकी भूमिका लिखने का सौभाग्य मुझे उन की कृपा से प्राप्त हुआ है। यह ग्रन्थ लगभग ६०० पृष्ठों का दो खण्डों में है। इस विपुल कलेवर ग्रन्थ में केवल भगवान् महावीर का आदर्श जीवन ही नहीं है बल्कि जैनधर्म

के उदयकाल से अब तक का धार्मिक इतिहास है। इस की भाषा ऐसी शुद्ध, सरल परिमार्जित एवं प्रसादगुणयुक्त है कि पढ़नेवाला उसके धाराप्रवाह में स्वयं बहाहुवा चला जाता है और उसके हृदयपटल पर उच्चभावों का अङ्कन होता जाता है। गूढ, गम्भीर, जटिल आध्यात्मिक प्रश्नों को सर्वसाधारण मनुष्यों के हृदयांगम करना सहल नहीं है। विरले लेखक ही ऐसे होते हैं जो तत्वज्ञान के जटिल प्रश्नों को सरलभाषा में लिखकर दूसरों को समझा सकें। उन्हें तो अपने निजी विचार और भावों को भी सम्यक् प्रकारेण प्रकट करना अति कठिन हो जाता है फिर प्राचीन ऋषि महर्षियों के गहन आध्यात्मिक विषयों को स्पष्टरूपेण सर्वसाधारण, मनुष्यों के मनोगत करना कितना कठिन है, पर यह अद्वितीय असाधारण एवं श्लाघनीय योग्यता ईश्वर ने आपको ही दी है जिसके द्वारा आप मनुष्य जातिका महान् उपकार करने को समर्थ हैं।

इस पुस्तक का प्रारम्भ कालचक्र के वर्णन से है। इस में अवसर्पिणी और उपसर्पिणी के भाग विभागों तथा तत्कालीन मनुष्य और वस्तुओं का बड़ा रोचक विवरण है। तत्पश्चात् तीर्थङ्कर शब्द का अर्थ, तीर्थङ्करों के लक्षण, १२ चक्रवर्ती और २७ वीरों का परिचय दिया है। आगे चलकर २३ तीर्थङ्करों का संक्षिप्त वर्णन है जो बड़ा रोचक है। आदितीर्थङ्कर ऋषभदेवजी का वर्णन विस्तृत रूप से है। उनके समय का इतिहास अवश्यमेव पठनीय है। सभी साहित्य सेवियों और इतिहासज्ञों को यह जानकर बड़ा आश्चर्य होगा कि उस नितान्त प्राचीन काल में ७२ कलाएं मनुष्यों के लिये और ६४ कलाएं स्त्रियों के लिये थीं। उस समय ३६ कौमें थीं, १८ प्रकार की लिपियां थीं, १४ प्रकार की लोकोत्तर विद्याएं थीं, और १४ प्रकार की लौकिक विद्याएं विद्यमान थीं। भगवान् महावीर के २६ पूर्वभवों का वर्णन करने में १४ रत्नों, ६ निधानों और तीर्थङ्करहोने के २० साधनों का भी विशद् परिचय दिया है जिसके पढ़ने और जानने से ज्ञानोन्नति होती है। योगी और मुमुक्षुओं के काम की चीज़ है।

इसके आगे भगवान् महावीर के जन्म और इनके जीवनकाल की घटनाओं की कथा है; पर इनके जन्म समय की धार्मिक परिस्थिति जिसके कारण इनके जन्म की आवश्यकता हुई, आलोचनीय है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के अवतार के ३००० वर्ष पीछे भारत की दशा अत्यन्त शोचनीय होगई थी। सच्चाधर्म संसार से उठ गया था। केवल पशुयज्ञ, बलिदान, कर्मकाण्डादि क्रियाओं का बोलवाला था। ज्ञान की कहीं चर्चा भी नहीं थी। छल, कपट, बाह्याडम्बर का रंग जम गया था। भोगविलास की पराकाष्ठा हो गई थी। कुकर्मों की धूम मची थी। हिंसाधर्म का राज्य फैलाहुआ था। अहिंसा विचारी को कोइ पूछता भी नहीं था। संयम, दया, धर्म, शुद्धाचरण आदि का तो ठिकाना ही क्या था। मनुष्य समाज दीन हीन दुःख दर्द पीड़ित हो गई थी। चहुँ ओर हाहाकार होरहा था। यह दशा किसी साधारण सुधार की पहुँच के बाहर थी। आवश्यकता थी—परमावश्यकता थी कि कोई महान शक्ति संसार में आकर मनुष्यजाति का उद्धार करे। ऐसी परिस्थिति में प्राचीन नियम के अनुसार भगवान् महावीर का जन्म हुआ।

भगवान् महावीर का जन्म करीब ईसवी सन् के ५९९ वर्ष पहले हुवा जिसे अब २५३२ वर्ष हुवे। महात्मा बुद्ध का जन्म भी लगभग इसी समय का है पर भगवान् महावीर महात्मा बुद्ध से कुछ बड़े थे। दोनों समकालीन थे। दोनों का कार्य क्षेत्र बड़ा विशाल और विस्तृत था। ये दोनों ही अद्वितीय, महत्त्वशाली, महात्यागी, परोपकारी एवं संसार कल्याणरूप थे। आज आधी एशिया बौद्धधर्म के झंडे के नीचे है पर भगवान् महावीर के अनुयायी परिमित संख्या के होने परभी आजतक अहिंसा धर्म के कट्टर पालक हैं। यह बात बौद्धधर्मवालों के लिये नहीं कही जा सकती है। भगवान् महावीर का जन्म लिच्छविवंश की राजधानी कुण्ड ग्राम में जैसा कि अभी कहा ईसासे ५९९ वर्ष पहले हुवा था। इनके पिताका नाम सिद्धार्थ था और माता का नाम त्रिशला था। जन्मतिथी चैत्रमास के शुक्लपक्ष की मंगलवारी त्रयोदशी थी। इनके भाई का नाम नन्दिवर्द्धन था बहिन का नाम सुदर्शना था और उन की स्त्री का नाम यशोदा था। विवाह के बाद इनके एक कन्या हुई जिसका नाम प्रियदर्शना धरागया। इन्होंने ३० वर्ष की आयु में दीक्षा ली, दीक्षा के पीछे १२ वर्ष छःमहीनों तक कठिन तपस्या करते रहे, तब इन्हें जृम्भक नामक गांव के बाहर ऋजुवालिका नदी के उत्तर तटपर एक शाल वृक्ष के नीचे दशमी की रात्रि में केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई इसके पीछे अनेक स्थानों में भ्रमण कर इन्होंने धर्मोपदेश किया और ७२ वर्ष की आयु में कार्तिक मासकी अमावस्या की रात्रि को इन्हें निर्वाणपद प्राप्त हुआ। इन्द्रभूति आदि ११ पंडितों के साथ इनका संवाद तत्वज्ञान दृष्टि से बड़े महत्व का है।

इस संवाद के पढ़ने से ऐसे जटिल प्रश्नों का, जो नीचे लिखे हैं, पूर्ण समाधान हो जाता है—

जीव क्या है? कर्म है या नहीं? शरीर और जीव का क्या सम्बन्ध है? पंचतत्व हैं या नहीं? क्या संसार केवल स्वप्नवत् है? जीव का पूर्व जन्म है या नहीं? देवता योनि है या नहीं? नारकी जीव हैं या नहीं? जीव को बन्ध, निर्जरा और मोक्ष हैं या नहीं? पुण्य पाप हैं या नहीं? मोक्ष है या नहीं? जगत् और जीव का क्या संबंध है?

किसी भी धर्म का मनुष्य क्यों न हो, इन प्रश्नों का उत्तर जानना उसके लिये नितान्त आवश्यक है। इनके उत्तर देनेमें ही तत्वज्ञान की पराकाष्ठा है। जितना स्पष्ट और संतोषदायक उत्तर है उतना ही उच्च वह धर्म है जिस के अनुसार उत्तर दिया गया है। यह कहना नहीं होगा कि इन प्रश्नों के उत्तर जैनधर्म ने तत्वज्ञान की उच्चभूमि से दिये हैं। दूसरे खण्डके दूसरे प्रकरण को इस संबन्ध में अवश्य पढ़ना चाहिये।

दूसरे खण्ड के नवें प्रकरण तक पुस्तक के ५१३ पृष्ठों में भगवान् महावीर का जीवन चरित्र समाप्त होगया है। इसके पीछे दसवें प्रकरण में भगवान् महावीर का तत्वज्ञान प्रतिपादित है। यह इन सुयोग्य लेखक का ही काम है कि ऐसे गम्भीर तत्वज्ञान को सूक्ष्मस्थान में सारभूतकर लिखदिया है। सागर को गागर में भरदिया

है। जो बातें बड़ी बड़ी पुस्तकों के पढ़ने से समझ में नहीं आतीं और अधूरी रह-जाती हैं, वे लेखक महाशय ने अपनी कुशाग्र बुद्धि, ओजस्विनी लेखनी और सर्व-बोध्य सरल भाषा द्वारा सूक्ष्म में ही सुपाठ्य करदी हैं। यदि एक स्थान पर कोई जैन तत्वज्ञान का परिचय करना चाहे तो उसके लिये यह प्रकरण नितान्त उपयोगी है। इस से बढ़कर उसे और कहीं इतनी सामग्री इतनी थोड़ी जगह में और ऐसी सरल भाषा में नहीं मिलेगी।

इस पुस्तक में एक अद्भुतता यह भी है कि सुयोग्य लेखक ने स्थल स्थल पर साम्प्रतिक विचारों की तुलना प्राचीन विचारों से की है जिससे इन विचारों का प्रभाव और भी अधिक पड़ता है। आप प्राचीन और नवीन विचारों से पूर्ण परिचित हैं, तभी तो आपने ऐसी विशद तुलनात्मक विवेचना की है। उदाहरणार्थ अछूत मीमांसा, गांधी सत्याग्रह जो अहिंसा धर्म पर अवलम्बित है, मातापिता की सेवादि आदि।

भगवान् महावीर के जीवन चरित और भी छपगये हैं पर इतना विस्तृत, विशद, रोचक, सर्वाङ्गपूर्ण एवं महत्त्वपूर्ण जीवन चरित्र अभीतक नहीं प्रकाशित हुआ है। यह अपने ढंग का पहला ही ग्रन्थ है और जैन या अजैन सभीके बड़े काम की चीज है। हम निःसंदेह कह सकते हैं कि ग्रन्थ इतने महत्व का है कि इसे सभी पुस्तकालयों में स्थान मिलना चाहिये। प्रत्येक जैनको वह चाहे दिगम्बर हो चाहे श्वेताम्बर हो इसे अपने घर में रखना चाहिये। सभी जैन विद्यालयों, पाठशालाओं, स्कूलों और गुरुकुलों के पाठ्यक्रम में इस पुस्तक का समावेश अत्यावश्यक है। ऐसी सुन्दर पारमार्थिक उपकारी एवं उपयोगी पुस्तक लिखने के लिये श्रीमान् मुनिराज के सभी साहित्यप्रेमी जैन या अजैन अत्याभारी हैं। यह हिन्दी साहित्य की एक अमूल्य वस्तु है। मुनिराज जी को हार्दिक बधाई है। किमधिकम्।

१७-४-१९३३ }

कन्नोमल (एम. ए.)

प्राक्कथन

पाठको ! जितने भी महा पुरुष जगत् में आज तक हुए हैं और आगे होंगे, सब के जीवन की प्रायः एक ही सी-दशा एक ही सी रूप-रेखा होती है । वे चराचर-मात्र के सच्चे सुहृद् होते हैं। दीनहीनों को गले से लगाने ही में, वे अपने मानव-जीवन की वास्तविक शोभा, उन के अपने धर्म की पराकाष्ठा और कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं। वे भूले-भटके संसारी जीवों के लिए प्रकाशस्तम्भ का काम देते हैं। वे त्याग के पदार्थ-पाठ होते हैं। वे अभागे जीवों के आधार और भूले हुओं के मार्ग-दर्शक होते हैं। प्रेम, भक्ति और उच्च भावों का श्रोत जगत् में उन्हीं के हृदयों की ओर से प्रवाहित होता है। वे सत्यवादी और सत्य के व्याख्याता होते हैं। कैसी ही कठोर कुत्सित भावनाएँ क्यों न हों, उन के सामने जाते ही उन का गला घुट जाता है। वे अपने तप के बल अपने-परायों के तापों के हरण करने वाले होते हैं। वे सद्गुणों के व्यापारी, पापियों की संजीवनी बूटी और भूमण्डल के भूषण होते हैं। और सब से परे, वे होते हैं अलौकिक साधनाओं के स्वामी। उन महापुरुषों को दुनियावी माया, ममता और अन्य कोई भी यहां का प्रलोभन कभी ख़रीद नहीं सकता। वे कष्टों को, धीरता, वीरता, गम्भीरता और प्रसन्नचित्तता से सहन करते हैं।

बस, इन्हीं सारे गुणों और उन के अपने आदर्श कार्यों से, जातीय और राष्ट्रीय, तथा धार्मिक और नैतिक, सभी प्रकार के जीवनों के ज़िम्मेदार पुरुष, उन की कथनी और करणी को, अपने अपने इच्छित मार्गों पर, किसी न किसी रूप से, संग्रहीत करके रखते हैं। जो आये दिनों, उन की जाति या राष्ट्र की भावी सन्तानों को, उन की अपनी प्रस्तुत कठिनाइयों के आम्भ्र महासागर से, सुलभता के साथ पार पाने में, एक अति ही जाज्वल्यमान और सजीव दीपस्तम्भ का काम दें।

इन करणी और कथनी के उन संपूर्ण संग्रहों में से भी सर्व-मान्य प्रायः वे ही संग्रह होते हैं, जिन की रूप-रेखा में नीचे की बातों का पूरा पूरा ध्यान रहता है—

(१) वे संग्रह सब से प्रथम तो उन के जीवन के पहले दिन से अन्तिम दिन की अन्तिम श्वास तक की करणी और कथनियों से भरे पूरे होने चाहिए।

(२) जिन पर किसी जाति विशेष का कोई खास ठप्पा न लगा हो। अर्थात् उन में उन्हीं सारी बातों का साँगोपांग संग्रह हो, जिन से किसी भी जाति या किसी भी अवस्था का पुरुष किसी भी काल और किसी भी स्थान में, एक-सा लाभ प्रायः उठा सके।

(३) तीसरे, उनके शत्रु या विरोधियों के द्वारा न तो किसी प्रकार के अकारण मिथ्या दूषणों ही का समावेश उनमें हो और न उन के मित्रों, प्रेमियों या अनुयायियों के द्वारा केवल उन की भली भली बातों का संग्रहमात्र ही उन में हो।

(४) चौथे, अन्ध श्रद्धालु भक्तों के द्वारा उन संग्रहों में केवल भावनाओं और कल्पनाओं ही का एक-मात्र संग्रह वहाँ न हुआ हो। क्यों कि भावना और कल्पनाओं के संग्रहों से जनता का कोई विशेष लाभ अधिक काल तक नहीं होता। कल्पनामय भावनामय राज्य के सुशासन की

नींव तभी तक पुख्ता रहती है जब तक कि मानव-हृदय सच्ची शिक्षा का अनुयायी नहीं बन पाता। सच्छिक्षा का प्रवेश वहां होते ही भावनाओं का सारा विशाल भवन बात की बात ही में ढह पड़ता है।

(५) फिर श्रद्धालु शिष्यों या अनुयायियों के द्वारा चरितनायक का जन्म असंभव घटनाओं से युक्त न बताया गया हो और न उन की मृत्यु भी विचित्र रूप से हुई वर्णन की गई हो।

हमारे प्रस्तुत ग्रन्थ के चरित-नायक भी ऐसे ही महा पुरुषों में से एक थे। यही नहीं उन्होंने अपने मनुष्य पद से उसी जीवनी में केवल-ज्ञान और सिद्धत्व को प्राप्त किया था। वे धर्म-उपदेष्टा थे। संसार के दुखियों ने उन्हें सुख के रूप में देखा था। पापियों ने उन्हें अपना तारक माना था। लोग उन्हें प्रभु मान कर ही उन से परे न रह गये; वरन् उन के पावन और सरलातिसरल सिद्धान्तों के साँचे में अपने जीवन को उन्होंने ढाला। वे सर्वज्ञ थे; खेदज्ञ थे; और थे वे अनन्त ज्ञानी और अनन्त दर्शी; तथा मोक्षपथ के बड़े ही बाँके पथी। उन्हों ने कितनी ही भव्य-आत्माओं को मोक्ष का राज--मार्ग दिखाया था। कितनों ही के भयंकर दुखड़े काटे थे। कितने ही मूक और निरपराध प्राणियों की रक्षा की थी। उन का मंगलमय नाम आज भी भवार्णव में टकराते हुए भूले भटके जीवों के लिए पोत-यान (जहाज़) बना हुआ है।

ऐसे भगवान् महावीर के एक चरित की जैन समाज में बड़ी ही भारी आवश्यकता का अनुभव हो रहा था। जिस के अभाव की पूर्ति की प्रार्थना जगत्-वल्लभ प्रसिद्धवक्ता मुनि श्री चौथमलजी महाराज से समय समय पर जैन तथा अजैन कई श्रीमानों तथा विद्वानों के द्वारा की गयीथी। अत एव मुनि श्री ने अपने आदर्श भावों में अपने तीन वर्षों के अथक परिश्रम से इसे खर्रों के रूप में लिख कर समाप्त किया। उन्हीं खर्रों के भाव और भाषा को इस ढाल में ढालने का अपनी शक्तिभर प्रयत्न मैंने किया है। भाषा भले ही भद्दी हो पर मुनि श्री के अनुभव-सने भाव इस ग्रन्थ की उपादेयता को जैन तथा जैनेतर सभी समाजों में अवश्यमेव सिद्ध कर के दिखाई देंगे ऐसा मेरा पूर्ण विश्वास है। मेरे द्वारा इस भार का वहन करने में मुनि श्री के सुशिष्य साहित्य प्रेमी पण्डित मुनि श्री प्यारचन्दजी महाराज का कृपा-भरा हाथ यदि न रहा होता तो मैं इसे पूरा कर सकता था, इस में पूरा पूरा संदेह था। अस्तु। मैं अपने हृदय के अन्तर्प्रदेश से उन के प्रति आभारप्रदर्शन करता हूँ।

इन्दौर (मालवा)
वीरजयंती
वीराब्द २४५६

विनयावनत—
अध्यापक रामकुमार काशीराम मालपाणी
'विशारद' एवं 'साहित्यालंकार

निवेदन

महोदयो !

भारत वर्ष में इस बीसवीं शताब्दी में अनगिनती पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं और दिनोंदिन अधिकाधिक संख्या में प्रकाशित होती जा रही हैं। किन्तु ऐसे सत्साहित्य की अब तक भी बड़ी भारी आवश्यकता है जिससे कि मानव-समाज अपने जीवन का उत्कर्ष कर सके। मानव-जीवन का अभ्युदय साधन करने के लिए महापुरुषों की जीवनियाँ सब से अधिक उपयोगी हैं क्योंकि वे अनुभूत नुसखे का काम देती हैं। ऐसे जीवन-चरित्रों का स्वाध्याय करके मनुष्य अपने जीवन को आदर्श बना सकता है। इसी उद्देश्य को सामने रख कर और अनेक महानुभावों की जिज्ञासा पूर्ण प्रेरणा से प्रेरित हो कर सुप्रसिद्ध वक्ता पंडित मुनि श्री चौथमलजी महाराज ने अनुग्रह करके इस ग्रंथ-रत्न का निर्माण किया है। जिसके लिए समाज आपका चिर आभारी रहेगा।

पण्डित मुनिश्री चौथमलजी महाराज ने संवत् १९८५ में, स्थविर पण्डित मुनिश्री नन्दलालजी महाराज तथा धैर्यवान् पण्डित मुनिश्री खूबचंदजी महाराज के दर्शन करते हुए बालब्रह्मचारी शास्त्र विशारद श्रीमज्जैनाचार्य पूज्यवर श्री मन्नालालजी महाराज की सेवा में चातुर्मास करके संवत् १९८६ में जलगांव में चातुर्मास किया। श्री महावीर चरित्र की मांग ने, वहां अपनी आवाज और भी बुलन्द तथा व्यापक रूप धारण किया। तब मुनि श्री ने महावीर-चरित का निर्माण करना आवश्यक समझा। श्रीमज्जैनाचार्य पूज्यवर अमोलक ऋषीजी महाराज स्व० पण्डित मुनिश्री देवीलालजी महाराज तथा उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज, आदि आदि विद्वानों से महावीर-चरित के संबंध में राय मंगाई गई। चारों ओर से अनुकूल सम्मतियां प्राप्त होनेपर मुनि श्री ने उसे लिखकर तैयार कर दिया।

संवत् १९८८ का चातुर्मास मनमाड श्रीसंघ के अत्याग्रह से मुनि श्री ने मनमाड में किया। श्रीमान् सेठ पूनमचन्दजी खेमराजजी ललवाणी आदि श्रीसंघ का धर्म प्रेम अतीव सराहनीय है। पर्यूषण पर्व के समय हजारों की संख्या में जनता मुनिश्री के दर्शनार्थ आई हुई थी उसका अत्यन्त हर्षभाव से आपने स्वागत किया। इसी अवसर पर मनमाड श्री संघ की ओर से आमन्त्रण मिलने पर "श्रीजैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति" रतलाम का द्वितीय अधिवेशन भी वहीं किया गया। उस समय उपस्थित श्रीमान् सेठ राजमलजी ललवाणी जामनेर, श्रीमान् सेठ सागरमल लूंकड़ जलगांव, श्रीमान् सेठ पनालालजी बम्ब भुसावल, श्रीमान् सेठ वृद्धिचंदजी मरलेचा मद्रास, श्रीमान् सेठ चुन्नीलालजी पुनमचंदजी न्यायडोंगरी श्रीमान् सेठ रामलालजी कीमती हैदराबाद, श्रीमान् सेठ रूपचंदजी संचेती बेजापुर, श्रीमान् सेठ सरूपचंदजी कलमसरा, श्रीमान् सेठ भागचन्दजी कलमसरा, श्रीमान् सेठ चुन्नीलालजी खेड़गांव, श्रीमान् सेठ सरूपचन्दजी लासूर, श्रीमान् सेठ तोलारामजी करजगांव, श्रीमान् सेठ सूरजमलजी मद्रास, श्रीमान् सेठ हंसराजजी नाशिक,

अनुपस्थित श्रीमान् सेठ सरदारमलजी नागपुर, श्रीमान् सेठ छोटुमलजी मूथा उज्जैन, श्रीमान् सेठ हीरालालजी थेका यादगिरी, श्रीमान् सेठ चुन्नीलालजी भाईचंद बम्बई, श्रीमान् लाला गोकुलचंदजी देहली, श्रीमान् पुखराजजी नाहर बम्बई, श्रीमान् सेठ मन्नालालजी कोठारी बम्बई, श्रीमान् सेठ पृथ्वीराजजी धुलिया, आदि

समस्त उपस्थित-अनुपस्थित महानुभावों ने 'महावीरचरित' के लिए आर्थिक व सत्परामर्ष संबंधी सहायता प्रदान करके संस्था के सुपुर्द कर दिया।

इस ग्रंथरत्न के प्रकाशन करने का सौभाग्य प्राप्त करके संस्था अपने को सौभाग्यशाली समझती है। प्रकाशन-कार्य कुछ शीघ्रता के साथ निष्पन्न हुआ है। इस संबंध में यह निवेदन करना उचित प्रतीत होता है कि असावधानी से अथवा खर्रों पर से लिखने में मुनिश्री की परिमित निरवद्य भाषा में कहीं कुछ भावविपर्यास हो गया हो—आशय बदल गया हो, तो विद्वान् पाठक उसकी सूचना देने की कृपा करें। अगली आवृत्ति में उसका यथोचित संशोधन करदिया जायगा।

हां, एक बात यहां स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है। वह यह कि प्रस्तुत चरित में व्यायाम का अंग उपयोगी समझकर दे दिया गया है। वह संस्था की ओर से है न कि मुनिश्री की ओर से। आशा है पाठक इस प्रकरण की उपयोगिता की ओर ध्यान देंगे। इति शम्।

सौभागमल महता
प्रेसीडेन्ट

मिश्रीमल मास्टर
मंत्री

श्रीजैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम (मालवा)

ग्रंथकार का संक्षिप्त परिचय

विश्व-वाटिका में अनन्त पुष्प खिलते हैं और खिलते रहेंगे। वे सब अपनी मधुर

प्रवेश— मुस्कान के साथ प्रकृति के अटल अचल नियम के अनुसार क्षण भर हँसकर, अपने गौरव पर इतराकर, अन्त में अतीत के अनन्त असीम गर्भ में सदा के लिए विलीन हो जाते हैं। जिस सौन्दर्य—समन्वित सुमन समूह से संसार में सौरभ नहीं भर जाता, जो निराश हृदयों में आशा एवं उत्साह का नशा नहीं चढ़ा देता, जो अपनी हृदय-हारिता से दूसरों के हृदय का हार नहीं बन जाता, जिसमें अपने असाधारण सद्गुणों से जगत् को मुग्ध करने की क्षमता नहीं होती, जिसकी निर्मलता दुनिया के मैल को नहीं धो डालती; आह! उस सुन्दर सुमन का भी जीवन कोई जीवन है! उसका जीवन अकारथ है, उसका सौन्दर्य किसी काम का नहीं, उसके असाधारण सद्गुणों से संसार को कुछ भी लाभ नहीं। हां, जो पुष्प अपने सौन्दर्य को, सुरभि को एवं अपने आपको दूसरों के लिए न्योछावर कर देता है, उसी का जीवन कृतकृत्य हो जाता है; यों तो विश्व-वाटिका में अनन्त पुष्प खिलते हैं और खिलते रहेंगे।

जो बात 'सुमन' के संबंध में कही गई है वही मानव के संबंध में कही जा सकती है। मनुष्य का जीवन-कुसुम विकसित हुआ, उसमें सुन्दरता का आविर्भाव हुआ-सुन्दर सद्गुणों का विकास हुआ, जगत् को पावन बना देने की क्षमता प्रगट हुई, पर यदि इन सब का उपयोग संसार के हित-सम्पादन में न किया गया तो सब व्यर्थ! सब का सब निकम्मा! जो पुरुष-पुङ्गव अपने जीवन को संसार के सुधार के हेतु समर्पण कर देता है उसी का जीवन सार्थक हो जाता है; इस प्रकार जो बात सुमन के संबंध में कही गई है वही मानव के संबंध में कही जा सकती है।

यहां जिस नर—रत्न के जीवन की साधारण रूप—रेखा अंकित करने का प्रयास किया जा रहा है उनका ऐसा ही जीवन है। वह जीवन, जगत् में नवजीवन लाने वाला है, प्राणियों में प्रेरणा के नूतन प्राण फूंकने वाला है, प्रभु महावीर के लोकोत्तर सिद्धान्तों के क्रियात्मक रूप की प्रति मूर्त्ति है।

इस ग्रंथ के निर्माता प्रसिद्ध वक्ता पं० मुनिश्री चौथमलजी महाराज का विस्तृत जीवन—चरित्र "आदर्श मुनि" के नाम से प्रकाशित हो चुका है। जिन्होंने उसे न पढ़ा हो ऐसे पाठकों के लाभार्थ संक्षेप में यहां जीवन की मुख्य—मुख्य बातें दी जा रही हैं। आशा है पाठक इसे पसन्द करेंगे।

मुनिराज का जन्म कार्त्तिक शुक्ला त्रयोदशी, रविवार विक्रम संवत् १९३४ को

जन्म और शिक्षा नीमच (मालवा) में हुआ था। मुनि श्री के पिता का नाम श्री गंगारामजी और माता का नाम श्री केशरां बाई था। आपका बचपन माता—पिता की वात्सल्यमय गोद में बड़े लाड़-प्यार के साथ व्यतीत हुआ। यथासमय आप ग्रामीण पाठशाला में अध्ययनार्थ प्रविष्ट हुए और

वहां गणित हिन्दी, उर्दू और कुछ अंग्रेजी भाषा का अध्ययन किया।

युवावस्था और दीक्षाग्रहण

महा पुरुष यकायक नहीं बनते वरन् वे जन्म से ही कुछ विशेषताएँ लेकर उत्पन्न होते हैं। इस प्राकृतिक नियम के अनुसार चरित—नायक में भी बाल्यावस्था से कुछ विशेषताएँ थीं। धर्म की ओर बचपन से ही आपकी विशेष अभिरुचि थी। एक बार आपकी माता ने जब आपसे दीक्षाग्रहण करने की भावना प्रकट की तो आप बड़े प्रसन्न हुए और साथ ही आपने स्वयं भी दीक्षा ग्रहण करने का विचार प्रकट कर दिया। आपको दिक्षा लेने में अनेकानेक उग्र से उग्र विघ्न उपस्थित हुए फिर भी आपने अपनी दृढ़ता से उनपर विजय प्राप्त की और यद्यपि विवाह हुए दो ही वर्ष हुए थे फिर भी आपने वैराग्यपूर्वक संवत् १६५२ में शास्त्रविशारद जैनाचार्य पूज्य श्री मन्नालालजी महाराज के सम्प्रदाय के श्रीहीरालालजी महाराज से दीक्षा धारण करली।

प्रचार

सं० १६५२ से लेकर थोड़े ही दिनों में आपने न केवल जैन समाज का वरन् सर्व साधारण का जो उपकार किया है उसका वर्णन इस जगह नहीं किया जा सकता। यह कथन जरा भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि अर्वाचीन जैन इतिहास में मुनिश्री चौथमलजी महाराज का धर्म प्रचारक के रूप में बहुत ही उच्चासन है। आपने इस ध्येय में असाधारण प्रयास किया है और असाधारण ही सफलता भी आपको प्राप्त हुई है।

अन्य धर्म प्रचारकों की अपेक्षा आपकी प्रचार शैली भी कुछ विशेषता रखती है। धनी-निर्धन, राजा-रंक, उच्चजातीय, हीनजातीय, इत्यादि सब प्रकार की जनता में आपने प्रचार किया है। बड़े-बड़े राणा, महाराणा, राजा, महाराजा, सेठ साहूकार एक ओर महाराजश्री के परमपूत प्रवचन के पीयूष का पान करके अपने-आपको धन्य करते हैं तो दूसरी ओर आप समाज के घृणापात्र समझे जाने वाले, जातिमद के कारण ठुकराए हुए व्यक्तियों को भूल नहीं जाते। आप जैन मुनि के योग्य साम्य को धारण करके चमारों, खटीकों और वेश्याओं तक को अपना पवित्र संदेश सुनाते हैं और उन पतित जीवों को एक और धक्का न देकर उन्हें ऊंचा उठाते हैं और उनमें नैतिक तथा धार्मिक भावनाओं को भरते है।

आपको राजा-महाराजाओं की ओर से दर्जनों सनदें हिंसा-बन्दी आदि के लिए प्राप्तहुई हैं। उच्चपदस्थ यूरोपियन टेलर साहब जैसे लोग भी महाराज की अमृतवाणी सुनकर प्रसन्न होते हैं शिकार का आंशिक परित्याग करते हैं। गर्ज यह है कि महाराज श्री ने उच्च नीच, बड़े छोटे, जैन अजैन, आदि किसी भी क़िस्म का भेदभाव न रखते हुए सभी श्रेणियों की जनता में भगवान महावीर स्वामी का अहिंसा और सत्य का प्रचार किया है, सभी पर आपने जैनधर्म की श्रेष्ठता का प्रभाव डाला है और सभी को अपने उपदेश से आभारी बनाया है।

आपके प्रचार में आपके मधुर, स्नेहशील और प्रसन्नतापूर्ण स्वभाव ने भी काफ़ी सहायता पहुँचाई है। आपके चेहरेपर एक प्रकार की ऐसी प्रसन्नता नृत्य करती

रहती है कि सामने वाला बहुत शीघ्र उसके वश में हो जाता है। आपकी प्रकृति बड़ी ही मिलनसार, सीधी—सादी और आकर्षक है।

वक्तृत्व

शैली के आकर्षण ने आपको बहुत ही उच्च पद पर प्रतिष्ठित कर दिया है। आप प्रारंभ से ही—स्वभावसिद्ध वक्ता हैं। व्याख्यान मधुरतामय, सरलतामय, मनोरंजक परन्तु प्रभावशाली होते हैं। जिन्होंने महाराजश्री का एक भी व्याख्यान सुना है वह भलीभाँति जानता है कि आपके श्रोता किस प्रकार चित्रलिखित से रह जाते हैं। मुनिराज का उपदेश सुनकर श्रोता यह समझने लगते हैं कि ये हमारे हृदयों के रहस्यों को जानते हैं, ये हमारे दुःखों के निवारक और पापों के त्राता हैं। आपने बालविवाह, वृद्धविवाह, कन्याविक्रय, अहिंसा, धर्म, मांसाहार, मदिरापान, दुशीलसेवन, संगति, एकता, संगठन, सत्य, क्षमा, दया, क्रोध, मोक्षमार्ग, धर्मतत्त्व, मनुष्य कर्त्तव्य, लोकसेवा, भक्ति, वैराग्य, प्रेम, ज्ञान, आत्मज्ञान, दृढ़ता, इच्छाशक्ति, कर्त्तव्यपालन, संसार की निस्सारता, सामाजिक जीवन, दुराग्रह, त्याग और वैराग्य, सदाचार, विद्या, तपस्या का आदर्श, जीवनसंग्राम में विजय, अतीत स्मृति, हमारा धार्मिक पतन, ब्रह्मचर्य, इन्द्रियनिग्रह, पर्यूषणपर्व और जैनधर्म, जैनधर्म की श्रेष्ठता, जैनधर्म की तात्त्विक मीमांसा, हमारा गार्हस्थ्य जीवन, मानस मुक्तावली, सत्यनिष्ठा; इत्यादि इत्यादि अनेक सामाजिक धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक, दार्शनिक, और व्यावहारिक विषयों पर खूब गवेषणा पूर्वक विवेचन किया है और इस प्रकार मानव—जीवन को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने का भगीरथ प्रयत्न किया है। आपके भाषणों को सुनकर अनेकों कुमार्ग-गामी सुमार्ग-गामी बन गये हैं।

आपका हृदय अत्यन्त उदार और सहिष्णु है। आपको किसी सम्प्रदाय-विशेष से घृणा या द्वेष तो है ही नहीं साथ ही आप सब को प्रेम-दृष्टि से देखते हैं। यही कारण है कि आपके व्याख्यान में मुसलमान, ईसाई वैदिक और आर्यसमाजी आदि जैनेतर भी खूब रसलेते है। आपके व्याख्यान प्रायः सार्वजनिक ही होते हैं। व्याख्यान में आपके उच्चतम और उदार आचार-विचार के स्पष्ट चिह्न, अंकित पाये जाते हैं।

विशाल अध्ययन

मुनि महाराज की वक्तृत्वशैली पर हम कुछ कह चुके हैं। एक अच्छे व्याख्याता के लिए कितना अधिक वाचन मनन और अध्ययन करना पड़ता है, यह बात विद्वान लोग भलीभाँति जानते हैं विशाल अध्ययन के बिना कोई भी सद्वक्ता नहीं बन सकता। जिस पर भी जैन मुनि की बात कुछ और ही है। उनके मुख से निकला हुआ एक एक शब्द और वाक्य नपा-तुला होता है। इस प्रकार की सावधानी के लिए बहुत कुछ परिशीलन और अनुभव करना पड़ता है। मुनिराज का ऐसा ही प्रचण्ड अध्ययन है। आपने जैन सूत्र—साहित्य का तो अध्ययन किया ही है, साथ में दिगम्बर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अन्यान्य ग्रंथोंका वैदिक सम्प्रदाय के वेद और पुराणों का, यहां तक कि मुस्लिम सम्प्रदाय के कुरान-शरीफ़ हदीस-शरीफ़ गुलिस्तां, बोस्तां, आदि का भी अध्ययन किया है। इस प्रकार आप स्वसमय और परसमय के अच्छे ज्ञाता हैं और इस

कारण से आपका प्रभाव विधर्मियों पर भी पड़ता है।

मुनिराज, त्यागी, महात्मा हैं, सद् वक्ता हैं, स्वसमय परसमय में प्रवीण हैं, उच्च चरित्रधारक हैं, साथ में सुलेखक भी हैं। आपकी रचनाएँ मुख्यरूप से समाज के प्रतिबोध के ध्येय को सामने रखकर लिखी गई हैं। अतएव उनमें जटिलता या गंभीरता के स्थान पर बोधप्रदता ही अधिक रहती है। आपने हिन्दी और उर्दू में तथा कहीं कहीं मिश्रभाषा में अनेक कविताओं का निर्माण किया है। आपकी एक उत्कृष्ट रचना तो पाठकों के हाथ में ही है। इसके अतिरिक्त और भी कई उपयोगी रचनाएँ आपकी प्रकाशित हो चुकी हैं।

मुनि श्री चौथमलजी महाराज ने संसार के हितार्थ जो प्रयास किया है, वह वास्तव में अनुपम है। उससे जैन मुनियों के सामने एक नया प्रकाश फैलता है। हम आशा करते हैं कि अन्य समर्थ मुनिराज हमारे इन चरित नायक महोदय का अनुकरण कर स्व-पर को कृतार्थ करेंगे।

मुनिश्री का यह परिचय बहुत ही संक्षेप में दिया गया है जो पाठक मुनिश्री का विस्तृत जीवन चरित पढ़कर लाभ उठाना चाहें उन्हें "आदर्श मुनि" नामक चरित्र हिन्दी या गुजराती में पढ़ना चाहिए मुनिश्री के अमित गुणों को हमने यहां लिखने का निष्फल प्रयास करके धृष्टता की है, पर सिर्फ यही सोच कर कि स्वभावत उदाराशय मुनिराज हमें अवश्य क्षमा प्रदान करेंगे। इत्यलम्

भवदीयः—

प्रकाशक

आभार-प्रदर्शन

प्रस्तुत ग्रन्थ के तैयार करने में हमें अनेकों साहित्य-प्रेमी, उदार-हृदय, विद्यानुरागी, धर्म-पिपासु और श्रीमान् महानुभावों से, तथा अनेकों आगम-सूत्रों व अन्य पुस्तक पुस्तिकाओं और सम-सामायिक कई हिन्दी व अंग्रेजी मासिक तथा साप्ताहिक पत्रों से बड़ी ही सहायता मिली है। उन समस्त महानुभावों एवं उन सम्पूर्ण ग्रन्थों के रचयिता शास्त्रकारों तथा विद्वानों के प्रति, लेखक अपने शुद्ध अन्तः करण से आभार प्रदर्शन करता है। ग्रन्थ के कलेवर के विस्तार भय से, हम उन सभी के नामों को उद्धृत करने में असमर्थ रहे हैं। अतः जिन सज्जनों का नामोल्लेख इस ग्रन्थ में नहीं किया जा सका है, वे हमें क्षमा करें।

(१) महानुभाव-गणः—

१ शास्त्रोद्धारक जैनाचार्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज
२ उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज
३ श्रीयुत सूरजमल लल्लुभाई जौहरी, बम्बई
४ „ कुन्दनमलजी फीरोदिया वकील बी. ए. एल. बी. अहमदनगर
५ „ शोभाचन्दजी भारिल्ल न्यायतीर्थ 'वीर' सम्पादक
६ „ पुखराजजी नाहर, बम्बई
७ „ अध्यापक रामकुमार काशीराम मालपाणी 'विशारद' एवं साहित्यालंकार इन्दौर
८ „ मन्नालालजी सरदारमलजी कोठारी बंबई

और (२) ग्रन्थ-सूचीः—

१ आचारंग जी सूत्र
२ भगवतीजी सूत्र
३ अन्तकृतजी सूत्र
४ निरियावलिकाजी
५ जैन-तत्त्व-प्रकाश
६ जैन-तत्त्वादर्श
७ जैनीज़म (गुजराती)
८ भगवान् महावीर (श्रीयुत् चन्द्रराजजी भंडारी कृत)
९ भगवान् महावीर (श्रीयुत् कामताप्रसादजी दिगंबर कृत)
१० श्री भगवान् महावीर स्वामी चरित्र (गुजराती वकील नन्दलाल लल्लुभाई, बड़ौदा)

११ महावीर जीवन-विस्तार (गुजराती)
१२ कल्प सूत्र
१३ त्रिषष्ठि शलाका के पुरुषों का चरित्र (गुजराती)
१४ The complete works of the Swami Vivekanand
१८ स्वामी रामतीर्थ ग्रन्थावली (हिन्दी)
१६ वैद्यक सम्बन्धी संस्कृत तथा हिन्दी के कुछ ग्रन्थ
१७ कल्याण, सरस्वती, त्यागभूमि (मासिक पत्र हिन्दी)
१८ मॉडर्न-रिव्हू (अंग्रेजी मासिक-पत्र)
१६ आदर्श-मुनि (हिन्दी)
२० महात्मा गांधीजी के अहिंसा विषयक कुछ लेख (Young India)
२१ भावना (हिन्दी)

धन्यवाद

इस ग्रन्थ का घर घर और दर दर प्रचार करने-कराने तथा जैन और जैनेतर सभी प्रकार के पाठकों के पास इसे पहुँचाने में, सहायक महानुभावों ने, प्रकाशक को धन से सहायता दे कर, अपनी उदारता, विद्याप्रेम, जात्याभिमान, देश-सेवा और धन के सदुपयोग का परिचय दिया है। प्रकाशक उन सभी सुहृद् सज्जनों के प्रति शतशः अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित करता है। यह उन्हीं सुहृद सज्जनों की उदारशीलता का एक मात्र कारण है, कि हम ऐसे वृहत् ग्रन्थ को, इतना जल्दी, इतने सुन्दर रूप में पाठकों के हाथों आज सौंप रहे हैं। यदि उन की इस महती कृपा का परिचय हमें आज न मिला होता, तो हमारे पास सब कुछ होते हुए भी, जनता की सत्सेवा का लाभ हमें कदापि न मिला होता। और, न जाने, अन्य कितने ही ग्रन्थों की भांति, यह ग्रन्थ भी, कितने ही दिनों तक, एक पोटले में बंधा रह कर ताक में पड़ा रहता। इस प्रकार सद्दानों से समाज में शिक्षा की उन्नति होती है। शिक्षा की उन्नति से लोक तथा परलोक का ज्ञान और सुधार हो सकता है। अस्तु।

प्रकाशक.

॥ ॐ ॥

अनुक्रमणिका
प्रथम खण्ड

प्रकरण पहला

प्रकरण दूसरा

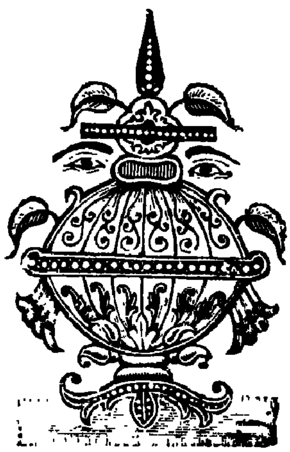
प्रकरण तीसरा

प्रकरण चौथा

प्रकरण पांचवां

प्रकरण छठा

प्रकरण सातवां



॥ ॐ ॥

अनुक्रमणिका

द्वितीय खंड

प्रकरण—पहला

विषय पृष्ठ

प्रकरण—दूसरा

प्रकरण—तीसरा

विषय पृष्ठ

प्रकरण—चौथा

प्रकरण—पांचवां

प्रकरण—छठा

प्रकरण—सातवां

प्रकरण—आठवां

प्रकरण—नौवां

प्रकरण—दसवां

प्रकरण—ग्यारहवां

वन्दे वीरम्

मंगलाचरण

जोहेसु णाए जह वीससेणे,

खत्तीण सेट्ठे जह दंतवक्के,

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं,

तवेसु वा उत्तम बंभचेरं,

सूत्र कृताङ्ग

अर्थात्—जैसे योद्धाओं में वासुदेव, फूलों में अरविंद कमल और क्षत्रियों में चक्रवर्ती श्रेष्ठ हैं। ऐसे ही ऋषियों में **वर्धमान** (**महावीर**) प्रधान हैं।

वन्दे वीरम्

मङ्गलाचरण

जयइ जगजीव जोणी,

जगनाहो जग बन्धु,

जयइ सुयाणप्पभवो,

जयइ गुरु लोगाणं,

नन्दी सूत्र

अर्थात्—जगत के संपूर्ण चराचर जीवों के जानने वाले भगवान् महावीर जो कि जगत के गुरु, नाथ, हितैषी और आनन्द रूप हैं। उन जगत् पितामह भगवान महावीर की जय हो! जय हो!!

णमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स।

प्रकरण—पहला

तीर्थंकरों का संक्षिप्त परिचय।

काल-चक्र

यह जगत् अनादि काल से ऐसा ही चला आ रहा है। और आगे भी यह ऐसा ही चलता रहेगा। इस के प्रत्येक भाग में हर घड़ी और हर समय कुछ न कुछ फेर-फार हुआ ही करता है। यही कारण है, कि लोग इसे 'अनित्य', 'नाशवान्' परिवर्तनशील, आदि आदि नामा से पुकारा करते हैं। इतना होने पर भी, इसकी साधारण स्थिति की ओर देखा जाय, तो यही निचोड़ निकलता है, कि वह ज्यों की त्यों बनी हुई है और आगे भी बनी रहेगी। प्राचीन से प्राचीन काल से लेकर आज तक के सभी ज्ञानवान् पुरुष, इसकी स्थिति के बारे में, सुन कर, देख कर, और स्वयं अनुभव कर, इसी नतीजे पर पहुंचे हैं। इस जगत् के प्रायः हर एकभाग में, हर समय, नियमित रूप से, न्यूनाधिक परिमाण में, कोई न कोई समय-युग या आरा अवश्य बीतता रहता है। जिस में, देश के हवा, पानी, बनस्पति, बनस्पति के द्वारा वहां के जीवधारियों के शरीर सम्बन्धी परिमाण, उन की छुटाई, बड़ाई, और उन शरीरों की आयुष्य, तथा प्रत्येक प्रकार के जीवधारियों की प्रकृति में कुछ न कुछ फेर-फार सदा हुआ ही करता है। यों अनन्त, अगणित आरे बीत गये और बीते चले जारहे हैं।

जैन-धर्म में बीस कोटाकोटि सागरोपम के समय को एक 'काल-चक्र' माना गया है। इस काल-चक्र के (१) उत्सर्पिणी और (२) अवसर्पिणी ऐसे दो भाग होते हैं। काल-चक्र के उत्सर्पिणी समय का प्रारम्भ तब समझा जाता है, जब कि जगत् की प्रत्येक वस्तु में लघुता या हीनता चरमसीमा को पहुंच जाती है। परन्तु जैसे जैसे यह समय बीतता जाता है, प्रत्येक वस्तु या पदार्थों में वैसे ही वैसे गुरुता या विशेषता आती जाती है। इसी प्रकार, जब अवसर्पिणी समय का प्रारम्भ होता है, तब उत्सर्पिणी समय का ठीक उलटा देखने में आता है। अर्थात् अवसर्पिणी के प्रारम्भ काल में जगत् के प्रत्येक पदार्थ गुरु या अपने बड़े रूप में दिख पड़ते हैं; परन्तु जैसे जैसे इस काल का अन्त पास आता जाता है, त्यों ही वे प्रत्येक पदार्थ अपने लघु या हीन रूप को धारण करते जाते हैं।

प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छः छः आरे (समय-विभाग) नामक भाग होते हैं। इन आरों का नाम इन के गुणों के अनुसार-सार्थक है। जो आरा श्रेष्ठ होता है उसे "सुखम-सुखमा" और जो दुख-दायक होता है, उसे "दुःखम दुःखमा" नाम से पुकारते हैं। बाकी के जो चार आरे और रह जाते हैं, उन के नाम इन्हीं ऊपर के दोनों शब्दों के संयोग से, उन के गुणावगुण के अनुसार है। जैसेः—

[१] अवसर्पिणी के भाग

(१) **सुखम-सुखमा**-यह एक अच्छे से अच्छा आरा है। इस की अवधि चार कोटाकोटि सागरोपम की है।

(२) **सुखमा**—यह साधारणतः अच्छा आरा है। इस की तीन कोटाकोटि सागरोपम की अवधि होती है।

(३) **सुखम-दुखमा**-यह एक शुभाशुभ आरा होता है। इस की अवधि दो कोटाकोटि सागरोपम की कही गई है।

(४) **दुःखम-सुखमा**—यह एक अशुभ-शुभ आरा माना गया है। एक कोटाकोटि सागरोपम से बयांलीस हज़ार वर्ष कम इस का परिमाण है।

(५) **दुःखमा**—यह एक साधारण अशुभ आरा है। अवधि इस की इक्कीस हज़ार वर्ष की होती है। जो वर्तमान में चल रहा है। और-

(६) दुःखम–दुखमा–यह एक अशुभतम या सब से बुरा आरा कहा गया है और इक्कीस हज़ार वर्ष का होता है।

[२] उत्सर्पिणी के भाग.

उत्सर्पिणी के आरों का क्रम, अवसर्पिणी के आरों के क्रम से ठीक उलटा होता है। अर्थात उस में जो क्रमशः छठा, पांचवां, चौथा, तीसरा, दूसरा और पहला आरा माना गया है, वही यहां पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, पांचवां और छठा आरा हो जाता है। प्रत्येक आरे की अवधि उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी दोनों में सदा एक सी ही मानी जाती है।

इस प्रकार, अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी को मिला कर एक काल–चक्र होता है, ऐसे काल-चक्र सदा बीतते ही रहते हैं। प्राचीन काल से इनका ताँता आज तक, गाड़ी के फिरते रहने वाले पहिये के समान, इसी प्रकार चला आ रहा है; और इन का आना-जाना सदा इसी भांति आगे के लिए भी बना रहेगा।

तब तो यह कहा जा सकता है, कि मनुष्य-लोक का इतिहास, इसी काल-चक्र के परिक्रमण का इतिहास है। जैन-धर्म के दार्शनिक विद्वानों और तत्वज्ञ मुनियों ने इस बात का साँगोपाँग वर्णन किया है. कि इस पृथ्वी पर प्रत्येक आरे में क्या हुआ, क्या हो रहा है और आगे क्या होगा। अर्थात् वे हमे बतलाते रहते हैं, कि एक काल–चक्र के व्यतीत हो जाने पर, उस के आगे आनेवाले काल-चक्र में क्या होगा? वर्तमान् आरा यदि दुखमा आरा है, तो इस के अवशेष काल में, और भी क्या अशुभ प्राणियों पर बीतनेवाला है? इस-दुखमा आरा के बीत जाने पर, इस के आगे, जो दुःखम--दुखमा आरा वर्तनेवाला है, उस में क्या बुरे से बुरा होगा? तथा, उस के बाद, उत्सर्पिणी कालचक्र के प्रवर्तन पर अर्थात् लगने पर, जैसे जैसे काल बीतता जायगा, त्यों त्यों क्या क्या शुभ उस में होता जायगा? आदि।

इस का कुछ वर्णन पाठकों की जानकारी के लिए हम यहां दिये देते हैं। वह इस प्रकार है:—

जैन-सूत्रों में (१) सुखम-दुखमा और (२) दुःखम-सुखमा, इन दो आरों में, नियमित रूप से, तिरसठ शलाका पुरुषों की उत्पत्ति होती है। जैन-धर्म के इतिहासों

में ये महा पुरुष मध्य-बिन्दु माने गये हैं, और माने जाते हैं। इन तिरसठ कीर्ति-वान् और कान्तिशाली पुरुषों में--चौवीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्त्ती और सत्ताईस वीर पुरुष होते हैं। सत्ताईस वीरों की गिनती में-नौ बलदेव, नौ वासुदेव और नौ प्रतिवासुदेव माने गये हैं। प्रत्येक सुखम- दुखमा आरा में एक एक तीर्थंकर और एक एक चक्रवर्त्ती अवश्य होते हैं। बाकी के तीर्थंकर, चक्रवर्त्ती तथा वीर पुरुष दुःखम-सुखमा आरा में होते हैं। यह क्रम एक सर्पिणी का हुआ। दूसरी सर्पिणी में भी ऐसा ही होता है।

तीर्थंकर, चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव, इन पांचों वर्गों के कीर्तिवान् और कान्तिशाली पुरुषों की जीवनी, साधारण रूप से प्रायः अपने सजातीय महापुरुषों के साथ आपस में मिलती जुलती होती है। अर्थात् तीर्थंकर की तीर्थंकर के साथ और चक्रवर्त्ती की चक्रवर्त्ती के साथ मिलती है। इसी प्रकार वीरों के लिए भी समझना चाहिए। इनके गुण भी प्रायः आपस में एक ही से होते हैं। यही बात प्रायः प्रत्येक की, जीवन सम्बन्धी बड़ी बड़ी घटनाओं के बारे में भी कही जा सकती है।

अतएव जैन जगत् के इतिहास का हाल जानने के पहले, उचित है, कि पाठक इन तिरसठ महापुरुषों की जीवनी का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लें।

चौवीस तीर्थंकर

तीर्थंकर, ये जैन-धर्म में महापुरुष माने गये हैं। तीर्थंकर संसार के अज्ञानी और आसुरी प्रकृतिवाले पुरुषों के द्वारा, धर्म के मूल तत्वों में आई हुई मलीनता को मिटाते हैं; और जगत् में धर्म के भावों की रक्षा और पुनः उनकी संस्थापना करते हैं। इन्हीं महापुरुषों के अमृतमय उपदेशों और सदाचार के द्वारा, संसारी जीवों को अपने स्वरूप का सच्चा बोध हो जाता है और उनके उपदेशों के अनुसार चल कर, मनुष्य मोक्ष-मार्ग में बड़ी ही आसानी से जा सकते हैं। तीर्थंकर शब्द का अर्थ, यूरोप में 'तारक' या 'मार्ग-दर्शक' आदि करते हैं। अर्थात् जो संसार रूपी समुद्र में डूबते हुओं को तारनेवाले हैं, या संसार के जन्म-मरण रूपी रोगों से ग्रसे हुओं को जो मुक्त करने वाले हैं, वे तीर्थंकर हैं। जैन-जगत् में तीर्थंकर शब्द का अर्थ, " साधु, साध्वी, श्रावक, और श्राविका—रूप तीर्थ को अस्तित्व में लाने वाले महापुरुष ", ऐसा किया जाता है। अब जब हम इस के

व्युत्पत्ति—वाचक अर्थ की ओर देखते हैं, तो हमें पता लगता है, कि तीर्थंकर शब्द का अर्थ (तीर्थ=पवित्र+कर=करने वाले) पवित्र करने वाले ऐसा होता है। अर्थात् जो अपने त्याग, अपने सदाचार, अपने दिव्य विचार, अपनी संकल्प-शक्ति, अपने सुन्दर और कल्याणकारी उपदेश, क्या मनुष्य और क्या मूक तथा भोले भाले प्राणी, सभी जीवों के प्रति की गई अपनी दया और परोपकार-बुद्धि, और जगत्, के सम्पूर्ण जीवों के तईं अपने अखण्ड और अनुपम प्रेम की भावना, आदि महान् गुणों के द्वारा, जगत् के गिरे हुए जीवों को उठाते हैं। जो उन जीवों की मानसिक दासता के बन्धनों को तोड़कर, उन्हें आत्म-बोध का अनुभव कराते हैं। जो कुरीतियों का खंडन कर, सामाजिक और धार्मिक कामों की नींव प्रेम और सदाचार पर रखते हैं। जो अपने ही लिए नहीं, वरन् भूत, वर्तमान् और आगे आने वाले काल के सभी मनुष्य मात्र के लिए, अनेकों प्रकार के भयंकर कष्ट सह कर, अनन्त सुखों की प्राप्ति कराते हैं। जो स्वयं गोरे, काले, पीले, अमीर और गरीब, आदि में कोई अन्तर नहीं देखते; और जो अन्य जीवों के हृदयों में से भी इन बनावटी भेद भावों की जड़ को बिलकुल खोद फेंकते हैं, और, जो संसार-मात्र के प्राणियों को सिखाते हैं, कि " सब के तुम्हारी ही सी जान है। अतः तुम किसी को कभी मत सताओ; और तुम दूसरों के साथ वैसा ही बर्ताव करो, जैसा कि तुम स्वयं अपने साथ, उन के द्वारा बर्ताव करवाना चाहते हो "। ऐसे सुन्दर और परोपकारी उपदेश रूपी अमृत की देश में चारों ओर घन घोर वर्षा कर के जो प्राणी मात्र का परोपकार करते हैं; उन के जीवन को ऊपर उठाते हैं, वे ही तीर्थंकर हैं।

तीर्थंकर शब्द के अर्थ को बताने वाले कुछ शब्द और भी हैं। जैसे, 'जिन' अर्थात् जो राग, द्वेष, आदि विकारों को जीतने वाले हैं। इसी तरह 'अर्हन्त' शब्द भी तीर्थंकर के बदले में बोला जाता है। जिसका अर्थ साधारण रूप से यह होता है, कि देवता और मनुष्य जिन्हें पूज्य भावों से देखते हैं।

वही जीव, आगे चल कर अपने सत्कर्मों द्वारा तीर्थंकर बन सकता है, जो पहले ही से यथा-शक्ति दान, तप, संघ एवं साधुओं की सेवा, अर्हन्त गुरू, ज्ञानी और धर्म इन तीनों के प्रति प्रबल प्रेम तथा, षडावश्यक आदि का यथा—साध्य अभ्यास करता है।

प्रत्येक तीर्थंकर जगत प्रकाशक होते हैं। वे पहले जगत् की साधारण आ-

त्माओं में से ही एक होते हैं। उन की आत्मा, अनेकों योनियों में जन्म धारण करने के बाद, इस पद को प्राप्त करती है। उन के अपने पूर्व भवों का इतिहास भी प्रायः जैन शास्त्रों में जहां तहां मिलता है।

इस जगत् में जितने भी तीर्थंकर समय समय पर हुए और होते हैं, वे सब के सब अकसर महान् कीर्ति और वैभव से भरे-पूरे राज-वंशों ही में हुए और होते हैं। इस अवसर्पिणी के बीसवें और बाईसवें, दो तीर्थंकर हरिवंश में उत्पन्न हुए और शेष के बाईस तीर्थंकर इक्ष्वाकुवंश में हुए।

तीर्थंकर के जन्म धारण करने के पहले, उन की माता को चौदह स्वप्न दिख पड़ते हैं। इन स्वप्नों का वर्णन, आगे चलकर, आवश्यकता के अनुसार किया जावेगा। प्रत्येक तीर्थंकर का बाल्य-काल बड़े ही लाड़-प्यार से बीतता है। जवानी के लिए जिनके भोग-कर्म कुछ शेष रह जाते हैं, वे विवाह करते हैं। परन्तु जिन के यौवन के भोग-कर्मों का पूरा पूरा क्षय हो चुका है, वे कभी भी विवाह नहीं करते। परन्तु जो विवाह करते हैं, वे उन के अपने पास, सब प्रकार की देवोपम सुख-सम्पदाओं के होते हुए भी, अपने जीवन को एकदम रूखा और उदासीन की भाँति बिताने ही में, अपने जीवन का उद्देश्य और कर्तव्य मानते हैं। फिर वे अपनी बपौती के राज्य, उस के राजसी अधिकारों और देवोपम उस की समस्त सुख-सम्पदाओं को त्याग कर एकदम दीक्षा धारण कर लेते हैं। अन्त में, जब उनके उग्र तप और संयम के द्वारा, चारों घनघाती[1]-कर्मों का क्षय हो जाता है, तब वे केवलज्ञान को प्राप्त कर, जगत् के पतित जीवों को ऊपर उठाने, तथा भूले-भटकों को सीधे मार्ग पर लाने के लिए, अपने सुन्दर और आत्म-स्वरूप का ज्ञान करानेवाले उपदेश रूपी अमृत की चहुँ ओर वर्षा करते हैं। उनके इस उपदेश रूपी अमृत की घन-घोर वर्षा से, लोगों में एकदम एक नये जीवन का संचार हो जाता है। उनके आचार और व्यवहारों में शुद्धता आ जाती है। उनके अन्दर से भेदाभेद, छोटे-बड़े, छूत-अछूत, सशक्त और अशक्त, आदि के नाशकारी भाव बिलकुल हलके बनकर उड़ जाते हैं। तब वे समझने लगते हैं, कि किसी देश विशेष, या जाति विशेष, या बड़े वंश में पैदा होने के कारण ही, कोई विशेष अधिकारों का अधिकारी नहीं हो जाता। वास्तव में ऊँचा और बड़ा बनने के

१—(१) ज्ञानावर्णीय (२) दर्शनावर्णीय (३) मोहनीय और (४) अन्तराय।

लिए, मनुष्य के कार्यों ही का ऊँचा और उनके भावों का उदार होना चाहिए। वे अपनी पेट-पूर्ति या जिह्वा के पल--भर के स्वाद के लिए, सभी प्रकार के अबल, मूक और भोले-भाले जीवों की हत्या करने को, पशुता और नीचता समझने लगते हैं। यह भी उन्हीं पुरुषों के एकमात्र उपदेश ही का असर है, कि तब लोग धर्म के नाम पर भी जीव-हिंसा करने को, पाप-मूलक और पर-भव में दुर्गति को करानेवाली समझने और मानने लगते हैं। लोगों में यथार्थ त्याग, तपस्या और सेवा के भावों की जागृति होती है। वे सचाई, पवित्रता और दया-भाव के पाये पर, अपने जीवन के शेष दिनों को बिताने में तन, मन, और धन से जुट पड़ने नज़र आते हैं। उनके समता और शान्ति के भावों का प्रसार करने वाले उपदेशों को पाकर लाखों-हजारों मनुष्य, उनकी अहिंसा के झण्डे के नीचे आकर विश्राम पाते हैं; उनसे गार्हस्थ जीवन की शिक्षा लेते हैं और उन में से कई लोग तो दीक्षा-व्रत को भी धारण कर लेते हैं। प्रत्येक तीर्थङ्करों में चौंतीस अतिशय [१] और

१—(१) रोम नाखून और केश अशोभनिक नहीं बढ़ते हैं। (२) अशुचि से शरीर लिप्त नहीं होता है (३) खून, मांस, गौ-दुग्ध जैसे मिष्ट और समुज्वल होते हैं। (४) श्वासोच्छ्वास पद्म कमल के समान सुगंधित होता है। (५) आहार और निहार करते हुए किसी को दृष्टिगत नहीं होते (६) आकाश में धर्म-चक्र चलता है। (७) आकाश में छत्र चलता है। (८) दोनों बाजुओं की तरफ चँवर दुलते हैं। (९) स्फटिक रत्नों से जड़ित पीठिका सहित सिंहासन होता है। (१०) इन्द्र-ध्वजा सहित एक हजार ध्वजाएं होती हैं। (११) पल्लवित अशोक वृक्ष छाया करता है। (१२) अन्धकार--नाशक प्रकाश करने वाला भामण्डल होता है। (१३) एक योजन (चार कोश) तक ऊंची नीची भूमि बराबर रहती है। (१४) तीक्ष्ण कांटे अधोमुख हो जाते हैं। (१५) छः ऋतुएं अनुकूल रहती हैं। (१६) एक योजन तक शीतल हवा भूमि को साफ करती है। (१७) अचित सुगंधित पानी की वृष्टि होती है। (१८) पांच वर्णों के अचित फूलों की वृष्टि होती है (१९) खराब, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, दूर रहते हैं (२०) अच्छे वर्ण, गंध, रस, स्पर्श प्रकट होते हैं। (२१) अर्ध मागधी भाषा बोलते हैं। (२२) आपकी भाषा में सब समझ जाते हैं (२३) एक योजन तक वाणी श्रवण होती है। (२४) शत्रु मित्र के परस्पर क्रोध का उपशम होता है। (२५) अन्य तीर्थी वन्दना करते हैं (२६) अन्य तीर्थी वन्दना न करे तो अपमानित होता है (२७) पचीस योजन तक कीट पतंग नहीं पड़ते हैं। (२८)

वाणीके पैंतीस गुण [१] होते हैं; और अठारह दोषों का भी बिलकुल अभाव होता है। जैसे, (१) दान-अन्तराय; (२) लाभ-अन्तराय; (३) भोग-अन्तराय; (४) उपभोग-अन्तराय; (५) वीर्य-अन्तराय (६) हास्य; (७) रति; (८) अरति; (६) जुगुप्सा; (१०) भय; (११) कामाभिलाष; (१२) शोक; (१३) मिथ्यात्व; (१४) अज्ञान; (१५) निद्रा; (१६) अविरति; (१७) राग; और (१८) द्वेष।

इस प्रकार, ऊपर वर्णन की हुई बातों का, जो ग्राह्य है, उनका भाव और जो अग्राह्य तथा द्वेष युक्त हैं, उनका अभाव, प्रत्यक्ष तीर्थंकर में पाया जाता है। और जैन-धर्म में, इन्हीं ऊपर बताये हुए गुणों से युक्त, तथा दोषों से मुक्त महा पुरुष को तीर्थंकर कहा तथा माना है।

पच्चीस योजन तक मृगी आदि बिमारियां नहीं होती हैं। (२६) पच्चीस योजन तक स्व-चक्र का भय नहीं रहता है। (३०) पच्चीस योजन तक पर-चक्र का भय नहीं रहता (३१) अति वृष्टि नहीं होती है। (३२) थोड़ी वृष्टि नहीं होती है (३३) दुर्भिक्ष नहीं पड़ता (३४) पहले के रोग उपशान्त हो जाते हैं और नवीन रोग उत्पन्न नहीं होते।

१—(१) संस्कार वाले वचन बोले (२) उच्च स्वर से बोले (३) अग्रामिण वचन बोले (४) गंभीर वचन बोले (५) बोलते वक्त प्रति शब्द होवे (६) सरस वचन बोले (७) मालकौशादि राग रहित वचन बोले (८) थोड़े शब्दों में बहु अर्थ हो ऐसे वचन बोले। (६) पूर्वापर विरोधरहित वचन बोले (१०) सिद्धान्त का प्रतिपादन हो ऐसे वचन बोले (११) शंका रहित बोले (१२) अन्य वादी के वचन से पराभूत होवे नहीं वैसा बोले (१३) श्रोता-जनों का मन हरण करने वाले बचन बोले (१४) देश काल से उचित वचन बोले (१५) अतिविस्तार से असंबंध नहीं बोले। (१६) कहने के अर्थ को अनुसरता बोले (१७) प्रथम पद अन्तिम पद सापेक्षा से बोले (१८) प्रत्यक्ष समझने योग्य बात कहे (१६) वचन मीठे लगे (२०) वचन अन्य के मन को व्यथित करे नहीं (२१) अर्थ धर्म सहित (२२) उत्कृष्ट अर्थ के कथन का वाक्य बोले। (२३) परनिन्दा और आत्मश्लाघा रहित बोले (२४) प्रशंसा करने योग्य बोले (२५) कारक, लिङ्ग, वचन, करके शुद्ध बोले (२६) श्रोताजनों के चित्त को चमत्कार पैदा करने वाली भाषा बोले (२७) शीघ्रता से बोले नहीं (२८) बिलम्ब से बोले नहीं (२६) क्रोध भयादि रहित बोले (३०) जिस पदार्थ का वर्णन करे उसे विशेष रूप से कहे (३१) अन्य के वचन की अपेक्षा से (३२) भिन्न भिन्न व अन्वय करके बोले (३३) साहस सहित बोले (३४) अनायास से बोले (३५) विषय समाप्त न हो वहां तक वचन विच्छेद न करे।

बारह—चक्रवर्ती

भरत-खण्ड में बारह चक्रवर्त्ती होते हैं; और वे भारतवर्ष ही में जन्म ग्रहण करते हैं। परन्तु राज्य व पृथ्वी के छहों खण्डों में करते हैं। प्रत्येक चक्रवर्त्ती का जीवन प्रायः मोटे रूप से एक ही सा होता है। पूर्व-भव में किये हुए सत्कर्मों के प्रभाव से, जीवात्मा को चक्रवर्त्ती की पदवी प्राप्त होती है। तीर्थंकरों की भांति ये भी सब के सब, किसी न किसी राज वंश ही में पैदा होते हैं। फिर, अपने अनुपम वैभव, परम पराक्रम और अतुल बल के द्वारा, ये पृथ्वी के छहों खण्डों ही में अपना झण्डा रोप देते हैं। ये वैज्ञानिक ज्ञान में बड़े ही दक्ष होते हैं। अपने सीखे हुए वैज्ञानिक ज्ञान के सहारे, ये संसार में अनकों प्रकार की व्यावसायिक कलाओं तथा ललित कलाओं की खोज निकालते हैं। इन चक्रवर्त्तियों का शरीर बड़ा ही गठीला, सुन्दर, सुडौल और सुदृढ़ होता है। उनमें अपार विवेक, विद्या, बुद्धि और बल होता है। अपने बड़े से बड़े शत्रु को युद्ध में पराजित करना, इनके बांयें हाथ का खेल होता है। इन के पास चौदह रत्न और नवनिधान होते हैं। इन रत्नों का विशेष वर्णन आगे चल कर हमारे पाठकों को मिलेगा। इन चक्रवर्त्तियों में से कई दीक्षा--ग्रहण कर लेते हैं। तब वे उसी भव में सम्यग्ज्ञान आदि के द्वारा आत्म-कल्याण करते हुए स्वर्ग या निर्वाण-पद को प्राप्त करते हैं। और कितनेक चक्रवर्त्ती ऐसे भी होते हैं, जो अपने पाप विशेष के भार से, मरने के पीछे नरक गामी होते हैं।

सत्ताईस-वीर

नौ बलदेव, नौ वासुदेव, और नौ प्रति वासुदेव

बलदेव, वासुदेव, और प्रतिवासुदेव ये सब वीर पुरुष होते हैं ये प्रायः एक ही काल में जन्म ग्रहण करते हैं। प्रत्येक सर्पिणी में ऊपर कहे हुए तीनों वर्गों के नौ नौ वीर होते हैं। बलदेव और वासुदेव ये आपस में भाई भाई लगते हैं, जो एक ही राजा की दो पृथक् पृथक् दो रानियों से पैदा हुए पुत्र होते हैं। प्रतिवासुदेव इन दोनों के प्रति-स्पर्द्धी होते हैं।

बलदेव के शरीर का रंग एकदम शुद्ध और श्वेत होता है। ये सदैव नीले रंग के वस्त्रों को धारण करते हैं। इनकी पताका में ताल–वृक्ष का चिन्ह होता है। इन के मुख्य आयुध चार माने गये हैं। जैसे, (१) धनुष; (२) गदा; (३) मूसल[१]* और (४) हल[२]*। इन का जब जन्म होने वाला होता है, उस काल में इन की माता को चार स्वप्न दिख पड़ते हैं।

वासुदेव, ये बलदेव के छोटे भाई होते हैं। जो भी उम्र में बलदेव से ये छोटे होते हैं, तथापि शरीर–बल में ये उन से विशेष होते हैं। ये बड़े ही योद्धा होते हैं। इन के जन्म होने के समय, इन की माता को सात स्वप्न दिखाई देते हैं। इनके शरीर का वर्ण प्रायः कृष्ण होता है। ये अकसर पीले रंग के वस्त्र पहनते हैं। छाती पर श्री--वत्स का चिन्ह होता है। ध्वजा में गरुड़ का चिन्ह होता है। इन के आयुधों की संख्या सात होती है। उन के नाम इस प्रकार हैं:—(१) पांचजन्य शंख, जिसे प्रायः येही बजा सकते हैं। (२) सुदर्शन चक्र। (३) कौमुदी गदा। (४) सार्ङ्ग धनुष। (५) नन्दकखड्ग। (६) वसन्त के परम मनोहर और अति ही सुगन्धित, कुसुमों की वनमाला। और(७)कौस्तुभ--मणि।

हम ऊपर कह आये हैं, कि बलदेव और वासुदेव के प्रति--स्पर्द्धी जो पुरुष होते हैं, वे प्रति--वासुदेव के नाम से जगत् में पुकारे जाते हैं। इन का बल तो सचमुच अतोल होता है; परन्तु होते हैं ये अत्याचारी। जब ये अर्ध भरत–खण्ड का अधिकांश भाग अपने आधीन कर लेते हैं, और अपने आप को जब यह वासुदेव मान बैठते हैं, उस समय, कोई भी योग्य कारण पा कर के, बल-देव और वासुदेव इस प्रतिवासुदेव के साथ घन–घोर युद्ध छेड़ देते हैं। तथा, इन्हें मार कर, वासुदेव अपना राज्य क़ायम कर लेते हैं। फिर, पृथ्वी के पूरे तीन खण्डों पर, इन का एक छत्र अमल हो जाता है। उस समय किसी भी ऐसे पुरुष का, इस जगत् में जन्म ही नहीं होता, जो युद्ध में जीत कर इन्हें अपने वश में कर सके। इन की राजनीति अखंड धर्म के पाये पर ठहरी हुई होती है! इन के राज्य में प्रजा सब प्रकार से सुखी और धन-जन से भरी-पूरी होती है। फिर भी, धर्मात्मा लोग इन के शासन में खूब फलते फूलते हैं। विपरीत इस के, पापी लोग, उन के अपने पापों के बदले, पूरा पूरा दंड पाते हैं।

१—मूसल के आकार का एक शस्त्र विशेष है २—यह भी शस्त्र विशेष होता है।

प्रकरण-दूसरा

वर्तमान-अवसर्पिणी।

पहला आरा सुखम-सुखमा

सुखम-सुखमा, यह आरा अच्छे से भी अच्छा आरा होता है। इस आरे में पृथ्वी सुन्दर वृक्षों और बनस्पति से हरी-भरी रहती है। अनेकों प्रकार के बहु-मूल्य रत्नों की खदानें, पृथ्वी की शोभा को न्यारी ही बढ़ाती हैं। फिर, ये रत्न ज्यों ज्यों निकलते रहते हैं, त्यों त्यों इनकी उत्पत्ति भी सदा बढ़ती रहती है। सच है, विद्वान् पुरुषों ने जो हमारी इस भारतीय भूमि को 'रत्न-गर्भा' कहा है, वह बहुत ही सोच विचार और अनुभव के साथ कहा है। चारों ओर स्वच्छ और शीतल-मन्द-सुगंधित वायु का सब दिन संचार रहता है। हरएक प्रकार के द्रव्यों से पृथ्वी परिपूर्ण रहती है। किसी को भी इस आरे में विषयों की तीव्र लालसा नहीं होती, जहां कहीं भी नज़र फेंकी जाय, एकदम सुख, शान्ति और अनुपम माधुरी दिख पड़ती है। इस आरे में उत्पन्न मनुष्यों का रंग-रूप बड़ा ही चटकीला, सुंदर और मनहरण होता है। इस आरे में रोग और अशान्ति का तो, कहीं नाम भी सुनाई नहीं पड़ता। राजाओं की उत्पत्ति भी इस आरे में नहीं होती न कहीं जाति-पांति का झगड़ा होता है; न कहीं किसी प्रकार का भेदभाव ही नज़र आता है। सन्तोष—पूर्वक समान भाव से रहना, यही इस आरे के मनुष्यों का स्वभाव होता है। रोज़गार, व्यवसाय, वाणिज्य तथा व्यापार की भी, इस आरे में कहीं कोई आवश्यक्ता नहीं होती। जगह जगह कल्प—वृक्ष होते हैं। उन्हीं से उनकी सब आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाती

हैं। ये कल्प-वृक्ष भी दश प्रकार के माने गये हैं। जैसे, (१) मद्यांग अर्थात् जिन से पौष्टिक रसों की प्राप्ति होती हो; (२) भृंगांग अर्थात् जिन से हर एक प्रकार के भोजन या पात्रों की प्राप्ति हो सकती हो; (३) तूर्यांग अर्थात् जिन से बाजों की प्राप्ति होती हो; (४) दीप-शिखांग अर्थात् जिन के सब तरह के अन्धकारों का अभाव और मनचाहे प्रकाश की प्राप्ति होसकती हो; (५) ज्योतिरंग अर्थात् जिन के द्वारा प्रकाश की प्राप्ति हो सके; (६) चित्रांग अर्थात् अद्भुत और सदा सुगन्धित रहनेवाले फूलों की मालाएं जिन से मिलती हों; (७) चित्ररसांग अर्थात् जिन के द्वारा स्वादिष्ट फलों के पाने की इच्छा पूरी होती है। (८) मणयंग अर्थात् सब प्रकार के आभरणों की प्राप्ति जिन से हो सके; (९) गेहाकार अर्थात् मकान के समान आश्रय दाता हो; और (१०) अनग्न अर्थात् मन चाहे वस्त्र जिन से मिल सकते हों।

इस आरे के लोगों का भोजन केवल फल होता है। फलाहार के कारण ही उन की बुद्धि सात्विक और मन संयम-शील रहता है। वे बलवान् तो अपने ढंग और जमाने के निराले होते हैं; परन्तु उन का बल, "शक्ती परेशाम् पर-पीड़नाय" की कहावत के अनुसार, परायों को सताने के लिए नहीं होता, फल भी इस आरे के ऐसे रसदार, मधुर और जायकेदार होते हैं, कि जिन का थोड़ा सा सेवन-मात्र ही मनुष्य की भूख को शान्त कर देता है। इतना ही नहीं; एक बार फलाहार कर चुकने पर, भूख की ओर से तीन दिन की निश्चिन्तता हो जाती है। पृथ्वी अपने रसा नाम को इसी समय सार्थक करती है। मनुष्यों की आयु इस आरे में तीन पल्योपम की होती है। देश के चहुं ओर की अवर्णनीय शोभा, भू-प्रकृति, जलवायु और खाये हुए फलों का, माता के दूध पर वह गहरा और विस्मयकारक असर होता है, कि उस दूध को पीकर बच्चा, अपने जन्म के केवल उन्पचास दिन के बाद ही, चलने, फिरने, खाने, पीने, अपने मन के प्रत्येक भावों को भली भांति प्रकट करने; आदि कामों में इतना होशियार बन जाता है, कि फिर माता पिता या कुटुम्ब-परिवार के लोगों को, उस के पीछे पीछे फिरते रहने और उसकी देख-भाल करने की, जरा भी जरूरत नहीं रह जाती। जन्म के पहले सप्ताह में वह अपने हाथों के अंगूठों को चूसता है। वही, दूसरे सप्ताह में, घुटनों के बल जमीन पर चलने लग जाता है। तीसरे सप्ताह में उसे बोलना आ जाता है। चौथे में वह

खड़ा हो सकता है। पांचवें सप्ताह में तो, वह चलना-फिरना शुरू कर देता है। अपने मन के भावों को भले प्रकार दूसरों पर प्रकट करने, भली भांति रहने-करने, अपने परायों को समझने-बूझने और हर एक के साथ सुजनता और सदाचार के साथ बर्ताव करने, आदि के कामों को सीख लेने का काम, वह, छठे सप्ताह में समाप्त कर देता है। और सातवें सप्ताह में तो, एक युवक मनुष्य की भांति वह सब तरह से समझदार बन जाता है। इस आरे में जब माता-पिता की आयु के पिछले छः मास शेष रह जाते हैं, तभी उस सौभाग्यवती स्त्री की कोख से बच्चों का एक जोड़ा पैदा होता है। इस जोड़े में एक बच्चा और दूसरा, बच्ची रहती है। जिन के जीवन के अन्तिम केवल कुछ ही दिन सहचर्या में बीतते हैं। यही कारण है, कि इस आरे में जन-संख्या आशातीत कम रहती है। क्यों कि एक, तो सद्बुद्धि और सदाचार, आदि गुणों के कारण, मनुष्यों में भोग-वासना स्वयं ही बहुत कम होती है; दूसरे, अपने चारों ओर के सहवास के असर, फलों के सात्विक भोजन, इधर उधर के पदार्थों के पाने की इच्छाओं की एकदम कमी, आबहवा की विशेषता, भू-प्रकृति की अनुपमता, आदि कारणों से भी लोगों का मन शान्त और निश्चल बना रहता है।

अब हम यहाँ यह दिखाने की कोशिश करेंगे, कि इस 'सुखम-सुखमा' नामक आरे की जन-संख्या की यह आशातीत कमी, इस की अपनी सम्पूर्ण परिस्थितियों के साथ मन मिलाते हुए, आज के विज्ञान के साथ किसप्रकार और कहां तक मेल खाती है।

पाठकों को प्रायः यह अच्छी तरह मालूम होगा, कि सन् १९२१ ई० में हमारे इस देश भारतवर्ष की जन-संख्या लगभग बत्तीस करोड़ आँकी गई थी। पर वही जन-संख्या दश वर्ष के बाद ही, सन् १९३१ ई० की मर्दुम-शुमारी के अनुसार, लगभग पैंतीस करोड़ से भी कुछ ऊपर जा पहुँची। फिर उन्हें यह भी कभी भुला न देना होगा, कि इस पिछली मर्दुम-शुमारी के समय देश में, उत्तर से दक्षिण, और पूर्व से पश्चिम तक, सभी स्थानों में, अकसर सविनय क़ानून-भंग और विदेशी माल के बहिष्कार की नीति ने, बड़े ही भयंकर रूप से ज़ोर पकड़ रक्खा था। दूसरे, सरकारी कर वसूली की नीति से भी तंग आ कर, गुजरात आदि प्रांतों के लोग, घर-द्वार और गांव तथा प्रान्त

छोड़ कर जंगलों में या इधर उधर की बस्तियों में अपना गुजर बसर कर रहे थे। अस्तु। इन्हीं ऊपर कही हुई नीतियों के कारणों से कई प्रान्तों के कई बस्तियों के कई घरानों ने तो बिलकुल ही जन-संख्या न बताई; कइयों ने बताते हुए भी ठीक अंक न दिये, और कुछ लोग, जो घर बार छोड़ कर, बस्तियों के बाहर, इधर उधर जंगलों में, चलते-फिरते मुसाफिरों की भाँति जा बसे थे, उनकी गिनती स्वयं सरकार न कर सकी। फिर, इस देश के रोगों और मृत्यु की संख्या भी दुनियां के और देशों से किसी कदर कम नहीं है। फिर, इन्हीं दश वर्षों की अवधि में, विदेशी माल की जो आयात देश में हुई, उस से भी देश की अटूट धन-राशि विदेशों में चली गई। देश का अधिकांश जन-समाज पैसे पैसे का मुहताज़ बन गया। इन सब घटनाओं के घटने पर भी, देश की जन-संख्या जहाँ पहले एक रुपया थी, वहां अब साढ़े सत्रह आने हो गई! हमारी समझ से, हम तो यही समझते हैं, कि (१) देश की अथक रूप से बढ़ती हुई ग़रीबी, (२) पश्चिमी सभ्यता में रह कर जीवन को बिताने की चाट, और उस के कारण खर्च में एकदम अनाप-शनाप बढ़ती, (३) देश में नौकरी के सिवाय आमदनी के साधनों का अति ही अभाव और (४) इन कारणों से, चिन्ताओं की बेहद बढ़ती, तथा किसी प्रकार के अन्य सुख के एक दम अभाव में, जब तब और जहाँ तहाँ पशुओं के समान केवल एक मात्र काम-वासना की तृप्ति ही में सुख की समझ, येही चार मोटे मोटे कारण प्रायः इस देश की लोक-संख्या की बढ़ती के हो सकते हैं। हमारे कथन की इस सच्चाई को हम एक दूसरे उदाहरण के द्वारा भी घटा सकते हैं। हम आज भारत की प्रत्येक छोटी बड़ी बस्तियों में, जिन भिखारियों को सड़कों के किनारे बैठे देखते हैं और काम वासना की पूर्ति के सुख के सिवाय, वे संसार के अन्य सभी सुखों से प्रायः एकदम अलग होते हैं, उन के यहां दर्जनों बच्चे-ढेर के ढेर बच्चे पैदा हो जाते हैं परन्तु सम्पति-शाली गृहस्थियों के यहां सन्तानों का अकसर अभाव देखा और सुना जाता है। बस, इन्हीं कारणों के अभाव में उस समय अर्थात् सुखम-सुखमा आरे में, पृथ्वी की लोक संख्या, अँगुलियों पर गिनने—लायक होती है।

लोगों का शरीर स-शक्त और बड़ाही सुन्दर होता है, और प्रकृति उन की बड़ी ही कोमल इस आरे में रहती है। मनुष्यों के पुत्र और पुत्री, दोनों जब यौवन-काल में पहुँच जाते हैं, उन का अपनी स्त्रियों के साथ स्वर्ग-वास हो जाता

है। मनुष्य जो इस समय मरते हैं, उन का किसी भी तरह का कोई अग्नि-संस्कार इस समय नहीं किया जाता। शवों को जंगलों में इधर उधर रख देना, यही एक मात्र अन्त्येष्ठि-क्रिया इस आरे की समझी और मानी जाती है। इस प्रकार, यह आरा चार कोटाकोटि सागरोपम तक चलता रहता है। इस के बीत जाने पर 'सुखमा' नाम के दूसरे आरे का आरम्भ होता है।

दूसरा आरा "सुखमा".

इस सुखमा नामक दूसरे आरे की स्थिति, प्रायः पहले ही आरे की स्थिति से मिलती-जुलती होती है। भेद केवल इतना ही होता है, कि इस आरे में सुख की मात्रा प्रथम के आरे की अपेक्षा कम होती है। आयुष्य भी दो पल्योपम ही की रह जाती है। जहां पहले आरे में, बालक उन्पचास दिन की आयु को पा कर, एक युवक मनुष्य के समान होशियार बन जाते थे, वहां अब इस आरे में उतना सज्ञान और सबल बनने में पूरे चौंसठ दिन लग जाते हैं। इस आरे की अवधि तीन कोटाकोटि सागरोपम की कही गई है। जैसे जैसे इस आरे की अवधि बीतती जाती है। वैसे ही वैसे इस के सुखों में भी न्यूनता आती जाती है। अब के फल भी उतने रसदार, मधुर, शक्ति देनेवाले नहीं रहते, जितने कि पहले आरे के होते थे। फिर, पहले आरे के फलों को खा कर, मनुष्य तीन तीन दिन तक के लिए खाने की ओर से बेफिक्र बन बैठते थे, वहां अब केवल दो ही दिन के बाद, दूसरी बार खाने की आवश्यक्ता होती है। मनुष्य बल में पहले आरे की अपेक्षा एक मात्रा में कम हो गये हैं; और उन के शरीर का माप-तोल भी इस आरे में पहले की अपेक्षा कुछ कम जान पड़ता है। लोगों की शरीर की प्रकृति पहले जो एकदम कोमल थी, वह भी अब इस दूसरे आरे में वैसी नहीं जान पड़ती।

तीसरा आरा सुखम-दुखमा.

यह आरा शुभ और अशुभ प्रकृतिवाला होता है। यह दो कोटाकोटि सागरोपम की अवधि वाला माना गया है। इस आरे के मनुष्यों की उम्र एक पल्योपम की मानी गई है। भूख, मनुष्यों को अब प्रति दिन लगने लगती है; परन्तु आहार फलों ही का किया जाता है। बालक भी अब अपने जन्म-

दिन के उन्यासी दिन के पश्चात् सबल और सज्ञान होते हैं। जिधर उधर अब कल्पवृक्ष भी कुछ सूखे से दिखाई पड़ने लगते हैं। अब उन से पहले के समान फल भी नहीं मिलते ; उन की मधुरता, स्वाद और मनहरणता सभी बातों में पहले की अपेक्षा बड़ा भारी फ़र्क़ पड़ जाता है। जैसे जैसे इस आरे का समय बीतता चला जाता है, ठीक वैसे ही वैसे, मनुष्यों के सद्गुणों में भी प्रति दिन घटती होती चली जाती है। अब उन के दिलों में लोभ की उत्पत्ति हो जाती है। जिस के कारण, वे नाना प्रकार के दुख उठाते हैं। कई तरह की हानियां भी अब वे सहन करते हैं। उन की मनोवृत्तियों के यों बिगड़ जाने और उन में ऐसा हेर फेर हो जाने के कारण, लोगों को इस आरे में अब क़ायदे क़ानून की आवश्यक्ता जान पड़ने लगती है। अब उन्हें एक ऐसे मनुष्य की आवश्यकता भी प्रतीत होने लगती है, जिससे सब लोग डरते रहें; और जो सब से अधिक सबल तथा सज्ञान भी हो इतना ही नहीं,वह, बुरे और मलीन कर्म करके समाज की शान्ति भंग करनेवाले को उचित दंड भी दे सके।

राजाओं की उत्पत्ति और राज्यों की नींव इसी काल में पृथ्वी पर पड़ती है। तरह तरह के क़ानून क़ायदों की रचना होती है। अत्याचारी, अन्यायी और आततायी लोग, तरह तरह के राज-दण्डों से, समय समय पर, दंडित किये जाते हैं। लोग, पाप-पुण्य से परिचय प्राप्त करते हैं। दान देने की प्रथा जारी होती है। निर्वाण-पद की शोध भी लोग इसी आरे में लगाते हैं। और यहीं से नरक की यात्रा प्रारम्भ होती है। नाना-प्रकार की कलाओं और विद्याओं का पता लगाया जाता है। उन के यथोचित सिखाये जाने की योजना, राजा के द्वारा जगह जगह होती है। खेती कर के अनेकों प्रकार की फसलें तथा बनस्पतियां पैदा की जाने लगती है। विधि विधान के साथ वैवाहिक सम्बन्ध होने की प्रथा जारी होती है।

चौथा आरा दुखम-सुखमा.

इस चौथे आरे में कल्पवृक्ष अब कहीं देखे भी नहीं मिलते। पृथ्वी पर से उन का अब एकदम अभाव हो जाता है। मनुष्यों को भूख भी भयंकरता से रोज सताती है। वे खाते रोज हैं; परन्तु अघाते नहीं हैं। लोग अब मिहनत मज़दूरी

करना भी जान जाते हैं। वे अब प्रायः उसी के ज़र्ये अपना जीवन बसर भी करते हैं। प्रत्येक वस्तु में, तीसरे आरे की अपेक्षा, अब विशेष ख़राबी आ गई जान पड़ती है। लोगों का भोजन अब साधारण फलों पर आ टिकता है। लोगों के बल, वीर्य, विवेक, बुद्धि, सभी बातों में, तीसरे आरे की अपेक्षा बड़ी भारी कमी हो जाती है। इस आरे में लोगों की आयु ज़्यादा से ज़्यादा एक करोड़ पूर्व वर्षों की रह जाती है। दुःख, रोग, शोक, सन्ताप, भय, मोह, लोभ, मात्सर्य, आदि का परिमाण भी, आज तीसरे आरे की अपेक्षा, बहुत अधिक बढ़ा हुआ नज़र आता है। बयांलीस हजार वर्ष कम, एक कोटाकोटि सागरोपम के काल परिमाण का यह आरा माना जाता है। लोगों में भय और लुक छिप कर पाप कर्म करने की प्रवृत्ति की जागृति हो जाती है। नाना प्रकार की कलाओं और विद्याओं की शोध और भी विशेष रूप से इस आरे में होती है। तीसरे आरे की अपेक्षा लोग पाप और पुण्य से विशेष परिचय पा जाते हैं। दान देना ज़ोरों से ज़ारी होता है। इसी आरे में, स्वर्ग-प्राप्ति के लिए लोग भांति भांति के साधनों को खोज निकालते हैं। साथ ही नरक के भय की भावना भी उन के दिलों में खूब जोर पकड़ जाती है।

पांचवां आरा दुखमा

पांचवां आरा दुखमा नामवाला है। यह आज कल के ज़माने में वर्त रहा है। इस की अवधि इक्कीस हज़ार वर्ष की होती है। इसकी इस अवधि में से दो हज़ार, चार सौ, अट्ठावन (२४५८) वर्ष के लगभग अभी तक बीत चुके हैं। अब इस आरे के अठारह हज़ार, पांच सौ, बेंतालीस (१८५४२) वर्ष और बीतने रहे हैं। जैसे जैसे इस आरे की अवधि बीतती जाती है, प्रत्येक वस्तु की स्निग्धता, सुन्दरता, और रूप, रंग आदि भी वैसे ही वैसे कम कम होते जाते हैं। जलवायु, इस आरे की पहले के आरों से तो ख़राब है ही; परन्तु जो है, वह भी आये दिन बिगड़ती चली जाती है। आज, देश का एक मोटा भाग अनावृष्टि से दुखित है, तो दूसरा भाग अति वर्षा के कारण मटियामेट हुआ जाता है। अब पृथ्वी में भी वह रस नहीं रहा। उस की बहु-मूल्य रत्नों आदि की खदानें आज प्रायः नष्ट सी हो चुकी हैं। गजमुक्ता, सूर्य-कान्त-मणियां, और पारस आदि का इस ज़माने में कहीं

पता ही नहीं रहा। घर के सभी लोग दिन रात सिर-तोड़ परिश्रम करने में जुटे पड़े हैं, तब भी पेट की अग्नि शान्त नहीं हो पाती। आशा और तृष्णा बेतहाशा बढ़ गई और बढ़ती जाती हैं। आज लोग केवल पेट पालने की विद्या ही में जीवन की इति श्री समझते हैं। इस आरे में, लोग अपनी विद्या और बुद्धि की कारस्तानी, केवल इसी बात में समझते हैं, कि दूसरे को धोखा दे कर, अपने आपको बड़ा कैसे बनाया जाय। वे काम भी आज ऐसे ही करते हैं, कि जिन से दूसरे चाहे भूखों मरें; वे बिलख बिलख कर, अन्न अन्न करते ही मर जायँ, तो बला से! पर अपना पेट बड़ा बने; फिर चाहे वे अजीर्ण ही से रोगी बन कर मर जायँ, तो कुछ पर्वाह नहीं! आज लोग, जिन के बल से बड़े बनते हैं, उन्हें भरपेट कुचलने ही में वे अपनी शान और बड़प्पन की मर्यादा समझते हैं। इस आरे में, गोरे, काले, पीले और जाति-पाँति का झगड़ा, चारों ओर नज़र आता है। छूत और अछूत का रोग भी आज उन्हें आ घेरता है। वृक्षों और फलों की कमी के कारण, लोगों का आहार भी अन्न और उस के द्वारा बनने वाली तरह तरह की ज़ायकेदार चीज़ें बन जाती हैं। इस आरे के लोग तरह तरह के ज़ायकेदार पदार्थों का सेवन कर, तरह तरह के रोगों में फंसते हैं। नाना प्रकार की औषधियों का सेवन करने पर भी रोगों की बढ़ती होती ही जाती है। भक्ष्याभक्ष्य और पेय-अपेय सभी प्रकार के खान-पानों का आज के आरे में प्रचार ज़ोरों से हो निकलता है।

अपने अछूत भाइयों से अवश्य और बेहद परहेज़ मानने लगते हैं। वे उन्हें गले लगाना तो बहुत ही दूर रहा, वे उनके साथ सहानुभूति के दो शब्द तक नहीं दर्शाते। आज दान देने की प्रथा बदल गई है। मान पाने और नाम फैलने के लिए इस आरे में उनका उपयोग होने लगता है। आस्तिकता के अब चारों ओर से पैर उखड़ते जाते हैं; और उसकी जगह नास्तिकता अपना झंडा रोपती जाती है; अपना भरपूर पैर पसारा करती जाती है। अब भगवान् के विश्वव्यापक रूप के ज्ञान की झांकी, अज्ञान, मोह और स्वार्थ के कारण, केवल अपने-पराये ही में देखी सुनी जाने लगती है। आज वास्तविक सचाई, सदाचार, और सद्गुणों का भी, आरे की समाप्ति के साथ ही साथ, शीघ्र गति से अन्त होता चला जाता है। देश की दशों दिशाओं में रोग, भय, शोक और सन्तापों का नित नया तकाज़ा होता जाता है। दुष्कालों की ज़ोरदार बाढ़ आरे के साथ ही साथ अपना भयंकर और नाशक रूप

दिखाती जाती है। आचार-विचार के भ्रष्ट और रहन-सहन के प्रकृति के विरुद्ध हो जाने के कारण, इस आरे में जन्मे हुए मनुष्यों की आयु, अधिक से अधिक दो सौ वर्षों से किसी भी हालत में परे नहीं जाने पाती। वे, कैसा ही अच्छा आहार-विहार और खान-पान आदि होने पर भी, आरे के अनुसार, दो सौ से कम ही वर्षों की उम्रवाले देखे, सुने और अनुभव किये जाते हैं। ईर्ष्याभाव चारों ओर बेहद बढ़ जाता है। सबल, निर्बलों को सताने ही में अपनी शक्ति की शोभा और मान की मर्यादा मानता है। जिस तरफ़ भी निगाह दौड़ाओ, उसी ओर छल, कपट, पाप, प्रपंच आदि अपने बेतहाशा बढ़े हुए रूप में मिलते हैं। संयमशीलता का गला, काल की अवधि के साथ दिन-प्रतिदिन घुटता जाता है। व्यभिचार की बढ़ती, विशेष कर मनुष्य कहलानेवाले प्राणियों में तो, बरसाती नदी की बाढ़ की भांति, किनारे छोड़ कर बढ़ जाती है। राजा लोग तुच्छ लोभ के वश हो कर, युद्ध छेड़ देते हैं। प्रजा का धन और प्राण अपहरण करना तो, उन के बांयें हाथ का खेल हो जाता है। एक ओर राजा की आमदनी का अधिकांश भाग जहां उनकी बढ़ती हुई ऐयाशी में स्वाहा होता है, वहां दूसरी ओर प्रजा के ऊपर रोज़ कोई न कोई नये टैक्स बैठाये जाते हैं। ऊपर कही हुई सम्पूर्ण बातें, आरे की समाप्ति के साथ ही साथ, 'दिन दूनी रात-चौगुनी' फैलती जाती हैं। अन्त में जाते जाते तो, यहां तक स्थिति हो जाती है, कि पृथ्वी-तल से धर्म-नीति का झंडा बिलकुल उखड़ जाता है। वृक्ष सूख जाते हैं। वर्षा का कई वर्षों तक पता ही नहीं लगता। खेती में डाला हुआ अनाज पड़े पड़े ही, सूर्य और पृथ्वी की तपन के मारे जल भुन जाता है। खेती कभी कभी फलती फूलती भी है, तो बहुत ही कम और सत्वहीन अनाज को पैदा करती है। लोग अन्न-अन्न और पानी-पानी की पुकार मचाते हुए, तड़फ तड़फ कर पट से प्राण दे देते हैं। अन्न पानी न मिलने पर भी विषय-भोग की इच्छा अथक रूप से बढ़ जाती है। लोग मां, बहिन, बेटी, आदि अपने पराये भावों को भुला कर अपनी काम वासनाओं की पूर्ति करने में, जहां तहां कौए कुत्तों की भांति टूट पड़ते हैं। अपनी इस वासना की पूर्ति में वे दिन, रात, मध्याह्न, सांझ सबेरा, कुछ भी नहीं देखते। सन्तान-वृद्धि भी कीड़ों मकोड़ों की भांति होती है; और मरती भी जल्दी से उसी क़दर है। लोगों को ज्योंहीं दाने पानी की सुध आती है, त्राहि, त्राहि, मचाते हैं। मेघ पानी के बदले, बिजली की धाराओं को पृथ्वी पर बरसाते हैं। जिन से रहे सहे

झाड़ झंखाड़ भी झुलस कर ठूंठ से बन जाते हैं। भयंकर सूखी और गर्म आँधियां चलती हैं। मकान और झाड़, जिन से, पृथ्वी को कंपाते हुए गिरते हैं। जिन के नीचे दब दब कर, मनुष्य कीड़ों मकोड़ों की भांति मरते रहते हैं! यों, नाश या काल चारों ओर से हाथ धो कर प्राणियों के पीछे पड़ता है। वह अपने बल-भर, दोनों हाथों से उलीच उलीच कर, प्राणियों को अपने विकराल और विस्तृत मुंह में डालता है। जातिपांति का बण्टाढाल हो जाता है। विद्याओं और कलाओं का लोप हो जाता है। चारों ओर राज क्रान्तियों की बेहद बाढ़ आ जाती है। राज-सत्ता का भय लोगों के दिलों से बिलकुल भाग जाता है। राजा और राज्य दोनों चौपट्ट हो जाते हैं। धर्म को लोग ढकोसला मानने लग जाते हैं। दान पुण्य आदि का दुनिया के पृष्ठ से बिलकुल दीवाला खसक जाता है। दुनिया के अन्य भागों की नदियां सूख जाती हैं। केवल चूलहेम पर्वत के ऊंचे प्रदेश से निकलने वाली नदियां, किसी अंश में सनीरा रहती हैं। अन्य सारे जलाशय सूख कर मरु भूमि बन जाते हैं। समुद्रों की अपनी सीमा भी आज मर्यादा में नहीं रहती। कहने का भाव यह है, कि यह आरा अपने से पहले वाले चारों आरों से हर हालत में गया-गुज़रा, दुखदाई और पाप-प्रवर्त्तक होता है। इस आरे के अन्त में साधु सन्तों का विशेष नाम कहीं सुनने को भी नहीं मिलता। हां, केवल एक साधु और एक साध्वी रह जावेंगे वे भी पांचवें आरे की समाप्ति के साथ ही साथ स्वर्ग को चले जावेंगे।

छठा आरा दुःखम-दुःखमा

पाँचवें आरे की समाप्ति हो जाने पर इस आरे का आरम्भ होता है। इस आरे की अवधि भी इक्कीस हज़ार वर्ष ही की होती है। यह सब से अधिक निकृष्ट और आदि से अन्त तक कलह, अशान्ति, पाप और तापों से भरा पूरा होता है। सुख और शान्ति अब भरत-खण्ड में कहीं ढूँढे भी नहीं मिलती। प्राणी जो इधर उधर थोड़े बहुत बचे-खुचे रहते हैं, रात-दिन भूख और प्यास के मारे इधर से उधर और उधर से इधर त्राहि त्राहि पुकारे फिरते हैं। वे आठों पहर असहनीय शोक, सन्ताप, दुख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहंकार, भय, भ्रम और वैर भाव की धधकती हुई भट्टियों में तँचते रहते हैं। बेचारे, विश्राम

किस चिड़िया का नाम है, जानते तक नहीं। जिधर देखो, उधर ही आर्तनाद, रोना, पीटना, तड़फना, आदि की क्रियायें दिख पड़ती हैं। पृथ्वी पर झाड़, झंखाड़, खेती बारी, इनका तो बीज ही बूड़ जाता है। सूर्य की गरमी से जमीन के ज़रा ही तप जाने पर, वह गर्म तवे से भी अधिक ताती जान पड़ती है। सब दिन और सब काल प्रचंड अग्नि-शिखा की भाँति, दिन के समय, गर्म और खरी, झुलसा देने वाली हवायें बहती हैं। दिन में तो यह भयंकर गर्मी का प्रचण्ड प्रकोप और रातों में कड़ाके की ठंढक प्राणों को निकाल कर आगे रख देती है। ऐसे प्राण नाशक काल में एक मुहूर्त्त भी निकालना जहाँ मुश्किल हो जाता है, वहाँ इस आरे के मनुष्य अपने जन्मजन्मान्तरों के पाप कर्मों का भोग भोगने और उन का प्रायश्चित्त करने के लिए, एक घड़ी, एक पहर, यों पहर के बाद दिन और दिन के पीछे रात और योंही महीने और वर्ष, एक के बाद एक गिनते हुए, अपनी आयु का अन्त करते हैं; अपनी जीवनी के लगभग बीस वर्ष काटते हैं। आरे के अन्त में तो उन की यह अवधि, घटते घटते सोलह वर्ष ही की रह जाती है। इस आरे के मनुष्य, चूलहेम पर्वत के ऊँचे प्रदेशों से निकलनेवाली गंगा और सिन्धु नदियों के किनारे वेताढ्य नामक पर्वत की गुफाओं ही में रहते हैं। इस पर्वत की गुफाओं में आश्रय पाये हुए ये लोग, दिन-भर की कड़ाके की गर्मी और रात की प्राणनाशक और ठार कर देनेवाली ठंढक के कारण, मध्य दिन या रात्रियों में कभी भी गुफाओं में से बाहर नहीं निकल पाते। वे लोग केवल सूर्योदय या सूर्यास्त के समय, उन गुफाओं में से बाहर आ कर, पेट भरने की फिराक में, अपने समीप की नदियों के किनारे किनारे घूमते फिरते हैं। वे उन में से मछलियां आदि जल-जीवों को निकाल कर अपना निर्वाह करते हैं। आज देश के चारों कोने चौपट्ट दिख पड़ते हैं। लोगों की इन्द्रिय-जन्य वासनाएँ, पाँचवें आरे के अन्त के समय से भी, इस आरे की शुरुआत के साथ ही साथ और भी बढ़ती चली जाती है। अपने पराये का भान तो पहले ही भाग चुका था। अब तो लोग जिस किसी भी तरह हो, अपनी काम-वासना की पूर्ति करने में नहीं चूकते। आरे के अनुसार, अब वे इसी को अपना धर्म और कर्म मानते हैं। बड़े बड़े पाप की ओर उन की प्रवृत्ति साहजिक रूप से होती है। सर्वस्वहीन रह जाने पर भी, अहम्मन्यता का भाव उन में इस कदर बढ़ता हुआ मिलता है, कि वे अपने सामने संसार की हस्ती को नकुछ और हेय समझते हैं। ईश्वर और धर्म का अस्तित्व तो यहां से, आज से बहुत पहले ही उठ चुका है। वे लोग

इस आरे में ऐसे अधमाधम काम करने से भी नहीं चूकते, नहीं हिचकते, जिन के केवल स्मरण मात्र से भय, घृणा और कँपकँपी छूट जाती है। क्या एक, और क्या दो, उन के सभी काम ऐसे ही विकट, भयंकर, घिनौने और वीभत्स होते हैं। वे प्रत्येक घिनौने से घिनौने काम को ऐसी स्वेच्छाचारिता से करते हैं, मानों उन के ऊपर उस काम को देखनेवाला कोई है ही नहीं। ऐसी कौनसी बात या काम है, जिसे इस आरे के लोग अपने स्वार्थ-सिद्धि के लिए उठा कर नहीं रखते। अन्त भी उन का वैसा ही दुर्दान्त होता है। नाना भाँति के पापाचारों के कारण, भ्रष्ट और हीन-हीन, ये लोग अन्त में सड़ सड़ कर और अनेकों प्रकार के करुणापूर्ण कष्ट उठा उठा कर मरते हैं। यों, कहने का तात्पर्य यह है, कि लोग, जन्म से मरण पर्यन्त, इस आरे में, घोरतम कष्ट और पाप-भरा जीवन बिताते हैं।

प्रकरण-तीसरा

तीर्थंकर और आरे

पाठको ! आरों का संक्षिप्त वर्णन तो आप ने ऊपर पढ़ ही लिया। अब हम थोड़े में आप को बतावेंगे, कि तीर्थंकर किन किन आरों में हुए हैं। और उन आरों में उनके होने की क्या आवश्यकता संसार को थी। तीसरे आरे के पल्योपम का आठवां भाग जब अवशेष रहा था, उस समय सुमति, प्रतिश्रुति, सीमंकर, सीमंधर, और क्षेमंकर ये पांच कुलकर यहां हुए। उस समय के लोगों ने इन्हीं को अपने मुखिये चुन लिये। इन्हीं की आज्ञा और मर्यादा को वे पर्याप्त समझने लगे। ये गंगा और सिन्धु नदों के मध्य-खण्ड में रहते थे। उस काल, लोगों के मनों में कुछ विशेष ममत्व-भाव और मोह की उत्पत्ति हो गई थी। इस के कारण को खोज निकालना अत्यन्त सहज है। उस समय कल्पवृक्षों की चहुं ओर कमी हो रही थी। रहे हुए वृक्ष भी मनवांछित मीठे, रसदार और यथेष्ट परिमाण में फल नहीं दे सकते थे; जिस का वर्णन हम यथा-स्थान पहले कर आये हैं। संसार का अटल नियम है, कि यहाँ प्रकृति-दत्त देनगियों में जब कभी कोई विशेष कमी दिख पड़ने लगती है, चट प्राणियों के अन्तःकरणों में अपना स्वार्थ-साधन करने के लिए, अपने पराये का भाव उत्पन्न हो जाता है। एक तो, प्रकृति की देनगी ही की कमी; दूसरी, लोगों के दिलों में उस वस्तु के अभाव में, आये दिनों की आवश्यकता को पूरी करने के लिए अधिकाधिक संग्रह करके रखने की इच्छा, इन दोनों बातों के मिल जाने से तो ममत्व और मोह के भावों की बहुत ही अधिक बढ़ती हो जाती है। बस, उस काल में भी, लोगों ने जब कल्पवृक्षों की कमी होते देखी, तत्काल ही उन के मनों में भी, " ये वृक्ष हमारे

हैं; ये झाड़ उन के हिस्से के हैं, अमुक वृक्षों से फल लेने का अधिकार हमारे सिवाय और किसी को नहीं है; तुम ने अमुक वृक्षों से फल क्यों ले लिये? 'इन तरह तरह के मोह-भरे भावों का उदय हो आया। इस प्रकार के टंटा-फसादों को देख देख कर, इन कुलकरों के हृदय में दुख होता। वे लोगों को समझाने लगते। उन के इस परोपकार-सने और करुणा-भरे काम को देख कर, लोग समझ भी जाते। उस समय, इस प्रकार का समझौता करवा देने के सिवाय, न तो कोई राजनीति ही जगत् में थी; और न कोई दंड-नीति ही लोगों में प्रचलित थी। जैसे धीरे धीरे ममत्व अपना ज़ोर पकड़ता गया, ममता अपना पैर-पसारा करती गयी, वैसे ही वैसे उन कुलकरों के मुखियापन की हैसियत से, लोगों को उनके द्वारा समझाने की नीति में भी फ़र्क आता गया। अन्त में जाते जाते, लोगों को समझाने के लिए "हा! तुम ने ऐसा कर लिया? अफ़सोस!" ये शब्द उन के द्वारा काम में आने लगे। उन के इन्हीं शब्दों को सुन कर, लोगों के दिल को चोट पहुँचती; वे पश्चात्ताप करते; और समझ भी जाते थे। इनके बाद चक्षुष्मान और विमलवाहन मुखिया हुए। फिर विमलवाहन के बाद उन का पुत्र, चक्षुष्मान मुखिया बना। इन के समय में भी "हा! तुमने ऐसा कर लिया? अफ़सोस!" यही बोल, दण्ड स्वरूप काम में आता रहा अपने मुखिया के मुँह से इन्हीं शब्दों को सुन कर, आपस में दो विरोधी व्यक्ति, शान्त हो जाते थे। यही नहीं, अपने मुखिया के इन शब्दों के द्वारा उन अपराधी व्यक्तियों की आत्मा, स्वयं उन्हें कोसने भी लगती। चक्षुष्मान के यहां से चल बसने के बाद, उन का पुत्र, यशस्वान और तब उन का बेटा अभिचन्द्र, ये लोग भी क्रमशः मुखिया पद ही के लिए चुने गये। इन के समय में, दण्ड की ऊपरवाली मात्रा ने अपना कुछ थोड़ा सा रूप बदला। यह दण्ड, अब साधारण अपराध के अपराधियों के लिए माना गया, विशेष अपराधवालों के लिए यह दण्ड तो था ही; परन्तु साथ ही इसके, 'मकार' अर्थात् 'आगे ऐसा कभी मत करना,' उस में इतना भाग और जोड़ दिया गया। दंड की यह मात्रा, अभिचन्द्र और चन्द्राभ के पुत्र प्रश्रेणी और उनके पुत्र मरुदेव, जो मुखिया थे, उन के समय तक जारी रही। मरुदेव के पुत्र नाभि के मुखिया होने तक के काल में, अब तक लोगों की मनोवृत्तियां पहले से कुछ अधिक रूप से बिगड़ चुकी थीं। अभी तक के दंड की भी लोग अवहेलना करने लगे थे। अतः आवश्यकता थी, कि दंड के उसके अपने पुराने रूप में भी कुछ और जोड़ा जाता; पहले की अपेक्षा उसे भी कुछ

और बढ़ाया जाता। बस, इसी कारण से, पहले की प्रचलित दण्डाज्ञा में 'धिक्कार' वाचक शब्द और जोड़ा गया। उस समय के अपराधी मनुष्यों को उन के एक बार के अपराध में, उन के अपने मुखिया के द्वारा, पहले की दण्डाज्ञा के साथ 'धिक्कार' है, इतना मात्र कहे जाने का असर, उन के हृदयों पर ऐसा गहरा पड़ता था, कि फिर उन के अपने जीवन में उन्हें कोई दंडनीय काम करने का कभी मौका ही नहीं आता था। 'धिक्कार' है, इस बोल मात्र की सजा को, उस जमाने के लोग, इतना अधिक सख्त, असहनीय और अपमान-जनक समझते थे, जितना, कि आज के लोग 'काले पानी' या 'फांसी की सजा' को समझते हैं। ये नाभि नामक मुखिया विशेष कर उस भूमि के परले पार, जिसे आज कल काश्मीर प्रांत कहते हैं, उस के वन में रहा करते थे। इन की स्त्री का नाम मरुदेवी था। एक दिन का जिक्र है, कि जब मरुदेवी अपने बिछौने पर रात के समय सो रही थी, उस रात्रि के पिछले भाग में, सर्वार्थसिद्ध नामक स्वर्ग से चव कर एक देव इन की कोख में आया। मरुदेवी को उस समय चौदह स्वप्न भी दिखाई दिये। गर्भ का समय पूरा हो चुकने पर, चैत्र कृष्ण ८ को एक बड़े ही सुन्दर, कान्तिशाली, प्रलम्ब बाहु, दिव्य शरीरी और बड़े ही चित्ताकर्षक बालक का जन्म हुआ। इन्हें आगे चल कर ऋषभदेवजी ऐसा नाम दिया गया। इन का बालकपन बड़े ही लाड़ प्यार और खेल कूद में बीता। तरुण होने पर इन के अलग अलग दो विवाह हुए। उन में से एक स्त्री का नाम सुमंगला था; और दूसरी का सुनंदा। अपनी बपौती के अधिकारों के अनुसार ये ऋषभदेवजी भी मुखिया पद के लिए चुने गये। परन्तु इन्हों ने अपने मुखियापन ही में अपने जीवन की इति श्री नहीं कर दी। इन्हों ने अपनी बपौती के वंशानुगत गुणों; जन्म-जात अपनी दिव्य शक्तियों; पूर्व-जन्मों के सुकृतों के कारण पाये हुए मान, बल, वैभव, सौंदर्य और सदाचार आदि बातों; और इन सब के ऊपर, भयंकर से भयंकर और ज़बर्दस्त से भी ज़बर्दस्त मनुष्य को, केवल अपनी वाणी मात्र की मधुरता और मोहकता आदि की शक्तियों; आदि की सहायता से, अपने मुखियापन को बहुत शीघ्र ही एक राजापन के रूप में बदल दिया। तभी से संसार में राज्य की स्थापना हुई। ऋषभदेव ही उस संसारी राज्य के सब से पहले राजा बने। अपनी जन्म-भूमि के बनैले प्रान्त में इन्होंने विनीता नामक नगरी रचाई। इन्होंने अपने राज्य में धर्म-नीति, राज-नीति, संसार-नीति, व्यापार-नीति, आदि कई नीतियों को जारी की। अपने राज्य

की नींव को, फिर इन्हीं नीतियों के पाये पर मज़बूत और विस्तृत बनाई। यही सब से पहले महापुरुष जगत् में हुए, जिन्होंने व्यावसायिक और अनेकों प्रकार की ललित कलाओं को व्यवस्थित रूप यहां दिया। कुम्हार, लोहार, जुलाहे, चित्रकार, कृषक, शिल्पकार, बढ़ई, दर्जी, तेली, गन्धी, आदि लोगों की, उन के व्यवसायों के कारण भिन्न भिन्न जातियां बनी। इन अनेकों प्रकार के व्यवसायियों को, इन के व्यवसाय की, व्यवस्थित रूप से शिक्षा भी जगह जगह दी जाने का यथोचित प्रबन्ध किया गया। व्यापार और वाणिज्य की विद्याओं का उद्घाटन हुआ। लोग, व्यापार-नीति को जान कर, वस्तुओं की अदला बदली की क्रिया के द्वारा, आनन्द-पूर्वक अपने जीवन को समुन्नत बनाने में लगे। ऋषभदेवजी की मलमंसाहत, लोकप्रियता और राजनीति में लोगों ने अपनी इह-लौकिक उन्नति, और पर-भव के सुधार का अनुभव किया। तब तो वे और भी दूनी दिल-चस्पी से, राजा और राज्य की उन्नति में, जान जोड़ कर जुट पड़े। यों राजा ने प्रजा की और प्रजा ने राजा तथा राज्य की उन्नति को अपनी अपनी उन्नति माना। दोनों ओर से सौहार्द्र-भाव की नदियां उमड़ने लगीं। इतना सब होते हुए भी, कोई भी पुरुष, उस के अपने व्यवसाय के कारण, किसी के भी द्वारा, उत्तम या अधम अथवा ऊँचा या नीचा, नहीं माना जाता था। सब की निगाहों में सब कोई समान थे। कहने का आशय यह है, कि आज के समान उस समय, कोई भी किसी को नीच या ऊँच नहीं समझता था। कोई किसी भी व्यवसाय का पुरुष होता, मनुष्य-समाज के प्रत्येक अधिकारों का, वह भी उतना ही हक़दार और प्रीति-भाजन बनता, जितना कि उस समाज के और और पुरुष होते थे। उस ज़माने के लोगों के सिर छूआछूत का भूत सवार नहीं था। वास्तव में होना भी ऐसा ही चाहिए। मनुष्य-समाज के पूर्वज महापुरुषों ने, मनुष्य-समाज की नाना भांति की कमजोरियों को दूर करने; उस की नींव को मजबूत बनाने; प्रत्येक मनुष्य का प्रत्येक काम जल्दी से जल्दी और आसान से आसान तरीके से निकल सकने; प्रत्येक मनुष्य को मुक्ति तक के साधनों को प्राप्त कराने में सहायक बनने; समाज के छोटे बड़े अंग मनुष्य मात्र के शरीर को सुन्दर, स्वस्थ और दीर्घायु बनाये रखने; मनुष्य मात्र को सद्गुणों के सीखने का सुअवसर देने; और सब से अधिक, मनुष्य मात्र में परस्पर भाईचारों का नाता और समानता के भाव बनाये रखने; आदि के परम सुन्दर और लोकोपकारक

तत्वों ही के पायों पर, अनेक प्रकार के व्यवसाय और व्यवसायियों की रचना मनुष्य समाज के लिए की थी। उन का यह उद्देश्य कदापि नहीं था, कि वे तरह तरह के व्यवसाय और व्यवसायियों की रचना कर, मनुष्य-समाज में सत्यानाशक भेद-नीति का प्रचार करते; या ऐसा कर के, वे मनुष्य-समाज की सोलह आना शक्ति को आज के समान टुकड़े टुकड़े करते; या यूं कहो, कि वे अपने शरीर को नाश कर, या उस के टुकड़े टुकड़े कर, उस के कटे हुए टुकड़ों को जीवित रखने का प्रयत्न करते।

पाठको! जो भी कुछ उन्होंने किया था, और कर के थाती के रूप में हमारे लिए रख गये हैं, वह केवल ऊपर के तत्त्वों या उन के समान अन्य उत्तम तत्त्वों ही को स्मरण कर, नर-समाज को सुसंगठित बनाये रखने और सुचारु रूप से उस की आवश्यकताओं की पूर्ति सदा और सब काल होती रहने ही के लिए किया है; और किया था।

अब हम मनुष्य-समाज के पूर्वज महापुरुषों के द्वारा, उस (समाज) के व्यावसायिक विभागों की रचना और उन की आवश्यकता की, हमारे शरीर की रचना से तुलना करते हुए, संक्षेप में यहां यह सिद्ध कर के दिखावेंगे, कि हमारे मानव-समाज की सुस्थिरता, और जीवन के लिए, उन का यह काम हमारे लिए कितना लाभ-दायक और आवश्यक है और था। पाठको! अपने शरीर को, देखिये, मोटे मोटे चार भाग होते हैं। जैसे, (१) सिर-जिस से हम खास कर विचार का काम लेते हैं; (२) हाथ-जिन से किसी भारवान् वस्तु को उठाने धरने, या शरीर की रक्षा का काम लेते हैं; (३) पेट-जो खाये हुए भोजन को पचाता है; और दिन रात अपना काम चलाते रह कर, उस पचाये हुए तरल भाग को खून मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और वीर्य या रज, इन एक के बाद एक कर के सात धातुओं के रूप में बदलता रहता है; तथा अपनी प्रत्येक क्रिया में वह फ़ज़ूल चीजों को मल मूत्र, पसीना, गीजड़ सेंढा, कान का मैल, नाखून, बाल आदि के रूप में बाहर निकालता रहता है। और (४) पैर-जो शरीर को चलने-फिरने में खास सहायता पहुंचाते हैं। या यूं कहो, कि वे सारे शरीर को अपने सिर इधर से उधर और उधर से इधर उठाये उठाये फिरते हैं। हम शरीर के इन्हीं चारों मोटे मोटे भागों को (१) ब्राह्मण, (२) क्षत्रिय, (३) वैश्य और (४)

चौथे वर्ण के लोग, इन नामों से भी, ठीक अपने अपने कामों के अनुसार, पुकार सकते हैं। परन्तु यहां इन अंगों का आपस में यह समझ बैठना, कि "हम तो सब से ऊपर हैं; हम ब्राह्मण हैं। हम्हीं होकर, इसकी, शत्रुओं से रक्षा करते हैं; हम क्षत्रिय हैं; पेट तो वैश्य है; और पैर बेचारे शूद्र हैं। आदि" निरी मूर्खता बतलाने वाला है। यदि विचार कर देखा जाय, तो शरीर की स्थिति और रक्षा के लिए, जिस क़दर उस के सर्वोत्कृष्ट कहलाने वाले भाग अर्थात् सिर की उस में आवश्यकता है; उसी क़दर या उससे भी बहुत अधिक, उसमें मलेन्द्रिय की आवश्यकता है। विचारवान् पाठको! आप ने भली भांति देखा होगा, कि कई आदमी पागल हो जाने पर भी, उन का मग़ज़ बिगड़ जाने पर भी बीसों वर्ष संसार में जीते रहते और जीते रह सकते हैं; परन्तु जिस की मलेन्द्रिय अपना काम करना रोक देती है; अर्थात् जिस की मलेन्द्रिय, पेट में से मैले को बाहर निकाल पटकने के काम को बन्द कर देती है; उस का यहां कुछ भी समय के लिए जीना असम्भव बन जाता है। उस बेचारे को तो अछता पछता कर यहां से सदा के लिए कुछ ही दिनों में, अति शीघ्र ही बिदा होना पड़ता है। इस से यह सिद्ध हुआ, कि राष्ट्र के मनुष्य-समाज रूपी शरीर में ब्राह्मणों के बिगड़ जाने पर भी, कुछ काल तक किसी भी रूप में, उस की स्थिति बनी रह सकती है, परन्तु जिन्हें आज हम शूद्र और अछूत कहते हैं, उन व्यक्तियों के मटियामेट हो जाने से, या उन के अपने काम को बन्द कर देने से, उस मनुष्य-समाज रूपी शरीर की स्थिति घड़ी-पलक की हो जाती है; या यूं कहो, कि उस का जीवन ही असम्भव हो जाता है। अस्तु, सम्पूर्ण मनुष्य-समाज की रक्षा और स्थिति के लिए, उस का किसी भी व्यवसायवाला व्यक्ति, न तो बड़ा ही हो सकता है, और न वह हीन या नीच ही समझा जाना चाहिए। अपने अपने पदों और कर्तव्यों के लिए, अपने अपने पदों पर सभी शोभते हुए हैं। फिर एक को उपयोगी और दूसरों को अनुपयोगी बताना, अपने हृदय की अनुदारता दिखाना है; या अपने पूर्वज महापुरुषों के विचारों का, जिन ने समाज की संस्थिति के लिए यह सुन्दर व्यवस्था की है, दिवाला निकालना है। अतः सज्जनो! किसी को आप अधम कह कर उन के दिल को न दुखाइये। यदि आप उन्हें छूने में अपना अपमान देखते हैं, तो उन्हें मत छूइये। फिर आपको छूने के लिए कहता भी तो कौन है? आप के पूर्वज तो आप से केवल यही कहते हैं, कि आप उन्हें एक मनुष्य समझ

कर, मनुष्यता का व्यवहार उनके साथ कीजिये। उन से घृणा न कीजिये। अपनी कम से कम सहानुभूति तो उनके साथ दिखाइये! क्योंकि:—

निर्मल राखे चांदनी; जैसे पायन्दाज।

वाली कहावत के अनुसार, एकमात्र उन्हीं से आप की शोभा और जीवन की मर्यादा है। फिर वे छोटे हैं, इसीलिए आप बड़े हैं, वे दरिद्री और दुखी हैं इसीलिए आप धनवान् और सुखी हैं; वे मूर्ख हैं, इसीलिए आप विद्वान् हैं; वे सूखा रूखा खा कर दिन काटते हैं, इसीलीए आप हलुवा और रबड़ी खा कर अजीर्ण के रोग से रोगी हैं। अधिक क्या, वे, वेही हैं, जिस से आप, आप बने हुए हैं।

हमारा ऊपर दिया हुआ मनुष्य-समाज के जाति विभाग और उनकी आवश्यकता के विषय का वर्णन, जैसा कि हमें विश्वास है, पाठकों को अरुचिकर और अप्रासंगिक न जंच पड़ेगा। अब हम फिर से ऋषभदेवजी के राज्य में प्रवेश करते हैं। और बताते हैं, कि उन के द्वारा, सृष्टि में सब से पहले, पुरुषों तथा स्त्रियों दोनों के लिए, कितनी कितनी और कौन कौनसी उपयोगी कलाओं का निर्माण हुआ था। निर्माण ही क्यों, ऋषभदेवजी ने उन्हें जगत् में फैलाने के लिए, और, लोगों को यथेष्ट कलावान् बनाने के लिए, जगह जगह उचित प्रबन्ध भी किया था। यहां हम उनके नाम और संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न करेगें।

राजा ऋषभदेवजी के शासन-काल में, पृथ्वी पर सब से पहले, पुरुषों के लिए नीचे की बहत्तर कलाओं का निर्माण और उन के सिखाने का समुचित प्रबन्ध राज्य की ओर से हुआ। इन कलाओं में से अब तक कई कलाओं का विकास हुआ है और कई एक का विनाश भी। कुछ ऐसी भी हैं, जिनमें कई प्रकार के परिवर्तन और संशोधन हुए हैं। यहां हम आधुनिकता के साथ इनका वर्णन कर देना उपयोगी समझते हैं। वे यों हैं:—

बहत्तर कला

(१) लेहं अर्थात् लिखने की कला—इस कला के द्वारा मनुष्य अपने मन के विचारों को, बिना एक अक्षर भी मुँह से बोले, दूसरों पर भली भांति प्रकट कर सकता था। इसी कला के द्वारा, मनुष्य भूत काल की बातों को वर्तमान् में और वर्तमान् की अवस्था को भविष्यत् काल में, एक धरोहर की भांति जब चाहे तब देख सकता है। आदि।

(२) गाणितं अर्थात् गिनने की या गणित की कला—इस कला से वस्तुओं की संख्या और उन के परिमाण या नाप-तौल का उचित ज्ञान कराया जाता था। आज भी संख्या का राई-रत्ती का सारा हिसाब-किताब और लेन-देन इसी एक मात्र कला के द्वारा होता है। आदि।

(३) रूपं अर्थात् रूप परावर्तन करने की कला—इस कला का पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त कर के लेप्य, शिला, सुवर्ण, मणि, वस्त्र और चित्र आदि में रूप का निर्माण कर सकते थे।

(४) नाट्टं अर्थात् नृत्य-कला—इस कला में सुर, ताल, आदि की गति के अनुसार, भांति भांति के नाचने के प्रकार सिखाये जाते थे। इस कला से जहां दूसरे का मन-मोहन और मनोरंजन होता था, वहां मनुष्य अपने भी कई काम इस से निकालता था। जैसे, पतली से पतली चीज़ पर उसके एक सिरे से दूसरे तक, अपनी इस कला के द्वारा, मनुष्य अपने शरीर को तौलते हुए और लाघव के साथ पैर रखते हुए, चला जाता था। इसी कला के द्वारा, मनुष्य बड़ी बड़ी चौड़ी और गहरी नदियों के पानी पर, अपने शरीर के लाघव के साथ पैर रखता हुआ और बिना अपने शरीर को भिगोये, उन की चौड़ाई के एक छोर से दूसरे छोर पर, आसानी से चला जा सकता था; अग्नि-शिखा पर चल कर और बाल बाल बच कर निकल सकता था; और किसी लम्बे तने हुए या दो आदमियों के द्वारा, दोनों छोरों पर पकड़े हुए पतले से पतले कपड़े पर, जो ज़मीन से ऊपर उठा रहता था, मनुष्य अपने लाघव से चल कर, उसे पार कर सकता था। और विशेषता उस में यह होती थी, कि न तो वह कपड़ा ही फटता था; न उन आदमियों ही को, जो उसे थांमे हुए होते थे, कोई वज़न उस ऊपर चलनेवाले का जान पड़ता था; और न वह आदमी ही नीचे गिरने पाता। आदि।

(५) गीत कला—इस के द्वारा लोग जान जाते थे, कि किस समय में कौन सा स्वर अलापना चाहिए? अमुक स्वर के अमुक समय अलापने से प्रकृति और जड़ जगह पर उस का क्या असर पड़ता है। इसी कला के द्वारा छः प्रकार के राग और छत्तीस प्रकार की रागिनियों का आविष्कार जगत् में हुआ था। आज जो कई काम, लोग विपुलधन और बड़े बड़े यन्त्रों से लेते रहते हैं, वे

काम, उस जमाने में लोग गीत कला के द्वारा राग-रागिनियों को अलाप कर ले लिया करते थे। उदाहरणार्थ, मलार राग के द्वारा, असमय में और कहीं भी, वर्षा का प्राकृतिक साज सजा लिया जाता था; दीपक राग से, अन्धकारपूर्ण भू-भाग, जगमगाते हुए प्रकाश से परिपूर्ण बना लिया जाता था। एक राग ऐसा भी अलापा जाता था, जिस के द्वारा पेट में का पत्थर (यह पथरी रोग में हो जाया करता है) तक पानी के रूप में बदल कर, बाहर निकाल दिया जाता था। आदि। कहने का आशय यह है, कि इस कला के द्वारा, लोगों ने भली भांति यह जान लिया था, कि प्रकृति के साथ मन का मेल कैसे मिलाया जाता है। यह कला जगत् के सभी प्राणियों को प्यारी है। या यों कहो, कि जगत् की प्रकृति ही रागमय है।

(६) तालकला–इस कला के द्वारा, मनुष्य, संगीत के सात स्वरों अर्थात् षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत, और निषाद के अनुसार, अपने हाथ या पैरों की गति को, ढोलक या मृदंग या तबला आदि पर या केवल ताली अथवा चुटकी बजा कर और ज़मीन पर पैर की डाट लगा कर, साधते थे।

(७) वाजित्र–इस से मनुष्य, संगीत के सातों स्वर-भेद, और ताल, लाग, डांट, आदि की गति को निहार कर, बाजे बजाना सीखते थे। इसी कला के द्वारा जीव मनोरंजन और मनमोहकता में इतना अधिक मगन बन जाता है, कि जिस से अपने आपे तक का उसे कोई भान नहीं रह जाता। विषैले सर्प जैसे भयानक जन्तुओं और कुरंग जैसे चंचल से चंचल पशुओं तक को आसानी के साथ, इसी कला के द्वारा वश में करते थे। और आज भी करते पाये जाते हैं। इस में गीत की कला का मेल कर, इन दोनों की शक्ति से, संसार के और भी कई कठिन काम निकाले जाते थे।

(८) बांसुरी बजाने की कला–इस से लोग बांसुरी और भेरी आदि को अनेकों प्रकार से बजाना सीखते थे। उस समय में इस कला के द्वारा भी जगत के कई अनोखे और अनहोने काम निकाले जाते थे।

(९) नर-लक्षण–इस कला से यह जाना जा सकता था, कि कौन पुरुष किस प्रकृतिवाला है; कौन पुरुष किस पद और काम के लिए उपयोगी और

अनुकूल है, तथा कौन किस पद के लिए निरुपयोगी और निर्बल है; आदि आदि बातें केवल पुरुष के शरीर और उस की रहन सहन तथा बोली चाली, खान पान आदि को देख कर ही जानी जा सकती थीं।

(१०) नारी-लक्षण—इस कला के द्वारा नारियों की जातियां पहचानी जाती थीं। अर्थात् वे (अ) पद्मिनी; (ब) हस्तिनी (स) चित्रनी और (द) शंखिनी, इन चारों योनियों में से किस योनि की है? फिर, किस योनिवाली स्त्री का, किस गुणवाले पुरुष के साथ सम्बन्ध होना चाहिए, जिस से आगे चल कर, उन की गृहस्थी की गाड़ी सुखपूर्वक जीवन की सड़क पर चलती रहे। इतना ही नहीं, नारियों की शारीरिक प्रकृति, उन की रहन-सहन आदि को दूर ही से देख कर, इस कला के द्वारा यह भी जाना जा सकता था, कि किस की कोख से वीर या दानी या धर्मात्मा या तत्त्वदर्शी बालक का प्रसव हो सकता है। और कौन, किस किस प्रकार के व्यवसायी बालकों की जननी बनेगी; आदि।

(११) गज-लक्षण–इस कला के द्वारा मनुष्यों को तरह तरह के आकार-प्रकार और लक्षणवाले तथा गजमुक्ता धारण करनेवाले हाथियों की पहचान करवाई जाती थी। और अमुक रंग, रूप, आकार, प्रकार का, हाथी, किसी के घर में आ बँधने से, वह दरिद्री से धनी या धनी से दरिद्री बन जायगा, यह भी इसी कला के द्वारा लोग जान पाते थे।

(१२) अश्व–लक्षण–लोग इस कला में प्रवीण बन कर, संसार भर के घोड़ों की परीक्षा करना जान सकते थे। अमुक घोड़ा खाना–पानी और असली नस्ल का है या वह मिलावटी नस्ल का है; यह भी इस के द्वारा सीखी जाती थी। फिर, श्याम वर्ण, या चारों पैर सफ़ेद जिस के हों, ऐसे घोड़ों का शुभ अशुभ होना भी, इस कला से जाना जा सकता था।

(१३) दंड–लक्षण–इस कला के द्वारा, उस ज़माने में सिखाया जाता था, कि किस वर्ण के लोगों के पास किस परिमाण की लम्बी तथा मोटी लकड़ी का रखना आवश्यक है? उस के अमुक परिमाण का होना, अमुक वर्ण या जाति के लिए अमुक कारण से आवश्यक होता है। किस के दण्ड में लम्बाई के पैमाने के खास चिह्न बने रहते हैं, दण्ड धारण करने का मुख्य उद्देश्य और उपयोग क्या है? राजाओं तथा सन्तरियों के हाथों में, कितना लम्बा और किस मुटाई का

दण्ड होना चाहिए ? और सब से अधिक, इस कला से लोग जान पाते थे, कि दण्ड, अकेले में उन का एक सन्मित्र और शक्ति का काम कैसे और कहां तक दे सकता है। इस के अतिरिक्त सम्पूर्ण प्रकार के कायदे कानूनों की शिक्षा का ज्ञान भी इसी कला के द्वारा लोगों को कराया जाता था।

(१४) रत्न-परिक्षा—इस कला के द्वारा जहां रत्नों को घटिया या बढ़िया कीमत के ठहराना लोग सीखते थे, वहां इस के साथ ही, वे यह भी जान पाते थे, कि अमुक रत्न, अमुक समय के लिए, अमुक पुरुष को पहनना उपयोगी, अनुकूल तथा आवश्यक है; शरीर के अमुक अरिष्ट के समय, अमुक भांति का रत्न, शरीर के अमुक अंग में पहनने से वह अरिष्ट आसानी के साथ निवारण हो सकता है; अमुक रत्न के पहनने से अमुक ग्रह की शांति तत्काल ही हो जाती है; रत्न धारण करनेवाले पुरुष का; स्वयं उसी के शरीर, मन और बाहरी जगत् के लोगों पर क्या असर पड़ता है; और, किस जाति के रत्न, विशेषतया किस भूमि में पाये जाते हैं और वे वहां से, किस सुलभ से सुलभ रीति से, अधिकाधिक परिमाण में किस समय मिल सकते हैं। इन बातों के उपरान्त भी, इस कला में प्रवीणता-प्राप्त लोग, रत्नों का शोधन और उन के द्वारा, शास्त्रीय, विधि के अनुसार, रस, खाक, मात्राएँ, आदि ऐसी चीज़ों को तैयार करना-करवाना भी जानते थे; जिन का सेवन कर मनुष्य नींद, भूख, और प्यास, आदि पर अपना अधिकार जमा सकें। फिर, कौन सा रत्न किस पुरुष के लिए शुभ तथा किस के लिए अशुभ-कारक होता है, यह भी इस से सिखाया जाता था।

(१५) धातुवाद—इस कला से, धातुओं के खरा-खोटा होने की पहचान करना सिखाया जाता था। उन का घनत्व और आयतन निकालने की क्रियाओं का ज्ञान कराया जाता था। अमुक ज़मीन और अमुक आबहवा में, अमुक अमुक धातुएँ बहुतायत से बनती रहती हैं और मिलती हैं। तथा उन के रंग, चमक, आयतन, घनत्व लचीलापन, आदि बातों के भिन्न भिन्न होने से अमुक अमुक धातुएँ बनती हैं; अमुक धातुएँ कड़ी और अमुक धातुएँ नर्म होती हैं; एक ही आयतन की भिन्न भिन्न धातुओं का तार अमुक लम्बाई तक खींचा जा सकता है; अमुक अमुक धातुओं के मिश्रण से विद्युत् की धारा निकलने लगती है; बर्तन, सिक्के, औजार, हथियार, आभूषण, छड़े पाँते, पेटियां, औरकलें, आदि

भिन्न भिन्न चीजों के लिए, कौन सी पृथक् पृथक् धातुएँ आवश्यक, उपयोगी, टिकाऊ और अनुकूल हैं; और कौन सी धातुएँ, शरीर की किन किन बिमारियों को उन के कौन कौन से उपयोगों से, कैसे रफू कर सकती हैं, मिटा सकती हैं, तथा, खदानों में से धातुओं को खोद कर निकालते रहने पर, भूकम्प का भय और ज्वालामुखी के अचानक विस्फोटन से संख्यातीत प्राणियों का संहार होते होते कैसे बच जाता है ? इत्यादि, सभी बातों का ज्ञान, मनुष्य इसी कला के द्वारा जान पाता था। और अन्त में तापदायक आदि मन्त्रों के लिए पारा ही क्यों और किस क़दर अनुकूल और उपयोगी है; यह बात भी धातुवाद-विद् विद्वान् भली भांति जानता था।

(१६) मंत्रवाद—इस कला के द्वारा पुरुष जान सकते थे कि आठों सिद्धियां नवों निधियां आदि कैसे सिद्ध की जा सकती हैं। समय समय पर, किस मन्त्र से किस देवता का आह्वान किया जाता है। कोई भी मन्त्र कैसे सिद्ध किया जाता है। मन्त्रों के जप-जाप से अनिष्ट भी इष्ट और शत्रु भी मित्र कैसे बनाये जा सकते हैं। मन्त्रों की दिव्य शक्ति शरीर के सम्पूर्ण अरिष्टों को कैसे समूल नाश करती है। किस मन्त्र का जप-जाप कितना, कब, कहां, और किस विधि-विधान के साथ करने से मनवांछित फल की प्राप्ति हो सकती है। सब से बड़ा और भव-रोग का नाश करनेवाला कौनसा मन्त्र है। किस मन्त्र के प्रसाद से मनुष्य, मोक्ष-मार्ग का अनुगामी बन सकता है। मारण, मोहन, वशीकरण, स्तम्भन, आदि छः भले और छः बुरे प्रयोगों को, किन किन मन्त्रों की सहायता से सिद्ध कर सकते हैं। इत्यादि बातों का ज्ञान, इस कला के द्वारा लोगों को, सिखाया जाता था।

(१७) कवित्व-शक्ति—इस कला की सहायता से लोग, कवि बनना जान जाते थे। फिर वे राग की भाषा द्वारा, कठिन से कठिन और बड़ी से बड़ी तथा गम्भीर बात को, सरल से सरल और छोटे से छोटे रूप में यों कह सकते थे, कि जिस से साधारण से साधारण पुरुष भी उस बात को याद रख सकें। इसी कला ने छन्द-शास्त्र को व्यवस्थित रूप दिया। वर्ण और मात्राओं के प्रस्तार भेद से छन्दों के हजारों भेद प्रभेद ढूंढ निकाले गये। इस कला ने, गीत, वाद्य, नाच, चित्रकारी आदि कई और भी ललित कलाओं को जन्म दिया। क-

वि के काम में लोगों ने 'गागर में सागर' के दर्शन किये। काव्य के, वीर, करुणा; शृंगार, हास्य, अद्भुत, रौद्र, वीभत्स, शान्त और भयानक, इन नौ रसों की उत्पत्ति हुई। कवि ने अपनी कल्पना-शक्ति के साथ, लिखने तथा पढ़ने की कला को मिला कर एक प्रकार का घोल तैयार किया। फिर इस घोल में समय समय पर, काव्य के रस विशेष का पुट दे कर, तरह तरह के काव्य ग्रन्थों के रूप में, कुछ निराले ही जायकेदार पदार्थ, संसार के सामने रक्खे। इन से संसार का वह उपकार हुआ, वे वे कार्य सुगमता-पूर्वक निकलने लगे, जिन्हें पूरा करने के लिए कई राज्यों की संगठित शक्तियां और बड़ी बड़ी धन-राशियां भी असमर्थ जब पड़ती थीं। कविने इसी एक अपनी कला के सहारे, भूतकाल को बड़े ही सुन्दर रूप में ढाल कर, वर्तमान् के लोगों के सामने ला रक्खा। लोगों ने काव्य ग्रन्थों में भूतकाल के वर्णनों को पढ़ कर, अपने भविष्य को सुधारने और समुन्नत बनाने की साधनाएं कीं और वे सफल भी हुए। कहां तक कहें, लोग, उस समय, इस कला के द्वारा कवि बन बन कर, 'जहां न पहुंचे रवि, वहां पहुंचे कवि' के कथन की सचाई को प्रमाणित करने लगे।

(१८) तर्क-शास्त्र-इस कला का ज्ञान सम्पादन कर, मनुष्य, जगत् के प्रत्येक कारण से उस के कारण को, और किसी भी कारण से उस के कार्य को, आसानी के साथ और क्रम-पूर्वक, निकाल सकने का कौशल प्राप्त कर सकता था। इस कला में जो नर पहुँचा हुआ होता, वह बड़ा ही प्रवर-बुद्धि, हाजिर-जवाब, प्रकृति के प्रत्येक छोटे से छोटे और बड़े से बड़े पदार्थों या उन की बनी हुई वस्तुओं को बड़ी ही बारीकी से देखने वाला, घोर से घोर आपदा आ पड़ने पर भी कभी न घबरा उठने वाला, प्रशान्त और सदा मगन-मन और हर एक काम को पूरा करने वाला होता था।

(१९) नीति-शास्त्र-इस कला के द्वारा, सद्-असद् या खरे-खोटे के विवेक का परिचय, मनुष्य को मिल जाता था। इस से वह यह भी जान जाता था, कि नीतिमान् पुरुष के शरीर का नाश हो जाने पर भी, वह किस क़दर अपने यश रूपी शरीर से संसार में सदा जीवित रहता है; और अनीतिमान् के, सब प्रकार से सबल, सधन, सज्ञान, और सतर्क होने पर भी, संसार से शीघ्र ही उस का अधः पतन हो जाता है। फिर, जो पुरुष नीतिशास्त्र की कला में

पंडित बनना चाहता था, उसे राजनीति, धर्मनीति, कूटनीति, साधारन नीति और व्यवहार-नीति, आदि सम्पूर्ण नीतियों का कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य ही प्राप्त कर लेना आवश्यक होता था। इसी नीति-शास्त्र की कला के द्वारा वे जान पाते थे, कि राजा यदि न्याय से चलता है, तो वह दीन, अनाथों का बन्धु है और अंधों की आंख है; तथा वही सब का माता-पिता है। राजा के पास जो कुछ सम्पत्ति होती है, वह सब की सब उसे प्रजा ही से प्राप्त होती है। अतः राजा का कर्तव्य है, कि वह अपनी प्रजा के अन्दर विद्या और कला-कौशल की सदा वृद्धि करता रहे। अव्यवस्थित को व्यवस्थित रूप देता हुआ, गिरे हुओं को उठाता हुआ, उठे हुओं को झुकाता हुआ, क्रूरों और कांटे-दारों को अलग ही नहीं, वरन् बाहर फेंकता हुआ, और कुम्हलाये हुओं को फिर हरा भरा बनाता हुआ ठीक एक माली की भांति, उधेड़-बुन मचाने वाला चतुर राजा, चिर-काल तक राज्य-सुख भोगता है। यों राजनीति के कुछ पहेलुओं को लोग भली भांति समझ पाते थे, फिर वे कूट जाति का ज्ञान प्राप्त कर जान पाते थे कि (अ) इस जगत् में वन के टेढ़े और कांटेदार वृक्ष यों ही खड़े रहते हैं; पर सीधे झाड़ सब के सब काट डाले जाते हैं। अतः सिधाई भी एक सीमा तक ही आवश्यक और उपयोगी है। (ब) जगत् में अकसर कुलटा स्त्री लज्जावती का, खारा पानी स्वच्छ दिखाई देने का, दम्भी विवेकी बनने का और धूर्त मनुष्य मधुर-भाषी बनने का, स्वांग भरते देखे जाते हैं। अतः पहचान करके इन से व्यवहार करना चाहिए।

इसी प्रकार, लोगों ने धर्म-नीति, रण-नीति, वाणिज्य नीति, आदि में भी कुशलता, नीति-शास्त्र की कला से, प्राप्त कर ली थी।

(२० तत्त्व-विचार धर्म-शास्त्र)—इस के द्वारा, उस समय के लोगों ने नीचे के समान कई बातों का, पूरा पूरा पता लगा पाया था। जैसे, धर्म और अधर्म क्या है? पुण्य और पाप में क्या अन्तर है? जीव कहां से आया है? उसे अन्त में जाना कहां है? यह जगत् क्या है? मोक्ष-साधन के लिए मनुष्य को क्या क्या करना चाहिए? स्व-रूप का बोध किन उपायों के द्वारा हो सकता है? अचित और सचित वस्तुओं में क्या भेद है? क्यों, एक मनुष्य स्वर्ग और दूसरा नर्क को पाता है? इस जगत् में पद पद पर जो भेद-भाव और हेर-फेर नजर आता है, इसका क्या कारण है? सुख और दुख, जीवन और मरण, ये क्यों होते हैं? यहां प्रति-दिन देखने में आता है, कि यहां की जितनी भी दिखने वाली वस्तुएं

हैं, सभी को काल ने ग्रस रक्खा है। यह जान कर भी मनुष्य मौत से क्यों डरता है? यही नहीं, मृत्यु का भय यहां की सभी वस्तुओं के पीछे, एक सा है। इस नापायेदार जगत् में क्या सार और क्या असार वस्तु है? सब कुछ देख-भाल कर और सोच-समझ कर भी, जीव, जगत् की क्षणिक और वह भी काल्पनिक किन्तु मोहक सुख-सामग्री के पीछे, इच्छा उस की न रहते हुए भी, किस की ज़बर्दस्त प्रेरणा से, रात दिन अविश्रान्त रूप से पड़ा हुआ है? इत्यादि अनेकों सारवान् बातों की शोध मनुष्यों ने तत्त्वविचार के द्वारा लगा पाई थी।

(२१) ज्योतिष-शास्त्र—यह पृथ्वी है? कैसी है? यह स्थिर है या चलायमान? इस का आकार-प्रकार-कैसा है? ग्रह क्या हैं? उपग्रह किसे कहते हैं? ग्रह और उपग्रह कितने हैं? सूर्य क्या है? ये सब कहां और कैसे स्थित हैं? ग्रहण किसे कहते हैं? ये कितने प्रकार के होते हैं? कब कब होते है? हर पूर्णिमा और हर अमावस को क्यों नहीं होते? हमारी पृथ्वी का अन्य ग्रह और उपग्रहों के साथ क्या सम्बन्ध है? दिन, रात छोटे बड़े क्यों और कब होते हैं? ऋतुएं क्यों बदलती हैं? समुद्र के पानी में चढ़ाव-उतार कब और क्यों होता है? राशियां कितनी और क्या हैं? वे कौन कौनसी हैं? नक्षत्र क्या हैं? कितने हैं? कौन कौन से हैं? उन के अलग अलग नाम क्यों पड़े हैं? तारागण क्या हैं? पुच्छल तारों या धूम्र-केतुओं का उदय पृथ्वी पर क्या असर डालता है? और क्यों? आकाश क्या है? इस में नीलिमा की झांई क्यों दिख पड़ती है? सूर्य चन्द्र, तथा अन्य ग्रहों में से कौन इस पृथ्वी से कितना दूर है? ज्योतिष के प्रकार कितने और कौन कौन से हैं? गणित-ज्योतिष और फलित-ज्योतिष में क्या अन्तर है? आदि। आकाश-सम्बन्धी ऐसी ही और भी अनेकों बातों का ज्ञान इस कला के द्वारा, लोग प्राप्त कर सकते थे।

(२२) वैद्यक-शास्त्र—हमारे शरीर की भीतरी बनावट कैसी है? हम जो भोजन करते हैं, उस का रस कैसे और शरीर के किस भाग में बनता है? शरीर के अन्दर के प्रत्येक भाग कितने छोटे, बड़े, तथा लम्बे होते हैं? हड्डियों के जोड़ शरीर में कितने हैं? वे टूट-फूट क्यों जाते हैं? और फिर से कैसे ठीक कर दिये जाते हैं? शरीर के प्रत्येक अवयव का क्या काम है? और कौन कितने समय तक प्रतिदिन लगा रहता है? बाल से भी बारीक और पोली जो रक्त—वाहिनी

नाड़िया शरीर के अन्दर हैं, उन के द्वारा शरीर में रक्त का संचार, सब दिन और सब काल कैसे होता रहता है ? रस से रक्त, रक्त से माँस और फिर क्रम क्रम से मेदा, अस्थि, मज्जा, और वीर्य या रज, शरीर को जीवित रखनेवाला इन सातों धातुओं की उत्पत्ति कैसे, और कब होती रहती है ? इन के बनने की क्रिया के बन्द पड़ जाने से शरीर की क्या स्थिति होती है ? मल, मूत्र, पसीना गीड़, मरी, सेंड़ा, नाखून और बाल क्या हैं और कैसे बनते हैं ? इन में विकृति कब और क्यों आती है ! रोम कूपों का क्या काम है ? वे कितने हैं ? इन का साफ़ रखना शरीर के लिए किस क़दर आवश्यक और उपयोगी है ? मनुष्य, उस की शरीर की प्रकृत्ति के अनुसार, किस प्रकार के आहार, विहार, और व्यवहार का पालन कर, दीर्घजीवी, नीरोगी, सुखी तथा पुष्ट मनवाला बन सकता है ? फिर, रोग क्या हैं ? नाड़ी, चेहरे की चाल ढाल, और शरीर के केवल बाहरी लक्षणों को देख-भाल कर, साधारण, कठिन तथा असाध्य आदि, मनुष्य के भीतरी तथा बाहरी रोगों का पता कैसे ठीक ठीक लगाया जा सकता है ? किस रोग के कौन कौन से निदान हैं ? देश, काल, पात्र के अनुसार, रोगों के इलाजों में क्या और कितना आवश्यक हेर-फेर करना पड़ता है ? संसार के प्रत्येक खाद्याखाद्य और पेयापेय पदार्थों तथा जड़ी-बूटियों की प्रकृत्ति और लक्षण क्या हैं ? इन में आबहवा के फेर-फार से क्या और कितना अन्तर आजाता है ? धातुओं को, शास्त्रीय रूप में कैसे, कब और कहाँ शोधना चाहिए ? भस्मों, रसों और मात्राओं बनाने की विधि क्या है ? किस उम्रवाले पुरुष को इन का सेवन उपयोगी हो सकता है ? वैद्यक विधि से बनाये हुए रसों का सेवन कर, मनुष्य अक्षुण्ण सुखी नीरोगी तथा भूख, प्यास, और नींद को जीतनेवाला कैसे बन सकता है ? निदान की क्रिया मुख्य कर के कितने भागों में बाँटी गई है ? रसों तथा मात्राओं का उपयोग, किस चिकित्सा में और कौनसे रोगियों के लिए होता है ? वैसे ही, चीरा फाड़ी, किस चिकित्सा में और कौन से रोगियों के लिए की जाती है ? इत्यादि अनेकों बातों का ज्ञान, इस वैद्यक-शास्त्र की कला के द्वारा, लोगों में फैलाया जाता था।

(२३) षड्भाषा—संस्कृत, शौरसेनी, मागधी, प्राकृत, पैशाची और अपभ्रंश इन छः भाषाओं के ज्ञान का प्रचार और प्रसार इस कला के द्वारा, जनता में किया जाता था।

(२४) योगाभ्यास–अर्थात् संसारी मोहक विषयों से मन को हटा कर परमात्मा-भाव की ओर लगाये रखने का एक साधन है। इस के द्वारा चौरासी प्रकार के आसनों की साधना की जाती थी। यही एक कला ऐसी थी, जिस से शरीर के समस्त दोष दूर किये जा सकते थे। उस समय के लोग योगाभ्यास की साधना करते हुए इच्छा अनुसार स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते थे। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, योग के इन आठ अंगों की भली भांति शिक्षा दी जाती थी। जिन रोगों पर औषधियां असर न करती, उन से लोग योग-साधन के द्वारा छुटकारा पा सकते थे। फिर, ऊपर जो योग के आठ अंग कहे गये हैं, उन में भी शारीरिक दृष्टि से प्राणायाम और आसन, योग के सब से महत्त्व के अंग हैं। क्योंकि, जहां प्राणायाम से आत्म-शुद्धि या शरीर के भीतर की शुद्धि होती थी, वहां योग के आसनों से शरीर का पूरा पूरा विकास हो जाता था। वे यह भी जानते थे, कि योगाभ्यास के अंग इन आसनों का अभ्यास शौच, आदि से निवृत्त हो कर बिना कुछ खाये-पीये, सुबह और शाम को ऐसे स्थानों में करना चाहिए, जहां शुद्ध वायु और प्रकाश दोनों पूरे परिमाण में मिल सकें। कुछ आसनों के नाम, उन में से यों हैं:—

सिद्धासन, शीर्षासन, पद्मासन, जानुशिरासन, पादांगुष्ठासन, बद्ध-पद्मासन मयूरासन, नमस्कारासन, ऊर्ध्व नमस्कारासन, हस्त-पादासन, एक पाद प्रसरणासन, द्विपाद प्रसरणासन, भूनमन, साष्टांग प्रणिपातासन, भुजंगासन, वीरासन, लगुडासन, गोदुहासन, आदि। यहां तक इस कला के विशारदों ने मनोविज्ञान में उन्नति प्राप्त कर ली थी। जिसे प्राप्त करने के लिए आज के भौतिक और अर्थ-विज्ञानों को अभी सहस्रों वर्षों के समय की आवश्यकता है।

(२५) रसायन–इस कला के द्वारा, कई बहुमूल्य धातुएँ, जड़ी, बूटियों के संयोग से तैयार की जाती थीं। दो विभिन्न प्रकार की या पृथक् गुण और प्रकृतिवाली वस्तुओं को मिलाकर, उन के मेल से, एक तीसरे ही रूप, रंग, गुण, प्रकृति और परिमाणुओंवाली वस्तु को पैदा करना; धातुओं को शोध कर, उन से शास्त्रीय विधि के अनुसार, रस, भस्म, मात्राएँ आदि तैयार करना, सब इसी कला के काम थे। इस कला में लोगों ने यहां तक छान-बीन कर के सफलता प्राप्त की थी, कि वे समान गुण, शील, प्रकृति और भावनाओंवाले एक ही माता-

पिताओं के यहां, समय समय पर, उन के गुण, शील, प्रकृति और भावनाओं में अन्तर पटक कर, उन से, उन की मनचाही सन्तान पैदा करवा सकते थे। आज की इस उन्नतिशील बीसवीं शताब्दि में, खच्चरों तथा झाड़ों की पैदायश में कुछ आभास मात्र इस का पाते हैं।

(२६) अंजन–इस कला के द्वारा तरह तरह के अंजनों को तैयार किया जाता था। वे अंजन जहाँ नेत्रों के साधारण तथा प्रकृत रोगों को नाश करते थे, वहाँ उन के द्वारा दिव्य दृष्टि भी प्राप्त हो जाती थी। इन अंजनों के आँखों में आँजने से ज़मीन में गड़े खज़ाने दिख पड़ सकते थे; आँजनेवाले को दूर की वस्तुएँ पास, तथा छोटी वस्तुएं अपने उनके विस्तृत रूप में दिख पड़ती थीं; और कभी अदृश्य भी हो सकते थे।

(२७) स्वप्न-शास्त्र-इस कला से, स्वप्न कब आते हैं? क्यों आते हैं? ये क्या होते हैं? ये कै प्रकार के होते हैं? मध्य रात्रि के पहले और पीछे आनेवाले स्वप्नों में से किन का असर अधिक होता है? और क्यों? स्वप्नों के भले या बुरे होने की क्या पहचान है? कभी कभी स्वप्न में वे वे बातें देखी और सुनी जाती हैं, जिन का सम्बन्ध इस जन्म से ज़रा भी कुछ नहीं होता; इस का क्या कारण है? फिर, किसी पुरुष को स्वप्न आते हैं और किसी को बिलकुल नहीं, यह क्यों? पुरुषों और स्त्रियों के स्वप्नों में अक्सर जो भेद सुना जाता है, इस का मूल कारण क्या है? किसी के स्वप्न सोलह आना सच्चे और किसी के स्वप्न राई-रत्ती झूठे होते हैं, यह भेदाभेद क्यों होता है? इत्यादि अनेकों प्रकार की बातें जनता को इस कला से सिखाई जाती थीं।

(२८) इन्द्रजाल–हाथ की सफ़ाई के अनेकों काम सीखना तथा दिखाना किसी चीज़ के टुकड़े टुकड़े कर के पीछे उसे उस के पहले के रूप में ला दिखाना; लौकिक दृष्टि में किसी पुरुष को निर्जीव बना कर के, सब के देखते देखते फिर से उसे सजीव बना देना; किसी के पास की किसी भी कही हुई वस्तु को, दूसरे के पास, दूसरी जगह, उड़ा कर ले जाना; किसी की दृष्टि को ऐसी बांध देना, कि उसे जो कहा जाय, वही दिखे; किसी चीज़ को टुकड़े टुकड़े कर के मुँह के द्वारा खा जाना, और फिर उसे उस के पूर्व रूप ही में, नाक, या बगल, या कान की ओर से निकाल कर दिखाना; किसी को बकरी और किसी को बिल्ली के रूप

में बदल देना; साधारण सफ़ेद काग़ज़ को हाथ की चुटकियों से दबा दबा कर, सब के सामने, बिना किसी प्रकार की रोशनाई के, उसके ऊपर तरह तरह के और रंग-बिरंगे चित्र खींच देना, इत्यादि बातों की पूरी पूरी शिक्षा, इस कला के द्वारा, लोगों को दी जाती थी।

(२६) कृषि--कर्म--किस जमीन की प्रकृति कैसी होती है ? किस ज़मीन में कौन सी चीज़ की फ़सल बहुतायत से पैदा हो सकती है ? अमुक वस्तु या अनाज या पेड़--पौधे, अमुक समय में लगाये जाने चाहिए; उन्हें अमुक अमुक खाद देने से वे खूब ही फलते फूलते हैं; खेती के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के किन किन औज़ारों की आवश्यकता है ? प्रत्येक प्रकार की फसल की जुताई, बुआई सिंचाई, निंदाई, लुनाई या कटाई और खुदाई कब और कितनी बार साल भर में, कहां के लिए हो सकती है ? खेत की जमीन की जुताई के अच्छा होने की क्या पहचान है ? किस फसल में किस प्रकार का कीड़ा कब और क्यों लग जाता है ? उसे न लगने देने के क्या उपाय हैं; और लग जाने पर उसे दूर करने और खेती की रक्षा करने के क्या उपाय हैं ? खेतिहरों या कृषकों की शरीर प्रकृति और खान--पान कैसा चाहिए ? समाज के सच्चे अन्नदाता राजा होते हैं या कृषक ? कौन से साधनों को काम में लाने से, प्रत्येक प्रकार की फसल, किसी भी भूमि से, अधिक से अधिक परिमाण में ली जा सकती है ? खेती के पशुओं की खिलाई, पिलाई, चराई का प्रबन्ध कैसे किया जाना चाहिए ? उनकी उत्तम रूप से वंश-वृद्धि कैसे की जा सकती है ? उन के अन्दर होनेवाले अमुक अमुक रोग और उन के फलां फलां निदान होते हैं; तरह तरह के खादों के तैयार करने के साधन क्या हैं ? इत्यादि बातों का साँगोपाँग ज्ञान, इस कला के द्वारा, कृषक लोगों को करवाया जाता था।

(३०) वस्त्र--विधि--वस्त्र, किन किन पदार्थों से बनाये जाते हैं ? उन की उपज कहां, कब और कैसे उत्तम से उत्तम रूप में की जाती है ? जिस कपास के तन्तु जितने ही अधिक लम्बे निकलते हैं, वह कैसा होता है ? उत्तम या अधम कोटि के कपास ऊन, टसर, रेशम, या पशम की क्या पहचान है ? कपास को औट कर उस से बिनौले और रूई कैसे अलग अलग निकाले जाते हैं ? रूई से सूत कैसे बनाते हैं ? ताना और बाना क्या होते हैं ? क्या, इन दोनों के लिए

एक ही सा सूत काम में लाना चाहिए ? सूत में माँड़ी कैसे दी जाती है ? और उस के देने की आवश्यकता क्या है ? किस प्रकार के कपड़े के लिए कैसी वे होनी चाहिए ? और उसे गरेंगे कैसे ? ओटनी, चरखा, फिरकी, करघा, तकुआ आदि किन किन आवश्यक यन्त्रों और औज़ारों की कपड़ा बुनने के लिए आवश्यकता है ? जुलाहा किसे कहते हैं ? किस प्रकार के कपड़े के लिए कितना लम्बा ताना और कितना चौड़ा बाना भरना चाहिए ? कैसा सूत किस तरह के कपड़े के लिए आवश्यक है ? कपड़ों को पक्का और गहरा तथा हलका रंग कैसे दिया जाता है ? वे रंग कैसे तैयार किये जाते हैं ? ऊन देनेवाली भेड़ें और पशम देने वाली भेड़ों के लालन-पालन के लिए कौनसी आबहवा माकूल होती है ? खेती ही जिस देश में एक मुख्य व्यवसाय है, उस की अटूट बाहर जानेवाली सम्पत्ति की रक्षा करने और उस के निकम्मे दिनों में देश के श्रम, समय, और शक्तियों को सुव्यवस्थित रूप देने के लिए, यह वस्त्र-विधि की कला, वहां के लिए, किस कदर उपयोगी, आवश्यक, और अनुकूल पड़ सकती है ? इतना ही नहीं, हाथ के कते-बुने कपड़े में, पशुओं की चर्बी की मांड़ी न दी जाने के कारण प्रतिवर्ष कितने लाख मूक और भोले-भाले पशुओं की हत्या होने से अनायास ही में रक्षा हो सकती है ? और ऐसा, हाथ के कते-बुने सूतका कपड़ा, हमारी भू-प्रकृति और जलवायु के अनुसार, कम बंटे सूत का होने के कारण, हमारे लिए कैसे गर्मी में ठण्डा और ठण्डक में गर्म रह कर, हमारे शरीर की रक्षा कर सकता है ? इत्यादि बातों का पूरा पूरा ज्ञान, इस कला के द्वारा लोगों को करवाया जाता था।

(३१) जूआ—उस काल में यह बात भी कलाओं में शुमार की गई थी। आज तो हमारे भारतवर्ष का यही मात्र एक व्यवसाय रह गया है। यहां तक, कि खाने, पीने, रहने आदि की सभी बातों में इस का पैर पसारा देखा और अनुभव किया जाता है। इस के द्वारा लेन-देन की कोई शर्त लगा कर, तरह तरह के खेल पहले खेले जाते थे; और हार, जीत का सौदा किया जाता था। उस समय के खिलाड़ियों में, यह कला चौसर, चौपड़, ताश, शतरंज, गंजीफ़ा, आदि नामों से प्रसिद्ध थी; आज के व्यवसायियों में यह सट्टे-फाटके के नाम से प्रसिद्धि पाये हुए है, और आज इस के भक्त जूआरी न कहलाकर, सटोरिया के सरनाम से पुकारे जाते हैं। परन्तु यह कहना पड़ेगा और मानना भी होगा, कि

संसार ने इस कला का दुरुपयोग कर के, उस से लाभ के बदले हानियां ही अधिक उठाईं। अन्यथा, जीवन संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिए इस कला से कई शिक्षाएं मिल सकती थीं। उदाहरण के लिए, किसी में, जब ज्यादा से फर्जी होजाता है, तो वह टेढ़ा टेढ़ा जाता है। वह कभी सीधा नहीं चलता। इस से लेना तो हमें यह था, कि संसार में वे पुरुष जो छोटे और छिछोरे स्वभाव के होते हैं, सदा ऐंड़े-बेंड़े काम के द्वारा जगत् को छलने की ही फ़िराक़ में लगे रहते हैं। फिर, किसी में 'बादशाहों' को 'एक्का' हरा देता है। और कई एक ही रंग के चढ़ाव उतार के मानवाले पत्तों पर कभी एक दूसरे रंग का पत्ता डाला जाता है; और यों इस भिन्न रंगवाले की जीत होजाती है। इन बातों से हम यह सीख सकते थे, कि छोटे लोगों में एका होने पर, उन की शक्ति के आगे बड़े बड़े बादशाह भी हार मान बैठते हैं; और किसी भी बड़ी से बड़ी एक ही जाति में जब चढ़ा-उतरी के भाव पैदा हो जाने के कारण फूट मचजाती है, तब कोई एक तीसरा ही विदेशी, उन की बिखरी हुई शक्तियों को देख कर, चट आ उन्हें धर दबाता है, और अपना शासन स्थायी रूप से वहां जमा देता है! इसी प्रकार, किसी किसी खेल में नीचे से ऊपर जीत होते समय, और हार में ऊपर से नीचे आना पड़ता है। इस से यही भाव निकलता था, कि लोगों की संगति और करणी जैसी होती हैं, वे वैसे ही भले और बुरे बन कर, स्वर्ग का सुख या नर्क का दुख भोगते हैं। यों पद पद पर, जीवन में हार और जीत का कुछ विषाद और हर्ष न मानते हुए, अपने कर्तव्य कर्म को करते जाना, और यहां के प्रत्येक व्यापार से कुछ सीखते हुए, जीवन को ऊर्ध्वगति में ले जाना, यही इस कला का सीधा-सादा और भला उद्देश्य था!

(३२) व्यापार-(वि+आ+पार) इस व्युत्पत्ति के अनुसार, विशेष रूप से और चारों ओर से लेन-देन या खरीदने-बेचने का काम करना यही इस कला का मुख्य काम था। व्यापार, वाणिज्य, और व्यवसाय क्या हैं? कौन व्यवसायी है? वणिक् और व्यापारी में क्या भेद होता है? व्यापार में सचाई और ईमानदारी की कितनी अधिक आवश्यकता है? सम्पत्ति के बढ़ाने के प्रधान साधन कौन कौन से हैं? क्यों, एक ही व्यवसाय या व्यापार के द्वारा एक निर्धन व्यक्ति सधन बन जाता है, और दूसरे का दीवाला खसक जाता है? विश्वास की, किस हद तक व्यापार आदि में ज़रूरत है? व्यापार की बेहद बढ़ती के

लिए, देश की भौगोलिक स्थिति को जानना कितना उपयोगी और आवश्यक है ? कौन सा व्यापार, कहां पर विशेष सुभीते के साथ, क्यों हो सकता है ? कल कारखाने कहां डाले जाते हैं ? जीवज, खनिज, और उद्भिज पदार्थों को तरह तरह की वस्तुओं का रूप देकर, प्रत्येक जगह व्यापार कैसे किया जा सकता है ? व्यापार में सिक्कों की कितनी बड़ी जरूरत है ? बदला किन सिद्धान्तों पर किया जाता है ? व्यापारी का गम्भीर और बहु-भाषा भाषी होना कितना उपयोगी और आवश्यक है ? व्यापार में हिसाब-किताब की कला का उपयोग कहां तक होता है ? दुनियां की जरूरतों को पूराकर उस की अशान्ति को मिटाने और बदले में एकता का भाव बढ़ा कर, उस के सुख, समृद्धि को बढ़ाने में, व्यापार कहां तक कारगार होता है ? इत्यादि आवश्यक और उपयोगी बातों की शिक्षा, इस व्यापार कला के द्वारा जनता को दी जाती थी। और, जो मनुष्य इस लोक हितकारी कला में जितना ही अधिक प्रवीण होता, वह जनता में उतना ही अधिक मान और प्रीति का पात्र बन सकता था।

(३३) राजसेवा—इस कला के द्वारा लोगों को राज-सेवा का बोध कराया जाता था। राजा को राज्य की रक्षा और हर प्रकार की उन्नति के लिए, केवल बँधे हुए टैक्स देकर ही के अलग हो जाना, राजसेवा नहीं है। (अ) राज्य पर या राजा पर कोई मामला आ पड़ने पर, तन से, मन से, और धन से सहायता पहुँचाना। (ब) राज-नियमों को मानना और मनवाना। (स) जिस तरह एक सुराजा का, प्रजा के जान माल की रक्षा करना, उस का कर्तव्य है, ठीक उसी तरह राजा और राज्य की रक्षा करना भी एक सुनागरिक का कर्तव्य है। (द) जो विद्वान् और विद्यावान् नहीं होते; जिन की नेकनामी नहीं होती; जिन के द्वारा विचारवान् और विद्वानों का पालन पोषण नहीं होता, जो दान देना तो जानते हों, पर सत्पात्रों को नहीं, जो स्वयं भी सुख न भोगते हों, और जो अपने बन्धु बान्धवों की रक्षा करने में भी असमर्थ हों, इस तरह के पुरुष राज-सेवा करने के योग्य ही नहीं होते। (इ) अपना निजी मतलब साध लेने की कभी कोई इच्छा तक राज-निष्ठा में नहीं होना चाहिए। (ह) राज्य और राजा की सेवा को, अपना एक कर्ज समझ कर उसे अदा करते रहना चाहिए। (फ) परन्तु हां, इस सेवा का रुख उस समय अवश्य बदल देना चाहिए, जब कि राजा अपने आप को प्रजा के जीजान और इज्जत आबरु का सच्चा

चौकीदार न मान कर, ऐशो-आराम का पुतला समझने लग जाता है। इत्यादि बातों की शिक्षा, इस कला के द्वारा जनता को दी जाती थीं।

(३४) शकुन-विचार—इस कला के द्वारा तरह तरह के शकुन और अशकुनों को जानने की शक्ति मनुष्य में भली भाँति आ जाती थी। प्रत्येक काम को प्रारम्भ करते समय लोग शकुन को सोचने लगते थे। आज भी लोग, विशेष कर पुरानी शिक्षा और सभ्यता के लोग, शकुन-विचार कर किसी काम को प्रारम्भ करते हैं। पशु पक्षियों की बोली से; उन के चलते समय दाहिने या बाँयें आ पड़ने से; किसी सधवा या विधवा के सम्मुख आ जाने से; आदि कई बातों से, शुभ या अशुभ शकुन की जानकारी लोग सहज ही में कर पाते थे। इस कला में कुशलता प्राप्त करने के लिए यह बात भी परम आवश्यक होती थी, कि वे लोग पशु, पक्षियों की समय असमय की सम्पूर्ण बोलियों का भी यथोचित ज्ञान प्राप्त करें। इस कला के ज्ञान का प्रचार और प्रसार करने के लिए, बालकों के साथ, उन के जन्म दिन से ही, कुछ आवश्यकीय साधनों को प्रयोग करना पड़ता था। मनुष्य को अपने वर्तमान् तथा आये दिनों की अवस्था का पूर्व ज्ञान, इस कला के द्वारा, आसानी से हो जाता था। इतना ही नहीं, वह अपने बल-भर उसे सहने या करने के लिए तैयार भी पहले से हो रहता था।

(३५) वायु स्तम्भन—वायु को चलते चलते कैसे रोक देना चाहिए? उस का रुख मनचाही दिशा में किस प्रकार घुमादेना चाहिए? उसे रोक कर और उस में के वाष्प को समुचित रूप से ठण्डक पहुँचा, मनमाने रूप में और जहाँ चाहें वहाँ, किसी भी समय वर्षा कैसे करवा लेनी चाहिए? रुकी हुई वायु के बल और तौल का अन्दाज़ कैसे लगाया जाता है? उस का कितना ज़बरदस्त बल होता है? उस से कौन कौन से काम लिये जा सकते हैं? वायु को रोक कर या उसे दबा कर, उस के द्वारा, प्रकाश पर कौन कौन से अनोखे प्रभाव डाले जा सकते हैं? इत्यादि आवश्यक और उपयोगी अनेकों बातें, इस कला के द्वारा लोगों को सिखाई जाती थी।

(३६) अग्नि-स्तम्भन—धधकती हुई आगी को, बिना किसी पड़ौस की वस्तु को ज़रा भी हानि पहुँचाये, वहीं की वहीं कैसे ठहरा देनी चाहिए? चारों ओर से धाँय धाँय करती हुई अग्नि में प्रवेश कर, और मनचाहे उतने समय

तक उस में ठहर कर, बाल बाल सुरक्षित उस में से कैसे निकल आना चाहिए? और आग के दहकते हुए अंगारों को हाथ में या मुँह में रखना, और उस से हाथ पर या मुँह में ज़रा भी उस का असर न पड़ सकना! इत्यादि अनेकों हितकारी और प्राण-रक्षक बातों का ज्ञान, यह कला लोगों को करवाती थी।

(३७) मेघ-वृष्टि—मेघ कितने प्रकार के होते हैं? उन के बनने का समय क्या है? कितनी ऊँचाई पर बनते हैं? क्या हैं? मूसलधार वर्षा करनेवाले बादल कैसे रंग, रूप के होते हैं? इन्द्र धनुष क्या है? वर्षा ही के समय क्यों दिखाई देता है? अलग अलग प्रकार का क्यों होता है? कब, किस ओर दिख पड़ता है? मध्याह्न में वह क्यों नहीं दिखता? बिजली क्या है? क्यों प्रकट होती है? कब उस की कौंध होती है? उस की चाल किस क़दर होती है? मेघ-गर्जन क्या है? यह गर्जना कितनी दूर से सुनाई पड़ सकती है? प्रकाश और आवाज़ की चालों में क्या अन्तर है? साधारण पानी की अपेक्षा, वर्षा के पानी में कौन कौन से विशेष गुण हैं? आदि अनेकों बातों को, इस कला में कुशलता प्राप्त मनुष्य, भली प्रकार जान सकता था।

(३८) विलेपन—क्या हैं? ये देश, काल, और पात्र की प्रकृति को पहचान कर, शरीर को ताजा, नीरोग सुगन्धित, और यथोचित गर्म या ठण्डा रखने के लिए कैसे बनाये जाते हैं? किन किन पदार्थों से बनते हैं? उन पदार्थों की अकसर तासीर कैसी होनी चाहिए? इन का उपयोग कब कब करना चाहिए? विलेपन करने की शास्त्रीय विधि क्या है? विलेपन से शरीर के चर्मादि रोग कैसे नाश कर दिये जाते हैं? इत्यादि बातों का शास्त्रीय ज्ञान, इस कला के पंडित लोग प्राप्त करते थे।

(३९) मर्दन या घर्षण—"धर्माऽर्थ काम मोक्षाणां शरीरम् मूल साधनम्" के नियमानुसार, यदि शरीर ही ठीक नहीं, तो सारा मानव जीवन ही किर किरा है। शरीर का घर्षण करने से त्वचा के सब छिद्र कैसे खुल जाते हैं? उन रोम-कूपों के खुल जाने से शरीर के भीतर के असंख्य दूषित पदार्थ पसीने के रूप में किस आसानी के साथ, बाहर निकल पड़ते हैं? उन्हीं छेदों में से बाहर की शुद्ध हवा विपुलता से भीतर प्रवेश होती रहने के कारण, शरीर कुदरती रूप से कैसे नीरोग, सुन्दर और चमकीला बना रहता है? जहाँ मनुष्य मर्दन

से नीरोग और तेजस्वी बनता है, वहाँ वह ब्रह्मचारी, स्थिर और शुद्ध-चित्त तथा दीर्घजीवी भी कैसे बन सकता है? मर्दन करने की शास्त्रीय विधियाँ क्या हैं? तेलादि का मर्दन मास में अधिक से अधिक कितनी बार करना चाहिए? हाथ की रगड़ से शरीर में विद्युत् का प्रवाह कैसे होने लगता है? तेलादि का मर्दन अपने हाथ से करने में, औरों की अपेक्षा क्या विशेषता है? विधि पूर्वक और नियम के साथ मर्दन करते रहने से, शरीर के आनन्द, उत्साह, तन्दुरुस्ती, शान्ति और कान्ति में क्या अद्भुत फार-फार नज़र आता है? यों मर्दन कला का विधिवत् ज्ञान पाकर, लोग अपने शरीरों को स्वस्थ रख सकते थे और उस के द्वारा अपने इह लोक तथा परलोक को सुधार सकते थे।

(४०) ऊर्ध्वगमन—वाष्प कैसे पैदा किया जाता है? उस की शक्ति का असर, क्या किसी खास तरफ ही पड़ सकता है, या दाहिने, बांयें, ऊपर, नीचे जिधर भी चाहें, उस से काम ले सकते हैं? इत्यादि वाष्प-सम्बन्धी बातों और उस की शक्तियों का, अनुभव और अनुमान द्वारा पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त कर, उड़नखटोले और अनेकों आकार-प्रकार के अन्य वायुयानों की रचना करना; तथा उन के द्वारा, थल-यानों की भांति, बड़ी ही द्रुतगति से, आकाश में सुगमता के साथ भ्रमण करते फिरना, ये सारे काम और इन की सांगोपांग शिक्षा का प्रबन्ध, इसी कला के अन्तर्गत था।

(४१) सुवर्ण-सिद्धि—इस कला के द्वारा, खदान से सोना निकालने के अतिरिक्त, अन्य अमुक अमुक पदार्थों के साथ अमुक अमुक जड़ी बूंटियों का रस, अमुक अमुक मात्रा में मिला कर, अमुक परिमाण की गर्मी के द्वारा उस घोल को फूंकने से, सोना बनाने की शास्त्रीय रीति का ज्ञान लोगों को कराया जाता था।

(४२) रूप-सिद्धि—अपने रूप को कैसे निखारना चाहिए? इस के लिए शरीर के भीतर किन पदार्थों को पहुंचाना होता है? और बाहर किन किन विलेपनों का व्यवहार करना पड़ता है? बालों को एकदम सदा सर्वदा काले बनाये रखने क लिए, किन किन खिज़ाबों या विलेपों को काम में लाते रहना चाहिए? चमड़े में आभरण झुर्रियां न पड़ें, इस के लिए कौन से साधन करने चाहिए? शरीर के डील-डौल को सु-संगठित बना कर, उसे सदा के लिए वैसा ही गठीला और चुस्त बनाये रखने के लिए प्रति दिन किस प्रकार के व्यायाम, और वे किस

मात्रा में, करते रहना चाहिए ? व्यायाम का समय और स्थान कैसे होना चाहिए ? व्यायाम रूपी नैसर्गिक औषध का, ब्रह्मचर्य के साथ, संसारी अन्य बनावटी औषधियों की अपेक्षा, शरीर के सौन्दर्य पर कैसा अद्भुत और स्थायी असर होता है ? इत्यादि बातों का ज्ञान, इस कला के द्वारा लोगों को पूरे रूप से करवाया जाता था।

(४३) घाट-बन्धन—घाट, पुल, नदी-नालों के बाँध, आदि कैसे बनाये जाते हैं ? कहाँ बाँधना इन का आवश्यक और टिकाऊ तथा कम खर्चीला होता है ? सड़कें, नालियाँ, मोरियाँ, कहाँ और कैसे बनाना चाहिए ? तरह तरह के आकार-प्रकार के और भिन्न भिन्न पदार्थों के मकानों को कैसे बाँधा जाता है ? इन के लिए स्थान और आबहवा कैसी चुननी चाहिए ? मकानों की बैठकें और मुँह किस ओर को रखने चाहिएँ ? चूना आदि कैसे पकाया जाना चाहिए ? चूने में और दूसरे कौन कौन से पदार्थ, किस किस परिमाण में मिलाने से, ईंट, तथा पत्थर आदि को जोड़ने का, मज़बूत से मज़बूत और टिकाऊ मसाला बन सकेगा ? गहरे और बहते हुए नदों आदि के तहों में से, बांधों को बांधते हुए कैसे ऊपर उठाया जाता है ? नहरें कैसे काटी जानी चाहिएँ ? किसी कारण विशेष से, किसी बड़े भारी मकान की नींव के हिल जाने के कारण, उस की सब ओर की दीवालें अलग अलग हो गई हैं, या झुक गई हैं। अब मकान को बिना गिराये, इन दीवालों को फिर से सीधी कैसे कर देनी चाहिएँ ? किस भूमि को थोड़ा ही खोदने पर पानी विपुलता से और स्थायी रूप से मिलता रहेगा और किस धरती को बहुत गहरा खोदने पर भी पानी नहीं निकलेगा ? ऊपर कहे हुए स्थान आदि के खाके और नक़शे कैसे तैयार किये जाते हैं ? इत्यादि बातों का विशेष ज्ञान, इस कला के द्वारा, जनता को करवाया जाता था।

(४४) पत्र-छेदन—किसी भी वृक्ष के, कितने ही ऊँचे या नीचे या बीच के भागवाले, किसी भी निर्धारित पत्ते को, उस के निर्धारित स्थान पर, किसी भी निशाने द्वारा, किसी निर्धारित समय के केवल एक ही बार में, बेधने का काम, इस कला के द्वारा, लोगों को सिखाया जाता था।

(४५) मर्म-भेदन—इस कला के द्वारा, शरीर के किसी खास और निश्चित भाग को, किसी आयुध द्वारा, छेदन करनेका काम सिखाया जाता था। यों मर्म

भेदन-क्रिया का यह काम, किसी पूर्व-निर्धारित समय के, एक ही बार के निशाने के द्वारा किया और करवाया जाता था।

(४६) लोकाचार--इस लोकाचार व्यवहार से अपना तथा संसार का उपकार कैसे होता है? लोकाचार भ्रष्ट होने पर, मनुष्य का सारा ज्ञान व्यर्थ कैसे होजाता है? लोक, आचार को धर्म की जड़ कहते हैं, सो कैसे? आचार से दीर्घायु की प्राप्ति कैसे होती है? सुखी, दुखी, पुण्यात्मा और पापात्मा, आदि प्रकार के जो प्राणी संसार में पाये जाते हैं, इन में से प्रत्येक के साथ किस प्रकार का यथोचित आचार व्यवहार किया जाय, जिस से परस्पर में सद् भावनाओं की वृद्धि और असद्भावनाओं का ह्रास होता रह कर, हम अपने जीवन को उन्नत बनाते रहें? आचारवान् पुरुष के मुख्य मुख्य गुण कौनसे हैं? तथा समाज की नीति क्या है? लोकाचार के वस हो, कभी कभी मनुष्यों को कैसे कैसे भयंकर कष्ट और दुख सहने पड़ते हैं? इत्यादि बातों की शिक्षा देना, इस कला का काम था।

(४७) लोक-रंजन--इस कला के द्वारा, पुरुषों को, भांति भांति से लोक-रंजन करने की व्यवहारिक शिक्षा दी जाती थी उदाहरण के लिए, कोई आदमी लोकरंजनार्थ इस प्रकार कई तरह से हंसता या रोता है, कि दर्शकों को तो वह हंसता या रोता हुआ नजर आता है; पर सचमुच में वह न तो आप हंसता ही है और न रोता ही है। पर हां, उस के इन भांति भांति के व्यापारों को देख भाल कर, दर्शकों को अवश्य एक समय हंसी और दूसरे समय रोना आजाता है और उन का इस हंसी की मात्रा उस समय और भी अधिक बढ़ जाती है, जब उन्हें उस लोक-रंजन करने वाले के कामों का पता लग जाता है। इसी तरह और और भी समझना चाहिए।

(४८) फलाकर्षण—फलों का आकर्षण ऊपर, दाहिने, बांयें न होते हुए पृथ्वी ही की ओर क्यों होता है? आकर्षण शक्ति क्या है? वस्तु के भारवान् और दूर होने पर, या भारवान् और समीप होने पर, या हलकी और दूर रहने पर, अथवा नहीं तो हलकी और नजदीक रहने पर, आकर्षण शक्ति का उस पर क्या प्रभाव पड़ता है? प्रत्येक पदार्थ, पृथ्वी से ऊपर की ओर चाहे फेंके जायँ, या कोई अपनी मरजी से कितना ही ऊपर क्यों न उड़ जायँ, तब भी अन्त में तो उन्हें पृथ्वी ही पर गिरना पड़ता है या उसी की ओर आना पड़ता है।

यह क्यों होता है ? आदि आदि आकर्षण शक्ति सम्बन्धी बातों का पूरा पूरा ज्ञान इस कला के द्वारा लोगों में फैलाया जाता था।

(४६) अफल-अफलन—वे चीजें, जो सचमुच में फलवान् हो कर के फलती नहीं थी, मुख्यतः दो भागों में विभाजित की गई थीं। एक तो स्थावर; जैसे, वृक्ष, बेलियां, आदि; और दूसरी, जंगम वस्तुएं, जो चलती फिरती हैं। जैसे, मनुष्य या कोई भी जीवधारी। कोई वृक्ष, या बेलि फलती नहीं है, तो क्या कारण है ? कौनसा खाद उसे पहुँचाया जा कर, वह फिर से फलवान् बनाया जा सकता है ? या उस में कोई कीड़ा आदि लग गया है ? या इस का बीज ही दूषित और कम ज़ोर था ? अब आगे कौन से सरलातिसरल, कम-खर्चीले उपायों के द्वारा, उसे शीघ्र ही, फलों से लदा रहनेवाला बनाया जा सकता है ? इसी तरह पुरुषों आदि के सन्तान नहीं होती हैं, तो इस का मूल कारण क्या है ? क्या, पुरुष की जननेन्द्रिय किसी दोष से दूषित है ? या पुरुष के वीर्य में सन्तानोत्पादक परिमाणुओं का अभाव है ? अथवा स्त्री ही का रज किसी विशेष दोष से सन्तानोत्पादन करने में असमर्थ है ? यदि हां, तो ये दोष किन अचूक, सीधे से सीधे, बहुत ही कम मिहनत, समय और सम्पत्ति के खर्चवाले उपायों से दूर किये जा सकते हैं ? और उन्हें कैसे फलवान् बनाये जा सकते हैं ? स्थावर और जंगम सभी के इन ऊपर के दोषों को दूर करने के लिए, वे अव्यर्थ, अचूक और रामबाण नुसखे कौन से हैं, जिन को गरीब और अमीर सभी, एक समान रूप से काम में ला सकें ? आदि कई उन उन बातों को लोग इस कला के द्वारा सीखपाते थे।

(५०) धार-बन्धन—छूरे, भाले, बल्लम, तलवार, आदि हथियारों की पैनी से पैनी धार को, मन्त्र, तन्त्र, या आत्मबल किसी के भी द्वारा अव्यर्थ बना, उन पर दौड़ते दौड़ते चले जाना, या इन हथियारों के द्वारा किसी पर वार तो करना, पर उन्हें तनिक भी चोट न पहुँचाना; या बहते हुए पानी की धारा को वहीं की वहीं रोक देना; अथवा उसे खण्ड खण्ड दिखा कर, वहीं की वहीं नियत समय के लिए रोक रखना; या किसी बहते पानी की धारा को, दो इधर उधर के भागों में खण्डित कर बीच में मार्ग निकाल देना और उस के आर पार स्वयं जाना या किसी को भेजना और फिर उसे अपने पहले ही के रूप में ले आना; आदि आदि बातों की, अथ से इति तक की शिक्षा, इस कला के द्वारा, लोगों को, दी जाती थी।

(५१) चित्र–कला-लेखक और कवि जिन बातों को ग्रन्थ-भर की जगह में, लिख कर कहते हैं, और उन बातों को भी बिना पढ़े लिखे लोग, या केवल अक्षर-ज्ञानवाले लोग नहीं पढ़ और समझ सकते। परन्तु उन्हीं लम्बी, चौड़ी, सभी को एकसी समझने में कठिन बातों को, एक अच्छा चित्रकार, बड़ी ही खूबी के साथ, एक आध सफ़ा पर, केवल पेन्सिल की नोक और अपने हाथों की सहायता से, या अपने हाथ, कुछ रंग और ब्रुश (बालों की कूँची) की सहायता से, किसी न किसी रूप में जगत् के सामने खड़ा कर देता है। अस्तु। कवि जहाँ शब्द जगत् में एक विधाता का काम करता है; वहाँ इस कला का पण्डित रूप–जगत् का विधाता होता था। अगर इस कला का कोविद कोई चाहता, तो दुनियां की सम्पूर्ण स्थलीय और जलीय वस्तुओं को कोरे कागज़ के टुकड़े पर ला बैठाता; पर हाँ, होती उन में एकदम निर्जीवता!

(५२) ग्रामबसावन–ग्राम कैसे और कहाँ बसाये जाते हैं? पहाड़ों के ऊपर, मरु-भूमि में और दलदलों के पास गांव क्यों नहीं बसाये जाते? छोटी पहाड़ियों, और घाटों की तलाइयां और मैदानों की भूमियां, येही बस्तियों के लिए क्यों चुनी जाती हैं? पर ऊँचे पहाड़ों की तलहटियों में बस्तियां नहीं बसायी जातीं; यह क्यों? कौन बस्तियां छोटी और कौन बड़ी बन जाती हैं? अकसर खेती के गांव छोटे, तथा कल-कारखानों और जहाँ चारों ओर के रास्ते आकर मिलते हैं वे गांव छोटे होने पर भी बहुत बड़े क्यों बन जाते हैं? गांव का और उसके मुहल्लों के नाम आदि, किस के ऊपर से रक्खे जाते हैं? राजधानियों की बस्तियां उन के अपने राज्यों में किस मौक़े के स्थान पर होना चाहिएँ? किले कहाँ और क्यों बनते हैं? कौनसी बस्तियाँ अच्छी होकर भी बुरी और छोटी बन जाती हैं? नदियों के किनारे की भूमि गांवों के लिए कैसी होती है? बस्तियों की आबहवा को शुद्ध बनाने और सदा शुद्ध बनाये रखने के लिए क्या करना चाहिए? गांवों की रक्षा और अन्य प्रबन्ध कैसे करना–करवाना चाहिए? फिर, एक गांव से दूसरे और दूसरे से तीसरे आदि को जाने का भी समुचित प्रबन्ध होना ही चाहिए। आदि आदि बातों का अच्छा परिचय, इस कला के द्वारा दिया जाता था।

(५३) कटक-उतारण–छावनियां कहाँ डाली जानी चाहिए? कैसी रचना उनकी करनी चाहिए? उन के रसद का इन्तिज़ाम कहाँ, कैसे, और कितना कर

के रखना चाहिए ? शत्रुओं की सेना को देखते रह कर, उन के छापों से बाल बाल बचते रहें और उन के पास होते हुए भी उन के नज़रों से छिपे रहें, इन बातों का विचार करते हुए, उन के आकार प्रकार किस किस तरह के और वे भी कहाँ पर कैसे रखने चाहिएँ ? इत्यादि बातों की साँगोपाँग शिक्षा, राजनीति के पाय पर, लोगों, को, जो हट्टे कट्टे होते, दी जाती थी।

(५४) शकट-युद्ध—रथी का युद्ध रथी के साथ कैसे, कहां, और कब तक होना चाहिए ? रथी को स्वयं की तथा सेना की रक्षा के लिए युद्ध-कला में कहाँ तक निपुण होना चाहिए ? रथ को अस्त्र-शस्त्रों से कहाँ तक सुसज्जित रखना चाहिए ? सारथी के, कैसा प्रवीण, निडर, साहसी, और स्वामि-भक्त होने की पूरी पूरी आवश्यकता है ? आदि बातों की शिक्षा देने का काम, इस कला के अन्तर्गत था।

(५५) गरुड़-युद्ध—इस में सेना की रचना आगे से छोटी, पतली, और पीछे से क्रमशः मोटी क्यों रखनी चाहिए ? ऐसी रचना सेना की करने से, शत्रुओं पर छापा मारने में क्या तात्कालिक असर पड़ता है ? आदि बातों का ज्ञान इस कला के प्रवीण लोग पाते थे।

(५६) दृष्टि-युद्ध—आँखों से आँखें मात्र मिला कर पर पक्ष के लोगों को कैसे हीन और निकम्मे बनाना, और उन पर दृष्टि ही के द्वारा ऐसा असर अपना बैठाना, कि जिस से वे अपने को पराजित मान कर वहाँ से फिर चलते ही बनें। इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला से दिया जाता था। बड़ी से बड़ी देर तक आँखों को, बिना निमेष और उन्मेष किये फाड़े रखना और उन में पानी की झाँई तक को नज़र न आने देना, आदि आदि बातें, बड़ी सावधानी के साथ, इस कला के विशारदों को साध्य कर रखनी पड़ती थीं। इस कला में जो कुशल लोग होते, फिर चाहे वे कितने ही छोटे या कृश ही क्यों न होते, उन के सामने से बड़े बड़े हिंसक और क्रूरकर्मा बनैले जन्तु तक, हार मान कर भाग खड़े होते थे।

(५७) वाग्-युद्ध—युक्ति-वाद, तर्क-वाद, बुद्धि-वाद, दृष्टि-युद्ध और अपने निजू ज्ञान की सहायता से पर-पक्ष के विषय का खंडन करना और स्व-पक्ष के विषय का मंडन करना; वाणी में वकीली के दाँव-पेंच खेल कर और हाजिर-जवाबी

दिखा कर, पर-पक्ष को हर प्रकार से पराजित करना; और भांति भांति के सामान्य तथा गूढ़ विषयों पर शास्त्रार्थ करना; इत्यादि काम, इस कला के जन्म का उद्देश्य था।

(५८) मुष्टि-युद्ध—हाथों को बांध कर मुष्टि बनाना, और उन के द्वारा भांति भांति से विधि पूर्वक घूमा-मारी खेलकर, पर पक्ष को पराजित करना, यही इस कला का प्रयोजन था। इस कला में योग्यता प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले लोगों में हाथों की सबलता का होना, दृष्टि को और चित्त को स्थिर रूप से एक ओर साधने का अभ्यास, और दिल की कट्टरता के गुणों की परम आवश्यकता थी।

(५९) बाहु-युद्ध—इस में मुष्टि की जगह बाहुओं से युद्ध करने की शिक्षा दी जाती थी। इस कला के लिए वेही लोग अकसर चुने जाते, जो संयमशील, सबल, और हाथों को नचाने में पूरे पूरे चुस्त होते। यही नहीं, उन की दृष्टि का सबल होना और उन के शरीर की नस नस में लाघव के गुण का होना भी इस कला के लिए परम आवश्यक था। क्योंकि, उन्हें दूर से दूर और पास से पास-वाले, तथा सबल से सबल, सभी प्रकार के शत्रुओं के आघातों से सोलह आना बच कर, उन के ऊपर अपने आघात करना होता था।

(६०) दंड-युद्ध—इस कला में दंडों (लकड़ियों) के द्वारा युद्ध करना सिखाया जाता था। दंड कैसे और कितने लम्बे रखने चाहिएँ? उन के कौन कौनसी रीतियों से चलाये जाने पर, वे शत्रुओं को पास नहीं फटकने देते? सीना और शरीर की कसाई और भुजाओं की लाघव तथा मज़बूती, इस कला के लिए बड़ी प्यारी और मूल्यवान् वस्तुएं समझी जाती थीं।

(६१) शास्त्र युद्ध—इस कला के द्वारा, अपने पठित शास्त्र ज्ञान को खंडन मंडन के रूप में, बोल कर या लिख कर प्रकट करने की युक्तियां सिखाई जाती थीं। इस कला के इच्छुकों को, अपने शास्त्रीय पठित ज्ञान को, पुस्तकावलोकन के द्वारा, सदा तरोताज़ा रखने की बड़ी ही आवश्यकता थी। अधिक क्या, इन के जीवन का अधिकांश भाग पढ़ने-लिखने ही में बीतता था।

(६२) सर्प-मर्दन—सर्प कहां रहते हैं? अकसर कहां पाये जाते हैं? ऋतुओं के कारण उन के स्थानों में क्या परिवर्तन हो जाता है? सांप के काटे

हुओं की संजीवनी औषधियां क्या हैं ? कहां मिलती हैं ? वे कौनसी जड़ी बूंटियां हैं, जिन के सूंघने या सुंघा देने मात्र से भयंकर से भयंकर ज़हरीले सांपों का विष दूर किया जा सकता है ? कौन से नाग मणिधर होते हैं ? सांपों को कील कर कैसे रखना चाहिए ? वे मन्त्र कहां, कब और कैसे सिद्ध किये जाते हैं ? सांपों के कै प्रकार होते हैं ? मन्त्र-बल से, सांपों को दूर से दूर के फ़ासिले से, एक मनचाहे निश्चित स्थान पर बुलाकर, उन के द्वारा डसे हुओं का विष कैसे चूपा लिया जाता है ? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला के द्वारा लोगों को दिया जाता था। इस कला में वेही लोग लिये जाते थे, जो निर्भीक, तेजस्वी, साहसी, मन्त्र-विधि के ज्ञाता होते थे और जिन की दृष्टि सधी हुई रहती थी।

(६३) भूतादि-मर्दन—भूतादि क्या हैं ? ये कितने प्रकार के मुख्य होते हैं ? इन में निर्बल और सबल जातियों के कौन से भूत होते हैं ? इन को वश में करने की क्या रीतियां हैं ? कौन से मन्त्र, और तन्त्रों के आगे इन की शक्तियां बिलकुल काम नहीं करतीं ? उन्हें कैसे, कहां, कब और कितने समय तक सिद्ध करना पड़ता है ? भूतादि को वश में कर, उन से, कौन कौनसे दुर्लभ काम भी सुगमता-पूर्वक करवा लिये जाते हैं ? भूतादि की बाधाओं का असर किस प्रकृति के व्यक्तियों पर विशेष रूप से होता है ? इत्यादि बातों का ज्ञान, जो निडर, साहसी, कष्ट-सहिष्णु होते, उन पुरुषों को, इस कला के द्वारा दिया जाता था।

(६४) मन्त्र-विधि—प्रत्येक प्रकार के मन्त्र के जप-जाप की कौन सी विधि है ? कौई मन्त्र कब, कहां, कैसे और कितने जप-जाप के पश्चात् सिद्ध होता है ? मन्त्रों के बल से, जब वे सिद्ध हो जाते हैं, सम्पूर्ण ऐहिक इच्छाओं की पूर्त्ति, किस आसानी के साथ हो सकती है ? उन से दैहिक, दैविक और भौतिक बाधाएं कैसे निर्मूल कर दी जाती हैं ? किस मन्त्र से कौनसा काम निकलता है ? इत्यादि बातों की शिक्षा, संयमशील, कष्ट-सहिष्णु, ब्रह्मचारी, और निष्कपट तथा आस्तिक पुरुषों को, इस कला के द्वारा दी जाती थी।

(६५) यन्त्र-विधि—मुख से मन्त्रों का उच्चारण करते हुए, किसी धातु के पत्रों, या भोजपत्र, या साधारण कागज़ या दीवाल आदि पर, नियमित खाने बनाना और उन में उचित अंकों का भरना, यन्त्रों को लिखना है। ये यन्त्र

कब लिखे जाते हैं? मनोरथों के भेद से, ये कितने प्रकार के मुख्य कर के होते हैं? इन से ऐहिक इच्छाओं की पूर्त्ति और त्रि-तापों का शमन कैसे और किस कदर होसकता है? ये कहां बांधे, या किन किन जगहों में लिख कर रक्खे जाते हैं? इत्यादि बातों का ज्ञान, इस कला से लोगों को दिया जाता था।

(६६) तन्त्र विधि—तरह तरह के टोने करना, उतारे करना, और विधान के साथ उन्हें बास्तियों के चौरास्तों पर रखना, झूठी पत्तलों की भोजन के पश्चात् कील खोलना, धान की मूठी आदि उतार कर, किसी के शिरहाने रखना, आदि आदि कामों की विधियां, इस कला के द्वारा लोगों को बताई जाती थीं। लोगों का विश्वास था, कि इसकला के द्वारा, कई प्रकार की दैहिक, दैविक और भौतिक बाधाएँ आसानी के साथ निर्मूल की जा सकती थीं।

(६७) रूप-पाक-विधि—अपने रूप को निखारने और सदा सलोने जन्म पर्यन्त बने रहने के लिए, ऋतुकाल, देशकी प्रकृति और अपनी तासीर का मेल मिला कर, कौन से पाकों का सेवन करते रहना चाहिए? ये पाक कैसे और कौन कौन पदार्थों के कितने कितने परिमाण से बनते हैं? इत्यादि बातों का ज्ञान, इस कला से, लोग प्राप्त कर पाते थे।

(६८) स्वर्णपाक विधि—इस कला के द्वारा, पुरुष नाना विधि के साथ तरह तरह के सुवर्ण के पाकों का बनाना सीखते थे। इस में, प्रथम, विधि-पूर्वक सोने को शोधना, फिर, उस के नियमित परिमाण के साथ, अन्य अन्य आवश्यक पदार्थों तथा जडी बूंटियों को मिलाकर, पाक तैयार करना, और तब उचित विधि के अनुसार, देश, काल, और पात्र की अवस्था का अनुभव और अनुमान कर, उस का सेवन करना, इत्यादि बातें बताई जाती थीं।

(६९) बन्धन—किसी पर मन्त्र और दृष्टि की सबलता आदि से ऐसा असर डालना, जिस से वह औरों की निगाहों में तो बंधा हुआ मालूम न पड़ सके; परन्तु वह स्वयं की नज़रों में बन्धन में जान पड़े। यही इस कला का उद्देश्य था।

(७०) मारण—केवल मन्त्रों की सिद्धि और दृष्टि-बल से, बिना किसी भी प्रकार का किसी पुरुष विशेष से युद्ध किये, यहां तक कि बिना उसे देखे-भाले, केवल उस का नाम और ठाम मात्र मालूम कर, और बिना किसी भी प्रकार के

हथियारों का उस पर प्रयोग किये, उस के सिर को धड़ से अलग कर देना, या अन्य किसी भी प्रकार से उसे मार गिराना, इस कला का काम था।

(७१) स्तम्भन—किसी व्यक्ति विशेष से, अपने पराये किसी वैर का बदला लेने के लिए, उस किसी नियत काल तक के लिए स्तम्भित कर रखना इस कला से लोग जान पाते थे। इस कला का उद्देश्य मन्त्र विधि ही के पाये पर था।

(७२) संजीवन—किसी मृत-प्राय, या मृतक दिखने वाले व्यक्ति को, जो असमय ही में, किसी कारण विशेष से मृत्यु को प्राप्त होता दिखता, मन्त्र, यन्त्र तन्त्र आदि विधियों के बल, या किसी प्रकार की संजीवनी जड़ी को, उस के मृतक शरीर से छुआ कर, उसे पुनः संजीवन कर देना, इस कला से लोग जान पाते थे।

स्त्रियों की चौसठ कला

इसी प्रकार स्त्रियों के लिए भी चौसठ कलाओं के सिखाने की उचित योजना, राजा ऋषभ देवजी ने अपने राज्य में, सब से पहले इस जगत् में की थी। वे नीचे के अनुसार थीं। स्त्रियों को कलावान् और विदुषी बनाने का जितना भी काम होता, सब स्त्रियों ही के द्वारा करवाया जाता था।

(१) से (१५) नृत्य; चित्र; वाजिन्त्र; मन्त्र; जन्त्र; मेघ-वृष्टि; शकुन-विचार; गज-तुरंग-परीक्षा; स्त्री-पुरुष लक्षण; वैद्य-क्रिया; अंजन-योग; वाणिज्य विधि; काव्य-शक्ति; सर्व-भाषा-ज्ञान; और वीणादिनाद इन कलाओं का परिज्ञान विधि-पूर्वक, पुरुषों के समान, स्त्रियों को भी कराया जाता था। और वे भी पुरुषों की भांति ही इन कलाओं में कुशल बनती थीं।

(१६) औचित्य—इस कला के द्वारा, उन्हें किसी काम के उचित या अनुचित होने का बोध कराया जाता था।

(१७) ज्ञान—क्योंकि स्त्रियां घर की लक्ष्मी और माता के रूप में वेही एक, अच्छे एक हजार शिक्षकों की गरज बच्चों के लिए पूरा करनेवाली होती हैं। अतः घर की सब प्रकार की सुव्यवस्था रखने, बच्चों का लालन-पालन शास्त्रीय रीति से करने, पति के द्वारा अपनी कोख से मनचाही संतान प्राप्त करवाने, पति

और घर का हर प्रकार से मन रंजन करते हुए लोक-प्रिय बनने और [illegible] या विशेष बच्चे की बिमारी में एक अच्छे वैद्य का काम देने और पति को कुमार्ग-गामी देख कर उसे नम्रतापूर्वक सुसलाह देने, आदि के लिए, धर्म-मूलक रूप से, जितना पढ़-लिख कर ज्ञान-सम्पादन करने की आवश्यकता होती, इस कला के द्वारा उन्हें उतना बोध व्यावहारिक रूप से कराया जाता था।

(१८) विज्ञान-(वि+ज्ञ+आन) दूसरों के सहारे नहीं, वरन् अपने ही ज्ञान और बुद्धि-बल से, अपने अनुभव के पाये पर, जिन नयी नयी बातों का शोध लगाया जाता है, वह विज्ञान कहलाता है। गृहस्थी के जीवन और सुख की वृद्धि के लिए किफ़ायतशारी से, भावी माताओं और बहिनों को, इस कला के द्वारा, भिन्न भिन्न पदार्थों या एक ही पदार्थ में, भिन्न भिन्न पदार्थों के, किस परिमाण के साथ मिला देने से, उन के रंग, रूप, स्वाद और उन के सेवन से शरीर पर होने वाले असर में क्या अन्तर आ जाता है, भली भांति बता दी जाती थी। इस में उन के हाथ और आंखों को उन की बुद्धि के साथ इस क़दर व्यवहार रूप में सधा दिया जाता था, कि फिर उन्हें नापने, तौलने या जोखने की ज़रा भी कभी कोई ज़रूरत नहीं पड़ती थी। फिर इस कला में विदुषी प्राप्त विदुषियों की परीक्षा भी, आतिथ्य-सत्कार करने, रसोई बनाने, बच्चों का लालन-पालन करने तथा उन को रोग-मुक्त करने, और उन के भावी जीवन की नींव को पुख़्ता बनाने, आदि के समय, व्यवहार रूप में, की जाती थी।

(१९) दम्भ-पर पुरुषों या पापी जनों के पंजे में पड़ कर उन के अपने सतीत्व को भ्रष्ट न होने देने के लिए, अनेक प्रकार के सात्त्विक छल-कपट करने की विधियां, इस कला के द्वारा उन्हें बताई जाती थीं।

(२०) जल-स्थम्भ—इस कला के द्वारा, अपना तथा अपने कुटुम्ब का मन-रंजन करने के लिए, बिना किसी कल आदि की सहायता से, सुगमता-पूर्वक और चाहे जिस जल-पात्र या जलाशय से, भांति भांति के फव्वारों का छोड़ा जाना, नारियों को सिखाया जाता था।

२१ गीत-ज्ञान-समयानुकूल भांति भांति के गीतों को तरह तरह के राग रागिनियों के द्वारा गाना और आशुकवि के समान, मन चाही और एक बार देखी सुनी बात पर, गीत बना देना, आदि बातों का विधिवत् ज्ञान, इस कला के द्वारा उन्हें कराया जाता था।

(२२) ताल-तान—इस से, उन्हें पैर अथवा हाथों के द्वारा, बाजा, ढोलक, मृदंग, तबला तथा गायक की गति के अनुसार, ताल मारना बताया जाता था।

(२३) आरामरोपण—इस कला के द्वारा, उन्हें तरह तरह के आकार प्रकारों में पौधों को लगा, या रोप कर, फुलवारियों की रचना का काम सिखाया जाता था। या यूं कहो, कि उन्हें भिन्न भिन्न प्रकार के आकार-प्रकारों में, बाग़वानी की शिक्षा का शास्त्रीय ज्ञान, इस कला से उन्हें दिया जाता था।

(२४) आकार-गोपन—एक बार पति के लिए सच्चे और चतुर सलाहकार का रूप धारण करना; तो दूसरी बार उस को झंझट में फंसा देख कर, अपनी कुशाग्रबुद्धि और हाज़िर जवाबी के द्वारा, उस की मुश्किल को हल करने में उस के लिए वकील का रूप बनाना; फिर वही धर्म कार्य में पिता का व्यवहार अपने पति के साथ करती देखी जाती है; तो चौथी बार, खिलाते पिलाते समय माता के रूप में सामने आती है; वही, पांचवी बार रति के समय एक रति नारि के रूप में पति को मिलती है; तो छटी बार, पति के रोगी, अपाहिज़, कोढ़ी, दीन-दुनियां से गया बीता हो जाने पर भी, मिहनत मजदूरी के द्वारा उस का पेट पालन करने में पहले, 'अशरण शरण-दाता' और फिर 'परम स्वामिभक्त सेवक' के रूप में वही उस की सेवा शुश्रूषा करती देखी जाती है; और सातवीं बार, अन्य कामी लम्पट पुरुषों के लिए वही काल सर्पिणी का क्रोध-भरा रूप धारण कर उस का सर्वस्व नाश करने के लिए दौड़ती दिख पड़ती है। यों अनेकों प्रकार से अपना रूप अदल बदल करने की सच्ची शिक्षा, इस कला के द्वारा, नारियों को बचपन से दी जाती थीं।

(२५-२६) धर्म-विचार और धर्म-नीति—इन कलाओं के द्वारा, उन्हें बताया जाता था, कि स्त्रियों के लिए सच्चा धर्म और धार्मिक-नीति दरअस्ल किस बात में है। इन्हीं कलाओं की सत्शिक्षा के द्वारा, उन में-"वृद्ध, रोग-वश, जड़, धन-हीना। अन्ध, बधिर, क्रोधी, अति-दीना॥ ऐसेहु पति कर किय अपमाना। नारि पाव यमपुर दुख नाना॥" के भाव कूट कूट भरे जाते थे और स्त्रियों के एकमात्र धर्म और धार्मिक नीति, 'सतीत्व-रक्षण' का पाठ उन्हें पढ़ाया जाता था।

(२७) प्रसाद नीति—के द्वारा, उन्हें करुणा-पूर्ण और मधुर-भाषिणी बनाने का प्रयत्न किया जाता था।

(२८) संस्कृत-जल्पन—इस कला के द्वारा, उन्हें संस्कृत भाषा का इतना ज्ञान करा दिया जाता था, कि जिस से वे धारा-प्रवाह रूप में संस्कृत भाषा के द्वारा अपने हृद्-गत भावों को प्रकट कर सकें।

(२९) स्वर्ण-वृद्धि—(कहीं कहीं 'सुवर्ण-वृद्धि' का पाठान्तर भी देखा जाता है) इस कला से, उन्हें गृहस्थी में, तरह तरह की किफ़ायतशारी रख कर, गृहस्थी को सुखी और सम्पन्न बनाने की उचित शिक्षा दी जाती थी।

(३०) सुगन्ध (तैल सुरभि) करण—नामक कला के द्वारा, नारियों को, उन के ज्ञान और विज्ञान के बल पर, तरह तरह के सुगन्धित अर्क खींचने तैल बनाने, इत्र, फुलैल आदि तैयार करने की शास्त्रीय शिक्षा दी जाती थी।

(३१) लीला-संचारण—नामक कला से, तरह तरह से क्रीड़ाओं का करना उन्हें सिखाया जाता था।

(३२) काम-क्रिया—इस कला के द्वारा, जहां नारियों को पति का मन-रंजन करने और उस के साथ प्रेम-वृद्धि की विधिवत् शिक्षा दी जाती थी, वहां उन्हें संयम रखने, और संयम से इह लोक तथा परलोक के सुधारने की भी पूर्ण रूप से पहचान कराई जाती थी।

(३३) लिपिच्छेद (या अष्टादश लिपि परिच्छेद)—कुल मुख्य मुख्य लिपियां कितनी हैं? नारियों को, उन्हें सीखलेने से, उन की सन्तानों पर इस का क्या असर पड़ता है? इन लिपियों को जान लेने पर, उन के बच्चे कितनी छोटी सी उम्र में बहुभाषा-भाषी बन जाते हैं? और आगे चल कर वे किस क़दर भाषा-विज्ञान के विशेषज्ञ बनते हैं? अनेक प्रकार की लिपियों को स्मरण रखने और लिखने में स्मरण-शक्ति के साथ, आंख और हाथों को किस प्रकार साधने का स्वाभाविक अभ्यास हो जाता है? इत्यादि बातों का ज्ञान इस कला के द्वारा करवाया जाता था।

(३४) तत्काल-बुद्धि—अपनी इस कला के द्वारा, किसी भी कठिनतम क़ाम को, बिना हिम्मतहारे, धैर्य के साथ, पूरे रूप से सफल बनाने की शिक्षा इन्हें दी जाती थी।

(३५) वस्तु-शुद्धि—भोज्य और पेय पदार्थों को शुद्ध कैसे किया जाता है? उन्हें शुद्ध कर के क्यों काम में लाना चाहिए? घरों को और वस्त्रों को

शुद्ध बनाये रखने की क्या आवश्यकता है ? इन सब बातों की शुद्धि से मन, बुद्धि और शरीर पर क्या अच्छा असर पड़ता है ? प्रत्येक प्रकार की शुद्धि के रखने से रोगों के आक्रमण से मनुष्य कैसे बच जाते हैं ? इत्यादि बातों की शिक्षा, इस कला के अन्तर्गत नारियों को दी जाती थी।

(३६) सुवर्ण-रत्न-शुद्धि—इस के द्वारा, नारियों को अपने आभूषणों को, जो सोने तथा रत्नों के बने होते, और उपयोग के पश्चात्, जिन की चमक-दमक में कुछ फ़र्क़ आ जाता, पुनः पहले के समान आबदार बना लेने की शिक्षा दी, जाती थी। साथ ही, उन कई प्रकार के मुलम्मों, और मसालों को बनाना और उन के उपयोग करने के अनुभव की शिक्षा देना भी इस कला का उद्देश्य था, जिस से घटिया कीमत के आभूषण भी बड़े ही पानीदार बन जाते थे।

(३७) चूर्ण-योग—समय समय पर तरह तरह की उन सुस्वादु चटानियों और चूर्णों का बनाना, जिन से पाचन शक्ति बढ़े; पेट का विकार दूर हो; शरीर की कान्ति और शक्ति में उन्नति हो; और शरीर में वात, पित्त और कफ़ की समानता रहे; तथा जिन का सेवन करते रहने से, ऋतुकाल के अनुसार भोजन में अरुचि पैदा न हो सके; इत्यादि काम व्यावहारिक रूप में इस कला के द्वारा, नारियों को सिखाये जाते थे।

(३८) हस्त लाघव—की क्रिया में, हाथों को चंचलता के साथ नचाने, और उनसे प्रत्येक प्रकार के काम अधिक से अधिक लाघव के साथ लेने की साधना को काम में लाने का समावेश था।

(३९) वचन-पटुत्व—से समय, देश, और अधिकारी को देख कर बात-चीत करना और उस के द्वारा मुश्किल से मुश्किल कामों को आसानी के साथ, हां कहने में निकाल सकने की समता प्राप्त करना, नारियों को सिखाया जाता था।

(४०) भोज्य-विधि—में पाक-शास्त्र की विधिवत् शिक्षा नारियों को दी जाती थी। इतना ही नहीं, देश, काल और पात्र की प्रकृति के अनुसार, उन में किन किन विशेष परिवर्त्तनों की आवश्यकता है, जिन से भोज्य पदार्थों को खाने पर वे स्वास्थ्य के लिए सुख कर प्रतीत हों, इस बात का बोध भी उन्हें इस के द्वारा करवा दिया जाता था।

(४१) व्याकरण—व्याकरण क्या है? उस की आवश्यकता क्यों होती है? बच्चों को उन के जन्म ही से शुद्ध शुद्ध बोलने, लिखने, और पढ़ने की कलाओं की शिक्षा देने में, माताओं को व्याकरण का ज्ञान करा देना, कहां तक उपयोगी और बच्चों के समय की बचत करने वाला था? शब्दों की व्युत्पत्ति के साथ प्रत्यय, उपसर्ग, सन्धि और समास का ज्ञान करा देने पर, किसी भी अपरिचित शब्द का अर्थ लगाने में कितनी सुगमता होती है। और शब्द-भंडार की किस प्रकार अनहद वृद्धि होती रहती है? इत्यादि बातों का ज्ञान यह उन्हें कराती थी।

(४२) शालिखंडन—इस से, शालि को खांड कूट कर, उस में से चांवलों को साफ़-सुथरे और अखण्ड रूप में निकालने की शिक्षा उन्हें दी जाती थी।

(४३) मुख-मंडन—से, चेहरे पर भांति भांति के तिल गोद कर उसे सुशोभित बनाने की विधियां बताई जाती थीं।

(४४) कथा-कथन—इस कला से, समयानुसार, और तरह तरह की कथाओं को, उन के भिन्न भिन्न ढालों में ढाल कर कहने की शैली का परिचय पूरे रूप में करा दिया जाता था, जिस से समुचित शिक्षा और सदुपदेश की प्राप्ति के साथ, चरित्र का संगठन भी भली भांति होता रहे।

(४५) कुसुम-गूँथन—की कला से उन्हें तरह तरह के हारों, गजरों, गुलदस्तों, शीश-फूलों, आदि आदि फूलों के गहनों को बनाने की विधि-पूर्वक शिक्षा दी जाती थी।

(४६) शृंगारसज—इस कला के द्वारा, स्त्रियों को, समय समय के अनुसार, अपने भांति भांति के शृंगारों को सजाने की शिक्षा व्यावहारिक रूप से दी जाती है।

(४७) अभिधान—यह कला वस्त्रों के पहनने का विधान बतानेवाली थी। देश, काल और व्यक्ति की अवस्था तथा प्रकृति के अनुसार, वेशभूषा में फेरफार करना भी इसी कला से सिखाया जाता था।

(४८) आभरण सज—आभरण क्या है? सदाचार के लिए सधवा माताओं का आभरण पहनना, वैज्ञानिक रूप से कितना आवश्यक है? जहां सदाचार की रक्षा और शरीर के सौन्दर्य में बढ़ती उन से होती है, वहां नीरोगता

को बनाये रखने, और कृषि-प्रधान देशों में समय असमय की निर्धनता को दूर करने में कहां तक उन का हाथ रहता है ? वे मुख्य कर कितने और कौन कौन से होते हैं ? वे शरीर के खास कर बारह अंगों ही में क्यों कर पहने जाते हैं ? पतिव्रता विधवाओं के लिए उन में से बहुतसों का त्याग क्यों अच्छा कहा जाता है ? सधवाएं उन्हें पहन कर, अनेकों रोगों से कैसे बच जाती हैं ? आदि बातों का ज्ञान, शरीर-शास्त्र के अनुसार, उन्हें दिया जाता था।

(४९) भृत्योपचार—से घर के नौकर चाकरों के साथ जो वास्तव में घर की शोभा को बनाये रखने के कारण होते हैं, कैसे बर्ताव करना चाहिए? उन के दुख दर्दों में उन की सेवा शुश्रूषा कैसी करनी चाहिए ? उन के लिए सहानुभूति दिखाते रहने पर, वे पराये से पराये हो कर भी अपने कैसे बन जाते हैं ? आदि बातों की व्यवहार रूप में शिक्षा देना, इस कला का काम था।

(५०) गृहाचार—इस के द्वारा, घर की कुल-नीति को जान कर, तद्-नुसार गृहस्थी के शील और सदाचार को बनाये रखना बताया जाता था।

(५१) संचय-करण—इस से, " सकल वस्तु संग्रह करे; आवे कोइ दिन काम" । इस कथन के अनुसार नारियों को आवश्यक और अनावश्यक सभी वस्तुओं को संग्रह कर के रखने की आवश्यकता और उनके उपयोगों का अनु-मान करने का अभ्यास कराया जाता था।

(५२) धान्य रन्धन—से प्रत्येक प्रकार के धान्यों को सिजोने और रांधने की क्रियाएं शास्त्रीय रूप से बताई जाती थीं।

(५३) केश-बंधन—केशों को धोकर और ओंछ कर साफ सुथरा क्यों रखना चाहिए ? उन्हें बांधना क्यों और कैसे चाहिए तथा कब चाहिए ? वे किस किस प्रकार से बांधे जाते हैं ? किस प्रकर के तेल आदि का उपयोग उन के लिए करना चाहिए, जिन से वे सुचिक्कण, स्याह, लम्बे, सुकोमल और चमकीले बने रहें ? आदि बातों का विधिवत् ज्ञान, इस कला के द्वारा, नारियों को कराया जाता था।

(५४) वितण्डावाद—वाद-विवाद करना, इस से, उन्हें सिखाया जाता था।

(५५) अंक-विचार—आवश्यक हिसाब-किताब का ज्ञान, जो आगे चल कर गृहस्थी के लिए उपयोगी पड़े, इस कला से उन्हें बताया जाता था।

(५६) लोकव्यवहार—इस के द्वारा संसार-नीति की शिक्षा नारियों को दी जाती थी, और उन्हें बताया जाता था कि किस के साथ, कब कब, कैसा व्यवहार करना चाहिए, जिस से सद्भावनाओं की वृद्धि के साथ धन और धर्म की रक्षा होती रहे और लोक तथा परलोक भी जिस से बिगड़ने न पावें।

(५७) प्रश्न-प्रहेलिका—इस कला से नारियां तरह तरह के प्रश्नों के रूप में, बड़े ही बुद्धि वर्द्धक और मनोरंजक तथा कई प्रकार के उपयोगी तत्वों से भरे हुए बुझव्वलों को पूँछतीं और उन के उत्तरों को, अपनी कुशाग्र तथा तात्कालिक बुद्धि बल से बताती या निकालती थीं।

(५८) अंत्याक्षरी—इस के द्वारा, नारियों को किसी भी बात का अंत्याक्षर कह कर, उस के सहारे पूरी बात का निकलवाना बतलाया जाता था। या यूं कहो, कि इस से वे भांति भांति की समस्याओं को पूरा करने की युक्तियां जान पाती थीं।

(५९) से (६४) इसी प्रकार, क्रिया-कल्प; वर्णिका-वृद्धि; घट-भ्रमण सार-परिश्रम; पर-निराकरण; और फल-वृष्टि की कलाओं का ज्ञान भी विधिवत् करवाया जाता था।

पुरुषों और स्त्रियों की इन उपर्युक्त कलाओं के अतिरिक्त ऋषभदेवजी के राज्य में, चारों कुलों, अर्थात् (१) उग्रकुल, जिस में कोटवाल, न्यायाधीश की जाति के लोग रहते थे; (२) भोगकुल, जिस में गुरुस्थानी उच्च पुरुषों की गिनती आती थी; (३) राजकुल-जिस में तीर्थंकर और मंत्रियों का समावेश होता था; और (४) क्षत्रीकुल-जिस के अन्तर्गत सारे प्रजा-वर्ग की गणना होती थी, के लिए और छत्तीसों कौमों की जनता के वास्ते, बिना किसी प्रकार के भेदभाव के, अठारह प्रकार की लिपियों, लोकोत्तर और लौकिक अलग अलग चौदह विद्याओं के पढ़ने पढ़ाने, तथा लिखने लिखाने की और उन में जनता को पूरी पूरी दक्षता प्राप्त कर लेने की, समुचित योजना की गई थी। फिर उन्हें अधिकार था, कि वे उन्हें अपनी परिस्थिति और प्रकृति की पसन्दगी के अनुसार पढ़ें, लिखें, और सीखें। उन छत्तीसों कौमों और अठारह लिपियों आदि के नाम नीचे के अनुसार थे।

[अ] ३६ कौमों के नाम—(जिन में १८ चत्रिय कुल की और १८ अश्रेणी की होती थीं)—(१) कुम्हार; (२) माली; (३) किसान; (४) तुणार; (५) चित्रकार; (६) लखारे; (७) दर्ज़ी; (८) कलाल; (९) तँबोली; (१०) रँगारे; (११) गवाल (१२) बढ़ई; (१३) तेली; (१४) धोबी; (१५) हलवाई; (१६) नाई; (१७) कहार; (१८) बन्वारे; (१९) सीसगरे (२०) संगृही; (२१) काछी; (२२) कुन्दीगर; (२३) कागजी; (२४) रेबारी (२५) ठठेरी; (२६) पटवा; (२७) सिलावट; (२८) भड़भूँजा; (२९) सुनार; (३०) चमार; (३१) सुतार; (३२) धींवर; (३३) गिरा; (३४) सिकलीगर; (३५) कसारे;

[ब] १८ प्रकार की लिपियां-(१) ब्राह्मी (२) यवनानिका (३) दोषपूरिक (४) वरोष्टिया (५) खरसाविया (६) पहारा (७) उच्चमरिका (८) अचरपुत्तिया (९) भोगवइत्ता (१०) वेयणतिया (११) णिन्हइया (१२) अंक (१३) गणित (१४) गंधर्व (१५) आदर्श (१६) माहेश्वर (१७) दाम (१८) बोलिदि आदि, अठारह लिपियां हैं।

आज येही ऊपर कही गई ब्राह्मी लिपियां देशों की सीमा, स्थान, प्रकृति और आबहवा आदि के भेद विशेषों से, नीचे के अनुसार, अनेक तरह की हो गई हैं। जैसे, लाटी, चौड़ी, डाहली, कानड़ी, गौर्जरी, सौरठी, मरहठी, कोंकणी खुरासानी, मागधी, सिंहली, हाड़ी, कीरी, हम्मीरी, परतीरी, मसी, मालवी, और महायोधी इत्यादि।

[स] १४ प्रकार की लोकोत्तर विद्याएँ-(१) गणितानुयोग ;(२) करणानुयोग; (३) चरणानुयोग; (४) द्रव्यानुयोग; (५) शिक्षा- कल्प; (६) व्याकरण; (७) छन्द-विद्या; (८) अलंकार; (९) ज्योतिष; (१०) निर्युक्ति; (११) इतिहास; (१२) शास्त्र; (१३) मीमांसा; और (१४) न्याय।

[द] १४ प्रकार की लौकिक विद्याएँ-(१) ब्रह्म; (२) चातुरी; (३) बल; (४) वाहन; (५) देशना; (६) बाहु; (७) जलतरण; (८) रसायन; (९) गायन; (१०) वाद्य; (११) व्याकरण; (१२) वेद; (१३) ज्योतिष; और (१४) वैद्यक।

पाठको ! बताइये, अब कौनसी कला या विद्या रह गई, जिस का प्राचीन काल में यहां ऋषभदेवजी ने उद्घाटन नहीं किया था ? यदि पाठक विचार पूर्वक देखेंगे-भालेंगे, तो वे, जैसा कि हमें विश्वास है अवश्य इस नतीजे पर पहुँच पावेंगे, कि इस सभ्यता की कोरी डींग मारने वाले, बीसवीं शताब्दि के ज़माने में, उन ऊपर कही हुई कलाओं और विद्याओं में से, अनेकों उपयोगी कलाओं और विद्याओं का आज लोप सा हो गया है; उनका नामोनिशान भी आज कहीं ढूंढे नहीं मिल पाता है। यही कारण है, कि उस समय की बातों और आज के ज़माने में आकाश—पाताल का अन्तर पड़ गया है। उन्हीं कलाओं और विद्याओं के नष्टप्रायः हो जाने से, आज दुनियां की दशों दिशाओं में रोग, शोक, भय, दरिद्रता, कलह, अज्ञान, राग, द्वेष, इर्ष्या, आत्मघात, भ्रूणहत्या, और अविद्या की प्रबल बाढ़ सी आगई है। सच्चा सुखी आज कहीं कोई नज़र नहीं आता। जिधर भी देखो उधर फूट, मक्कारी, लोभ और बेकारी ने अपना अखण्ड आतंक फैला रक्खा है। फिर, जो धनवान् है, वह सन्तान-हीन और विद्या से विहीन है; और जो ढेरों सन्तान का बाप है, वह दाने दाने का मुंहताज़ हो, घर घर का और दर दर का भिखारी बेचारा बन रहा है। कहीं, राजनीति, प्रजा के सर्वस्व का अपहरण करने का बीड़ा उठाये बैठी है, तो प्रजा—पक्ष भी, राजनीति के पैर उखाड़ने में आज सिर-तोड़ परिश्रम के साथ मैदाने जंग में उतरा पड़ा है। दोनों की आपसी सद्भावनाओं का सोता आज सूख गया है। कोई किसी का राई-रत्ती का भी विश्वास नहीं करता। कहां तक कहें, चिन्ता के मारे नींद और भूख तथा हंसी और खुशी सब ही हवा हो गई है। अस्तु। शांति और सुख के ग्राहकों को फिर से अपने घर की ओर लौटने की कोशिश करना पड़ेगा। फिर से अपनी नष्ट प्रायः कलाओं और विद्याओं को जागरूक करने ही से उनका इहलोक और पर-लोक सुधरेगा। नहीं तो मँझधार में तो आज आ ही पड़े हैं।

इस अवसर्पिणी में सब से पहले, ऋषभदेवजी ही हुए, जिन्होंने अनेकों प्रकार की कलाओं, विद्याओं, लिपियों, और कौमों को संसार में, लोक परलोक को पहचानने के लिए, जन्म दिया। जन्म ही नहीं, अपने राजत्व काल में इन को अपनी पूर्ण उन्नति पर उन्हों ने पहुँचाया। वे ६३ (तीरसठ) लाख पूर्व तक गृहस्थाश्रम भोगते रहे। अन्त में, अपने जेष्ठ पुत्र भरत को विनीता का राज्य-भार सौंपा। बाहुबली को तक्षशिला का अधिकार मिला। शेष के अन्य पुत्रों

की पांती में अलग अलग भू-भाग आये। उन भू-भागों के नाम-करण, अपने अपने स्वामियों के नाम पर, अंगप्रदेश, बंगदेश, मगधप्रदेश, आदि आदि हुए। ऋषभदेवजी को एक सौ महाबली, वीर, योधा, परम सुन्दर और अति ही धुरन्धर विद्वान् पुत्र, तथा ब्राह्मी एवं सुन्दरी नामकी दो पुत्रियां थीं। यों अपने जेठे पुत्र को राज्य का भार सौंप और शेष पुत्रों को अलग अलग भू-भागों से संतोषित कर, पूरे एक वर्ष तक वे अटूट रूप से दान देते रहे। इस बार राजा के सम्मुख जो जिस याचना से आया, उस ने वही वही मनवांछित पदार्थ दान में पाया। राजा ने किसी को भी विमुख नहीं फेरा। यह सब हो जाने के बाद राजा ने अपनी राजधानी विनीता नामक नगरी के निकटवाले सिद्धार्थ नामक उपवन में जा कर चैत्र कृष्ण ८ को, दीक्षा ग्रहण कर ली। इस अवसर्पिणी के येही पहले महापुरुष हैं, जिन्होंने दीक्षा धारण की। दीक्षा-व्रत ग्रहण करने के एक हज़ार वर्ष के बाद, इन्हें पूरिमताल नामक नगर के उपवन में, चारों घनघाती कर्मों के क्षय हो जाने पर फाल्गुन कृष्ण ११ को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। इसी दिन से ये सर्वज्ञ या अर्हन् की पदवी से अलंकृत हुए। इसी दिन इन की दोनों पुत्रियों ने भी साध्वी-व्रत का ग्रहण कर लिया। ये ही महाभागा पुरुष जैन-जगत् के पहले तीर्थंकर हुए। अतः इन्हें "आदिनाथ" के नाम से भी पुकारते हैं। इन ने अपने सीधे, सच्चे और पवित्र उपदेशों के द्वारा, हज़ारों लोगों को आत्म-बोध का अनुभव कराया। और उन्हें आवागमन के बन्धन से छुड़ा कर मुक्त बनाया। अन्त में, अपने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर इन्हों ने अष्टापद पर्वत के अंचल में निर्जल उपवास के छठे दिन माघ कृष्ण १३ को निर्वाण पद प्राप्त किया। उस समय तीसरा आरा बिलकुल बीत ही रहा था। केवल तीन वर्ष और साढ़े आठ महीने उस के और बीतना रहे थे।

प्रकरण-चौथा

बाईस तीर्थंकरों का संक्षिप्त परिचय

भगवान् ऋषभदेवजी के निर्वाण-पद को प्राप्त करने के पचास लाख करोड़ सागरोपम के पश्चात्, दुखम-सुखमा नामक चौथे आरे में स्वर्ग से चव कर, दूसरे तीर्थंकर पद के भावी अधिकारी श्री अजितनाथजी, अयोध्या नगरी के राजा जितशत्रु की रानी विजया की कोख में पधारे। इन का जन्म माघ शुक्ल ८ को हुआ। वहां इन्होंने इकहत्तर लाख पूर्व तक गृहस्थोचित राज-सुखों का उपभोग किया। तदुपरान्त, माघ शुक्ल ९ को, अपनी राजधानी ही के उपवन में, संसार के प्रति उपराम हो जाने पर, इन्हों ने दीक्षा-व्रत ग्रहण किया। दीक्षा-व्रत के बारह वर्ष के पीछे, पौष कृष्ण ११ को इन्हें केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ। तदनन्तर एक लाख पूर्व तक चारित्र का पालन करते रहे। और जब सम्पूर्ण कर्मों को ये नाश कर चुके, तब चैत्र शुक्ल ५ को मोक्ष में पधारे। कहते हैं, कि जब ये गर्भ में थे, इन की माता उस काल इनके पिता के साथ सदा पासों का खेल खेला करती थीं। उस में वह कभी भी पराजित नहीं हुई। और यही कारण है, कि इनका 'अजित' नाथ नाम दिया गया। इन के ज़माने में इन के काका सुमित्र का लड़का 'सगर' हुआ। जो आगे चल कर एक चक्रवर्ती राजा बना।

दूसरे तीर्थंकर अजितनाथजी के निर्वाण पधारने के तीस लाख करोड़ सागरोपम के पश्चात्, तीसरे तीर्थंकर श्री सम्भवनाथजी इस जगत् में पधारे। इन का जन्म माघ शुक्ल १४ को हुआ था। श्रावस्ती नगरी के जितारि राजा और सेना नामक रानी, इनके माता पिता थे। उनसाठ लाख पूर्व इन के गृहस्थाश्रम में बीते। अगहन शुक्ल १५ को, अपनी जन्म-भूमि ही के उपवन में जा

कर दीक्षा ग्रहण की। यों जब दीक्षित होने को पूरे चौदह वर्ष बीत गये, कार्तिक कृष्ण ५ को केवल-ज्ञान इन्हें प्राप्त हुआ। इस के पश्चात् एक लक्ष पूर्व तक आपने चारित्र का पालन किया। और जब सारे कर्म इन के क्षय हो चुके, तब वे चैत्र शुक्ल ५ को मुक्ति में पधार गये। जब आप गर्भ में आये थे, उस समय चारों ओर सुकाल, सुख और शांति की सम्भावना होने लगी थी। बस, तत्कालीन प्रकृति की इसी स्थिति को देख कर, इनका 'सम्भव' नाथ नाम दिया गया।

इन तीसरे तीर्थंकर के निर्वाण-पद को प्राप्त करने के, दश लाख करोड़ सागरोपम का समय बीत चुकने पर, माघ शुक्ल २ को, अयोध्या में, राजा संवर के घर, उस की सिद्धार्था रानी की कोख से, श्री अभिनन्दनजी चौथे तीर्थंकर का जन्म हुआ। कहते हैं, कि इन के गर्भ में पधारने और जन्म ग्रहण करने के बीचवाले अवसर में राजा संवर की शासन-निति से अति ही प्रसन्न हो कर, चारों ओर के आश्रित मांडलिक राजाओं ने, उन्हें अनेकों अभिनन्दन पत्र भेंट कर, उन के तईं अपनी कृतज्ञता प्रकट की। इस के लिए उन की प्रजा ने उन दिनों बड़ा ही आनन्द मनाया। और इसी उमड़े हुए चहुँ ओर के आनन्द का अनुमान कर, माता पिता ने नव-जात राजपुत्र का 'अभिनन्दन' नाम-करण किया। एक दिन माघ शुक्ल १२ को, अपनी पैतृक सम्पत्ति का, उनपचास लाख पूर्व तक राजोचित सुख भोगने के पश्चात्, इन्होंने अयोध्या के निकटवर्ती उपवन में दीक्षा ग्रहण की। इस के अट्ठाईस वर्ष बाद, पौष कृष्ण १४ को केवल-ज्ञान की इन्हें प्राप्ति हुई। यों एक लाख पूर्व के अपने दीक्षाव्रत से, सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर वैशाख शुक्ल ८ को, मुक्ति में पधार गये।

चौथे तीर्थंकर को मुक्ति में पधार-जाने के नौ लाख करोड़ सागरोपम के पीछे, एक दिन वैशाख शुक्ल ८ को, अयोध्या के तत्कालीन राजा मेघ की रानी मंगला की कोख से, पाँचवें तीर्थंकर सुमतिनाथजी का जन्म हुआ। आप उनचालीस लाख पूर्व तक गृहस्थाश्रम में रहे। फिर वैशाख शुक्ल ६ को अयोध्या के उपवन में आप ने दीक्षा-व्रत लिया। उस के ठीक बीस वर्ष के पश्चात्, चैत्र शुक्ल ११ को आपने केवल-ज्ञान का सम्पादन किया। इस के पश्चात्, इन्होंने भी एक लाख पूर्व के समय तक दीक्षा-व्रत का पालन कर, और अपने शुक्ल ध्यान के बल से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर, चैत्र शुक्ल ६ के दिन मुक्ति में पधार गये।

पाठको ! जब आप गर्भ में थे, इन की माता ने एक बड़ा ही सुन्दर न्याय किया था। वह यों था। एक मनुष्य के दो स्त्रियां और एक पुत्र था। इस बालक का पिता बचपन ही में मर चुका था। विमाता, माता से भी अधिक बालक पर स्नेह रखती थी। बालक, माता और विमाता दोनों को 'माँ' ही के नाम से पुकारा करता था। कुछ समय के बाद उन दोनों स्त्रियों में अन-बन हो गई। अन्त में दोनों के बीच बे-बनाव इतना बढ़ा, कि उन दोनों में से प्रत्येक, उस पुत्र को 'मेरा' 'मेरा' कह कर बड़े ही ज़ोरों से झगड़ने लगीं। अन्त में, फ़ैसला आपस में कोई भी तरह का न होता देख, उन में से हर एक, न्याय के लिए फ़र्यादी बन कर, राजा के पास गई। राजा ने विद्वानों की सभा में बैठ कर दोनों की अलग अलग बातें सुनीं। लड़के से भी पूँछ-ताँछ की गई। लड़के ने उत्तर में दोनों को अपनी माताएँ बताईं। यहाँ विमाता पर उस ने और भी गहरा प्रेम प्रकट किया। राजा और उस की सभा के विद्वान्, बड़े ही पशोपेश में पड़े और कोई भी अन्तिम निर्णय नहीं दे सके। रानी ने भी इस विचित्र फ़र्याद की घटना राजा के द्वारा सुनी। रानी ने इस बुझौवल को सुनते ही हल कर दिया। उस ने कहा, "दोनों स्त्रियों से कह दिया जाय, कि जो उस के पति की मिलकियत है उस के, और इस पुत्र के, यों दोनों वस्तुओं के समान दो दो भाग कर दिये जायँ। पश्चात्, जो भाग जिसे पसन्द पड़े, ले ले। यह बात सुन कर, जो विमाता होगी वह चुप रह जायगी। परन्तु, बालक की असली माता जो होगी, वह चट कह बैठेगी, कि 'मुझे तो सम्पत्ति भी चाहे न दी जाय; परन्तु मेरे बालक को किसी भी तरह सुरक्षित रक्खा जाय। उस के दो टुकड़े तो किसी भी हालत में न किये जायँ। चाहे फिर उसे भी उस की विमाता ही को सौंप दिया जाय। उस के जीवित रहने से कम से कम मैं उसे देख तो सकूँगी। आदि।' बस, यों माता और विमाता का उसी काल पता लग जायगा।" रानी की यह सलाह राजा को बड़ी ही रुची। उस ने जा कर वैसा ही फैसला दिया। रानी के कथनानुसार फ़ैसला के सुनाते ही, बालक की सच्ची माता और विमाता का पता लग गया तब तो राजा और राजसभा, सभी ने एक स्वर से रानी की बुद्धि को सराहा। यों "नींव निवाणे और धर्म ठिकाणे" के न्याय से न्याय भी हो गया और झगड़ा भी टूट गया। उसी दिन से राजा और उस के दरबारियों के द्वारा रानी के भावी पुत्र का नाम "सुमति" रखने का निश्चय हुआ।

पांचवें तीर्थंकर सुमतिनाथजी के निर्वाण के नब्बे हज़ार करोड़ सागरोपम के पश्चात्, कार्तिक कृष्ण १२ को, कौशाम्बी नगरी के राजा, श्रीधर की रानी सुसीमा की कोख से भगवान् पद्म-प्रभु छठे तीर्थंकर का जन्म हुआ। आप उन्तीस लाख पूर्व तक गृहस्थाश्रम में रहे। फिर आप ने कौशाम्बी के उपवन में जा कर, कार्तिक कृष्ण १३ को, दीक्षा ग्रहण की। चैत्र शुक्ल १५ के दिन, करीब छः मास दीक्षा-धारण के बाद, आप को केवल-ज्ञान की प्राप्ति हुई। एक लाख पूर्व चारित्र पाला। और अपने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर, मार्गशीर्ष कृष्ण ११ के दिन मुक्ति को प्राप्त किया।

नौ हज़ार करोड़ सागरोपम जब छठे तीर्थंकर के निर्माण काल को बीत चुका, उस समय, ज्येष्ठ शुक्ल १२ को, वाणारसी नगरी, जिसे आज काशी या बनारस भी कहते हैं, में, राजा प्रतिष्ठ के घर एक बड़े ही सुन्दर, सबल, और दिव्य शरीरी बालक की उत्पत्ति हुई। माता और पुत्र के नाम क्रमशः पृथ्वी देवी और सुपार्श्व थे। ये ही सुपार्श्व आगे चल कर सातवें तीर्थंकर के नाम से जगत् में प्रसिद्ध हुए। इन्होंने उन्नीस लाख पूर्व गृहस्थाश्रम में रह कर, वाणारसी के उपवन में, ज्येष्ठ सुदी १३ को दीक्षा-ग्रहण की। इस के नौ मास के बाद, फाल्गुन कृष्ण ६ के दिन आप को केवल-ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर, आप ने अपने सभी प्रकार के सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर, फाल्गुन कृष्ण ७ को निर्वाण पद प्राप्त किया।

सातवें तीर्थंकर के निर्वाण-पद में पधारने को जब नौ सौ करोड़ सागरोपम बीत चुके थे, तब पौष कृष्ण १२ के दिन, चन्द्रपुरी नगरी में, महासेन राजा के यहाँ, रानी लक्ष्मणा के गर्भ से आठवें तीर्थंकर-पद के अधिकारी भगवान् चन्द्रप्रभ का जन्म हुआ। ये नौ लाख पूर्व संसार में रहे। पौष कृष्ण १३ को, चन्द्रपुरी के उपवन में, दीक्षा-ग्रहण की। उसी साल के फाल्गुन कृष्ण ७ को इन्हें केवल-ज्ञान की प्राप्ति हुई। एक लाख पूर्व चारित्र पाला। फिर अपने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर, ये, भाद्रपद कृष्ण ७ को परम-पद मोक्ष के अधिकारी बने।

आठवें तीर्थंकर के निर्वाण-पद की प्राप्ति के नब्बे करोड़ सागरोपम के बाद अगहन कृष्ण ५ को, काकन्दी नगरी में राजा सुग्रीव के घर, उन की रामा नामक रानी की कोख से, नौवें तीर्थंकर श्री सुविधिनाथ का जन्म हुआ। आप एक लाख

पूर्व तक संसार में रहे। फिर उसी नगरी के उपवन में, अगहन कृष्ण ६ को दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा धारण करने के चार मास के पश्चात्, कार्तिक शुक्ल ३ को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। एक लाख पूर्व चारित्र पाला। और अपने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर, भाद्रपद शुक्ल ६ को ये मोक्ष में पधारे।

दशवें तीर्थंकर श्री शीतलनाथजी थे। इनका जन्म, नौवें तीर्थंकर के परम-पद प्राप्त करने के नौ करोड़ सागरोपम के पीछे का है। उस दिन माघ कृष्ण १२ का दिन था। इनके पिता भद्दिलपुर नगरी के राजा दढ़रथ थे। इनकी माता नन्दा देवी थीं। गृहस्थी में रह कर इन्होंने पचहत्तर हज़ार पूर्व बिताये। तब संसार से चित्त की उपराम अवस्था में, अपनी राजधानी ही के उपवन में, माघ कृष्ण १२ को दीक्षा ग्रहण की। इस के पश्चात्, दूसरे साल के पौष कृष्ण १४ को, केवल-ज्ञान की प्राप्ति हुई। और पचीस हज़ार पूर्व चारित्र पाला। फिर ये अपने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके, वैशाख कृष्ण २ को मुक्ति में पधारे।

ग्यारहवें तीर्थंकर श्री श्रेयाँसजी थे। इन का जन्म, फाल्गुन कृष्ण १२ को दशवें तीर्थंकर के निर्वाण-काल के, सौ सागर, छियासठ लाख छब्बीस हज़ार वर्ष, न्यून, एक करोड़ सागरोपम के पश्चात्, सिंहपुरी नगरी में हुआ। इन के पिता और माता श्री विष्णु और श्रीमती विष्णुदेवी वहां के राजा रानी थे। तिरसठ लाख वर्ष तक संसार में रहे। तब फाल्गुन कृष्ण १३ को अपनी राजधानी के उपवन में, दीक्षा इन ने ग्रहण की। माघ कृष्ण ३ को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। और इक्कीस लाख वर्ष चारित्र पाला। फिर अपने सम्पूर्ण कर्मों का नाश कर, इन्हों ने मोक्ष-पद को प्राप्त किया। इन्हीं के ज़माने में त्रिपृष्ट नाम के वासुदेव हुए। जिन के भाई का नाम अचल था। उसी काल में, रत्नपुर में अश्वग्रीव नामक प्रति-वासुदेव राज्य करते थे। त्रिपृष्ट ने अश्वग्रीव को पराजित कर, उसके सारे राज्य को अपने राज्य में मिला लिया था। इस बात का विशेष उल्लेख, भगवान् महावीर के पूर्व-भवों के परिचय में, पाठकों को मिलेगा।

ग्यारहवें तीर्थंकर के निर्वाण-पद प्राप्त कर लेने के चौपन सागरोपम के पश्चात्, फाल्गुन कृष्ण १४ के दिन, चम्पापुरी नामक नगरी में, श्री वासुपूज्यजी तीर्थंकर का जन्म हुआ। ये बारहवें तीर्थंकर थे। इन के पिता-माता उसी नगरी के राजा रानी थे। उन का नाम क्रमशः वसुपूज्य और जया देवी था। भगवान् वासुपूज्य

ने अठारह लाख वर्ष तक संसार में रह कर फाल्गुन कृष्ण १५ को, अपनी ही राजधानी के उपवन में दीक्षा-ग्रहण की। उस के बाद माघ शुक्ल २ को केवल ज्ञान इन्हें हुआ। इन्हों ने चौवन लाख वर्ष तक चारित्र का पालन किया। यों अपने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर, आषाढ़ शुक्ल १४ के दिन मोक्ष-पद को प्राप्त किया। इन्हीं के ज़माने में, द्वारिका के राजा ब्रह्मदेव की रानी सुभद्रा की गोदी से, विजय नामक बलदेव का जन्म हुआ था। उमा, इसी राजा की दूसरी रानी थी। उस के गर्भ से द्विपृष्ट पैदा हुआ। दूसरी ओर, विजयपुर में श्रीधर नामक राजा राज्य करता था। श्रीमती उस की एक रानी का नाम था। इसी श्रीमती रानी के गर्भ से तारक नामक एक बालक उत्पन्न हुआ। जिन ने आगे चल कर प्रति वासुदेव का पद पाया। इसी तारक को युद्ध में पराजित कर और मार कर, द्विपृष्ट के हाथ तीन खण्डों का राज्य आया और वे दूसरे वासुदेव बने।

तेरहवें तीर्थङ्कर श्री विमलनाथजी थे। इन का जन्म, बारहवें तीर्थंकर के निर्वाण हो जाने के तीस सागरोपम के पश्चात्, माघ शुक्ल ३ को हुआ था। कपिलपुरी इन की जन्म-भूमि थी। इन के पिता वहां के राजा थे। उन का नाम कृतवर्मा था। श्यामादेवी इन की माता थीं। इन्हों ने पैंतालीस लाख वर्ष तक राजपाट का सुख भोगा। फिर भव बन्धन से छुटकारा पाने के लिए, माघ शुक्ल ४ को अपनी राजधानी ही के उपवन में जाकर उन्हों ने दीक्षा ली। पश्चात् पौष शुक्ल ६ को केवल ज्ञान इन्हें हुआ। पन्द्रह लाख वर्षों तक, चारित्र का पालन इन्हों ने किया। बाद, सम्पूर्ण कर्मों के क्षय हो जाने पर, आषाढ़ कृष्ण ७ को, इन्हों ने निर्वाण पद को पाया।

जब ये गर्भ में थे, उस समय एक पुरुष अपनी औरत को ससुराल से ले कर आ रहा था। रास्ते में एक जगह वह प्यास से आकुल हो कर पानी पीने के लिए उतरी। इतने ही में एक व्यन्तरी, उस औरत का हूबहू रूप बना कर, उस के पति के पास आ कर बोली, "चलो, यहाँ ठहरने की जगह नहीं है ! इस ठौर व्यन्तरियों का भयंकर प्रचार है।" तब तो वह पुरुष और वह व्यन्तरी उतावलेपन से वहाँ से चले। इतने ही में, उस पुरुष की वह असली स्त्री, जो दूर ही से इस सारी बात को देख रही थी, हाँपते-काँपते उन के पास आई। और बोली, "अजी ! मुझ अनाथिनी को इस नीरव वन में आप कहाँ छोड़े

जा रहे हो ? आप के साथ जो स्त्री यह लग गई है, आप की स्त्री नहीं है। आदि।" अब तो व्यन्तरी ने अपने वचनों को सत्य सिद्ध करने का मौक़ा तका; और तत्काल ही उस पुरुष के प्रति वह बोली, "देखो न ? मैंने जो कहा था, वही हुआ न ? अब भी यहाँ से जल्दी निकल भागो, नहीं तो जीवन के लाले पड़ जावेंगे।" यह अचरज-भरी बात देख-सुन कर वह पुरुष बेचारा बड़ा ही भयभीत हो गया और साथ ही, पशोपेश में भी पड़ गया। वह वहां से चलने की तैयारी ही में था, कि इतने ही में उस की असली स्त्री ने, उस व्यन्तरी का हाथ पकड़ लिया। तब तो दोनों, "मैं हूँ असली स्त्री," "नहीं, मैं हूं," कह कर हाथापाई करने लगीं। अन्त में लाचार हो कर वह पुरुष उन दोनों को, न्याय की याचना के लिए, राजा के पास ले गया। और सारा हाल कह सुनाया। उन का रंग, ढंग, बोली-चाली, आदि एकसी देख राजा भी एक बार विचार करने लगा, कि कैसे न्याय दिया जाय। अन्त में उसने रानी के सम्मुख इस बात को छेड़ा। रानी ने तत्काल ही इस पहेली को सुलझा दिया। अब तो चट राजाने राज-दर्बार में आ कर, रानी के कहे अनुसार, अपने पति से उन दोनों को एक नियत फ़ासिले पर साधारणतः जहां से वे हाथ फैला कर अपने पति को नहीं छू सकती थीं, अलग अलग खड़ा किया। और तब वहीं से अपने पति को छूने के लिए उन से कहा गया। व्यंतरी ने चट अपनी फ़रेबी से अपना हाथ बढ़ा कर, उस पुरुष के कंधों पर रख दिया। परंतु असली स्त्री बेचारी हताश हो कर खड़ी रह गई। बस, तुरंत ही असली और फ़रेबी का पता राजा को लग गया। छूने वाली को व्यंतरी बता कर वहां से तत्काल ही राजा ने उसे भगा दिया और असली स्त्री को उस पुरुष के सुपुर्द कर दी। इस न्याय का सारा श्रेय रानी ही को मिला। और उस समय के उसके गर्भ में से पैदा हुए बालक का नाम 'विमलनाथजी' रक्खा गया।

भद्र नामका बलदेव इन्हीं का समकालीन पुरुष था। द्वारिका के राजा रुद्र और उन की रानी सुभद्रा, उस के पिता-माता थे। स्वयम्भू नामक वासुदेव का जन्म, इसी राजा रुद्र की दूसरी रानी पृथ्वी के गर्भ से हुआ था। 'मेरक' नामक प्रतिवासुदेव भी इसी ज़माने में पैदा हुए थे। ये नन्दनपुर के निवासी और समरकेशी राजा के लड़के थे। इन की माता सुन्दरी नाम की थी। स्वयम्भू ने मेरक को युद्ध में हरा कर वध किया और तीन खण्ड का राज्य प्राप्त कर तीसरे वासुदेव बने।

जब तेरहवें तीर्थंकर को मोक्ष सिधारे नौ सागरोपम का समय बीत चुका था, तब वैशाख कृष्णा १३ को अयोध्या में, सिंहसेन राजा के घर, सुयशा नाम रानी की कोख से, श्री अनन्तनाथजी, चौदहवें तीर्थंकर का जन्म हुआ। इन्हों ने साढ़े बाईस लक्ष वर्ष तक राजोचित सुखोपभोग भोगा। फिर संसार के आवागमन के बन्धन से छुटने के लिए, वैशाख कृष्णा १४ को, अपनी नगरी ही के उपवन में जा कर ये दीक्षित हुए। वैशाख कृष्णा १४ को, केवलज्ञान प्राप्त किया। फिर, साढ़े सात लाख वर्ष तक दीक्षा पालन करते रहे। अन्त में सम्पूर्ण कर्मों का नाश हो जाने पर, चैत्र शुक्ल ५ को निर्वाण पद प्राप्त किया।

द्वारिका के राजा सोम की रानी सुदर्शना की गोदी से, सुप्रभ नामक बलदेव इन्हीं के ज़माने में हुए हैं। इसी राजा सोम की दूसरी रानी सीता के गर्भ से पुरुषोत्तम नामक चौथे वासुदेव का जन्म हुआ था। उस समय पृथ्वीपुर में राजा विलास राज करता था। उसकी रानी का नाम गुणवती था। मधु नामक प्रतिवासुदेव इसी रानी के पेट से जन्मे थे। पुरुषोत्तम ने इन का निपात किया और इन के राज्य को अपने राज्य में मिलाया। तथा, तीनों खण्डों में राज किया।

चार सागरोपम का समय, जब चौदहवें तीर्थंकर को निर्वाण-पद पाये बीत चुका था, तब माघ शुक्ल ३ के दिन, रत्नपुरी नाम की नगरी में, पन्द्रहवें तीर्थंकर, श्री धर्मनाथ महाराज का जन्म हुआ था। राजा भानु इन के पिता थे। माता का नाम सुव्रता था। लगभग नौ लाख वर्ष पर्यन्त, संसार में रहे। फिर, मनुष्य जन्म और जीवन की सार्थकता करने के लिए, अपनी राजधानी के उपवन में माघ कृष्णा १३ को दीक्षित हुए। लगभग दो वर्ष दीक्षा ग्रहण करने को हुए होंगे, कि पौष शुक्ल १५ को इन्हें केवल ज्ञान हुआ। एक लाख वर्ष चारित्र का पालन करते रहे। अन्त में, जेष्ठ शुक्ल ५ को, जब सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो गया, मोक्ष में पधारे।

इन्हीं के ज़माने में, अश्वर के राजा शिव के घर, उस की दोनों रानियों से दो पुत्र उत्पन्न हुए। जिन में से विजया के गर्भ से तो सुदर्शन बलदेव और अम्बिका नाम की रानी से पुरुषसिंह नामके पांचवें वासुदेव हुए। राजा निशुम्भ, जो इन्हीं बलदेव आदि के समकालीन थे, हरिपुर में प्रति-वासुदेव हुए। पुरुषसिंह ने इन का निपात किया और तीन खण्ड का राज्य-सुख भोगा।

पन्द्रहवें तीर्थंकर के निर्वाण काल के पश्चात् और सोलहवें तीर्थंकर के जन्म के प्रथम, श्रावस्ती नगरी में राजा समुद्रविजय राज करते थे। उन की रानी भद्रा थी। उन के गर्भ से मघवा नामक तीसरे चक्रवर्त्ती हुए। जब ये यौवनकाल में पहुँचे तब इन के यहां चौदह रत्न और नव-निधियां उत्पन्न हुईं। अपने बल प्रताप से इन्हों ने छहों खंडों का राज किया। और चक्रवर्त्ती बने। इन के मोक्ष गमन के पश्चात्, कुछ समय के बीतने पर, हस्तिनापुर में अश्वसेन राजा के घर, उन की रानी सहदेवी से सनत्कुमार की उत्पत्ति हुई। यह भी आगे चलकर चौथे चक्रवर्त्ती सम्राट् बने। इनको अपने रूप सौन्दर्य का बड़ा भारी अभिमान था। एक समय दो देव, वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण कर, सनत्कुमार के पास आये। सनत्कुमार उस समय स्नान कर के, आभूषण पहनने के लिए, अपने जवाहरातखाने में प्रवेश कर रहे थे। ब्राह्मणों को निकट आते देख वह बोले, "किस कारण से आप लोग यहां आये हैं ?" "हम लोगों ने आप के रूप सौन्दर्य की बड़ी तारीफ़ सुनी है। उसी को देखने के लिए हम हमारे शहर से यहां आये हुए हैं। रास्ते को पार करते करते हमें बड़ा लम्बा अरसा बीता है।" ब्राह्मणों ने कहा। तब तो इन सनत्कुमार को अपने रूप का और भी अधिक अभिमान आया और वे उन से बोले, "अभी तुम मेरे कोरे रूप को क्या देखते हो, ज़रा मुझे आभूषण अपने पहन आने दो।" यों कह कर वे अपने आभूषणों को धारण करने चले गये। आभूषण पहन कर आने पर, वे उन ब्राह्मणों से बोले, "अच्छा, अब मेरा रूप आप लोग देखें।" ब्राह्मणों ने उन के रूप को देख कर, चट कह दिया, कि "महाराज! अब तो पहले जैसा रूप आप का नहीं रहा।" यह अनोखी बात सुन कर चक्रवर्त्ती बड़े ही चकित हुए। और बोले, "वाह! कैसे नहीं? पहले से तो वह और भी अधिक निखर आया है।" तब उन ब्राह्मणों के कहने पर, उन्होंने पीकदानी में थूँका और उस में देखा। इस पर उन्हें अपने थूँक में कई कीड़े नज़र आये। यह जान कर उन्हें संसार से वैराग्य उत्पन्न हो आया। उन्होंने संसार के नाशवान् और शरीर को आधि-व्याधियों का मन्दिर जाना। तब तो उन्हें साधु-वृत्ति ग्रहण करने की बात सूझी। अब उन्होंने राजपाट को छोड़ छाड़ कर, साधु बन, तपस्या करना आरम्भ की। यों, घोर तपस्या के फल स्वरूप अपने सारे कर्मों का क्षय कर अन्त में उन्होंने मोक्ष-पद को प्राप्त किया।

पन्द्रहवें तीर्थंकर के मोक्ष-पद को प्राप्त करने के, पौन पल्योपम न्यून तीन

सागरोपम के पश्चात्, ज्येष्ठ कृष्ण १३ को, सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथजी का जन्म हुआ। इन के पिता-माता गजपुर के राजा-रानी थे। उनका नाम क्रमशः विश्वसेन और अचिरा था। ये पचहत्तर हज़ार वर्ष तक गृहस्थी में रहे। फिर इन्होंने अपनी राजधानी के पास के वन में जा, ज्येष्ठ कृष्ण ४ को दीक्षा ले ली। क़रीब एक वर्ष के बाद, पौष शुक्ल ६ को इन्हें केवल-ज्ञान हुआ। पचीस हज़ार वर्ष तक दीक्षा पाली। अन्त में सारे कर्मों को नाश कर, ज्येष्ठ कृष्ण १३ के दिन परम-पद के अधिकारी ये बने।

इन के गर्भवास में आने से पहले, हस्तिनापुर और उस के आसपास के प्रदेश में, महामारी जैसी एक अति ही भयंकर बीमारी का ज़ोरों से प्रकोप हो रहा था। परन्तु इन के गर्भवास में आते ही, उस का सर्वत्र पूरा पूरा शमन हो गया। जिस के कारण, इन का शान्तिनाथजी नाम दिया गया। जब ये तरुण बने, यशोमति नाम की रूप-गुण-शीला, विद्या-बुद्धि-निधान और बड़ी ही करुण-हृदय एक विदुषी के साथ, इन का विवाह हुआ। फिर भरतक्षेत्र के छहों खण्डों का अखण्ड राज्य प्राप्त किया और ये ही छठे चक्रवर्ती सम्राट् बने। एक बार इन की रानी यशोमति को, मुँह में चक्र उतर जाने का स्वप्न दिखाई दिया। यशोमति ने जब यह घटना अपने पति को कह सुनाई, तब उन्हों ने अपने ज्ञान-बल से इस बात की छानबीन कर के, अपनी पत्नी से कहा, कि "पूर्व भव में 'दृढ़रथ' मेरा एक भाई था। वह अभी 'सर्वार्थ-सिद्ध' में है। वह अब अपने घर पुत्र बन कर आवेगा। उस दृढ़रथ के ज़माने में, मैं महाविदेह के अन्तर्गत, पुष्कलावती-विजय की पुण्डरीकिणी नामक नगरी का मेघरथ नामवाला राजा था। उस समय मेरे सत्व की परीक्षा के लिए कहो, या कुछ भी, एक बार, दो देव क्रमशः कबूतर और बाज पक्षी का रूप धारण कर, उड़ते उड़ते मेरे निकट आये। उन में से कबूतर मेरी गोदी में आकर बैठ गया। और थोड़े ही क्षणों के बाद, वह बाज भी झपाटा मारता हुआ वहां आया। वहां आने पर उस के और मेरे बीच नीचे की बातचीत हुई। बाज अपनी ही बोली में बोलता था। मैं भी उस का उत्तर उसी की ज़बान में देता था।

बाज—तुमने मेरा भक्ष्य अपनी गोदी में कैसे रख लिया है? चलो, छोड़ो, उसे मुझे वापस दो।

मैं—भाई! यह कबूतर अब तो मेरी शरण में आ चुका है। मैं इसे अपना

शरीर, रहते हुए, तुम्हें अब दे ही कैसे सकता हूं ?

बाज—यदि तुम ऐसा करने पर उतारू नहीं हो, तो उस के बदले में, मुझे अपने ही शरीर का माँस तुम दे कर, मेरी क्षुधा की निवृत्ति करो।

मैं—हां, तुम्हारी यह राय मुझे भली भांति पसन्द पड़ती है। तुम ऐसा करके अपनी भूख को बुझा सकते हो।

बाज—अच्छा, तो मेरे कबूतर के तौल के अनुसार, तुम्हारे शरीर में से, तुम स्वतः काट काट कर, अपना मांस मुझे देदो।

मैं बाज की इस बात को सुनते ही, प्रसन्नता के मारे उछल पड़ा। परन्तु दीवान, रानी तथा अन्य कुटुम्बियों और राजकर्मचारियों को यह बात बड़ी ही अखरी। वे इस प्राण-नाशक सौदे से मुझे अपने बल-भर रोकने लगे। परन्तु मैं तो पूरा पूरा निश्चय कर ही चुका था। तराजू मंगाई। छुरी आदि के लिए नौकर से कहा। मैंने अपने हाथों अपनी जंघा का मांस काट कर, तराजू के एक पलड़े में रक्खा; और दूसरे में उस कबूतर को बैठाया। परन्तु तौल अभी तक पूरा न होते देख, मैंने अपने आपको ही तराजू के पलड़े में बैठा दिया। तब तो वह बाज अपने असली रूप को प्रकट कर, बड़ा ही प्रसन्न होते हुए बोला।

बाज—मैं तुम्हारे इस प्रकार के, अशरण को शरण देने और करुणा-भरे काम से बड़ा ही प्रसन्न हुआ हूं। मैं केवल तुम्हारी उदारता और करुणा की परीक्षा ही करना चाहता था। अब मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।

यों कह उसने शरीर को फिर से पहले ही के समान स्वस्थ और सुन्दर बना दिया। और वे दोनों फिर उसी पक्षी-रूप में, वहां से अन्यत्र उड़ गये।

रानी! उसी दया के फल-स्वरूप, आज इस भव में ऐसी उच्च स्थिति अपने को प्राप्त हुई है।"

समय पर रानी को गर्भ रहा। और पुत्र उत्पन्न हुआ। उस का नाम चक्रा-युद्ध रक्खा गया। इस पुत्र को यौवन में प्रवेश करते देख, इस का अच्छे ठिकाने विवाह कर दिया और तब इन्होंने दीक्षा लेली। कालान्तर में, चक्रायुद्ध ने भी, अपने पुत्र कवचहर को राज्य का सारा भार सौंप, दीक्षा ग्रहण कर ली। और शान्तिनाथ भगवान् के प्रथम गणधर वे बने।

जब शान्तिनाथजी, सोलहवें तीर्थंकर के निर्वाण-काल के बाद आधा पल्यो-

पम का समय बीत चुका था, तब वैशाख कृष्ण १४ को, गजपुर में, सूर राजा के घर, उस की 'श्री' नामक रानी के गर्भ से, सत्रहवें तीर्थंकर, कुन्थुनाथजी का जन्म हुआ। ये इकहत्तर हज़ार, दो सौ पचास वर्ष तक गृहस्थी में रहे। इस के बाद गजपुर के उपवन में जा, चैत्र कृष्ण ५ को दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा धारण करने के सोलह वर्ष के पीछे, इन्हें चैत्र शुक्ल ३ को केवल-ज्ञान हुआ। तेईस हज़ार, सात सौ पचास वर्ष तक दीक्षा-व्रत का पालन करते रहे। और अपने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाने पर, वैशाख कृष्ण १ को मोक्ष पद प्राप्त किया।

ये छठे चक्रवर्ती बने और छहों खण्डों में राज्य भी किया। फिर दीक्षा ग्रहण करने के बाद, तीर्थ रूप संघ को प्रकट कर, येही सत्रहवें तीर्थंकर बने थे।

सत्रहवें तीर्थंकर को निर्वाण-पद पाये, जब एक करोड़, एक हज़ार वर्ष न्यून पाव पल्योपम का समय बीत चुका था, तब अगहन शुक्ल १० को, गजपुर ही में राजा सुदर्शन की रानी देवी के उदर से, अठारहवें तीर्थंकर पद के अधिकारी, महापुरुष अर्हनाथजीका जन्म हुआ। ये तिरसठ हज़ार वर्ष तक गृहस्थाश्रम में रहे और छहों खण्डों में राज्य कर सातवें चक्रवर्ती पद को अलंकृत किया। पश्चात्, अगहन शुक्ल ११ के दिन, गजपुर के निकटवर्ती वन में जाकर, दीक्षा-व्रत को ग्रहण किया। इस के तीन वर्ष के उपरान्त इन्हें कार्तिक शुक्ल १२ को केवल-ज्ञान की प्राप्ति हुई। इक्कीस हज़ार वर्ष तक चारित्र का पालन किया। फिर, सम्पूर्ण भव बन्धनों से छुटकारा पा कर, ये अगहन शुक्ल १० को मुक्ति में पधारे।

इन के निर्वाण-पद को पा जाने के पश्चात् और उन्नीसवें तीर्थंकर के जन्म काल के पहले के समय में, एक बार, ऋषि जमदग्नि के आश्रम में जाकर पक्षियों ने उन्हें बड़ी ही खोटी खरी सुनाई। पक्षी बोले, "ऋषि! तुम कैसे हतभागी और पापी हो, कि बिना विवाह किये और पितृ-कुल के ऋण को चुकाने के लिए पुत्र की उत्पत्ति बिना हुए ही, तुम तपस्वी बन बैठे!" ऋषि को, पक्षियों के ग्लानि और अपमान-भरे वचन भी, भले और समयानुकूल जंचे। अब तो उन के मन में काम की जागृति हुई और विवाह करने की धुन उन्हें सूझी। वे राजा जितशत्रु के पास गये। उन की कन्या को विवाह में मांगा। परन्तु रेणुका को छोड़, अन्य दूसरी सभी कन्याएं, एक एक कर के इंकार कर गईं। रेणुका की राजी देख, राजा ने उसे ऋषि को विवाह में दे दी। वह कन्या ऋषि के साथ आश्रम में आई और सुख-पूर्वक रहने लगी। ऋतुकाल की प्राप्ति पर, ऋषि ने

उसे एक पात्र तैयार कर के दिया। इस पात्र में ऐसी वस्तुएं भरी थीं, जिन को खा लेने से ब्राह्मण-कर्मा पुत्र पैदा हो सके। तब तो रेणुका ने, वैसा ही तैयार किया हुआ, एक और पात्र अपनी बहिन के लिए मांगा। ऋषि ने अपनी पत्नी के कथनानुसार पात्र तो तैयार कर दिया; परन्तु इस बार उस में ऐसे पदार्थ भरे, जिन का सेवन कर जाने पर, क्षात्रिय कर्मा पुत्र उत्पन्न हो सकता था। रेणुका ने अपनी कोख से क्षात्रिय-गुण सम्पन्न बालक पैदा करने की प्रबल लालसा से, पात्रों को अदल-बदल कर लिया। और अपने हिस्से के पात्र को, अपनी बहिन 'बेन' के लिए, जो हस्तिनापुर के राजा अनन्तवीर्य की रानी थी, रख लिया। समय पर रेणुका के जो पुत्र हुआ, उसे 'राम' का नाम दिया गया। और बेन के पुत्र का नाम 'कृतवीर्य' रक्खा गया। राम बड़ा भारी योधा निकला। एक बार एक विद्याधर से उस ने एक परशा भी प्राप्त किया। इसी लिए वह परशुधर या परशुराम के नाम से भी पुकारा जाने लगा।

एक बार रेणुका अपनी बहिन से मिलने को गई। वहाँ अपने बहिनोई के साथ कुचेष्टा कर चुकने पर उसे गर्भ रह गया। उस से एक पुत्र की उत्पत्ति हुई। जब उस पुत्र को ले कर रेणुका पीछी अपने पति के आश्रम में लौटी, तब उसे परशुराम ने नवजात पुत्र के साथ देख बड़ा ही क्रोध प्रकट किया और उन दोनों को मार डाला। अनंतवीर्य को जब यह हाल जान पड़ा, तो वह परशुराम पर ससैन्य चढ़ दौड़ा। परन्तु परशुराम उस समय आश्रम में नहीं थे। तब तो वह आश्रम ही को नष्ट-भ्रष्ट कर के उलटे पैर चल पड़ा। परशुराम को इस घटना के मालूम होते ही, उन्होंने अनन्तवीर्य पर धावा बोल दिया। और वहां जा, उसे मार गिराया। अनन्तवीर्य के मर जाने पर, उसका पुत्र कृतवीर्य हस्तिनापुर की गादी पर बैठा। उस ने परशुराम के पिता जमदग्नि को मार गिराया। अपने बाप के बैर का बदला निकालने के लिए, परशुराम ने जा कर कृतवीर्य को धराशायी कर दिया। उस समय कृतवीर्य की रानी तारा गर्भवती थी। वह किसी भी प्रकार बच कर, वन में जा छिपी। वहां उस के सुभूम (सुभौम) नाम का बालक पैदा हुआ। सुभौम के जवान हो जाने पर, मेघनाद ने अपनी कन्या का विवाह सुभौम के साथ कर दिया। एक दिन सुभौम ने अपनी माता के द्वारा, अपने पिता के नाश का सारा हाल सुना। उसी समय उन का खून खौल उठा। उन्होंने अपने ससुर विद्याधर की सहायता से परशु-

राम पर चढ़ाई की और उसे, जा कर, धराशायी कर दिया। उस समय इन को रण में हराने वाला और कोई न रहा। तब तो ये छहों खण्डों के आठवें चक्रवर्ती सम्राट् बने। इस के बाद उन्होंने सातवें खण्ड को अपने आधीन कर लेने की इच्छा से उन पर चढ़ाई की। परन्तु रास्ते में जाते ही जल में डूब कर मर गये और ये सातवीं नरक में गये।

इस घटना के कुछ ही समय के पश्चात्, काशी के राजा अग्निसिंह की, जो दो रानियां थी, उन में से पहली रानी जयंति के उदर से नन्दन नामक सातवें बलदेव और दूसरी रानी शीलवती के गर्भ से दत्त नामक सातवें वासुदेव उत्पन्न हुए उस समय सिंहपुर में राजा प्रह्लाद राज करता था। जो एक प्रतिवासुदेव भी था। वासुदेव दत्त ने इसे युद्ध में पराजित कर मार गिराया। और तीनों खण्डों का एक-छत्र राज्य प्राप्त किया।

उन्नीसवें तीर्थंकर श्री मल्लिनाथजी का जन्म, अठारहवें तीर्थंकर के निर्वाणपद पाने के एक करोड़ और एक हज़ार वर्ष के पीछे, प्रभावती नाम की रानी से, अगहन शुक्ल ११ को हुआ जो मिथिला नगरी के राजा कुम्भराज की पत्नी थी। ये गृहस्थाश्रम में एक सौ वर्ष ही तक रहे। और ये मिथिला नगरी के उपवन में जा कर, अगहन शुक्ल ११ को दीक्षित हो गये। केवल-ज्ञान की प्राप्ति भी इन्हें उसी दिन हो गई। तब से पूरे चौपन हज़ार नौ सौ वर्ष तक दीक्षा पाली। और यों, निज के सम्पूर्ण कर्मों का नाश कर, फाल्गुन शुक्ल १२ को, मुक्ति में पधार गये।

चौपन लाख वर्ष का समय, उन्नीसवें तीर्थंकर को मोक्ष सिधारे बीता होगा, कि ज्येष्ठ कृष्ण ८ के दिन, राजगृह में सुमित्र राजा के घर पद्मावती रानी के उदर से, बीसवें तीर्थंकर, श्री मुनि-सुव्रतजी ने जन्म ग्रहण किया। ये साढ़े बाईस हज़ार वर्ष गृहस्थावास में रहे। फिर आपने फाल्गुन शुक्ल १२ को, अपनी राजधानी राजगृह ही के समीपवर्त्ती वन में जा कर, दीक्षा ग्रहण की। लगभग ग्यारह महीने के पश्चात्, फाल्गुन कृष्ण १२ के दिन, केवल ज्ञान की प्राप्ति इन्हें हुई। आपने पूरे साढ़े सात हज़ार वर्ष तक दीक्षा का पालन किया। और सम्पूर्ण भव—बन्धनों से छुटकारा पा, मोक्ष-को सिधारे। उस दिन ज्येष्ठ कृष्ण ९ का पवित्र दिन था।

इन्हीं का समकालीन नौवां चक्रवर्ती हुआ। जिन का नाम महापद्म था। युवावस्था प्राप्त कर, उन्हों ने छहों खण्डों को अपने आधीन कर लिया था। ये हस्तिनापुर के राजा पद्मोत्तर के पुत्र थे। इन की माता का नाम ज्वाला था। अन्त में दीक्षा धारण कर ये भी मुक्ति में पधारे। इन्हीं चक्रवर्ती के कुछ ही काल के पश्चात्; अयोध्या के राजा दशरथ की रानी अपराजिता की कोख से 'रामजी', उसी की दूसरी रानी सुमित्रा की कोख से लक्ष्मणजी, तीसरी रानी कैकेयी से भरत जी, और चौथी सुप्रभा से शत्रुघ्नजी का जन्म हुआ था। रामजी का विवाह जनक की पुत्री सीताजी के साथ हुआ था। उसी समय लंका में रावण नाम का प्रति-वासुदेव राज कर रहा था। सीता को हरण कर ले जाने के निमित्त से, वह लक्ष्मणजी के हाथ से मारा गया। रावण मारने के पश्चात् लक्ष्मणजी ने तीनों खण्डों का सम्पूर्ण राज्य पाया और आठवें वासुदेव कहलाये।

बीसवें तीर्थंकर को निर्वाण में गये छः लाख वर्ष ज्योंही बीते, कि श्रावण कृष्ण ८ को मथुरापुरी में, विजय राजा के यहां, इक्कीसवें तीर्थंकर, श्री नमिनाथ-जी का जन्म हुआ। इन की माता का नाम विप्रा देवी था। नौ हज़ार वर्ष तक गृहस्थाश्रम में रहे पश्चात्, आषाढ़ कृष्ण ९ को, मथुरानगरी के उपवन में दीक्षा-ग्रहण इन्हों ने कर ली। नौ महीने के पश्चात्, अगहन शुक्ल ११ को केवल-ज्ञान की उपलब्धि इन्हें हुई। एक हज़ार वर्ष तक आपने चारित्र का पालन किया। और अन्त में, सम्पूर्ण कर्मों को क्षय कर, वैशाख कृष्ण १० को ये मोक्ष में पधारे।

हरिषेण नामक जो दशवें चक्रवर्ती हुए हैं, वे इन्हीं के ज़माने में हुए हैं। ये काम्पिल्य नगरी के महाहरी राजा के पुत्र थे। माता इन की मेरादेवी थी। यौवनावस्था प्राप्त कर ये चक्रवर्ती बने। बहुत काल पर्यन्त राज-सुख भोगने के पश्चात्, इन का मन जब संसार से उचट गया, तब इन्हों ने राज-पाट को हाथी के काथ के समान, उसी समय छोड़ दिया और दीक्षा धारण कर ली। और घोर तपस्या के द्वारा, इसी जीवन में अपने सम्पूर्ण घनघाती और फिर अघातिया कर्मों का क्षय कर, इन्होंने मोक्ष-पद को प्राप्त किया। इन के कुछ काल के पश्चात्, राजगृह नगर के विजय राजा की वप्रा नामवाली रानी के गर्भ से जयसेन का जन्म हुआ। आगे चल कर ये भी चक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित किये गये। बहुत काल तक राजोचित सुख भोगने के पश्चात् इन्होंने भी दीक्षा-व्रत ग्रहण

किया और सम्पूर्ण भव-बन्धनों को तोड़ कर, इसी जीवन में मुक्ति को प्राप्त किया।

बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमीनाथजी महाराज का जन्म, इक्कीसवें तीर्थंकर के निर्वाण काल के लगभग पांच लाख वर्षों के बाद, श्रावण शुक्ल ५ को सौरीपुर में हुआ। इन के पिता समुद्रविजयजी वहां के राजा थे। शिवारानी इन की माता का नाम था। ये केवल तीन सौ वर्ष तक ही गृहस्थावास में रहे। बाद में लग्न के समय पशु, पक्षियों की रक्षा ही अपना कल्याण का साधकतम कारण समझ तथा संसार की असारता और अनित्यता का अपनी आंखों अनुभव कर, अपनी राजधानी के समीपवर्ती वन में जा कर ये दीक्षित हो गये। उस दिन श्रावण शुक्ल ६ का दिन था। उस के पूरे चौपन दिन के पश्चात्, कुंआर कृष्ण ३० (अमावस) को इन्हें आत्म-स्वरूप के साक्षात् दर्शन हुए। अर्थात् केवल-ज्ञान हुआ। आपने सात सौ वर्षों तक दीक्षा-व्रत का पालन कर, अपने सम्पूर्ण कर्म-बंधनों का नाश किया। और अंत में ये आषाढ़ शुक्ल ८ को मोक्ष में पधारे।

ग्यारहवें चक्रवर्त्ती महाराज जयसेन के निर्वाण के बाद, जब हज़ारों वर्ष बीत चुके, तब हरिवंश में यदु नाम का एक राजा हुआ। उस के शौरी और सुवीर नामक दो पुत्र हुए। फिर शौरी का पुत्र अंधक-विष्णु और अंधक-विष्णु के दश पुत्र हुए। येही दशों पुत्र, आगे चल कर, अंतकृत सूत्र में दशार्ह नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। इन दश भाइयों में से एक का नाम वसुदेवजी था। इन के दो रानियाँ थीं। उन में से एक की कोख से बलदेव, और दूसरी की कोख से कृष्ण महाराज का जन्म हुआ था। दूसरे भाई सुवीर के पुत्र का नाम भोज-विष्णु था। इन के दो पुत्र अर्थात् (१) उग्रसेन और (२) देवक हुए। उग्रसेन के एक पुत्र और एक पुत्री हुई। पुत्र का नाम कंस और पुत्री का नाम राजीमति था। उधर देवक के देवकी नाम की कन्या हुई, जिस का विवाह वसुदेवजी से हुआ था।

कृष्ण महाराज ने कंस का वध कर मथुरा का राज्य पाया। कुछ दिन ये वहाँ ठहरे और फिर वहाँ से प्रस्थित (रवाना) हो, पश्चिम समुद्र के किनारे आकर, द्वारिका नामकी नगरी बसाई। वहीं पर उन दश दशार्हों में से बड़े भाई समुद्रविजय भी रहते थे। उन की रानी सेवादेवी के उदर से, भगवान् अरिष्ट-नेमिनाथजी का जन्म हुआ था। इन के यौवनावस्था को प्राप्त करने पर, राजीमति के साथ इन की सगाई की बात-चीत पक्की हो गई। परन्तु विवाह के समय, विवाह में होनेवाली हिंसा को देख और उस का अनुमान कर, ये अपने ससुर के

घर गये हुए, वापिस लौट आये। और दीक्षा ग्रहण कर ली। इन के ऐसे उत्तम और उपराम के विचार देख, राजीमति ने भी दीक्षा धारण कर ली। इन्हीं अरिष्टनेमिनाथ जी के पास, कृष्ण महाराज के छोटे भाई, गजसुखमाल जी ने आ कर दीक्षा धारण की। उन्हें दीक्षा धारण करने ही के दिन, केवलज्ञान हो गया; और अन्त में वे मोक्ष में पधार गये। इसी समय में जरासंध प्रतिवासुदेव भी पृथ्वी पर राज कर रहा था। इसे भी कृष्ण महाराज ने निपाता और तीनों खण्डों पर अपना झण्डा रोपा।

जब अरिष्टनेमि-नाथ जी निर्वाण-पद में पधार गये, उस के कुछ ही काल के पश्चात्, ब्रह्म नामक राजा की रानी चुलनी की कोख से ब्रह्मदत्त का जन्म हुआ। अन्त में समय पा कर, ये बारहवें चक्रवर्ती बने। और ये भोगों में आशक्त हो कर मृत्यु के समय सातवीं नरक में गये।

तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ जी हुए। इन का जन्म, पौष कृष्ण १० को, बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ जी के मोक्ष में पधारने के पौने चौरासी हज़ार वर्ष के पश्चात्, वाणारसी नगरी में हुआ। इन के पिता राजा अश्वसेन थे। माता का नाम वामादेवी था। ये केवल तीस वर्ष तक संसारी बन कर रहे। बाद में, इस जगत् को सम्पूर्ण दुखों का मूल जान कर, पौष कृष्ण ११ को, वाणारसी, नगरी ही के पास के वन में जा, इन्हों ने दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा-व्रत लेने के चौरासी दिवस के पीछे, चैत्र कृष्ण ४ को इन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। सत्तर वर्ष तक संयम इन्होंने पाला। यों, अपनी तपस्या, संयम, शील, आदि के कारण, जब सम्पूर्ण कर्मों का नाश हो चुका, तब श्रावण शुक्ल ८ के दिन, संसार को छोड़, मोक्ष-पद में सिधारे। इन का स्थितिकाल, ईसा के लगभग ८०० वर्षों के पूर्व का आँका जाता है। ऐतिहासिक लोग गहरी छान-बीन कर के पार्श्व संवत् तक तो भली भांति पहुँच पाये हैं। दीक्षा धारण करते समय इन्हें भी उपसर्ग हुआ था। इन के कर्मों का कर्ज़दार, पूर्वीय भव का एक देव था। उस मेघमाली नामक देव ने इन्हें जलका उपसर्ग दिया था।

प्रकरण-पांचवां

भगवान् के पूर्व-भव

पाठको! इस संसार में दो पदार्थ हैं। एक जड़ और दूसरा चेतन। जड़ वह पदार्थ है, जिस में जानने की शक्ति नहीं होती है। और जो पुण्य एवं पाप का कर्त्ता तथा भोक्ता है, सचमुच में वही 'चेतन' पदार्थ है। जैसा जैसा कर्म चेतन करता है, वह उसी प्रकार चौरासी के चक्रफेरे पर चक्कर काटता रहता है। इसी चक्रफेरी में तप, संयम के द्वारा यह जीव ऊर्ध्व गति में प्रवेश कर परम धाम मोक्ष तक को प्राप्त कर सकता है। और वही जीव पाप-कर्म द्वारा आये दिन अधिकाधिक अधोगति की ओर जा कर नरक का नेरिया भी हो सक्ता है। यही बात भगवान् महावीर के प्रति भी कही जाती है।

एक बार का जिक्र है, जब कि भगवान् महावीर का जीव, नयसार नामक व्यक्ति के रूप में था। अब पाठक पूछेंगे, कि यह नयसार कौन और कहां का निवासी था? यह नयसार पृथ्वी-प्रतिष्ठान नामक गांव का रक्षक था। यह गांव राजा शत्रु-मर्दन के राज्य की सीमा में था। इस राजा की राजधानी जयन्ती नगरी थी जो इसी जम्बूद्वीप के, पश्चिम महाविदेह क्षेत्र में, महा-वप्रा नामक विजय के अन्तर्गत अवस्थित थी। एक बार नयसार को अपने स्वामी का हुक्म मिला, कि वह, जयन्ती को, अपने अधिकार में रहे हुए जंगल में से, कुछ भार अच्छे काष्ट के ले जावे। आज्ञा पाते ही, नयसार अपने अधिकृत सघन जंगल में पहुंचा साथ में इस के, उस समय आधीन में रहने वाले प्रायः सभी लोग थे। उन के सिवाय, कई गाड़े भी यह अपने गांव से अपने साथ में ले गया था। जंगल में

पहुँच कर और अपने अधिकारी नयसार की आज्ञा को सिर माथे झेल कर, साथ के कुछेक मनुष्यों ने तो काष्ट-भार को संग्रह करने का काम शुरू किया। और कुछेक इसी बीच, नयसार के लिए भोजन-सामग्री तैयार करने में लग पड़े। यों दुपहर का समय पास आ लगा। और भूख भी लोगों को भयंकर रूप से सताने लगी थी। उसी समय अनुचरों ने नयसार को भोजन के तैयार हो जाने की सूचना, आकर दी। भोजन की तैयारी का संदेशा पा, नयसार ने जंगल में काम करनेवाले आदमियों को, काम बन्द कर के भोजन कर लेने की बात कही। लोगों ने काम बन्द किया और वे भोजन करने के लिए चले। नयसार भी भोजन करने के लिए बैठा। पर कड़ी भूख के लगी रहने पर भी वह भोजन न कर सका। और किसी, अतिथि के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा। सच है, गृहस्थ के लिए अतिथि-सत्कार एक आवश्यक दैनिक कर्त्तव्य माना गया है।

यों, अतिथि के आगमन की, नयसार प्रतीक्षा कर ही रहा था, कि इतने ही में मुनिराज समुद्रसेन अपने शिष्य समुदाय के साथ विहार करते हुए उधर आ निकले। सच है, भावुक की भावना में सचाई का जितना ही अधिक मेल होता है, सफलता उसे उसी क़दर अधिकता से और शीघ्रता से मिलती है। मुनियों का अचानक आगमन देख, नयसार का सूखा हृदय हरा हो गया। उस का हृदय हर्ष के कारण बाँसों उछलने लगा। आगे आ कर उस ने मुनियों का भक्ति और श्रद्धा-पूर्वक स्वागत किया तथा अपने भाग्य की भूरि भूरि प्रशंसा की। तब उस के द्वारा भोजन ग्रहण करने की प्रार्थना करने पर, मुनियों ने उस के हाथ से भोजन लिया। बाद, नयसार कुछ दूरी तक मुनियों को विदा करने के लिए, उन के साथ गया। एक निश्चित दूरी को पार कर लेने के पीछे, उस ने विधिवत् बन्दना की और वापिस लौटने की, उन से इजाज़त माँगी। उस समय मुनिराज ने नयसार को संसार के पौद्गलिक सुख और आत्मिक सुख का अन्तर कह कर समझाया और सच्चे सुख की प्राप्ति हो जाने पर, जीव की अनिर्वचनीय आनन्द की स्थिति का कुछ विवेचन उस के सम्मुख किया। अन्त में मुनिराज ने तात्त्विक विषय छेड़ा। और उस का भी संक्षिप्त और सुबोध स्वरूप उस के सामने रक्खा। इतना कह सुन कर मुनिगण तथा नयसार दोनों अपने अपने मार्ग की ओर लगे। मुनिराज के वचनों ने नयसार के हृदय पर बिजली-भरे जादू का असर डाला। नयसार

के जीवन में आत्मानुभव कर अक्षुण्ण-आनन्द लाभ करने की दृढ़ वासना का विकास हुआ। अब से उस के जीवन की दिशा पलटी। मुनिराज के शब्दों ने उस के हृदय में यहां तक अपना गहरा घर किया, कि वह अपने भावी शेष जीवन के पल पल में मुनियों की यथार्थ वाणी का, पद पद पर पालन करने का निश्चय करने पर उतारू हो गया। बस, यहीं से उस के मुक्ति-सोपान के प्रथम पाये का लगना, समझना चाहिए। मुनियों के विहार कर जाने पर, नयसार ने आ कर भोजन किया और तब काष्ट के भारों को छकड़ों में भरवा कर, उन्हें अपने स्वामि जयन्ती नगरी के राजा के पास पहुँचा दिया। बाद, अपनी बस्ती में प्रवेश कर, मुनियों के उपदेशानुसार वह अपने शेष जीवन को धर्म--मय बनाने में लग पड़ा और आमरण उसने अपने निश्चय को निभाया भी वैसा ही। अन्त में, यहां से विदा हो, प्रथम सौधर्म देवलोक में वह गया और वहां एक पल्योपम की स्थितिवाले देव-शरीर को प्राप्त किया। भगवान् महावीर के, यों ये दो, अर्थात् एक तो नयसार वाला और दूसरा देव--शरीरी, भव हुए।

भगवान् के जीव के तीसरे और चौथे गणनीय भव।

—:०:—

भावी भगवान् के जीव के देव-शरीरी भव की ' अवधि बीत जाने पर अब वह इसी भरतक्षेत्र की विनीता नामक नगरी के राज कुल में आया। यह विनीता नगरी उस समय एक बड़ी ही विशाल और अनुपम बस्ती थी। उस समय उस में भगवान् ऋषभदेव के पुत्र, भरतचक्रवर्ती का एकछत्र, और न्याय--पूर्ण शासन था। इन्हीं भरतचक्रवर्ती के घर, भावी भगवान् के जीव ने "मरीचि" के नाम से जन्म ग्रहण किया। मरीचि के रूप में भावी भगवान् का यह तीसरा भव था।

भरत चक्रवर्ती एक दिन अपने पुत्र मरीचि के साथ, भगवान् ऋषभदेव के समवशरण में देशना सुनने के लिए गये। भगवान् ऋषभदेव से देशना सुनने का मरीचि के लिए आज यह पहला ही अवसर था। अपने पूर्व जन्म के सत्संग और सुकृतों के बल पर, मरीचि की, संसार के प्रति असारता को पहचानने की अभी तक काफ़ी पूर्व तैयारी हो चुकी थी। देर केवल, जन्मान्तर के कारण, सुध दिलाने मात्र ही की थी। बस, तभी तो आज उसने भगवान् ऋषभदेव के सारवान्

उपदेश को सुन और ग्रहण कर, उसी क्षण दीक्षा-ग्रहण कर ली। अब तो नव-दीक्षित मरीचि-मुनि ने भगवान् ही के साथ साथ विहार करने में भी भाग लिया। यों उन की आयु का एक बहुत बड़ा भाग, भगवान् के साथ और एकांत के विहार में बीत गया।

एक दिन की बात है, जब कि मरीचि मुनि भयंकर ग्रीष्म ऋतु के प्रचण्ड आतप से प्राणनाशक प्यास से पीड़ित हो कर विचरण कर रहे थे। सूर्य की किरणों के बिलकुल सीधी पड़ने के कारण, पृथ्वी ने भी ताते तवे के समान तप्त हो कर, इन के प्यास के प्राणलेऊ कष्ट को और भी भड़का दिया था। तब तो इनके मन में बड़ी ही हलचल मची और ये घबरा उठे। चारित्र-मोहनीय कर्म के आकस्मिक उदय हो जाने से, साधुवृति की कठोरता का,ये पग पग पर अनुभव करने लगे साधु-वृति की कठोरता के साथ-साथ उस की सारता, सुन्दरता, और अंत में उस से होने वाले अनुपम लाभ, मोक्ष की भावना, आदि का, संसारी जीवन की सरलता, किन्तु उस के साथ की निस्सारता, दुःख, शोक, आवागमन का भय, आदि के साथ, मरीचि-मुनि के मनोक्षेत्र में, इस समय घमासान युद्ध छिड़ गया। वे बड़े ही असमंजस में पड़ गये। वे बार बार विचारने लगे, कि यदि इस संकट के समय वे अपनी इस साधु-वृत्ति से विमुख होते हैं, तो जहां एक ओर, उन के लिए "न इधर के रहे न उधर के रहे" वाली कहावत चरितार्थ होती है, वहां दूसरी ओर, उन्हें लोक निंदा का भयङ्कर भय भी कंपाये देता है। ऐसा समय भक्तों के लिए सचमुच में परीक्षा का होता है। यों प्राणों की प्यासी प्यास से पीड़ित मरीचि मुनि अपने साधुमार्ग से भ्रष्ट होना ही चाहते थे, कि इतने ही में, उन्हें अपनी इस साधु-वृति को त्रिदण्डी सन्यासी की वृत्ति में बदल देने की एक अनोखी सूझ सूझ पड़ी। और, अंत में उन्होंने अपनी-साधु वृत्ति को छोड़ दी और वे एक त्रिदण्डी सन्यासी बन गये।

एक बार इधर उधर से विचरण करते हुए, भगवान् ऋषभदेव, कई दिनों के बाद, फिर विनीता नगरी की ओर पधारे। चक्रवर्ती भरत ने भक्ति-भावपूर्वक आ कर, भगवान् के चरण-दर्शन और उपदेश श्रवण का लाभ उठाया। समय पा कर, भरत ने, भगवान् के दर्शनार्थ आये हुए पुरुषों ही के सम्मुख, भगवान् से एक प्रश्न यों पूँछा "भगवन्! क्या, इन यहां बैठे हुए मनुष्यों में कोई

ऐसा भी महा पुरुष है, जो आगे की इसी चौवीसी में तीर्थंकर पदवी को प्राप्त कर, जगत् के भुले-भटके जीवों को उन के अपने आत्म-स्वरूप के बोध कराने में सच्चा सहायक हो सकेगा ?" मरीचि की ओर हाथ बढ़ाते हुए, भगवान् बोले, कि "यह जो तेरा पुत्र मरीचि है, इसी भरतक्षेत्र में, "वीर" पदवी से विभूषित, अन्तिम तीर्थंकर होगा। इस के पहले, यही मरीचि पोतनपुर में "वासुदेव" बनेगा। जहां इस का नाम "त्रिपृष्ट" वासुदेव होगा। और, विदेह-क्षेत्र के अन्तर्गत, जो मूकापुरी नामवाली एक नगरी है, वहां का चक्रवर्ती बनेगा। जहां इस का नाम पोट्टिल चक्रवर्ती होगा।

भगवान् की भावी वाणी को सुन, मरीचि का हृदय हर्ष से तर-बतर हो गया। फिर, हर्षोन्माद के वश हो, वह बड़े ज़ोर से चिल्ला उठा, कि वाह ! अब मुझे कामना ही किस बात की रही ? भगवान् के कथन से पोतनपुर में पहला वासुदेव होने का अवसर मुझे ही प्राप्त होगा। और मूकानगरी में चक्रवर्ती भी मैं ही बनूंगा। और, इस काल के अन्तिम तीर्थंकर का पद भी मुझे ही मिलेगा। वाह ! मेरा वंश भी बड़ा ही भाग्यशाली और नर-रत्नों की खदान है। क्योंकि, इसी मेरे वंश में, मेरे पितामह तीर्थंकरों में पहले हैं। उन के बाद, मेरे पिता की जब बारी आती है, तो वे भी चक्रवर्तियों में पहले और अग्रगण्य होते हैं। अन्त में, मैं भी इस काल का पहला वासुदेव बनूंगा। ऐसे ही पुरुषों की जननी वास्तव में जननी है और ऐसे ही पुरुषों का जन्म लेना भी इस जगत् में सार्थक है। नहीं तो, जिन के जन्म लेने से संसार का कुछ भी उपकार नहीं हुआ; और न उन के वंश का कोई नाम ही उन से हुआ; तो उन की जननी वन्ध्या से भी बद-तर और उन का जन्म इस धरणी-तल में धूल से भी गया-बीता है।

भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण-पद पा जाने के पश्चात्, मरीचि सदा इस बात का प्रयत्न करते रहते, कि किसी भांति जगत् के जीवों का उद्धार हो। अतः वे दुनियावी लोगों को हर घड़ी उपदेश दे दे कर, उच्च-चरित साधुओं के पास, आत्म कल्याण की प्राप्ति के हेतु, दीक्षा-ग्रहण करने को, भेजने में लीन रहते। इसी बीच एक दिन वे बीमार हुए। रोग ने जोर पकड़ा और उन्हें एक स्थान पर ठहर जाना पड़ा। इस समय, उन की अपनी सेवा शुश्रूषा के लिए किसी भी आदमी का पास न आना और साथ न रहना, उन्हें बड़ा ही अखरा। संसार और संसारी मनुष्यों के

स्वार्थ-बुद्धि-भरे व्यवहार के प्रति, उन्हें बड़ी ग्लानि हुई। अन्त में इस ग्लानि ने उन के चित्त पर यहां तक असर किया, कि स्वस्थ हो जाने पर एक चेला बनाने का निश्चय, उन्हें अपनी बीमारी के समय कर लेना पड़ा। स्वास्थ्य लाभ कर लेने पर, तब तो उन की चेला बना लेने की भावना और भी बलवती हुई। इतने ही में दैवयोग से कपिल नामक एक कुलीन घराने का व्यक्ति उधर आ निकला। उस की उन से भेंट हुई। उसे इन्हों ने जैन-धर्म का उपदेश देकर, महत्त्व बतलाया। पर बदले में, कपिल, मरीचि की बात को काट कर, बोल उठा, कि "पर उपदेश कुशल बहुतेरे" हुआ करते हैं। आप तो खुद अन्य-मती बने फिरते हैं और मुझे जैन-धर्म का मर्म समझा कर, उस का उपदेश देते हैं। यह ठीक नहीं। तब कपिल ने यह भी कहा, कि क्या, आप का मार्ग धर्म के भावों से रहित है? इस पर मरीचि बोला, कि धर्म तो इस मार्ग में भी है और उस मार्ग में भी। इस उत्तर से कपिल का मनस्तोष हुआ। और, उस ने अपने आप को मरीचि के चरणों में डाल दिया। फिर मरीचि ने उसे अपना शिष्य बना लिया। इस समय, असत्य का आचरण करने से, मरीचि ने अपने लिए कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण संसार का उपार्जन किया। इतना ही नहीं, उस पाप की बिना कुछ आलोचना किये ही, उसने अनशन द्वारा अपने शरीर को भी त्याग दिया। मृत्यु के उपरांत, मरीचि ब्रह्मदेव-लोक में गया। और वहां, सात सागर की स्थिति वाला देवता बना। ब्रह्मदेवलोक में भावी भगवान् महावीर के जीव का यह चौथा भव गिना जाता है।

भावी भगवान् के जीव ने ब्रह्मदेव-लोक में अपनी देव-भव की आयुष्य पूरी कर, कोल्लाक नामक एक गाँव में, एक ब्राह्मण के घर में जन्म लिया, और वहां उन का नाम कौशिक ब्राह्मण रक्खा गया। इस समय कौशिक का गृहस्थी-जीवन, या उन की तरुणाई का सार भाग विषय वासनाओं की तृप्ति करने और, अन्याय तथा पापाचार से धन संग्रह करने की दौड़-धूप ही में बीता। लेखक यदि यूं भी कहे, कि यह पाँचवाँ भव अधिकांश में पापपूरित, प्रमाद-पूर्ण और केवल पौद्गलिक सुखों ही के पीछे पड़ा रहने वाला था, तो भी इस बात में पाठकों को कोई अचरज नहीं करना चाहिए। हां अन्त में जाते जाते कौशिक ने यहां त्रिदण्डी की वृत्ति धारण करली थी। और उन का शरीर का अन्त भी उसी वृत्ति में हुआ।

छठे भव में बाल-तपस्या के प्रभाव से द्वितीय इशान नामक स्वर्ग में आप फिर देव-भव में जा कर जन्में। यहां की आयु पूर्ण कर आप फिर इस मनुष्य-लोक में आये।

सातवें भव में भावी भगवान् पुष्पमित्र नाम के एक ब्राह्मण कहलाये, जो हस्तिनापुर के निवासी थे। इस भव का अधिकतर भाग उनका एक त्रिदण्डी के रूप में बीता। यहां की आयु पूर्ण हो जाने पर, आठवें भव के लिए भावी भगवान् फिर सौधर्म नामक स्वर्ग में गये। और वहां से चव कर फिर वे इस नर-लोक में आये। इस बार उनका जन्म चैत्य नामक एक ब्राह्मण के घर हुआ। यहां उन का नाम अग्न्युद्योत रक्खा गया। इस जन्म की अन्तिम आयु के दिन भी त्रिदण्डी ही की वृत्ति में बीते। यहां से फिर उन्होंने स्वर्गारोहण किया।

इस बार उन्होंने द्वितीय इशान नामक स्वर्ग में जा कर देव-जन्म को पाया। यह दशवां भव उनका था। यहां की आयुष्य पूरी होने पर, ग्यारहवें भव के लिए वे मंदिर नामक सान्निवेश में अग्निभूति नामक ब्राह्मण के रूप में मनुष्य शरीर धारण कर के आये। फिर यहां इनके जीवन का अंतिम भाग त्रिदण्डी सन्यासी के रूप में बीता। यहां की आयु को पूरी कर अब वे सनत्कुमार नामक तीसरे स्वर्ग में जा कर जन्में। यह उनका बारहवां भव हुआ। यहां भी देव-भव का आयु पूरा कर, वे श्वेताम्बरी नामक नगरी में आये। इस बार भी वे विप्र के घर पर ही आये। यहां उनका नाम भरद्वाज रहा। इस भव में भी उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम दिन त्रिदण्डी साधु के वेश में काटे। यों एक एक कर के उनके तेरह भव हो चुके। उनका चौदहवां भव चौथे महेन्द्र नामक स्वर्ग के देव भव में हुआ। यहां के सारे भोग भी एक दिन भुक्तमान् हो चुके। पूर्व-कृत कर्मों के कारण अब नर और देव भवों को छोड़ अन्यान्य योनियों में जा कर वहां कर्म-फल भोगने का अवसर उन्हें आया। पाठकों को यहां यह अवश्य याद रखना चाहिए, कि हम यहां भगवान् के जीव के केवल उन्हीं मुख्य मुख्य पूर्व भवों की गिन्ती लगा रहे हैं, जो नर और देव भव में हुए थे। समस्त भवों का वर्णन करना लेखक का उद्देश्य नहीं है। चौदहवें देव-भव के समाप्त हो जाने पर अन्यान्य कई भव उन के हुए।

तदनन्तर, गणनीय पन्द्रहवें भव में भावी भगवान् फिर राजगृह के ब्राह्मण-

वंश में जा कर जन्में। यहां वे स्थावर नामसे पुकारे जाने लगे। जीवन की जवानी और जरापन दोनों भाग त्रिदण्डी सन्यासी की वृत्ति में बीते। इस भव का आयु पूरा भोग कर, वे फिर ब्रह्मदेव-लोक में उत्पन्न हुए।

सोलहवें भव में वे ब्रह्मदेव लोक में जा कर मध्यम स्थिति (आयु) वालेदेव बने। यहां का भी जीवन बीता कर, उनका फिर इस लोक में आना हुआ।

राजगृह नगर में, एक समय, जब कि भगवान् का सत्रहवाँ भव हुआ, विश्वनंदी नामका एक महा प्रतापी और शूर-वीर राजा राज्य करता था। उसके कई रानियां थीं। उन में से एक का नाम प्रियंगु था। इसी की कोख से विशाखानंदी नामवाला एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। राजा विश्वनंदी के विशाखाभूति नामक एक छोटा भाई भी था। इस छोटे भाई की पत्नी का नाम धारिणी था। यह वही धारिणी थी, जिस के गर्भ में, पूर्व भवों में उपार्जित किये गये शुभ कर्मों के उदय से, भावी भगवान्, जो किसी भव में मरीचि के नाम से विख्यात थे, ब्रह्मदेव लोक से चव कर आये! जन्म हो जाने पर उन का नाम यहां विश्वभूति रक्खा गया। विश्वभूति का बालकपन बड़े ही लाड़-प्यार और खेल-कूद में बीता। बालक के ऊपर, उन के अटूट राजसी वैभव, लाड़ प्यार और खान-पान तथा माता-पिता के वात्सल्य-भाव का ऐसा जादूभरा असर पड़ा, कि वे शीघ्र ही, अर्थात् कुमार अवस्था ही में यौवन-सम्पन्न दिख पड़ने लगे। तब तो, उन के विवाह की चिंता हुई। और, रूप-गुण-सौन्दर्य-शक्ति-विद्या-वय और कुल में उन्हीं के समान, एक परम विदुषी राजकुमारी के साथ उन का विवाह कर दिया गया।

एक दिन का जिक्र है, जब कि नन्दनवन के पुष्पकरण्डक नामक उद्यान में, इन्द्र के समान वैभवशाली विश्वभूति, अपने अंतःपुर को साथ लिये हुए, आनंद में मग्न हो कर क्रीड़ा कर रहे थे। इसी बीच, राज-कुमार विशाखानंदी भी, क्रीड़ा करने की इच्छा से वहाँ आये। परंतु भीतर की ओर विश्व-भूति को देख कर, वह उस उद्यान के बाहर ही ठहर गये। राज-कुमार का वहाँ बाहर ठहरना था, कि इतने ही में प्रियंगु रानी, जो राज-कुमार की माता थी, की दासियां, अपनी स्वामिनी के लिए फूल तोड़ कर ले जाने की इच्छा और इरादे से वहां आईं। परन्तु विश्वभूति को उद्यान के अंदर और राज-कुमार को उस

के बाहर ठहरा देख, वे पीछी उलटे पांवों लौट पड़ीं। और राज-कुमार की माता तथा अपनी स्वामिनी, प्रियंगु रानी के सम्मुख आज की इस अनहोनी घटना का सारा ब्यौरा, अथ से इति तक कह सुनाया। विश्वभूति के द्वारा अपने इकलौते और लाड़िले पुत्र का ऐसा अपमान हुआ सुन कर, रानी के क्रोध की सीमा न रही। वह शीघ्र ही आगबबूला हो उठी। और जितना भी जल्दी हो, विश्वभूति को उस के बढ़े हुए साहस का बदला राई-रत्ती चुका देने के इरादे से, उसी समय, वह अपने षोडश शृंगार को छोड़ छाड़ कर, और बड़ी ही विकराल राक्षसी का रूप धारण कर, कोप-भवन में जा घुसी। राजा ने वहां आ कर उस की अपनी दासियों के द्वारा यह सारा हाल जाना। तब तो विषय-वासना के भूखे, उस राजा ने रानी की इच्छा को पूरी करने के इरादे से, एक कपट-जाल रची। और यात्रा की तैयारी करवाई। उस ने उसी काल राज-सभा के सम्मुख जा कर घोषित किया, कि पुरुषसिंह नामक हमारा एक सामन्त बलवाई हो गया है। अतः उसे उस की करणी का उचित दण्ड देने के लिए, मैं जा कर उसे ललकारता हूँ। यह राज-घोषणा का सारा हाल, उसी काल, सारे शहर में बिजली की भांति फैल गया। सरल-हृदय और मातृ-पितृ-भक्त विश्वभूति ने भी इस संवाद को अचानक सुना। तब तो उन से एक क्षण-भर के लिए भी वहां न ठहरा गया। उसी समय, जैसे वे खड़े थे, वैसे ही घोड़े की पीठ पर पैर रख, राजसभा की ओर लपके। वहां जा कर वे राजा से मिले। और उस बलवाई पर चढ़ाई करने का सारा भार, अपने सिर-कन्धों ले, राजा से विदा मांग, वे उसी क्षण, ससैन्य, उस की ओर चल पड़े। परन्तु वहां पहुंचकर, उन ने उस पुरुषसिंह नामक सामन्त को राजा और राज्य के प्रति, सोलह आना अनुकूल और स्वामि-भक्त पाया। इस से, वीर विश्वभूति को, अपने प्रचण्ड बलवान् मन की मुराद को बिना पूरी किये ही, वापस लौट आना पड़ा। लौटती बार, जब वे पुष्पकरण्डक उद्यान के पास पहुंचे, तब उन्हें वहां के द्वारपाल के द्वारा, राजकुमार, विशाखानन्दी के उपवन में ठहरा रहने का, संदेशा मिला। द्वारपाल के द्वारा यह सारा हाल सुन कर, उन्हें भली भांति विदित हो गया, कि इस आज के सारे षड्-यन्त्र की जड़ मैं ही था। इस कपट–जाल के द्वारा, केवल मुझ को, राजकुमार विशाखानन्दी के लिए, अपनी क्रीड़ा से विरत कर, उद्यान से बाहर निकाल देने ही का, एकान्त उद्देश राजा

का था। यही कारण था, कि पुरुषसिंह जैसे शूर-वीर और स्वामिभक्त सामन्त पर, अकारण ही बलवा कर देने का आरोप लगाया गया। तब तो उन्हों ने क्रोध के आवेश में आ कर, उस उद्यान के बाहर के एक आपाद फूलों से लदे हुए वृक्ष को इस क़दर ज़ोर से पकड़ कर हिला मारा, कि उस पर के समस्त फूल भूमि पर आ कर, औंधे मुख गिर पड़े। और वृक्ष के नीचे की सारी भूमि फूले हुए फूलों के कोमल, सुगन्धित व अति ही गुदगुदे बिछौने से पट गई। उन धराशायी फूलों की ओर हाथ की अंगुली का इशारा कर, वह वीर और प्रतापी विश्वभूति उस द्वारपाल से कहने लगा, कि बड़े पिता जी के प्रति उस की श्रद्धा और भक्ति न होती, तो वह आज निःशंक हो कर, इन्हीं असहाय और धराशायी फूलों की भांति, उस काल के, उद्यान में ठहरे हुए सम्पूर्ण मनुष्यों के सिरों से, उपवन की उस सौरभमयी और सुन्दरता पूर्ण भूमि को पाट देता। पर हाय! वही विश्वभूति, श्रद्धा और भक्ति के वशवर्त्ती हो कर, अपनी सारी इन उमंगों को आज, जड़ामूल से मसोस कर, मन के एक कोने में डाल के मुरझा देता है! यही कारण है, कि ऐ द्वारपाल! तुम आज, इस समय, इस विश्वभूति को, अपने ही क्रोध में, यहां यों जले-भूने और मन मसोसे हुए खड़ा देख रहे हो! काल की गति बड़ी ही बलवान् और विचित्र है!

इस घटना ने उन के हृदय पर इतना जादूभरा असर डाला, कि उन्हें संसार के प्रति उपराम हो आया। वे संसार के समस्त वैभव और विषय सुखों को विष मयी समझने लगे। वैराग्य की इस भावना के उन के हृदय में उत्पन्न होते ही, संसार की मोह-ममता से उन ने उसी काल, नेह और नाता तोड़ दिया। और बन्धन-मुक्त मृग की भांति, सम्भूति मुनि की शरण में आये। और उसी काल उन्हों ने उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली।

विश्वभूति अब दीक्षित हो गये। यह बात विश्वनंदी के कानों पड़ी। वीर विश्वभूति को अपने हाथों से निकला जान कर, अब तो बड़ा ही अछताने-पछताने लगा। वह बड़ाही दुखित हुआ। अंत में वह अपने भाई, विशाखाभूति को साथ में लेकर उसे समझाने चला। वे दोनों विश्वभूति के पास पहुंचे। राजाने अपने कृत अपराध के लिए उन से क्षमा मांगी। उन से, अपना बाना छोड़ कर वापस लौट चलने के लिए, बार बार कई तरह से अनुनय-विनय की। उन्हें अपना सारा राज्य दे देने का राजा ने

प्रलोभन भी दिखाया। पर जिन्हें अपने निजी स्वरूप को पहचान ने की मस्ती चढ़ जाती है, उन के लिए संसार का सारा ऐश्वर्य और यावत् चराचर का सुख, धूल से भी निकम्मा है। वे तो अपने अंतरात्मा के सुख के एक किनके के बराबर भी तो इन्हें नहीं समझते। अस्तु। राजा और उस के भाई ने जब देखा, कि विश्वभूति पर हमारा किसी भी प्रकार का कोई भी असर नहीं पड़ता, तब तो उदास हो कर उन्हें वहा से चल देना पड़ा।

इधर, विश्वभूति मुनि के दिल में, इस ऊपर की घटना से, वैराग्यकी भावना और भी प्रबल हो उठी। उन ने कहा, कि जब मेरे चित्त में वैराग्य की भावना मात्र के उदय होने और दीक्षा-ग्रहण करलेने से, वही विश्वनंदी राजा, जो कल उस के सुख से डाह कर, उस के साथ कपटजाल रचने में लगा हुआ था, आज उसे सारे राज्य को ग्रहण कर लेने की मिन्नतें मना रहा है, तब सच्चे रूप से आत्म-बोध के हो जाने और मेरे वास्तविक साधु बन जाने पर, क्यों नहीं त्रिलोक की सम्पदाएँ, मेरे चरणों पर लौटने के लिए ललचावेंगी! ऐसे कई तरह के विचार करते हुए, वे और भी कड़ी तपश्चर्या में अपनी देह को तपाने लगे। उग्र तप के कारण, कालान्तर में वे बड़े ही कृश हो गये। इसी बीच, वे विहार करते करते मथुरा नगरी में आये दैवयोग से, उन दिनों विशाखानन्दी भी वहां की राजकुमारी के साथ विवाह करने की इच्छा से वहां आया हुआ था। इस समय, विश्वभूति मुनिको उपवास करते करते एक मास बीत चुका था। इस के बाद, उपवास का पारणा करने के लिए, आहार पानी लेने को वे नगर में आये। रास्ते में उन्हें विशाखानंदी की छावनी पड़ी। काल और कर्मों की गति बड़ी ही विचित्र है। दैवयोग से उसी छावनी के निकट, सामने से आती हुई एक गाय से टकरा कर विश्वभूति वहीं गिर पड़े। यह देख कर छावनी के कई लोग वहां इकट्ठे हो गये। इतने में दौड़ा दौड़ा विशाखानंदी भी वहां आ पहुँचा। और वह विश्वभूति को ज़मीन पर बेहोश गिरा देख कर, बड़े ही ज़ोरों से खिलखिला उठा और कहने लगा "क्यों, झाड़ को पकड़ कर, एक साथ उस के सारे फूलों को गिरा देनेवाला, वह तेरा बल अब कहां गया? क्या, तूने इसी अपने बल के बूते पर, हमारे सिरों से उपवन की भूमि को पाटने की बात वहां के द्वारपाल से कही थी? बहादुरी की व्यर्थ डींग मारनेवालों की ऐसी ही बुरी दशा होती है! इस समय मुनि की बेहोशी टूट चुकी थी। उन ने विशाखानंदी के अन्तिम शब्दों को भली भांति

सुन लिया था। मुनि के हृदय को, उस के विष-भरे और मर्मभेदी बोल, तीखे तीर के समान चुभ गये। अब दोनों ओर, दुर्गति और द्वेष का, मन ही मन में द्वन्द्व युद्ध होने लगा। एक को अपने राजसी वैभव और बल का विष चढ़ा हुआ था। दूसरा, अपने उग्र तपोबल की धधकती हुई आंच में, अपने विपक्षी के सम्पूर्ण बल वैभव को बात की बात में, नेस्तनाबूद कर देने के मनसूबे बांध रहा था।

अच्छा होता, ऐसे समय में, विशाखानंदी, पहले के अपने चचेरे भाई और आज के एक उग्र तपोधनी, विश्वभूति मुनि के दर्शनों का लाभ ले कर अपने भाग्य को सराहता! वह उन्हें एक उच्चकोटि का साधु और दान का सत्पात्र जान कर, आहार--पानी से उन का सत्कार करता। और उन के सदुपदेशों से अपने जीवन और जन्म को सफल बनाता। परन्तु उसने इस सुवर्ण संयोग का अभिमान और द्वेष के वश हो, दुरुपयोग किया। यह उस के भावी जीवन में, उच्चकोटि में जाने का शुभ साधन और संयोग था। परन्तु अकारण ही उसे उसने अपने हाथ से खो दिया। और यों, कोटानकोटि कर्म-बन्धनों का संग्रह अपने लिए कर लिया उस ने ज़रा भी नहीं सोचा, कि ये कर्म बन्धन अगले भवों में उसे क्या क्या त्रास दिखावेंगे। सच है, विवेक भ्रष्ट और अभिमानी पुरुष जो होते हैं, वे इसी प्रकार अपना तथा पराया अहित करने ही में, अपनी बहादुरी समझते हैं। इसी को वे अपने जीवन का मंगलमय कार्य समझते हैं। क्योंकि, विशाखानंदी की हँसी और बौखलाहट से वह खुद तो कर्म-बन्धन के कीचड़ में फंसा ही; मुनि विश्वभूति को भी साथ में ले डूबा। उग्रतपस्वी मुनि का चेहरा क्रोध से तमतमा उठा। बस, फिर क्या था! जो होनी थी, वह हो कर ही रही। इस समय वे अपने साधु बाने की सुध को भूल भाल गये। उन्हें ज़रा भी इस की स्मृति न रही। तब तो स्मृति के भ्रष्ट हो जाने से बुद्धि ने भी मुनि का साथ छोड़ा। अंत में तपोबल के भ्रष्ट हो जाने से सर्वनाश में और कमी की कसर ही कौनसी रह गई थी! अतः उचित है, कि मनुष्य जब किसी भी काम को हाथ में ले, अपने विवेक से उस के विषय में अवश्य पूछ लिया करे। विचारशून्य और विवेकहीन हो कर किसी भी काम में कभी हाथ न डाले। नहीं तो अंत में, विवेक-हीनों का पद पद पर सैकड़ों रूप से पतन होता है।

अच्छा होता, इस अवसर पर, मुनि अपनी साधुवृत्ति को समझ कर, सहि-

ष्णुता से काम लेते। जिस से, न तो उन का तपोबल ही क्षीण होता; और न विशाखानंदी ही को मुनि के रोष में अपना सर्वनाश करना पड़ता। फिर, साधु सदा स्वभाव ही से परोपकारी होते आये हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोहादि विकारों को जब तक कोई साधु, पास तक नहीं फटकने देता, तभी तक वह साधु, साधु कहलाता और रहता है। इन के पास फटकते ही वह असाधु बन जाता है। साधु को तो सदा "पुढविसमे मुणी हविज्जा" भूमि के समान क्षमाशील और समुद्र के समान गम्भीर बने रहने का, पूरा पूरा प्रयत्न करते रहना चाहिए। जिस प्रकार, पृथ्वी पर चाहे कोई थूंके और टट्टी फिरे और चाहे उस पर कोई चंदनादि सुगंधित पदार्थ छिड़के। पर पृथ्वी कभी किसी के साथ नाराजी या प्रसन्नता प्रकट नहीं करती। ऐसे ही, मुनियों को भी सदा सर्वदा, उन की निंदा तथा स्तुति से होनेवाले विषाद व हर्ष से, बिलकुल दूर रहना चाहिए। अस्तु।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, क्रोध के आवेश में आ जाने से जब मुनि विश्वभूति को अपने पराये का जरा भी भान न रहा, तब तो उन्हों ने अपने पास में खड़ी हुई उस गाय को उसके सींग पकड़ कर, आकाश में फेंक दिया। इतना ही नहीं, उसी काल उन्हों ने एक निदान (सांकेतिक अर्थ को प्राप्त करने की इच्छा) भी किया, कि जिस से अपनी इस उग्र तपस्या के प्रभाव से, वे अत्यन्त पराक्रमशाली हो कर, अपने विपक्षी, उस विशाखानन्दी का, जितना भी जल्दी हो, सर्वनाश कर सकें।

पाठकों को यहां यह स्मरण रखना चाहिए, कि जैन-शास्त्रों में, अपनी तपस्या पर, ऐसी धारणा करना, बिलकुल स्पष्ट रूप से निषेध माना गया है। तप शब्द का अर्थ ही कष्टों को हंसते हंसते सह लेना है। तब तो वह तप, तप ही नहीं, जो दूसरों को पीड़ा पहुंचावे। तप वही सराहनीय है, वही उत्तम कोटि का तप है, जिस से किसी भी जीव को रंच-मात्र भी त्रास न हो। फिर, तप वही श्रेयस्कर और सुन्दर है, जिस में इहलोक तथा परलोक में सुख की इच्छा का कहीं नामों निशान भी न हो। निदान—रहित होना भी, तप के श्रेयस्कर होने का एक प्रधान अंग है। निदान के साथ तप, बदले का एक सौदा मात्र है। जिस तप से शरीर के रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र (वीर्य) या रज, इन सातों धातुओं का पूर्ण रूप से तपन नहीं हो जाता; और जिस तप

से अशुभ कर्मों का क्षार नहीं हो पाता; वह तप, तप कहलाने के योग्य ही नहीं है। ऐसे ही निर्दोष और निदान-रहित तप करने कराने का, जैनागमों में बड़ा ही ललित और विस्तार-पूर्वक वर्णन पाया जाता है। किन्तु विश्वभूति मुनि, क्रोध के आवेश में आ कर सब कुछ भूल बैठे। उन्होंने अपनी तपस्या को निदान के रूप में बदल, फलपाने का संकेत कर ही दिया। कुछ दिनों के बाद काल पा कर वे विना आलोचना के मृत्यु को प्राप्त हुए। इस बार वे अपने दूसरे भव में महा शुक्र नामक देव-लोक में जा कर जन्मे। भावी भगवान् के जीव का यह अठारहवां भव था। वहां वे एक उत्कृष्ट आयुवाले देव बने। वहां के भी आयु का क्षय हो जाने पर वे पीछे नर-लोक में एक वासुदेव बन कर आये। यों भगवान् के जीव के मुख्य मुख्य, नर और भिन्न भिन्न देव-लोकों के अठारह भव पूरे हो चुके।

त्रिपृष्ट वासुदेव

उन दिनों, जब कि भावी भगवान् के जीव का उन्नीसवां भव इस जगत् में हुआ, इस भरतखण्ड के पोतनपुर नामक एक अति प्रसिद्ध और विशाल नगर में, "रिपु-प्रति-शत्रु" नामक राजा राज्य करता था। यह महा पराक्रमी और यशस्वी राजा था। उस की पटराणी का नाम "भद्रा" था। इस के गर्भ से "अचल" नाम के बलदेव पुत्र का जन्म हुआ। जब यह बालक गर्भ में आया था, उस समय माता को चार शुभ स्वप्न दिख पड़े थे। इसी राजा की एक दूसरी रानी के गर्भ से त्रिपृष्ट नामक वासुदेव के रूप में भावी भगवान् के जीव का उन्नीसवां भव हुआ। जब ये वासुदेव, महाशुक्र नामक स्वर्ग से चव कर अपनी माता के गर्भ में आये, माता को सात शुभ स्वप्नों का दर्शन हुआ था। इन दोनों भाइयों का बालकपन बड़े ही लाड़-प्यार और आमोद-प्रमोद में बीता। आगे चल कर ये बड़े वीर और पराक्रमी निकले। इन का प्रेम, परस्पर में, बड़ा ही सराहनीय और घनिष्ट था। ये सदा साथ ही साथ रहते। और एक के बिना दूसरे को एक पल भी युग के समान कठिन रूप से बीतता।

अनादि काल से सृष्टि का यह नियम चला आ रहा है, कि अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी के बीच की अवधि में, चौवीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव, नौ बलदेव, और नौ ही प्रति-वासुदेव उत्पन्न हुआ करते हैं। जिन में

से तीर्थंकरों का काम, धार्मिक उपदेश देकर सृष्टि की विषमता को मिटाना और धर्म की संस्थापना करना होता है। चक्रवर्ती लोग छहों खण्डों में एक छत्र राज करते हैं। वासुदेवों के ज़िम्मे तीन खण्डों का शासन आता है। बलदेव, वासुदेवों के सहायक हुआ करते हैं। इसी प्रकार, प्रति-वासुदेवों के आधीन शासन तो तीन खण्डों ही का रहता है। पर अनेकों राजा, जहां उन की आज्ञा में रहते हैं, वहां कई राजा लोग उन की आधीनता को स्वीकार ही नहीं करते। इस प्रकार उन के शासन में, धांधलपट्टी मची रहती है। इन के शासन काल में, इन के आधीन वाले तीनों खण्डों में, जगह जगह, कई प्रकार की राज-क्रान्तियाँ मचती रहती हैं। धार्मिक भावों को भी ये लोग, गहरा धक्का पहुंचाते हैं। थोड़े में कह देना चाहिए, कि इन के शासन सूत्र की लगाम, न्याय और धर्माचरण के बदले, अन्याय और अत्याचार के खूनी हाथों में रहती है। तब प्रति-वासुदेव से बल में अधिक होने के कारण, वासुदेव इन का निपात करते हैं और त्रि--खण्डों के शासन वे अपने सिर-कन्धों लेते हैं। इस समय फिर जगत् के तीनों खण्डों में न्याय और नीति-भरा, शान्तिमय राज्य लोग देखते हैं। धर्म-कर्म की प्रभावना जगत् में होती है। तीनों खण्डों में "राजा राज और प्रजा चैन," की कहावत लोग इसी काल में कहने लगते हैं।

जैसा कि अभी ऊपर कह आये हैं, इधर तो पोतनपुर में त्रिपृष्ट वासुदेव अपना बालकपन हँस खेल कर बिता रहे थे; और उधर उसी काल, रत्नपुर नामक एक नगर में, अश्वग्रीव नाम का प्रतिवासुदेव, उस समय के त्रि-खण्डों के राजाओं के ऊपर, अपने एकछत्र राज्य के शासन की धाक फैला रहा था। इस ने अपने बाहुबल से भरतक्षेत्र के तीनों खण्ड स्वाधीन कर लिये थे। बड़े बड़े शूर, वीर और पराक्रमी राजाओं तक को युद्ध में जीत कर, इस ने अपने वश में उन्हें कर लिया था। और तो और, त्रिपृष्ट वासुदेव के पिता भी इसी के अधिकार में एक मांडलिक राजा थे। एक बार राज--सभा में बैठे बैठे, मन ही मन वह विचार कर रहा था, कि भरत-क्षेत्र के इन तीनों खण्डों में तो आज ऐसा कोई राजा मुझे नहीं दीखता, जो मेरी चमचमाती हुई तलवार का लोहा लेने को मेरे सामने आ सके। परन्तु हां, मैं सोचता हूँ और भली भांति यह जानता भी हूँ, कि मेरे द्वारा त्रि-खण्डों के राज्य को हथियाने की नींव, शारीरिक-बल, द्वेष, हिंसा

और क्रूरता तथा अभिमान के पाये पर लगी हुई है। अतः बहुत सम्भव है, कि जिन राजाओं को मैंने युद्ध में हरा कर अपने अधिकार में किया है, उनकी सन्तानों में से कोई मेरा बदला चुकाने के लिए तैयार हो उठे और सामना करने को अचानक मेरे सम्मुख आ खड़ा हो, तो इस में कोई अचरज और नवीनता की बात नहीं है। क्योंकि, राजसी और तामसी द्वेष, हिंसा, क्रूरता आदि ही का बदला अकसर इन्हीं से चुकाया गया और चुकाया जाता है। इतना ही नहीं, वह मुझे मार भी गिरावे, तो भी कोई अनहोनी बात नहीं। इस बात के उस के मन में समाते ही, उसने राज--सभा में, अपने पास ही बैठे हुए एक ज्योतिषी से यों पूछाः--" क्या, इस जगत् में मेरा कोई शत्रु पैदा हो चुका है? यदि, नहीं हुआ है, तो क्या आगे होगा? क्या, वह मेरा निधन कर, मेरे राज्य को हथिया लेगा? ज्योतिषी ने योग, लग्न, मुहूर्त, आदि को देख कर और इन प्रश्नों की परिस्थिति पर पूरा पूरा ध्यान रखते हुए, कुंडली बनाई। बाद, गहरा सोच विचार कर उन प्रश्नों का उत्तर निकाला उत्तर की अनहोनी बात को देख ज्योतिषी ठिठक रहा। प्रति-वासुदेव के प्रताप के आगे, उत्तर को कहने की उस की हिम्मत न हुई। ज्योतिषी के चेहरे की विकृति देख, प्रतिवासुदेव ने उस से कहा, " जो कुछ यथार्थ बात हो, सो निःसंकोच हो कर कहो। इस में हिचकने और डरने की कौन सी बात है?" ज्योतिषी ने यों आश्वासन पा कर, जो कुछ यथार्थ घटना घटनेवाली थी, कह सुनाई। अन्त में सार उस ने यों निकाला की अग्रगण्य चण्डवेग दूत का अपमान करनेवाला, जो होगा और तुम्हारे राज्य की सीमा की पश्चिम दिशा के अन्त में रहनेवाले सिंह को जो हनेगा, उसी के हाथों आप का भी निधन होना निश्चय है। और वही आप के राज्य का स्वामी बनेगा। इतनी बात सुन कर, ज्योतिषी को तो आदर--पूर्वक उस ने विदा किया। पश्चात्, राज-सभा को भी विसर्जित करने की इजाज़त उस ने दी। और वह भी वहां से उठ कर अपने अन्तः पुर में चला गया।

ज्योतिषी की भविष्य-वाणी बहुत ही जल्दी सफल हुई। कुछ ही देर के बाद, अपने राज्य की पश्चिम दिशा के सीमान्त प्रदेश से उसे समाचार मिला, कि वहां एक सिंह ने उस की प्रजा को बड़ा ही तंग कर रक्खा है। उस के डर के मारे कभी कोई बिना हथियार के और अकेले में चल फिर भी नहीं सकता। यह सँदेशा पा कर प्रतिवासुदेव ने अपने-अधीनस्थ राजाओं के पास राजाज्ञा के रूप में कहला भेजा, कि राजा लोग एक एक कर के, अपनी बारी बारी से वहां

जावें। और सीमान्त प्रदेश के रहने वाली प्रजा की जान की रक्षा के लिए, एक निश्चित काल तक वहां डेरा डाले पड़े रहें। राजाज्ञा को पाते ही, राजा लोगों ने एक एक कर के, अपनी अपनी बारी से, एक नियत समय के लिए वहां जा कर ठहरने और प्रजा की रक्षा करने का भार अपने सिर-कन्धों लिया और उस का पूरा पूरा पालन करने लगे।

उधर, कुछ दिनों के बाद, फिर उसने यह सुना, कि पोतनपुर के स्वामी, रिपु-प्रति-शत्रु के दोनों कुमार बड़े ही शूर-वीर और पराक्रमशाली हैं। इस बात को सुन कर, प्रतिवासुदेव कुछ घबराया। और अन्त में उसने अपने दूत-शिरोमणि, चण्डवेग को सारी बातें भली प्रकार समझा बुझा कर, पोतनपुर की ओर रवाना किया। दूत पोतनपुर पहुंचा और उस ने वहां के राजा को बिना किसी प्रकार की सूचना दिये ही, राजा-सभा में प्रवेश करना उचित समझा। उस ने वैसा ही किया और बिना राजा को किसी भी प्रकार की सूचना दिये वह राज सभा में घुस आया। दूत को अचानक राजा का अतिथि देख, सारे दरबारी तो उस का सम्मान करने के हेतु उठ खड़े हुए। परन्तु अचलकुमार और त्रिपृष्ट कुमार को यह बात बड़ी ही अखरी। वे न तो दूसरे दरबारियों के समान उठ कर ही खड़े हुए और न उन्हों ने उसे कोई ताज़ीम ही दी। मामला इतने ही पर जा कर खतम नहीं हुआ। दूत के इस धृष्टता-पूर्ण साहस को देख कर, त्रिपृष्ट-कुमार तो मन ही मन यह तक बिगड़ा, कि उसे उसी काल उस की करणी का मज़ा चखाने को तैयार हो बैठा। दूत ने अपने इस अपमान को भली भांति देखा और अनुभव भी किया। परन्तु असमय को देख वह वहां कुछ भी न बोला। अन्त में वह वहां से विदा हुआ। वह कुछ ही दूर बेचारा जा पाया होगा, कि इतने ही में राजकुमार त्रिपृष्ट ने उसे आ संभाला। और उसे एकान्त में उसने खूब ही मारा पीटा; तथा उस की करणी का सोलह आना मज़ा उसे चखाया। अब तो दूत के सारे, होशहवाश खट्टे हो गये। उस की सारी शेखी फिसक गई। अपना, यों अपमान होता देख और सहन कर, वह वहां से जितना भी जल्दी हो, भाग निकलने की कोशिश करने लगा। कुमार से उस ने अपने अपराध की क्षमा मांगी। तब तो वीर किन्तु करुण-हृदय कुमार ने उसे शरणागत जान, जाने की इजाज़त बख़्शी। दूत, बालक की वीरता, अनुपम साहस और साथ ही करुणा की, मन ही मन, बार बार सराहना करते हुए, सरपट वहां से प्राण बचा कर

भागा। यों कुमार त्रिपृष्ट के द्वारा पूरी तरह से अपमानित हुआ, दूत-अग्रगण्य चण्डवेग, प्रतिवासुदेव के दरबार में पहुंचा। और वहां जा कर उस ने आप-बीती सारी कथा अपने स्वामी से कह सुनाई। दूत के द्वारा ऐसी बातें सुन और प्रत्यक्ष उस की दशा को देख कर, प्रति-वासुदेव मन ही मन बड़ा घबराया। दूत और अन्य राज-दरबारियों के सम्मुख, उसने अपनी घबराहट को प्रकट न होने देने की पूरी पूरी कोशिश भी की थी; परन्तु फिर भी दर्शकों को उस घबराहट की आन्तरिक झांई, उस के सारे शरीर पर, सिर से पैर तक, झलकती हुई, भली भांति दिख पड़ती थी।

अश्वग्रीव अब सदैव इस बात की चिन्ता में लगा, कि उसके दूत का जो रिपु-प्रति शत्रु के बालकों के द्वारा घोर अपमान हुआ है, उसे उस का पूरा पूरा बदला चुकाया जाय। उसे सोते-बैठते, खाते पीते वह अपमान तीर की तरह हृदय में चुभता था। वह प्रयत्न करता हुआ, उस अवसर के हाथ आ पड़ने की राह देखने लगा। उसने एक दिन अपने प्रयत्न में सफलता देखी। उस ने विचारा, कि अन्य राजाओं को, पश्चिम के सीमान्त प्रदेश में जा कर ठहरने और सिंह से लोगों की रक्षा करने का हुक्म देने की बजाय, यदि यह काम अकेले अश्वग्रीव ही को सौंप दिया जाय, तो इस से राज्य को क्या हानि है। साथ ही, इस प्रकार की राजाज्ञा से जहां अन्य राजा लोग भी मुक्त हो जायंगे और राज्य के प्रति आभार प्रदर्शित करेंगे, वह ऊपर से अलग ही होगा; वहां दूसरी ओर रिपु-प्रति-शत्रु को उस के अपने पुत्रों की करणी का कड़ुवा फल भी, अकारण और अनायास ही में मिल जायगा। फिर, वहाँ उस की अनेकों बारीक बातें और ग़लतियों को देखने तथा पकड़ने का मौक़ा भी, राज्य को सदा मिलता रहेगा। यों, वह अपने आप सब प्रकार से पिस जायगा। अस्तु।

प्रतिवासुदेव ने अश्वग्रीव को उसी समय अपने ऊपर के विचारों के अनु-सार, कहला भेजा। राजाज्ञा को सिर-माथे झेल कर, अश्वग्रीव को तुंगगिरि पर जा कर रहने और सिंह से प्रजा की रक्षा करने का निश्चय, विवश हो कर करना ही पड़ा। उस ने अपने पुत्रों को बुला कर कहा, देखो यह उसी अपमा-न का विषभरा फल है, जो तुम लोगों के द्वारा दूत चण्डवेग के प्रति किया गया था। यदि उसी समय तुम लोगों ने कुछ सोचा विचारा होता, तो राज्य और

राजा पर आज ये आपदा के बादल उमड़े न होते । अच्छा, जो होनी थी, वह तो हो कर रही। आगे से, तुम अब भी फूंक फूंक कर पैर रखना सीखो। समय बड़ा ही संकटमय आकर उपस्थित हुआ है । एक ओर, यदि राजाज्ञा की अवहेलना की जाती है, उसे ठुकरा दी जाती है । तो राज्य और राजा के सर्वनाश की तैयारियां होती हैं । दूसरी ओर, यदि सिंह से सामना किया जाता है, तो भी प्राण संकट में पड़ते हैं; और यदि सामना न करते हुए वहीं जीवन बिताया जाने का इरादा किया जाता है, तो राज्य की बरबादी होती है । निज पिता को यों चिन्ता-सागर में डूबे देख, उनके बदले, दोनों राज-कुमारों ने हंसते हंसते सिंह के सामने जाने का निश्चय किया । अपने पिता को उन्हों ने वहां जाने से अपने बल-भर रोका । पर पहले तो पुत्र-प्रेम के वश, पिता ने उन की एक भी न सुनी । और उन्हें वहां उनके अपने मार्ग में आने वाली आपदाओं का बड़ा ही विकट भय दिखा कर, हटक दिया। जाने की सब तैयारी भी हो गई । राजा जाना ही चाहता था, कि राज कुमारों ने बीच ही में जा कर फिर उसे रोक लिया । बड़ी देर तक खूब ही ज़िद होती रही । एक के लिए दूसरे के प्राणों के त्याग की वह अनुपम कोशिश बड़ी ही दर्शनीय थी । अन्त में, पुत्रों ने पिता को वाद विवाद में हरा दिया । पिता को क़ायल हो कर घर की ओर लौट जाना पड़ा । सिंह की शान, बान और बलवाले दोनों राजकुमार, अब अपने पिता के पैरों पड़, तुंगगिरि की ओर चले । लोगों ने उन के विकट साहस और राज्य की ख़ैरख़्वाही तथा अनुपम पितृभक्ति की राज्य भर में सराहना की । चलते चलते वे दोनों कुमार तुंगगिरि में पहुंचे । लोगों से सिंह के स्थान का पता पूछा । और उस ओर चले । रास्ते में चलते चलते त्रिपृष्ट कुमार ने अपने सारथी से पूछा-"क्या, सिंह के पास कोई सवारी है ?" उत्तर में सारथी ने कहा-"नहीं, महाराज ! सिंह के पास सवारी कहां से आई ! वह तो वन में विचरण करनेवाला एक भयानक जीव विशेष है । बेचारे पशु के लिए सवारी कौन रखता " सारथी की ये बातें सुन, वीर कुमार त्रिपृष्ट, अपने भाई अचलकुमार से बोले, "भाई, अपन लोग क्षत्रिय हैं । जब अपना शत्रु, सिंह पैदल विचरण करता है, तब अपन सवारी में चढ़ कर, उस पर धावा बोलने की यह अनहोनी बात कैसे कर रहे हैं ! यह बात राजनीति और धर्म, दोनों के बिलकुल विपरीत है । अतः अब अपने को भी सवारी यहीं छोड़ देनी चाहिए । और पैदल चल कर ही उस का पीछा करना चाहिए । भाई

अचलकुमार ने उस की बात का सोलह आना समर्थन किया। तब तो सवारी वहीं छोड़ दी गई। सारथी ने साथ चलने की सैंकड़ों मिन्नतें मानीं पर दृढ़ प्रतिज्ञ राजकुमारों के सामने उस की एक भी न चली। बेचारे सारथी को मन मसोस कर वहीं बैठ जाना पड़ा। राजकुमार दोनों आगे बढ़े।

इस बार चलते चलते, कुछ ही दूर आगे जाने पर, कुमार त्रिपृष्ट ने अपने भाई से पूछा, "क्यों, भाई! क्या, उस सिंह के पास कोई अस्त्र-शस्त्र हैं?" भाई ने बदले में कहा, "कुमार! नहीं; एक भी नहीं। सिंह तो वन में रहनेवाला हिंसक पशु है। उस के पास अस्त्र-शस्त्र कौन रखने गया है!" अपने भाई की यह बात सुन कर, राज-कुमार त्रिपृष्ट के हृदय में, अपने हाथ में लिये हुए हथियारों के प्रति घृणा और ईर्ष्या उठ खड़ी हुई। वह अपने बल और पौरुष को, मन ही मन धिक्कारने लगा। उसने,उसी क्षण, वहीं के वहीं, अपने पास के समस्त हथियारों को भूमि पर दे पटका। और अपने भाई से तब वह यों बोला, "भाई! क्या, इसी का नाम मनुष्य और मर्दानगी है? क्या, निःशस्त्रों से शस्त्रवालों का सामना करना, यही हमारी राज-नीति का मर्म और धर्म का उद्देश है? क्या, हम क्षत्रियोचित तेज से इतने हीन हो गये हैं, जो निहत्थों पर हथियारों के दो दो वार करें और इसी में अपनी बहादुरी समझें? लानत है, हमारे ऐसे बल के व्यर्थ के अभिमान को और हमारे बल-पौरुष को!" राजकुमार अचल को, भाई त्रिपृष्ट की बातें, बिना ज़रा भी चूं-चपड़ किये मान लेनी पड़ीं। अब अस्त्र-शस्त्र भी सब के सब वहीं पटक दिये गये। कुमार निहत्थे हो कर आगे बढ़े।

अब भाई अचलकुमार को भी वन ही में छोड़ देने की बारी आई। कुमारों ने क़दम रखते रखते कुछ ही दूरी पार की होगी, कि फिर त्रिपृष्ट चलते चलते ठहर गया और अन्तिम बार अपने भाई, अचलकुमार से पूछने लगा—"क्यों, भाई! क्या, उस के कोई संघी-साथी या सहायक लोग भी उस के साथ में रहते हैं?" इस पर अचलकुमार यों बोला, "ऐ भोले भाई त्रिपृष्ट! सिंह का कौन तो संघी साथी होता है और कौन उस का सहायक! उस का तो एक मात्र पुरुषार्थ ही संघी-साथी तथा सहायक है। इसी अपने पुरुषार्थ के बल से वह वन का राजा बना है।" अपने भाई के मुँह से इस प्रकार की बातें सुन, त्रिपृष्ट ने एकदम अपने भाई अचल को, अपने साथ आने से रोक दिया। वह बोला—"भाई! जब सिंह अकेला ही वन में रहता है और उस का पुरुषार्थ ही केवल, एक मात्र साथी के रूप में उस का सहायक

है, तब फिर मेरे लिए तुम्हारी सहायता और साथ की, कहां तक आवश्यकता है; इस बात का तुम्हीं विचार करो ! अपने क्षत्रिय धर्म को तुम विचारो; और अब एक क़दम भी आगे न बढ़ो। फिर राजनीति के भी तुम ज्ञाता हो। मैं तुम से अधिक क्या कहूँ ! अकेले का युद्ध, अकेले ही के साथ होना चाहिए। अगर मैं ऐसा नहीं करता हूँ, तो मैं अपने धर्म को भ्रष्ट करता हूँ। अपने वंश के नाम को बट्टा लगाता हूँ। यह तो अपनी समझ की बात हुई। संसार भी मेरे क्षत्रियोचित पुरुषार्थ की निन्दा करेगा। वह एक सच्चे क्षत्रिय-कुमार के लिए मरण से भी बदतर होगी। अतः भाई, मैं तुम से फिर भी प्रार्थना करता हूँ, कि यदि मेरे द्वारा अकेले में सिंह का सामना करने में, मेरा यह शरीर कल जाता हो, तो इसे आज ही चला जाने दो। परन्तु तुम मेरे यश रूपी शरीर को सदा के लिए सुरक्षित और जीवित रक्खो। और, इसीलिए तुम अब मेरे साथ एक पैर भी वन की ओर न उठाओ।" वीरकर्मा क्षत्रिय-कुमार त्रिपृष्ट की ऐसे साहस-भरी बातें सुन कर, अचल के मुँह से एक बोल भी न निकला। उसे धर्म और राजनीति की पेचीदा उलझनों को समझ कर, वहीं के वहीं रुक जाना पड़ा। उस के मन में कोई सूझ उस समय न आई, जिस से वह अपने भाई की युक्तियों का खण्डन कर सकता और अन्त अर्थात् सिंह के स्थान तक उस का साथ देता। अस्तु।

अब राजकुमार त्रिपृष्ट आगे बढ़ा। वह अब सारथी और सवारी से हीन था। दो पैर ही उस की सवारी थी। अपने संघी साथियों को भी वह पीछे छोड़ आया था। और तो और क्षत्रियत्व की एक मात्र पहचान, अपने हाथ के हथियारों तक को वह पीछे पटक आया था। अन्त में चलते चलते वह सिंह के स्थान के पास आ पहुंचा। सिंह अपनी कन्दरा में सोया पड़ा था। वीर कुमार चाहता, तो अपने शत्रु सिंह को वह सोते हुए में, बात की बात में, बिना प्रयास मार गिराता। परन्तु यहां भी उस ने ऐसा करना, अपने क्षत्रिय-धर्म और राज-नीति के विपरीत समझा। उस ने एक ज़ोर की ललकार लगा कर, सिंह को सोते से जगाया। ललकार सुनते ही सिंह जागा और क्रोधित हो कर, कुमार के कोमल शरीर पर लपका। उसे उस के पूर्व भवों के कर्मों की याद आई। उस को अपना जाति-स्मरण हो आया। सिंह को अपनी ओर लपका देख, वीर कुमार ने भी बिजली की लाघवता से उस की ओर क़दम बढ़ाये। और सिंह के समीप पहुँच, हँसते हँसते, उस ने अपना एक हाथ सिंह के ऊपर के जबड़े में और दूसरा नीचे के

जबड़े में अपने बल-पूर्वक घुसेड़ दिया। और बात की बात में, उस अतुलित बल-शाली क्षत्रिय-कुमार ने, एक कुशल बजाज़ जैसे कपड़े को फाड़ता है, उसी तरह उस सिंह के मुँह को दो टुकड़ों में चीर डाला। सिंह तड़फड़ाता हुआ घायल हो कर भूमि पर गिर पड़ा। उस की उस समय की गर्जना से वन की दशों दिशाएँ कांप उठीं। चारों ओर सन्नाटा छा गया। सिंह को अपने बल का बड़ा अभिमान था। एक साधारण निःशस्त्र और कुमार अवस्था के आदमी से अपनी ऐसी दशा को हुई देख, सिंह मन ही मन बड़ा दुखी हो रहा था। उस समय, इन्द्रभूति गणधर के जीव ने, जो कि तब त्रिपृष्ट के सारथी के रूप में था, सिंह को आ कर प्रबोधा। सिंह को उस के प्रबोधन से बड़ी शांति मिली। और उस ने अपने शरीर को शांति-पूर्वक त्याग दिया। कुमार भी अब लौट पड़ा। आ कर अपने भाई कुमार अचल से मिला। सारी बातें, जो वहाँ हुई थीं, उस से उस ने कहीं। कुमार अचल ने अपने भाई का ऐसा साहस देख, उसे छाती से लगाया; और उस की दिल खोल कर प्रशंसा की। वहां से भी अब दोनों कुमार आगे बढ़े। चलते चलते वे तब वहां आये, जहां उन ने अपने हाथ के हथियारों को फेंका था। उन्हें उन्हों ने फिर से उठाया। और, फिर सीधे पोतनपुर की ओर चले। रास्ते में छोड़ा हुआ रथ उन्हें मिला। वहां से वे रथ में चढ़े। और पोतनपुर आये। विजयी कुमारों का आना सुन, पुरी के लोगों ने उन को बड़े ही प्रेम और श्रद्धा के साथ बधाया और उन का राजोचित सत्कार किया। वीर कुमारों के द्वारा यों सिंह का मारा जाना सुन, राज्य के अनेकों भागों से उन के लिए बधाइयां आईं और तरह तरह की भेंटें उन्हें मिलीं। रिपु-प्रतिशत्रु ने सिंह को मार डालने का यह सन्देश, अब अश्वग्रीव के पास भी पहुंचाया।

कुमार त्रिपृष्ट के द्वारा सिंह का मारा जाना सुन, अश्वग्रीव के होशहवाश खो हो गये। अब तो वह उस से बड़ा ही डरता रहने लगा। उस का खाना और नींद, सब हवा हो गई। वह दिन-रात दोनों कुमारों को मार डालने की कपट-योजना ही में रत रहने लगा। वह उन की ओर चलते-फिरते, उठते-बैठते सदैव सशंक रहता। अन्त में जब वह अपने किसी भी प्रयत्न में सफल न हुआ तब तो उन के साथ, उस ने प्रत्यक्ष युद्ध छेड़ने की घोषणा करदी। दोनों ओर जबर्दस्त तैयारियां हुईं। आये दिन घमासान युद्ध छिड़ गया। धन और जन का भी काफ़ी नाश दोनों ओर हुआ। अन्त में इसी युद्ध में वह अश्वग्रीव, वीर

कुमार त्रिपृष्ट के हाथों मारा गया । कुमार के बल और पराक्रम को देख, उस से सभी को भय होने लगा । उस के आतंक की धाक अब चारों ओर फैली ।

त्रिपृष्ट ने तब तो दिग्विजय करने का विचार मन में ठाना । उस के अनुसार तैयारी की गई । और शुभ समय देख कर, वह दिग्विजय के लिए रवाना हुआ । उस के पराक्रम की धाक, उस के रवाना होने के प्रथम ही, चारों ओर पहुंच चुकी थी । परिणाम इस का यह हुआ, कि भरत-क्षेत्र के तीनों खण्डों के सभी राजाओं नें, एक स्वर से, उस के आतंक तथा पराक्रम का सम्मान किया और उसे अपना सिर-मौर माना । कुमार ने भी उन सब के साथ पूरे पूरे प्रेम और सुजनता का वर्ताव किया । यों, बिना किसी भी प्रकार की लड़ाई-भिड़ाई और धन-जन-संहार के कुमार दिग्विजयी बन कर, पोतनपुर को आये । बड़े ही धूम-धाम और आदर-सत्कार के साथ उन्हें पुरी में प्रवेश करवाया गया । कुमार के पिता अब वृद्ध हो चुके थे । उन्हों ने अपने राज का सारा भार, अपने कन्धों से उतार कर कुमार के सिर-कन्धों, रख दिया । त्रिपृष्ट कुमार अब तीनों खंडों के एकछत्र राजा बने । निष्कंटक हो राज काज चलाना उन्होंने आरम्भ किया । राज में चारों ओर सुख-शान्ति छागई । जनता ने उन्हें उन के बल और पराक्रम का शान्ति-पूर्वक लोहा मान " वासुदेव " की पदवी से विभूषित किया । चारों ओर " राजा राज और प्रजा चैन " फैला ।

एक दिन, रात का समय था । वासुदेव अपनी सेज पर सुख-पूर्वक लेटे हुए थे । सामने उन के, अनेकों बड़े ही मधुर-भाषी गायक तरह तरह के मधुर गायन गा रहे थे । ये लोग संगित-कला में बड़े ही पारंगत और पहुँचे हुए थे । वासुदेव ने शैय्यापाल को हुक्म दे रक्खा था, कि वह उनके नींद लगते ही गायकों को विदा कर दे । त्रिपृष्ट, कुछ ही समय के बाद, नींद के वश हो गये । उधर संगीत की सुरीली तान में तन और मन से तल्लीन हो जाने के कारण, शैय्यापाल गायकों को विदा करना भूल गया । यहां तक कि उन्हें गाते गाते प्रातः काल हो गया । वासुदेव की निद्रा भंग हुई । उन्हों ने अभी तक गायकों को गाते देखा । वासुदेव तब तो शैय्यापाल पर बड़े ही आगबबूला हुए । उन्हों ने उसे पूछा, कि उस ने गायकों को अभी तक विदा क्यों न किया ? उत्तर में वह नम्रता से बोला, " भगवन् ! प्रथम तो, संगीत के लोभ ने मुझे इन्हें विदा करने

से रोका। दूसरे, कुछ देर के बाद, मैं आप ही उस के सुर में इतना मोहित हो गया, कि अपने पराये का मान ही भूल गया। और आप की आज्ञा की सुध भी मुझे कुछ न रही।" शैय्यापाल की ऐसी बढ़ी हुई धृष्टता को देख, वासुदेव का क्रोध और भी भड़का। और उसी क्रोध के आवेश में उन ने हुक्म दे दिया, कि इस शैय्यापाल के कानों में गला हुआ गर्म गर्म शीशा उडेल दिया जाय। राजाज्ञा का सामना करने और टाल देने का साहस कौन कर सकता था? बेचारे दीन हीन शैय्यापाल के कानों में गर्म गर्म पिघला हुआ शीशा डाल दिया गया। उस से उसे घोर यन्त्रणा हुई। अन्त में मछली की तरह तड़फते हुए उस ने प्राणों को त्याग दिया। इस दुष्कृत्य से वासुदेव ने अपने लिए घोरातिघोर असातावेदनीय कर्मों का उपार्जन कर लिया। इस का बदला त्रिपृष्ट को व्याज समेत चुकाना पड़ा। जब उन का जीव भगवान् महावीर के भव में आगे आया उस के कानों में कीले ठूँसे गये। इस से भगवान् महावीर को वेदना हुई। इस से यही सिद्ध हुआ, कि जीव जैसे जैसे कर्म करता है, उनके भोगों को, चाहे वह फिर कहीं भी जाय, उसे एक न एक दिन अवश्य भोगना ही पड़ता है। वह उन के भोगों से कभी भी बच नहीं सकता। प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से उन के फलों को भोग लेने पर ही, उन से उस का पीछा छूटता है। जैसा कि कहा है:-

"कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि"

अस्तु। इस से यह भी निर्विवाद रूप जाना गया, कि ये कर्म ही जीव के पुनर्जन्म के कारण होते हैं।

एक दिन, इस शैय्यापाल के प्राण-नाश की घटना के कई दिन पीछे, ग्यारहवें तीर्थंकर, श्री श्रेयांसनाथ प्रभु, इस भूमण्डल में इधर उधर विचरण करते हुए, पोतनपुर में पधारे। आप ने वहां देशना की। देशना का सभी के हृदयों पर गहरा और व्यापक असर पड़ा। जिस के परिणाम में, कइयों ने तो दीक्षा ग्रहण कर ली और कइयों ने गृहस्थ धर्म को धारण किया। त्रिपृष्ट वासुदेव ने भी भगवान् के आगमन की चर्चा सुनी। वे भी अपने संगी साथियों को ले कर, देशना सुनने को गये। किन्तु निदान के उदय भाव से वासुदेव, त्याग प्रत्याख्यान नहीं कर सकते हैं। अतः त्रिपृष्ट वासुदेव ने जीवन-भर आमोद-प्रमोद में बिता दिया। आरम्भ समारम्भ भी अनेकों हुए। नाच-रंग और सैर सपाटों की खासी धूम रही।

अन्त में, इन सब कर्मों का फल भी वही हुआ जो होना चाहिए था। मृत्यु पाने पर, भावी भगवान् के जीव का बीसवां गणनीय भव, सातवें नर्क में जाकर हुआ।

अचल-कुमार बलदेव को अपने भाई त्रिपृष्ट का यह वियोग बड़ा ही अखरा। अब उन का मन, न तो राज्य ही को संभालने में लगता और न महलों का वास ही उन्हें सुहाता। अब संसार उन्हें काल-सर्प के समान भयंकर जान पड़ने लगा। वे अपनी अटूट भौतिक सम्पत्ति और राज्य के सुख को भारवान् समझने लगे। एक दिन उन्हें इधर उधर घूमते फिरते श्री श्रेयांसनाथ प्रभु की देशना का स्मरण हो आया। तब तो उन के मन में संसार के प्रति वैराग्य उमड़ आया। वे घर से बाहर निकल पड़े और प्रभु की शरण में आये प्रभु के दर्शन और चरण-वन्दन से, उन के मन का मैल और भी दूर हो गया उनकी वैराग्य की भावना और भी प्रबल होकर जाग पड़ी। इस के बाद, उन्होंने दीक्षा-धारण करने ही में अपने भव-भय का निस्तार देखा। इसी में उन्हें अपना भावी कल्याण दिखाई दिया। तब दीक्षित होने के लिए प्रभु से प्रार्थना करने लगे। प्रभु ने भी उन को योग्य अधिकारी जान दीक्षित किया। दीक्षा पा कर, अचल मुनि ने कड़ा तप करना आरम्भ किया। और अपने घोर तप के प्रभाव से, अन्त में, अष्ट कर्मों का क्षय कर, वे मोक्ष में पधार गये। एक ही बाप की दो सन्तानों में से एक नर्क का अधिकारी बना और दूसरा मोक्ष-धाम को सिधारा। यह सब अपने अपने कर्मों ही के अलग अलग फल हैं।

पोट्टिल चक्रवर्ती

त्रिपृष्ट सातवें नर्क की यातनाओं को जब पूरे रूप से भोग चुके, तब वहां से वे इक्कीसवें भव में जा कर एक केशरी सिंह के रूप में आये। यह भव भी उन के दुष्कर्मों ही का फल था। यहां भी अनेकों प्रकार की नारकीय यातनाओं को उन ने भोगा। इस भव में भी उन के शरीर से कई घोरातिघोर कर्मों का उपार्जन हुआ। यहां की आयु क्षय हो जाने पर, फिर उन्हें पहले नर्क में जा कर जन्म लेना पड़ा। वहां भी कितना ही समय बीत गया। नाना प्रकार की नारकीय यन्त्रणाओं को सहते सहते नाकों दम आ गया। अन्त में एक दिन इन

यन्त्रणाओं का भी अन्त हुआ। यह भावी भगवान् का बाईसवां भव था। यहां की आयु समाप्त कर, अब वे फिर मनुष्य लोक में आये।

उस समय अपर विदेह के अन्तर्गत मूका नाम की एक नगरी थी। वहां के राजा का नाम धनंजय था। उस की स्त्री धारिणी नाम की रानी थी। उस के गर्भ से भावी भगवान् के जीव का तेईसवां भव हुआ। बालक के गर्भ में आते ही, माता को चौदह शुभ स्वप्न दिख पड़े। ज्योतिषियों से इन का फल पूछा गया। उन से मालूम हुआ कि उस के गर्भ में चक्रवर्ती आये हैं। गर्भाधान से ले कर बालक के जन्म तक का समय तब तो बड़े ही आनन्द मंगल में बिताया गया। गर्भ-स्थिति के समय के पूरा हो जाने पर, शुभ समय में बालक का जन्म हुआ। दर असल में बालक बड़ा ही शुभ लक्षणों से युक्त था। माता पिता ने उस का नाम "पोट्टिल" * रक्खा। उस का बालकपन बड़े ही लाड़ चाव में बीता। बालक को कभी अनमना देख कर, सब के मुख का नूर फीका पड़ जाता था। और चारों ओर दौड़-धूप मच जाती थी। फिर उसे हंसते खेलते देख, सब के जी में जी आता। बालक की खिलाई-पिलाई और माता-पिता के खून ने मिल कर, बालक के रूप को और भी चमका दिया था। उन का शरीर बड़ा ही हट्टा-कट्टा और सलोना था। यों कुमारवस्था ही में वे तरुणाई की छबि छीनने लगे। इन्हें सब प्रकार से सयाना देख और समझ, इन के पिता ने राज्य का भार अपने कन्धों से उतार इन के सिर माथे रख दिया। और आप धर्म आराधना करते हुए जीवन के अन्तिम दिनों को शान्ति पूर्वक बिताने लगे। कुछ ही काल में सत्संगति के कारण उन्हें संसार की असारता और अनित्यता का भान हो गया। तब उन ने दीक्षा ग्रहण कर ली। और, आत्म-चिन्ता और उसी की चर्चा में रात-दिन रत रहने लगे। अब राजा की बागडोर पोट्टिल ने अपने हाथ में ली। अपने पराक्रम और पूर्व संचित पुण्य बल से वे चक्रवर्ती सम्राट बने। इसलिए इन्हें (१) चौदह रत्न और (२) नौ निधान भी प्राप्त हुए। वे नीचे के अनुसार थे।

* कई लेखकों ने इसे "प्रियमित्र" लिखा है पर समवायांग सूत्र के अन्तर्गत इसे "पोट्टिल" ही माना गया है

—लेखक

चौदह रत्न

(१) सेनापति--सारी फौज इसी के अधिकार में रहती है।

(२) गृहपति—यह सम्पूर्ण प्रकार के खाद्य पदार्थों को उत्पन्न करने में बड़ा ही प्रवीण होता है। यह इस कला में अगाढ़ पण्डित माना जाता है। यह इस कला में यहां तक पहुंचा हुआ होता है, कि बिना ऋतु ही के कोई पदार्थ या नाज या फल आदि के बीज सुबह बोता और शाम को उस के पके पकाये तैयार फल राजा के यहां पहुँचा देता है। और ताज्जुब तो यह होता है, कि इतनी शीघ्रता होने पर भी, उन के स्वाद, रंग, रूप, आकार, प्रकार, रस और गुण, आदि में तनिक भी अन्तर नहीं पड़ता।

(३) पुरोहित—शांति-पाठ पढ़ने का पेशा इस का मुख्य होता है। साथ ही, यह वैद्यक शास्त्र का अद्वितीय विद्वान्, वैद्यक, डॉक्टरी और चीराफाड़ी के काम में पूर्ण प्रवीण होता है।

(४-५) हाथी और अश्व — ये ऐसे सुन्दर लक्षण वाले होते हैं, कि जिस सेना के साथ ये रहते हैं, उस की हार स्वप्न में भी संभव नहीं होती। फिर, विपक्षी चाहे कितने ही अधिक बलवान और रण कुशल क्यों न होवें।

(६) वार्द्धिकी—यह इंजीनियरिंग विद्या में पहुंचा हुआ होता है। कैसे ही विकट महल, मकान, पुल, सड़कें, आदि बनाना, इस के बांयें हाथ का खेल यह समझता है।

(७) स्त्री-रत्न—यह अपने समय की एक ही स्त्री होती है, जो रूप, गुण, शक्ति, सौन्दर्य, बल, बुद्धि, विवेक आदि में अपने समय की सम्पूर्ण स्त्रियों से चढ़ी-बढ़ी होती है। और ऐसी स्त्री केवल चक्रवर्ती ही को प्राप्त हो सकती है।

(८-९) चक्र-रत्न और खड्ग रत्न } ये दोनों प्रधान अस्त्र होते हैं। चक्रवर्ती में वह इन्हीं दोनों अस्त्रों का अजेय बल होता है, जिस से सारे साम्राज्य पर वह अपनी एक सी धाक बैठाये रहता है।

(१०) छत्र-रत्न—वर्षा, आदि की घोर वृष्टि के समय, यह अपने स्वामी की इच्छा से अनेकों प्राणियों की, जहां वह चाहे रक्षा कर सकता है।

(११) चर्म-रत्न—इस के द्वारा, पानी पर, ज़मीन की भांति निधड़क हो कर चला जा सकता है। और विशेषता यह होती है, कि शरीर पर पानी की एक बूंद भी लगने नहीं पाती।

(१२) दण्ड-रत्न—मार्ग की सम्पूर्ण प्रकार की खराबियों को मिटाना, खड्डों को पूर कर समथर जमीन बनाना, आदि आदि काम इस के होते हैं।

(१३) मणि-रत्न—जब तक यह अनुपम रत्न पास में रहता है, कोई भी बीमारी की आशंका नहीं हो पाती। इस में से किरणें निकलती हैं। घोर से घोर अंधकार में भी इस के पास होने से, मार्ग आसानी से ढूंढा जा सकता है।

(१४) कांगणी-रत्न—जहां भी कहीं इस की ज़रा सी भी रगड़ लग जाती है, वहां प्रकाश फैल जाता है, और यदि इस से कहीं कुछ लिख भी दिया जाय, तो कितने ही अर्से तक इस का लिखा हुआ मिटता नहीं, तथा वे अक्षर दीर्घ काल तक चमकीले बने रहते हैं।

नौ निधान

१—नैसर्प निधान—इस निधान से, कई प्रकार की भिन्न भिन्न बस्तियों को, भिन्न भिन्न स्थलों में, बसाने की विधियों का ज्ञान प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए—बाग़ बगीचे सहित गांवादि बसाने की विधि। शहर, नगर, राज-

धानी, दुर्ग, आदि के स्थापन करने के लिए स्थान ढूंढने की विधि। जल-थल में से हो कर जानेवाले मार्गों समेत बस्तियों के बसाने का विधान। पर्वतों पर गांव कैसे बसाने चाहिए? सेना का पड़ाव कहां डालना चाहिए? जिस से विपत्ती की ओर से किसी भय की आशंका भी न हो और हर समय रसद की प्राप्ति के साथ, जहां रत्ता का भी पूरा पूरा प्रबन्ध, सुभीते के साथ हो सके। बाज़ारों, दूकानों, आदि के बसाने और लगाने की शास्त्रीय विधि। जिस से राज्य को आमदनी भी हो जाय और लोगों को हर प्रकार का सामान भी हर समय, सुभीते के साथ, जगह जगह पर, सस्ते में मिल सके। आदि।

२—पांडुक निधान—इस से, गणित सम्बन्धी विभाग, वस्तुओं की उत्पत्ति, उन के माप-तौल-गिनती, आदि का पूरा पूरा ज्ञान होता है।

३—पिंगल निधान—यह निधान, समस्त स्त्री-पुरुषों, तथा हाथी घोड़ों आदि के भूषण बनाने की विधि को सांगोपांग रूप से सिखाता है।

४—सर्व रत्न-निधान-जवाहरात सम्बन्धी सम्पूर्ण जानकारी, इस निधान से प्राप्त होती है।

५—महा-पद्म-निधान—जितनी भी तरह के पहनने के लिए वस्त्र हैं, वे कैसे बनाये जाते हैं? उन के लिए किन किन यन्त्रों व औज़ारों की आवश्यकता है? कौन वस्त्र शरीर के किस भाग में पहना जाता है? कैसे पहना जाता है? वस्त्रों के रंगने और धोने के विधान क्या हैं? रंग कैसे तैयार किये जाते हैं? वस्त्रों को धोने के लिए जो जो पदार्थ काम आते हैं, वे कैसे तैयार किये जाते हैं? वस्त्रों की घड़ी करने की विधि क्या है? आदि

उपयोगी कलाओं का ज्ञान कराना, इस निधान के अन्तर्गत है।

६—काल-निधान—इस से, काल का ज्ञान होता है। जोतिष शास्त्र की उपयोगिता और जानकारी प्राप्त होती है। कुम्भकार, शिल्पकार, कृषिकार आदि की व्यावसायिक और जीवन चलानेवाली कलाओं की ओर अभिरुचि बढ़ती है और जीवन सुन्दर और समुन्नत बनता है।

७-महा-काल-निधान—लोहा, तांबा, चांदी, सोना आदि रासायनिक विधियों से कैसे बनाये जाते हैं? इन की खदानें कहां होती हैं? उन की खोज कैसे लगाना चाहिए? हीरे, पन्ने, नीलम, पुखराज, माणिक, गोमेद आदि खनिज रत्न बहुतायत से कहां बनते रहते हैं? ये किस किस प्रकार की भूमि में बनते रहते हैं? आदि आदि बातों की विधिवत् जानकारी, इस से हो पाती है।

८—माणवक निधान—इसी से योद्धाओं की योजना करने की कला का बोध होता है। और अस्त्र शस्त्र बनाने की विधियां, युद्ध कौशल, दण्ड-नीति, आदि में मनुष्यों को पारंगत बनाने का काम भी इसी का है।

९—शंख निधान—बाजे कितनी प्रकार के होते हैं? वे कैसे बनाये जाते हैं? शास्त्रीय विधान क्या है? समय के अनुसार उन के सुरों में क्या फेरफार करना, आवश्यक और उचित है? आदि बातों की जानकारी, इस विधान से पूरी पूरी हो सकती है।

पोट्टिल चक्रवर्ती ने ऊपर कहे हुए चौदह रत्न और नवों निधानों की सहायता तथा पूर्व-भवों में संचित पुण्यों की प्रबलता से छहों खण्डों को विजय किया। और उन में अपनी विजय का झंडा रोपा। जो राजा अपने पुरुषार्थ

आदि से पृथ्वी के छहों खण्डों को जीत कर, उन्हें अपने अधिकार में लाता है, वही चक्रवर्ती सम्राट् कहलाने का अधिकारी होता है। इसी प्रकार इन ने भी चक्रवर्ती की पदवी प्राप्त की और न्याय तथा धर्म पूर्वक पृथ्वी का शासन करने लगे।

सम्राट् पोट्टिल को, यों राज करते हुए कुछ वर्ष आनंद-पूर्वक बीत गये। इस के समय में राज्य सधन बना। प्रजा खूब ही फूली फली। विद्या और कलाओं की जगह जगह विशेष उन्नति हुई। हर एक मनुष्य को अपने धर्म कर्म में रत रहने की पूरी पूरी स्वाधीनता और सुविधा थी। प्रजा ने राजा को और राजा ने प्रजा को अपना कुटुम्बी माना। और, समय-असमय, सच्ची सहानुभूति के साथ, एक ने दूसरे के दुख-सुख का बंटवारा किया। इसी बीच, एक दिन मूका नगरी के एक उपवन में धर्मघोष नाम के आचार्य पधारे। शहर के लोगों को आचार्य के आगमन की सूचना मिली। वे उन के दर्शनों को आये। और आचार्य के द्वारा देशना सुन कर, वे अपने भाग्य को बार बार सराहने लगे। सम्राट् के कानों में भी एक दिन यह बात पहुंची। तब तो उन के मन में भी मुनि-दर्शन की लालसा जागी। वे दर्शनों को आये। आज मुनि ने योग्य अधिकारी को पा कर, अपने मार्मिक भाषण में तत्त्व-विचार की गांठें, बड़ी ही सुलभता और सुन्दरता से खोलीं। मुनि के मार्मिक शब्दों ने सम्राट् के अन्तःकरण को वेध लिया। उन्हें संसार की असारता पर ग्लानि हुई। उन्हों ने आज अपने साम्राज्य को तत्त्व-विचार के किनकों से बदल देने का ध्रुव निश्चय किया। दीक्षा लेने के लिए वह छटपटा उठे। भाषण के अन्त में उठ कर मुनि को विधि सहित वन्दना की और घर आये। सम्राट् ने अपने निश्चय के अनुसार, साम्राज्य के सुख से सारा नेह और नाता, बात की बात में, तोड़ डाला। सम्राज्ञी, पुत्र, परिवार के लोगों और बड़े बड़े स्वामि-भक्त राज-नीति के धुरन्धर विद्वानों, आदि ने सम्राट् को अपने बल-भर समझाया। पर उनके दिल में इन बातों के लिए रत्ती-भर भी गुंजाइश नहीं रही थी। फिर सुनते भी तो वे किस की और कैसे? अन्त में, सम्राट् पोट्टिल ने सब के मनाई करते करते भी, अपने पुत्र को अपने हाथों राज-सिंहासन पर बैठा ही दिया। तब वे मुनि के पास चले और दीक्षा के लिए उन के पास जा कर प्रार्थना की। मुनि ने प्रसन्न हो कर सम्राट् को दीक्षित किया! यों तो सम्राट् पोट्टिल सभी विद्याओं और कलाओं में अपना

अच्छा दखल रखते थे। पर दीक्षा ले चुकने पर, धार्मिक विषयों को तत्त्व की दृष्टि से देखना उन्हों ने आरम्भ किया। और थोड़े ही काल में उन विषयों के भी प्रकाण्ड पण्डित वे बन गये।

पोट्टिल मुनि ने अब तप करने को मन में ठानी। उस में भी, अपने समय के साधुओं में वे किसी से कम न उतरे। यों, धार्मिक तत्त्वों पर विचार करते और तप में मग्न रहते हुए अन्त समय पास आ लगा। अन्त में आप ने समाधियुत् संथारा कर, अपने शरीर को त्याग दिया। चौवीसवें भव में, तव भावी भगवान् महाशुक्र नामक स्वर्ग में जा कर जन्मे।

नन्दन मुनि और देव-भव

भावी भगवान् का चौवीसवां भव भी अब पूर्ण होने को आया। और एक दिन वे फिर इसी भरत-क्षेत्र की छत्रा नामक नगरी में आ कर जन्मे। यह भावी भगवान् का पच्चीसवां भव था। उस नगरी के राजा का नाम जितशत्रु था। उस के एक भद्रा नामकी रानी थी। इसी रानी की कोख से नन्दन नामक एक बड़े ही सुन्दर और वीर-कर्मा तथा शान्त-प्रकृति बालक की उत्पत्ति हुई। ये ही भावी भगवान् थे। पूर्व पुण्यों की प्रबलता से बालक का शरीर यों ही रूरा था। फिर राजवंश में लालित पालित होने के कारण उन का असर भी उस पर पड़े बिना न रहा होगा। सारा बालकपन बड़े ही आनन्द और खेल कूद में बीत गया। समय पाकर बालक युवा हुआ। बालक के सयाना होते ही, जितशत्रुने राज्य की लगाम, राजकुमार नन्दन के हाथों सौंपी और आपने दीक्षा ग्रहण कर संयम मार्ग में विचरण करना आरम्भ किया। राज-पद पर प्रतिष्ठित हो, नन्दन राजा ने कई वर्षों तक धर्म और नीति के साथ राज-काज चलाया। अन्त में, संसार की गँदली हवा से अर्थात् यहां की स्वार्थ-परायणता और असारता तथा अनित्यता से, एक दिन राजा नन्दन का मन भी बड़ा ही बेचैन हो उठा। आत्मानुभव प्राप्त कर, निज सत्य रूप को पहचानने की लालसा, उन्हें अपने राज-पद और राज्य को छोड़ देने के लिए, पद पद पर प्रेरणा करने लगी। अन्त में पोट्टिलाचार्य की शरण में जा कर, दीक्षा-धारण करली इस से पहले वे अपने

आधीन की थोड़ी सी प्रजा के रक्षक कहलाते थे। अब मुनि-वृत्ति धारण कर, चराचर मात्र के हित-चिन्तन में उन्हों ने अपने शेष जीवन को लगा दिया। पहले वे औरों पर शासन करते हुए भी, खुद विषयों के गुलाम थे। अब उन्हों ने इन्द्रियों पर एकाधिपत्य प्राप्त करने के लिए, उग्र तप की व्यवस्था। की पहले वे एक राजा बन कर के भी, बात बात में पराधीन थे। सारे कामों के लिए उन्हें अपने नौकरों का मुँह ताकना पड़ता था। पर आज, वे एक साधु हो कर के भी प्रत्येक बात में स्वाधीन है। राजा हो कर के पहले वे बड़े ही असंयत मनवाले थे। अब उन की बात बात में संयम-शीलता का नज़ारा था। जैसे जैसे समय बीतता गया, तत्त्व-ज्ञान की पूँजी, वे इकट्ठी करते ही चले गये। अन्त में एक दिन वे तत्त्व-ज्ञान की पूंजी से काफी सम्पत्ति-शाली बन गये। सच है, जब किसी जीव के उन्नतावस्था में जाने के दिन निकट आते हैं, आपों आप उन की रुचि, सत्कर्मों और सत्संगति की ओर झुक जाती है। विवेक और तत्त्व-विचार के झाड़ू से, वे अपने अन्तःकरण के कामादि विकारों को, ज़ोरों से झाड़ बुहार कर बाहर निकाल फेंकते हैं। अहिंसा, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य, अकंचन आदि सद्गुणों को वे अपना एक मात्र साथी चुनते और बनाते हैं। इन साथियों के द्वारा, वे भावी कर्म-बन्धनों से बाल बाल बचे रहते हैं। ध्यान में एकाग्रता और उज्जवलता आ जाती है। अन्तःकरण निर्मल, निर्भय और निर्द्वन्द्व बन जाता है। विषयों पर अनूठी विजय प्राप्त होती है। भावी कर्मों की उत्पत्ति के जितने भी कारण हैं, उन सब का एकान्त शमन हो जाता है। शुद्ध संयम-वृत्ति के पालन करने में प्रमाद कभी उन के मार्ग में रोड़े नहीं अटकाता। यदि अस्थिर मन से देखा जाय, तो शुद्ध संयम का मार्ग बड़ा ही कँटीला और पेचीदा जान पड़ता है। कष्टों का पहाड़ प्रतीत होता है। पर संयम का वही राज मार्ग, अभ्यास के द्वारा सीधे से सीधा बन जाता है। जिस ने एक बार भी इस राज-मार्ग में चल कर देख लिया है, उसे इस के बिना जीवन कँटीला और थोथा जान पड़ता है। अस्तु। नन्दन मुनि भी इसी राज-मार्ग से चलते हुए अपने जीवन की घड़ियां बिताने लगे। आपदा, दुख, और कष्ट, अब नन्दन मुनि के मुक्ति-पथ के पथ-प्रदर्शक बने हैं। उन का ये सदा एक सन्मित्र के समान स्वागत और सत्कार करते रहते हैं। नाम भी आप का नन्दन (आनन्द) है। फिर, परिषहों के सहने और आगमन में नाखुशी और निन्दा को प्रकट करने की गुंजाइश ही कहां है?

अपने पूर्व पुण्यों की प्रगाढ़ कमाई से, कोई मनुष्य तीर्थंकर पद को प्राप्त कर सकता है। इस पद पर किसी जाति या कुल या भूमि विशेष ही के महा पुरुष का मौरूसी हक़ नहीं है। और न कभी रहेगा ही। नीचे दिये हुए बीस प्रकार के साधनों में से किसी एक को भी अपना लक्ष्य बना कर, कोई भी मानव शरीरधारी, तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन कर सकता है। फिर, चाहे वह गृहस्थी हो या साधु। स्त्री हो या शूद्र हो। प्रधानता यहां तो कर्मों की है। वर्ण, धर्म, देश, जाति, कुल, या नारी तथा नर की कोई विशेषता नहीं है। वे बीस प्रकार के साधन यों हैं।

१–वे अर्हत प्रभु, जिन्हों ने सम्पूर्ण विषय-विकारों पर आत्मिक विजय प्राप्त कर ली है; जो प्राणी मात्र को अपनी ही आत्मा के समान गिनते हैं; जिन्हों ने क्रोधादि, अज्ञान और जन्म-मरण के कारणों को समूल नाश कर, सम्पूर्ण और शुद्ध आत्मिक ज्ञान की प्राप्ति कर ली है; जो सदा अपने केवल ज्ञान, केवल दर्शन आदि गुणों से युत् हो कर भूमण्डल पर विचरते हैं; और जो सदा हर्ष और विषाद से परे रहते हैं; उन के वचनों को श्रवण करना; तथा उन में श्रद्धा रखना, मन से, वचन से और काया से उन की एकान्त सेवा करना; वचनों द्वारा उन की स्तुति करना; आदि बातों को वर्ताव में लाकर मनुष्य, तीर्थंकर नाम-कर्म को उपार्जन कर सकता है।

२–जिसे शुद्ध और सम्पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो गई है, वह आत्मा शरीर के छूट जाने पर मुक्ति को पहुंच जाती है। आत्मा की ऐसी अवस्था को सिद्ध-पद' के नाम से सम्बोधित करते हैं। उस सिद्ध पद के स्वरूप का मनुष्य को बार बार चिन्तवन करना चाहिए। उसे विचारते रहना चाहिए, कि इन्हों ने किन किन अमोघ और अचूक उपायों का अवलम्बन कर के सिद्ध-पद को प्राप्त किया है। ऐसे विचारों के द्वारा, उन के अनुरूप ध्यान में, अपने मन को लगाने का, बार बार प्रबोध और प्रयत्न करते रहना चाहिए। उन के गुणों में अपने मन को रमाना और उन्हें ग्रहण कर सकने का निरन्तर साधन करते रहना चाहिए। वाणी को उन के गुण-कीर्तन से, तथा शरीर को उन की वंदना से पवित्र और प्रकाशमय बनाते रहना चाहिए। तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन करने का यह दूसरा साधन कहा गया है।

३—प्रवचनपद—यह सामासिक शब्द जैन-दर्शन और द्वादशांगी आदि का सूचक है। इस के प्रति निश्छल और निष्काम प्रेम का होना, यह भी तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन करने का एक बड़ा ही सरल साधन है।

४—आचार्यपद—धार्मिक और लोक—हितकारक तथा यथार्थ कामों को जो स्वयं करता हो; एवं दूसरों को भी, उसी प्रकार धार्मिक, लोक हितकारक तथा यथार्थ बनाने के लिए जो मन-वचन-काय से दिन-रात लगा हुआ हो; जो दया-मयी एवं सत्य धर्म का प्रचार और प्रसार करने में सदा चिंताशील रहता हो; जो लोगों को प्रबोधित कर उन्हें आत्मानुभव कराने के रास्ते ले जा रहा हो; और अपने आत्म-स्वरूप के ध्यान में जिन का मन एकांत रूप से रमण कर रहा हो; ऐसे आदर्श आचार्य की सेवा-भक्ति करते रहने से, तथा उन्हें वंदन-नमन करने से तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन सहज ही में हो जाता है।

५—स्थविर-पद—जो बीस वर्ष के दीक्षित हो चुके हों, स्थानाङ्ग और समवायाङ्गजी के रहस्य को जानते हों या अवस्था में साठ वर्ष के हों उन्हें स्थविर कहते हैं। ऐसे स्थविर मुनि-राजों की सेवा-भक्ति तथा वंदन और गुण कीर्तन करने से, तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन हो सकता है।

६—उपाध्यायपद—जो सदैव श्रद्धा के साथ शुद्ध चारित्र का पालन करते हैं; जो केवल एक मात्र उपकार की दृष्टि से संघ का ज्ञान अर्थात् सूत्रों का अर्थ बतला देने वाले हैं; एक मूर्ख से मूर्ख शिष्य को भी योग्य बना देने वाले हैं; और जो स्वाध्याय एवं ध्यान आदि में अपने मन को आठों पहर रमाये रखते हैं; ऐसे उपकारी उपाध्याय की परि-उपासना तथा वंदन, आदि करने से भी, तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन भली भांति हो सकता है।

७—साधु-पद-जो सम्यक्-ज्ञान-दर्शन, एवं चारित्र रूप मोक्ष-मार्ग का नित प्रति साधन करते रहते हैं; पांच महाव्रतों को जो नियम पूर्वक पालते हैं; जो रात्रि भोजन का परित्याग कर देते हैं; जो साधुओं के सत्ताईस गुणों से सुशोभित हैं; करण-सत्तरी और चरण-सत्तरी के गुणों को प्राप्त करने के लिए जो सदा प्रयत्न शील रहते हैं; मुनि-धर्म जिन के रग रग में और नस नस में पहुंच चुका है; ऐसे साधु, मुनि, ऋषि, अनगार की सेवा—शुश्रूषा आदर—भक्ति—भाव पूर्वक करते रहने से भी, तीर्थंकर नाम-कर्म उपार्जन किया जा सकता है।

८–ज्ञान-पद—तीर्थंकर प्रकृति को उपार्जन करने का आठवां साधन, जैनागमों के तत्त्वों का ध्यान-पूर्वक और श्रद्धा के साथ पठन-पाठन करना एवं ज्ञान तथा ज्ञानी की हृदय से सेवा भक्ति करना, माना गया है।

९–नौवां साधन 'दर्शन-पद' के नाम से विख्यात है। सर्वज्ञ-प्रणीत जीव अजीवादि नौ तत्त्वों, तथा निर्दोष देव, गुरु एवं धर्म के प्रति सच्ची श्रद्धा रखना 'सम्यक्त्व' कहलाता है। देव वे ही श्रद्धा के पात्र हैं, जो अठारह प्रकार के दोषों से रहित हों, तथा जो वीत-राग हों। इसी प्रकार से गुरु भी उन्हीं को मानना चाहिए, जो पंच महाव्रतों को सम्यक् रूप से पालते हों। और जिनाज्ञा के अनुकूल अपने जीवन और जन्म को बीताते हों। वीतराग-प्रणीत दयामयी धर्म को मान्य करना; और जीवन के प्रत्येक कामों में उसी आदर्श धर्म की छाया को देखना; तथा सम्यक्त्व के सड़सठ भेदों का स्वरूप जान कर, मिथ्यात्व का परित्याग करना; यही सच्चा सम्यक्त्व है। बस, इसी सम्यक्त्व की शरण जाना और आराधना करते रहना भी, तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन करना है।

१०–विनय-पद—अर्हंत, उपाध्याय, एवं साधु–सन्तों के साथ, विनम्रता-पूर्वक बर्ताव करना तथा सदा इन के प्रति नम्रता धारण किये रहना, तीर्थंकर नाम-कर्म के उपार्जन का दसवां साधन है।

११–आवश्यक-पद—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रति-क्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान इन छह आवश्यकों को श्रद्धा और विश्वास-पूर्वक करते रहने से भी, तीर्थंकर नाम-कर्म की प्राप्ति हो सकती है।

१२–शील-पद—चाहे कोई मुनि हो, या गृहस्थ, मनसा-वाचा-कायसा ब्रह्मचर्य व्रत को पालने से भी तीर्थंकर नाम–कर्म की प्राप्ति सरलता-पूर्वक उन्हें हो सकती है।

१३ वैराग्य–पद—तेरहवें साधन के अनुसार, विषय-वासनाओं से मन को सदा दूर और अलिप्त रखने; आर्त तथा रौद्र ध्यान कभी न करने, एवं धर्म ध्यान का चिन्तवन करते रहने से, तीर्थंकर नाम-कर्म की उपर्जना हो जाती है।

१४–तप–पद—चौदहवें साधन के अनुसार, नीचे लिखी बारह प्रकार की तपस्याओं के करते रहने से भी तीर्थंकर नाम-कर्म की उपार्जना होती है। ये बारह प्रकार के तप-(१) बाह्य तप और (२) आभ्यन्तरिक तप, इन दो मोटे मोटे भागों में बांटे गये हैं। बाह्य तप छः प्रकार के माने गये हैं। जैसे–(१)

अनशन—इस में चारों प्रकार के अहारों को ग्रहण करने का त्याग करना पड़ता है (२) ऊनोदरी-इस में अपने मामूली आहार से कुछ कम खाया जाता है। (३) वृत्ति संक्षेप—इस के अनुसार, आहार—पानी के लिए केवल नियमित कुछ ही घरों में जा कर याचना की जाती है। फिर चाहे वह आवश्यकता के अनुसार मिले या न मिले। (४) रस—त्याग—दूध, दही, मिठाइयों, आदि का परित्याग। (५) काय—क्लेश—गोदुहासन आदि आसन लगाना तथा लोच करना आदि। और (६) प्रति—संलीनता-इन्द्रियों पर अपना पूरा पूरा अधिकार और शासन रखना, तथा उपकरणादि सामान जितना भी हो कम रखना। आभ्यन्तरिक तप भी छः प्रकार के होते हैं। जैसे-(१) प्रायश्चित्त-अपने से कोई भूल चूक हो जाने पर उस की आलोचना करलेना। (२) विनय—अर्हत आचार्य्य, उपाध्याय साधु, आदि के साथ विनम्रता का बर्ताव रखना। (३) वयोवृद्ध, स्थविर, तपस्वी बीमार, आदि की सेवा—शुश्रूषा करना। (४) स्वाध्याय—सूत्रों का पठन पाठन करना। (५) ध्यान-धर्म-ध्यान, एवं शुक्ल—ध्यान का सतत चिन्तवन करते रहना और (६) कायोत्सर्ग शरीर की ममता का त्याग करना या शारीरिक क्रिया का त्याग करना।

१५—सुपात्र-दान—इस के दो भेद कर दिये हैं। पहला भेद, अभय—दान का है। इस के अनुसार, जो जीव सातों प्रकार के भयों में से किसी के भी द्वारा घबराया हुआ होता है, उस की रक्षा करना पड़ती है। दूसरे में सुपात्र दान की व्यवस्था आती है। जिस के अनुसार, पंच महाव्रतधारी और अनुव्रतधारी श्रावक को शुद्ध एवं निर्दोष आहार पानी देने का विधान बतलाया गया है। इस प्रकार के सुपात्र दान से भी, तीर्थंकर नाम कर्म की उपार्जना हो सकती है।

१६—समाधि-पद—चतुर्विध संघ-साधु-साध्वी-श्रावक और श्राविकाओं-की यथायोग्य सेवा-भक्ति करना; और क्रोध उत्पन्न करनेवाले, चाहे जैसे इष्ट वा अनिष्ट कारणों के आ मिलने पर भी, सदा क्षमा ही धारण किये रहना; इस से भी तीर्थंकर नाम-कर्म उपार्जन होता है।

१७—गुरु-पद—गुरु, रोगी, तपस्वी, और नव-दीक्षित साधु, आदि की ग्लानि और असूया रहित होकर, श्रद्धा के साथ सेवा-भक्ति करना, तीर्थंकर-नाम कर्म उपार्जन करने का सत्रहवां साधन कहा गया है।

१८–अभिनव ज्ञान पद—नित्य नवीन अपूर्व ज्ञान का मनन करते रहने से तीर्थंकर-नाम-कर्म की उपार्जना हो जाती है।

१९–जिनेश्वर वाणी-पद—जिन-प्रणीत द्वादशांगी वाणी का बहुमान करना और उस के ऊपर यथार्थ श्रद्धा रखना; तथा जीवन को उस के अनुकूल बनाने की चेष्टा करते रहना; यह तीर्थंकर-नाम-कर्म उपार्जन करने का उन्नीसवां साधन माना गया है।

और २० जिन-पथ-पद—तीर्थंकर-नाम-कर्म की उपार्जना करने का यह अन्तिम और बीसवां साधन है। इस के अनुसार, वीतराग प्रणीत धर्म की तन-मन-धन से उन्नति करने के लिए, प्रत्येक जिन–शासन के आश्रित व्यक्ति को, प्राण-पण से चेष्टा करनी चाहिए।

इन उपर्युक्त साधनों में से, किसी भी साधन के साधने में और उस के अनुसार अपने जीवन को बनाने से, मनुष्य भविष्यत् में तीर्थंकर बन सकता है। अस्तु।

नन्दन-मुनि ने इन्हीं ऊपर गिनाये हुए बीस कारणों (साधनों) में से कई साधनों को अपने जीवन में साध लिया। और उन्हों ने इसी जन्म में, सुकृतों की इतनी सामग्री इकट्ठी कर ली, कि वे आगे के किसी निकट भव ही में तीर्थंकर पद से भूषित हो सकें। नंदनमुनि का अन्तिम समय बड़ी ही कड़ी तपस्या में बीता। पूरे साठ दिन का अनशन व्रत किया। अन्त में दशवें स्वर्ग में जा कर इस बार देवता हुए। वहां पुष्पोत्तर नामक विस्तृत विमान की उपपाद शैय्या में, भावी भगवान् का यह गणनीय छब्बीसवां भव हुआ। अन्तर्मुहूर्त्त ही में वे एक युवा अवस्था सम्पन्न व्यक्ति के समान हो गये। पश्चात्, अपने ऊपर के ओढ़ाये हुए वस्त्रों को निज हाथों से दूर कर, शैय्या पर बैठ गये। अपने आस-पास की सम्पूर्ण सामग्रियों को तब उन्होंने देखा। उन्हें देखते ही बड़ा आश्चय हुआ। अन्त में उन्होंने अपने अवधि-ज्ञान के बल से, यह सब अपने धर्म ही का प्रभाव जाना। इस के बाद, वहां वे सब के सब देव इकट्ठे हो कर उन के पास आये, जो उन के सेवक थे। उन्हों ने पास आ कर उन को नमन किया और पश्चात् हाथ जोड़ कर यों कहने लगे—"हे स्वामी! हे जगत् को आनन्द देनेवाले! हे जगत् का उपकार करनेवाले! आप की सदा जय हो! आप जयवन्त बनें! सुख

और सुयश आप के चिर-साथी होवें। आप हमारे स्वामी हो। रक्षक हो। और यशस्वी हो। आप की जय हो! जय हो! हम लोग आप के आज्ञाकारी देव हैं।" वे देव-गण इस प्रकार उन की स्तुति कर चुकने के पश्चात्, उन की सेवा में जुट पड़े। यों एक दिन, दश दिन, सौ दिन, एक वर्ष, दश वर्ष, और सौ वर्ष बीतते बीतते, बीस सागरोपम की, आयु बीत गई। इतने लम्बे समय तक, वे, इस स्वर्ग के अतीव सुन्दर भोगों का भोग करते रहे। पाठक पूछेंगे, कि यह पल्योपम, व सागरोपम, आदि आदि का परिमाण क्या है? प्रसंगवश, हम यहां इन का भी कुछ जिक्र किये देते हैं।

मानों एक कुआ बनाया गया है। उसकी लम्बाई चौड़ाई व गहराई क्रमशः चार, चार और चार कोस की है। उस में ७ दिन के नव जात शिशु के बाल शिखरबंध भरे जाय, जो अंजन की भांति इतने बारीक हो कि अंजन करने से पीड़ा नहीं होती। फिर सौ सौ वर्ष बीतने पर उस में से एक एक टुकड़ा निकाला जाय। यों जितने समय में वह सारा कुआ खाली हो जाय, उतने समय को एक पल्योपम कहते हैं। फिर ऐसे ही दश क्रोड़ा-क्रोड़ी [दश क्रोड़-को दश क्रोड़ से गुणा करने पर जो गुणन-फल आवे उसको दश क्रोड़ा क्रोड़ी जानों] कुओं के खाली होने में जितना समय लगे, उसको एक सागरोपम कहते हैं। इस प्रकार का प्रयास आज तक न तो किसी ने किया है, और न भविष्य ही में कोई कर सकता है। किन्तु सर्वज्ञ भगवान् ने पल्योपम, सागरोपम, आदि काल-मानों का साधारणतः बोध कराने के इरादे से ही सांसारिक जीवों के लिए ऐसी उपमा से काम लिया है। अन्यथा उन जीवों के लिए, ऐसे काल-मानों की अवधि का आँका जाना बड़ा कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव भी होता। अस्तु।

देव-भव का आयुष्य पूर्ण कर भावी भगवान् तब फिर, इस नर-लोक में आये। इस बार भावी भगवान् के जीव का यह अन्तिम और सत्ताईसवां भव था।

प्रकरण-छठा

सत्ताईसवें गणनीय भव में भावी भगवान् महावीर और उनका जन्म

भगवान् महावीर की छब्बीसवें भव में बीस सागरोपम की आयु थी। जो भी समय की यह बड़ी ही लम्बी नाप है। पर एक न एक दिन, इस का भी अन्त हुआ ही। काल की गति और शक्ति के आगे, इस काल-माप की तो कोई गिनती ही नहीं है। क्षण क्षण बीतता ही जा रहा है। यह अनादि काल से ऐसा ही चला आ रहा है। और अनंत काल तक आगे भी इसका क्रम इसी प्रकार जारी रहेगा। यों, इस कराल काल ने न जाने कितने ही वर्ष, युग, आरे, पल्योपम और सागरोपम के समय का पाचन कर डाला है। बूंद बूंद कर के जैसे बड़े बड़े महासागरों की उत्पत्ति हो जाती है, ठीक उसी प्रकार क्षण क्षण के बीतते रहने पर, सागरोपम आदि का समय भी पूरा हो जाता है। जिस प्रकार, नदियों व नालों के प्रबल वेगों के द्वारा, बड़े बड़े विशाल और अति ही ऊँचे पहाड़, जो किसी दिन पृथ्वी पर अपना सिर ऊँचा किये खड़े रहते हैं। धीरे धीरे रज-कण के रूप में बदल कर, समुद्रों और महा-सागरों की तलहटी में जा कर सदा के लिए सो जाते हैं, वैसे ही पल पल करके पल्योपम और सागरोपम व इस से भी अधिक लम्बा कोई समय बीता और आज भी बीतता ही चला जा रहा है। समय की ऐसी विकराल गति के आगे बीस सागरोपम की अवधि का व्यतीत होना कोई मोटी और अचरजभरी बात नहीं है। अब हम फिरसे मुख्य विषय की ओर आते हैं।

धार्मिक परिस्थिति और अंध विश्वास

भगवान् महावीर के जन्म समय में इस भरत क्षेत्र की धार्मिक-स्थिति बड़ी ही नाज़ुक हो चुकी थी। धर्म के नाम पर लोग अधर्म में रात दिन रत रहते थे। पशु-यज्ञ अपनी पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। मूक और निरपराध पशुओं का देश की दशों दिशाओं में, स्वर्ग-प्राप्ति की कामना में, बलिदान दिया जा रहा था। प्रति दिन हज़ारों पशुओं के सिर, धड़ से अलग कर दिये जाते थे। और उन सिरों ही की आहुतियां लगती थीं। कहीं कहीं नर-बली की अन्धस्वार्थ और पाप-पूर्ण प्रथा का भी ताण्डव-नृत्य देश में देख पड़ने लगा था। लोग अपने भौतिक स्वार्थ की पूर्ति करने में, अध्यात्मिक आदर्श त्याग का सर्वथा त्याग कर चुके थे। पहले संयम, सत्य का उपदेश, और सादगी के वे रक्षक माने जाते थे। अब उनके संयम और सादगी का स्थान, उनके बढ़े हुए सांसारिक भोग विलास और उनकी दुष्कामनाओं ने हथिया लिया था। और उनके सत्य के उपदेश ने स्वच्छन्दता और स्वार्थ का जामा पहन लिया था।

ज्ञान की अब कोई चर्चा भी नहीं करता था। चारों ओर समाज में दुष्कर्म की खासी धूम मच गयी थी। और दिनों दिन वह अधिकाधिक ज़ोर पकड़ती जा रही थी। छल कपट और बाह्याडम्बर ने भी समाज में पैर पसारा कर लिया था। अज्ञानान्धकार के कारण, देश के सभी भागों में दुख दर्द और रोग तथा शोकों की बाढ़सी आ गई थी। मनुष्य समाज सचमुच में इस समय बड़े ही संकट में था। जहां भी जाओ, और जिधर भी देखो, सभी जगह के वायुमण्डल में मनुष्य समाज के सिसकने और कराहने की आर्त्त आवाज गूंजती सुनाई पड़ती थी। कोई भी बड़भागी इस सिसक से खाली न था। फिर, इस मनोवेदना को कोई कहीं जा कर प्रकट करने की इच्छा भी करता, तो किस के पास और कहां जा कर करता? जो अहिंसा और भूत–दया के सोलह आना उपासक तथा सेवक थे, वे ही मनुष्यता तथा मर्दानगी की डींग मारने वाले व्यक्ति, इस युग में हिंसा के कट्टर हिमायती बन गये थे। समाज का आत्मिक जीवन आज नष्ट भ्रष्ट हो चुका था। तप का तेज तो कहीं ढूंढे भी न मिलता। लोग अध्यात्म-वाद को भूल चुके थे और रोज बरोज भूलते जा रहे थे। बदले में भौतिक

सुख और सम्पत्ति की आराधना की सब ओर धूम थी। समाज जिस भयंकर परिस्थिति का दर्शन और अनुभव आज कर रहा था, उसे उस से छुटकारा दिलाने में इन सभी मत मतान्तरों की शक्ति और तदबीर थोथी और शक्ति हीन थी। समाज को उस काल जो सब से अधिक आवश्यकता थी, वह सच्ची सहानुभूति, निःस्वार्थ प्रेम, और प्राणी मात्र के प्रति वास्तविक दया की थी। चारों ओर मोह, अन्याय, अत्याचार और कृतघ्नता की भीषण आगी धधक रही थी। जनता जिस की आँच में तपी जाती थी। अपने और पराये की पहचान केवल स्वार्थ की पूर्ति में होती थी। ऐसे विकट अवसर में, सभी की आँखे ऐसे महा पुरुष के आगमन की प्रतीक्षा में अटक रही थी, जो संसार की विषमता को दूर करे। घर घर में शान्ति का संदेश पहुँचावे। लोगों की नस नस में सत्य का संचार कर दें। और इस सब से परे उस काल की आत्म-विभूति से विलग हुई जनता को जो आत्मानुभव करा सके। आत्म कल्याण का सुलभ से सुलभ मार्ग भी दिखा सकें।

इस अन्तवन्त संसार में अन्त, एक न एक दिन सभी का होता है। इस दृश्यमान् जगत् में, जितना भी कुछ दिखाई पड़ता है, अपने जन्म के साथ ही अपने नाश को लाये हुए हैं। तब तो एक दिन, जगत् की ऊपर कही गयी परिस्थिति के परिवर्तन होने का समय भी पास आया। जनता के भाग्यों ने पलटा खाया। अन्याय और अत्याचारों के अन्त होने की अवधि भी निकट आई। देश के सुदिन और सौभाग्य के उदय होने से एक दिव्य विभूति यहां आई। वही भगवान् महावीर थे। पहले इन्हों ने समय और परिस्थिति का पूर्ण अध्ययन और अनुभव किया। फिर अपने अनुपम और आदर्श त्याग, तथा जगत् के जीव मात्र की सेवा के सिद्धान्तों पर, उन्होंने अपने अतुलित राजसी वैभव, परम सुन्दरी तथा सर्व गुण सम्पन्न कामिनी और यशस्वी राज्य को बात की बात में ठुकरा दिया। इस के बाद, आरत और गारत भारतवर्ष को, तथा विश्वमात्र के जीवों को उन्होंने अपना दिव्य-संदेश यों दिया। उन्होंने जन साधारण से लेकर बड़े से बड़े व्यक्ति तक को (१) अहिंसा (२) सत्य (३) दत्त (४) ब्रह्मचर्य (५) अकंचन; इन पंच महाव्रतों और अणुव्रतों के पालने और उन के अनुसार जीवन को बनाने का उपदेश दिया। वे सब के साथ एकसा मिलते भेंटते थे। कोई भी उनकी निगाहों में बड़ा तथा छोटा नहीं था।

ब्राह्मण और शूद्र, अमीर और गरीब, ऊँच और नीच सभी के प्रति उन का बन्धुत्व और समान स्नेह था। बिना रत्ति भर भी किसी भेद भाव के, उन *की मुक्ति का दर्वाज़ा सभी के लिए, सब काल में और सर्वत्र खुला हुआ था।* बुद्धदेव भी इन्हीं के समकालीन थे। इन्हों ने भी याज्ञिक हिंसा के विरोध में पूर्ण सहयोग दिया था। भगवान् महावीर के दिव्य उपदेशों से लोगों में एक नये और सुन्दर जीवन का संचार हुआ। उन्हों ने पंच महव्रतों की उपासना और आरधना करना आरम्भ की। भौतिक यज्ञों की वेदियां, जो इस महान् विभूति के जन्म काल के प्रथम सदा रक्त-रञ्जित रहती थीं, और जिन में असंख्य निरपराध जीवों के शरीर तथा प्राणों की आहुतियाँ लग चुकी थीं, कोरी कोरी रहने लगीं। लोगों ने आत्मिक यज्ञ को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया समाज की बिखरी हुई शक्तियां, पुनः एकता और प्रेम के सूत्र में बंधीं। तत्कालीन दुष्कर्म और दुर्गुणों की हस्ती संसार से मिटी। वैर, द्वेष का बन्धन टूटा। लोग संयम के साथ पंच महाव्रतों के साथी बने। अहिंसा के पैर उखड़ पड़े। लोगों ने संसारी जीवन में आत्म—योग का शुभ संयोग देखा। परमार्थ ही में स्वार्थ का निवास और साधन समझा जाने लगा। भाव कहने का यह है, कि इस महान् शक्ति का प्रादुर्भाव जो भी देश की ऐसी विकट और संकट-भरी अवस्था में हुआ था, तब भी भगवान् महावीर के जन्म काल के पीछे, आगे चल कर, इन की महान् सेवाओं और आदर्श त्याग से मंत्र-मुग्ध हो कर, जनता ने इन के उपदेश का अनुकरण किया। और संसार की उस संकट भरी अवस्था को एक दम सुख और शान्ति के रूप में बदल दिया।

प्रसंगवश, हम एक गम्भीर और महत्व पूर्ण बात का ज़िक्र और यहां किये देते हैं। भगवान् के जीव के पूर्व छब्बीस भवों का ज़िक्र शास्त्र-सम्मत, हम ने ऊपर किया। इस पर पाठक सहज ही में हमें यह पूछ सकते हैं, कि "इन भवों के वर्णन करने की यहां ऐसी आवश्यकता ही कौनसी थी, जिस से व्यर्थ ही में हमारा समय भी लिया गया और पुस्तक का कलेवर भी बढ़ गया"। इस के उत्तर में लेखक का आप से यही कहना है, कि ऐसे अनावश्यक एक वाक्य का भी उल्लेख इस में कहीं नहीं किया गया है। जो आप के समय को व्यर्थ खाने और पुस्तक के कलेवर को बढ़ाने में सहायक हो। लेखक विश्वास के साथ कहता है, कि यदि उन पूर्व भवों का वर्णन किसी ने मनन-पूर्वक पढ़ा, तो अवश्यमेव उसे कई अमूल्य शिक्षाएं प्राप्त

होंगी। लेखक तो यहां तक कहने के लिए आगे कदम बढ़ाता है, कि बहुत सम्भव है, उन के बार बार ध्यान-पूर्वक पढ़ते रहने से, पाठक के जीवन की दिशा ही बदल जाय। पाठक उन से, जान सकते हैं, कि मान और मानी की आगे चल कर कैसी दशा होती है? भगवान् के जीव ने जब मरीचि के भव में मान का साथ किया था, तब उन का कैसा भयंकर कुफल आगे के भव में उन्हें मिला। एक बार मान का संग करने से, उन्हें कितने जन्मों तक असह्य वेदनाएं सहनी पड़ीं। कहां कहां जा कर जन्म लेने पड़े। मान लिया, कि कभी कभी उन का जन्म कुलीन घरानों में भी हुआ। तब भी क्या, इस से जन्म-मरण, तथा आधि व्याधि के दुख उन के कुछ कम हो गये, या मूल ही में उन्हें न हुए? सो बात तो है भी नहीं। उन का अवशेष भुगतान उन्हें अपने सत्ताइसवें भव में कर लेना पड़ा। अस्तु। बिना अपने कृत कर्मों के पूरा पूरा भुगतान किये, न तो किसी को केवल ज्ञान ही की प्राप्ति हो सकती है और न मुक्ति ही उस की कभी हुई और होती है। बाहुबली जैसे उग्र तपस्वी भी, जब तक अधम मान का परित्याग न कर सके, तब तक केवल ज्ञान उन से कोसों दूर रहा। परन्तु मान का मान मसोसते ही केवल ज्ञान उन्हें उसी स्थान पर उत्पन्न हुआ इस प्रकार के एक नहीं अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। कहने का आशय केवल यही है, कि मान करना बुरा है। अतः मनुष्यों को इस से सदा सर्वदा बचते रहना चाहिए। अन्यथा, मानी को अपने मान का कुफल अवश्य भोगना पड़ता है।

यहां तक तो मान से होने वाले कुफल का कथन किया गया। अब आगे चल कर, इन्द्रिय-निग्रह, और तपस्या के फलको, जो निदान के रूप में बदल दिया जाता है, भी देखना चाहिए। भावी भगवान् के जीव ने अपने पूर्व भवों में समय असमय यथा-सम्भव इन्द्रिय-निग्रह किया था। उग्र तपस्याएं कर के शरीर और मन को संयम की तराजू पर तौला था। अर्थात् आदर्श संयम-शीलता के द्वारा मन और शरीर को अपने वश में किया था पर एक दिन उनने क्रोध के आवेश में आ कर, कष्ट-पूर्वक कमाई हुई अपनी उस कालतक की सारी कमाई को 'निदान' के रूप में बदल दिया। उन का यह सौदा उसी व्यापारी की भांति हुआ, जो अपने बहु-मूल्य मणि माणिक और हीरों को, कौड़ियों और कांच के टुकड़ों से बदल लेता है। भगवान् के जीव को भी अपने उन के निदान के बदले में उस समय मोक्ष में जाने के कारण-भूत, केवल ज्ञान के बदले में भरत क्षेत्र के तीन

खण्डों का राज्य मिल गया। पर उस राज्य का अन्तिम परिणाम, मृत्यु के बाद, उन्हें अनेकों प्रकार की नारकीय यातनाओं के रूप में, जो सहना पड़ा था, वह भी वर्णनातीत था। यदि उन ने निदान कभी किया न होता, तो न तो उन्हें त्रिपृष्ट के नाम से, भव ही में आ कर अन्याय और अत्याचार करने का मौका मिलता और न उन्हें अधमाधम नारकीय यातनाएं ही सहन करना पड़तीं।

जैसा कि हम ऊपर बता आये हैं, कि तपस्या, आदि कोई भी धार्मिक करणी को कर लेने के पश्चात्, उस के फल-स्वरूप, राजा, या बादशाह, या चक्रवर्ती, या सेठ आदि के यहां जन्म-ग्रहण करने की जो इच्छा पैदा होती है, या की जाती है, उसी का नाम 'निदान' है। तब क्या, पाठको! निदान करने कराने का निश्चय अब भी आप का मन न छोड़ेगा? क्या, आप ने यह नहीं जान पाया, कि जन्म-मरण की 'यह निदान' ही गहरी जड़ है। यह सदा हरी रहती है। अपने अनुकूल भोगों का वातावरण पा कर, निदान का झाड़ खूब ही फलता फूलता है। वह निदान ही है, जिस से तपस्या और धार्मिक क्रियाओं से मिलने वाला आत्म-कल्याण का अनुपम और नित्य आनंद, नश्वर भौतिक सुखों और भव-रोगों में बदल दिया जाता है। वर्षों और जन्म जन्मान्तरों की तपस्या, तथा धर्माचरण, इने-गिने क्षणों में तहस-नहस हो जाती है। सारी सोने की खदान ना-समझी से राख कर दी जाती है। त्रिपृष्ट की भी ऐसी ही व्यवस्था हुई थी। देखिए, उन ने शैय्यापाल के ज़रा से अपराध पर, कितना क्रोध प्रकट किया था। उन ने अपनी आत्मा के रूप को भूला कर, बेचारे उस शैय्यापाल के कानों में गर्म गर्म सीसा उड़ेलवा दिया था। पाठक कहेंगे, कि वह राजा था। और राजाज्ञा के भंग करने पर वह चाहे जो दंड दे सकता था। पर पाठको! इन प्राण-दण्ड के पक्षपाती लोगों से एक बार पूछना तो चाहिए, कि "ऐ प्राण-दण्ड के कट्टर हिमातियो! प्राण-दण्ड की आज्ञा देकर प्राण के ग्राहक तो तुम बनोगे ही और बनते ही हो। पर ज़रा अपने हृदय पर हाथ रखकर तुम बताओ तो सही, कि यह कौनसा न्याय है, यह कौन सा क़ानून है, कि जिस चीज़ के देने की शक्ति तुम्हारे में नहीं है, उस के हथिया लेने की आज्ञा के जारी करने का अधिकार ही तुम्हें क्या है! जीवन और जन्म प्रकृति की देनगी है। अतः अधिकार भी इन पर उसी का होना चाहिए। उस के अधिकार में दस्तन्दाज़ी करने का हक़ ही तुम्हें कौन है! हां, तुम्हारी बनाई हुई चीजों की अदला-बदली तुम कर सकते हो। तुम उन्हें मटिया-

भेट कर सकते हो ! पर शरीर से जो प्राण एक बार निकल जाता है, उसे तुम किसी क़दर वापस शरीर में नहीं बुला सकते ! फिर, जिस अपराधी का प्राण तुम ने ले लिया है, अब यदि तुम्हें स्वयं उस पर दया आ जावे, या तुम्हें अपनी भूल जान पड़े, तो रोने-बिसूरने और पश्चात्ताप के अतिरिक्त तुम कर ही क्या सकते हो ? कुछ नहीं; मज़बूर हो; तुम्हारा दिल और दिमाग़ सभी एकदम मज़बूर हैं ? क्या, इसी प्रकार की अनधिकार चेष्टा, 'न्याय' के नाम से पुकारी जाती है ? क्या, हत्या के नामधारी ऐसे ही हिमातियों को 'न्यायाधीश' कहना चाहिए ? उफ् ! न्याय ने भी मनुष्य समाज के दुख-दर्दों को घटाने के बदले केवल बढ़ाया ही है ! अस्तु।

कहने का भाव केवल यही है, कि मनुष्य चाहे कहीं भी जा कर जन्म धारण करे। परन्तु उस का कोई भी प्रबल वा दुर्बल कर्म, उसे आये दिनों उस का अपना फल अवश्य देता ही है। त्रिपृष्ट ने जो गर्म सीसा शैय्यापाल के कानों में उड़ेलवाया था, उस अपने अत्याचारी कर्म का फल, व्याज समेत, भगवान् महावीर के भव में उन्हें चुका देना पड़ा। तब संसारी जीवों को यह कदापि न समझ बैठना चाहिए, कि कर्मों के फलों को भोगे बिना कर्मों की निवृत्ति हो जाया करती है। अगर ऐसा हो जाया करता, तो शास्त्र-कार कर्माशय को निन्दित और निकाश्रित कदापि न कहते। वह तो किसी न किसी एक जन्म में अपना फल अवश्य देते ही हैं। फिर, एक अवतार पदवीधारी तक को अपने पूर्व भवों के कर्मों का खाता ड्योढ़ा कर देना पड़ा, तब साधारण और ऐसे-वैसे मनुष्यों की तो बात ही कौनसी है। कर्मों के इस खाते के चुकता हो जाने के ऊपर ही, केवल-ज्ञान के प्रति जीव की जिज्ञासा और समय पर उस की प्राप्ति उसे होती है। और तभी भव-बन्धन से छुटकारा, जीव का होता है।

आगे चल कर, कर्म-बन्धन के इसी सिलसिले में हमें यह भी जान पड़ता है, कि पुण्यों के उपार्जन से सुख की सम्प्राप्ति होती है; तथा पाप कर्म करने से दुख भोगना पड़ता है। फिर, भगवान् के जीव ने, अपने पूर्व भवों में, निकट भविष्य ही में तीर्थंकर बनने के पुण्य का बीजारोपण भी कर दिया था। और वे अपने गणनीय सत्ताईसवें भव में तीर्थंकर पद को प्राप्त कर, निर्वाण पद को भी पा गये।

पाठको ! जितना भी हो सके, आप इन भवों पर मनन कीजिए। हमें तो विश्वास है, कि संसारी जीवों को इन भवों से अनेकों व्यावहारिक शिक्षाएं मिलेंगी और यदि उन्हों ने इन के अनुसार अपने जीवन को बनाने की कुछ भी चेष्टा की, तो बहुत ही थोड़े समय में वे अपने जीवन को, विकट से विकट परिस्थिति में भी, सुखमय देखने का अनुभव कर सकेंगे। वे अनायास ही में कई पापों से बच जावेंगे। उन का जीवन और जन्म उन्नत बनेगा।

भावी भगवान् महावीर, दशवें स्वर्ग से अपनी आयुष्य को पूरी कर, सत्ताईसवें भव के लिए, इसी भरतक्षेत्र में आये। जिस पवित्र बस्ती में वे इस बार आये, उस का नाम 'महा-कुंड-ग्राम' था। उस ग्राम में देवानन्दा नामक ब्राह्मणी रहती थीं। वह उसी ग्राम के ऋषभदत्त ब्राह्मण की स्त्री थीं। आषाढ़ शुक्ल छठ की रात्रि का समय था। भगवान् इसी देवानन्दा के गर्भ में मति, श्रुति, अवधि-ज्ञान को लेकर आये। गर्भ में आने के पहले, चौदह शुभ स्वप्न उसे दिख पड़े। इन स्वप्नों को देख, माता का मन बड़ा ही हर्षित हो उठा। वह अब अपने भावी दिनों में सुख-सम्भावना के शुभ दर्शन करने लगी और बार बार अपने वंश और भाग्य को सराहने लगी। तीर्थंकर के सिवाय, अन्य कोई भी आत्मा जो स्वर्ग से चव कर यहां आती है, उसे अवधि-ज्ञान नहीं हुआ करता। सिर्फ, तीर्थंकर बननेवाली आत्माएँ ही अवधिज्ञान को साथ ले कर जगत् में आया करती हैं। पर अपने चवन काल का बोध स्वयं उन्हें भी नहीं होता। क्योंकि, अवधि-ज्ञान का प्रयोग करने में असंख्य समय की आवश्यकता होती है। विपरीत इस के, चवनकाल बड़ा ही न्यून माना गया है। और इसी से उस का बोध उन्हें नहीं होता। किन्तु हां, उत्पन्न होने के पश्चात्, वे अपने आगमन का वर्णन जान सकते हैं। इसी तरह भगवान् महावीर ने भी, गर्भ में आने के पश्चात्, अपने आने का वर्णन जान लिया।

देवानन्दा बड़ी ही सावधानी के साथ यत्न पूर्वक गर्भ की रक्षा करने लगी। प्रसंगवश हम यहां, बच्चों पर, माता-पिता के समय समय के मनोबलों का क्या प्रभाव पड़ता है, इस का भी कुछ जिक्र करना उचित समझते हैं। मानस-शास्त्र के विद्वानों की राय है, कि जगत् की उत्पत्ति मन ही से होती है। अतः मन चाही रूप-गुणवाली सन्तानों का पैदा करना, यह भी हमारे मानसिक शक्ति ही

की बात है। मन की इसी शक्ति को मानस-शक्ति, मनः शक्ति, इच्छा-शक्ति, मनोबल अथवा will-Power (विल् पॉवर) भी कहा गया है। जिस पुरुष का मनोबल जितना ही अधिक होता है, वह उतना ही बड़ा या श्रेष्ठ समझा जाता है। विपरीत इस के, वही मनुष्य छोटा या अधम माना जाता है, जिस में मनोबल की अपेक्षा-कृत कमी पायी जाती है। यह दो प्रकार की होती है। जैसे-(१) प्रत्यक्ष और (२) अप्रत्यक्ष। विद्वानों का कथन है, कि सन्तानोत्पत्ति के लिए अप्रत्यक्ष मनोबल ही की आवश्यकता और प्रयुक्ति होती है। माता-पिता के मनोबल की नींव पर ही, उन की सन्तानों के शरीर, अवयव और इच्छा-शक्ति की दीवाल खड़ी होती है। वह उन का मनोबल ही है, जो उन की सन्तानों के रूप-रंग को, शरीर और स्वास्थ्य को तथा विचार और बुद्धि को बनाने का काम करता है। जिस प्रकार मनुष्य के अन्तःकरण की क्रोध, प्रसन्नता, शोक, अधीरता आदि भिन्न भिन्न अवस्थाओं के समय में लिये हुए फोटो में, उस की उन्हीं उन्हीं आन्तरिक अवस्थाओं की झाँई झलकती रहती है, ठीक उसी प्रकार, इच्छा-शक्ति, जो गर्भाधान के समय होती है, और जिस का संचार गर्भावस्था में हुआ करता है; बच्चे की आकृति, प्रकृति और स्वभाव, इत्यादि उसी के अनुसार बनते तथा बिगड़ते रहते हैं।

इस इच्छा-शक्ति का काम, रजो-दर्शन से ही शुरू हो जाता है। तथा बच्चा जब तक माता का दूध पीता रहता है, उस काल तक विशेष रूप से रहता है। यही समय है, जब कि बच्चा उत्तम वा अधम, अपने माता-पिता के द्वारा बनाया जाता है। अब हम माता-पिता के अलग अलग समयों में उन की संतानों पर पड़े हुए मनोबल का संक्षेपतः विवेचन यहां करेंगे।

(१) रजो दर्शन के समय पड़े हुए मनोबल का प्रभाव— शरीर-कल्प द्रुम आदि वैद्यक ग्रंथों में कहा गया है, कि रजोमती माता को सदा एकांत स्थान में रहना चाहिए। ऐसा करने से मन की शक्ति में किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न न हो सकेगा। इसीलिए कहा गया है, कि चौथे दिन जब वह माता स्नान कर चुकती है, तब उसे उसी क्षण अपने पति या किसी सुंदर पुरुष के दर्शन करना चाहिए। इस काल, जैसे भी पुरुष का वह दर्शन करती है, उसी के अनुरूप रूप-रंग की संतान उत्पन्न करने में वह माता समर्थ होती है।

(२) गर्भाधान के समय की मानसिक शक्ति का प्रभावः—इस के सम्बन्ध में वैद्यक-शास्त्र के विद्वानों का मत है, कि गर्भाधान के समय में जैसे भी रंग-रूपवाले स्त्री-पुरुषों का ध्यान, या बच्चे की भलाई तथा बुराई, या गुणों पर माता-पिता का मन चला जाता है, उसी के अनुसार बालकों की उत्पत्ति होती है।

(३) गर्भाधान के बाद मन की शक्ति का प्रभावः—इस के सम्बन्ध में शरीर-कल्पद्रुम का कथन है, कि गर्भाधान होने तक तो सन्तानों पर माता-पिता दोनों के मनोबल का प्रभाव पड़ता है। परन्तु गर्भाधान हो जाने के पश्चात्, बच्चों पर केवल माता की इच्छा-शक्ति ही का असर रह जाता है। यह भी पहले के तीन मास तक तो कम, और आगे अधिक अधिक पड़ने लगता है। इस का कारण, बालक के हृदय का चौथे मास में बन जाना बताया जाता है। यही कारण है, कि माता के हृदय में जो बात उत्पन्न होती है, जो जो काम माता उस समय करती है, उस का, ऐसे समय में, बड़ा ही कट्टर प्रभाव संतान पर पड़ता है। माता के ऐसे ही समय के विचार व कामों से, नैपोलियन बोनापार्ट युरोप महादेश की विस्तीर्ण भूमि का, अपने समय का अद्वितीय युद्ध-वीर बन सका। वीर अभिमन्यु को गर्भ में ही चक्र-व्यूह की बड़ी ही अटपटी रचना का सांगोपांग ज्ञान हो गया। गर्भ काल में, माता कुन्ती के धर्म-शास्त्रों के पठन-पाठन करते रहने ही के कारण, युधिष्ठिर ऐसे न्यायमूर्ति बने। तथा यह भी माताओं की गर्भकालीन इच्छा-शक्ति ही का एक मात्र असर था, कि जिस से महात्मा बुद्धदेव और भगवान् महावीर इतने दयालु व अहिंसा के सच्चे उपासक बन सके और तत्कालीन जगत् की विपन्नावस्था को सुख-शांतिमयी बना सके।

(४–६) इसी प्रकार, माता-पिता के मनोबल का, उन की अपनी संतानों के (४) रंग-रूप, (५) सुन्दरता और अंगों की आकृति पर, और (६) बच्चे के स्वास्थ्य पर भी बड़ा ही गहरा और स्थायी असर पड़ता है। इन बातों की सचाई को सिद्ध करने के लिए भी कई प्रामाणिक प्रमाण दिये जा सकते हैं। परन्तु अपने विषय के निर्धारित मार्ग से दूर निकल जाने का भय, तथा स्थान का अभाव, हमें ऐसा करने से रोकता है। अस्तु।

(७) सन्तान की उत्पत्ति हो जाने पर माता-पिता की मनःशक्ति का प्रभाव—

बालक जब तक दूध पीते रहता है, तब तक बालक का जीवन उस की माता ही होती है। माता की आत्मा और दूध का आपस में घनिष्ट सम्बन्ध है। यही कारण है, कि माता के विचारों की झाँई उस के दूध में भली भांति झलकती है। तब तो उस दूध ही के एक मात्र आधार पर जीवित रहने वाले बच्चे पर भी माता के उन विचारों का असर अवश्यमेव होना ही चाहिए और होता भी है। इस बात के प्रत्यक्ष उदाहरण घर घर में देखे जा सकते हैं। क्रोधी माता की सन्तान कभी शान्त और प्रसन्न-वदन नहीं दीख पड़ेगी। माताओं में जो रोग चिरस्थायी भाव से देखे जाते हैं, अकसर उन की सन्तानें भी उन्हीं रोगों से पीड़ित पायी जाती हैं। हमारे इस कथन में जिन्हें अविश्वास जान पड़ता हो, वे अपनी सन्तानों को, शेरनी और गाय, या ऐसे ही कोई दो विपरीत स्वभाववाले जीवों के दूध, एक नियत समय तक, पिला कर, उन के स्वभावों के प्रत्यक्ष अन्तर को देख सकते हैं। इस बात का एक प्रत्यक्ष प्रमाण और भी दिया जा सकता है। आज कल की नयी और सत्यानाशक सभ्यता के अनुसार, प्रायः बड़े घरों की सन्तानों का लालन-पालन धायों के दूध पर होता देखा जाता है। वे बच्चे, जो धायों के दूध और उन के हाथों पलते-पुषते हैं, जवानी या बुढ़ापे तक वे चाहे कैसे ही श्रेष्ठ और उच्च क्यों न बन जांय, उन के प्रत्येक काम व स्वभाव पर धायों के गुण-दोष की गहरी छाप बैठी पायी जाती है।

अतः मानस-शास्त्र के विद्वानों का यह मानना और कहना बहुत ही ठीक है, कि संसार में जो भी कुछ हो कर रहता है, वह केवल मनोबल के प्रभाव ही से होता है। इसीलिए "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः" वाली कहावत जगत् में कही जाती है। यही कारण है, कि एक ही माता द्वारा उत्पन्न सन्तानों की सुरतें तथा प्रकृतियां भी परस्पर नहीं मिलती-जुलतीं। एक ही माता का एक पुत्र कुरूप और कलह-प्रिय देखा जाता है, तो उसी का दूसरा बालक सुन्दर और शांतिवान् होता है। एक पाप को प्रेम करता है, तो दूसरा धर्म के लिए प्राणों की निछावर हंसते हंसते करता नज़र आता है। इन समस्त द्वन्द्व भावों का एक ही प्रथम और प्रधान कारण है, माता पिता की मनः शक्ति और उन की उस मनः शक्ति की भिन्न भिन्न अवस्थाओं तथा समयों का, उन की सन्तानों पर पड़ा हुआ प्रभाव। अतः सन्तानों की सुधार की दिली इच्छा रखनेवाले तथा उन के सुधार के मुख्य ठेकेदार, प्रत्येक माता-पिता को, हर समय अपनी

इच्छा शक्ति को, सद्गुणों और सत्कर्मों की ओर ही लगाये रखना चाहिए। अस्तु।

यों, विदुषी देवानंदा ने हर प्रकार के दूषण और दुष्कृत से बचते रहने की पूरी पूरी कोशिश करते हुए, अपने गर्भाधान के बंयासी दिन गुजारे। पर पाठको! आपको यह भी भली प्रकार मालूम होगा, कि तीर्थंकर क्षत्रिय वंश के, राजवंशों ही में पैदा हुआ करते हैं। इस बार, ब्राह्मणी के गर्भ में भावी तीर्थंकर के आने की अनहोनी बात को, इन्द्र ने अपने अवधि-ज्ञान-बल से जाना। उसे इस बात का बड़ा अचरज भी हुआ। तब तो उसी काल इन्द्र ने हरिणगमैषी देवता को बुलाया और उसे आज्ञा दी, कि "तुम इसी क्षण, भरत क्षेत्र के महाकुण्ड-ग्राम को चले जाओ। और वहां देवानन्दा नामकी, जो एक ब्राह्मणी है, उस के गर्भ में से भावी भगवान्, महावीर के जीव को निकाल लो। फिर उसे राजवंशी, क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में जा कर रखदो। और त्रिशला के गर्भ में, जो लड़की है, उसे वहां से निकाल कर, देवानन्दा के गर्भ में ले जा कर रख आओ।" अपने स्वामी की उस हरिण गमैषी देव ने जब यों आज्ञा पाई, वह उत्तर विक्रिया कर के तुरंत ही वहां आया, जहां देवानन्दा रहती थी। उस ने वहां आ कर, उस देवानंदा को अपनी शैय्या पर सोती हुई देखा। उस ने गर्भस्थ, भावी तीर्थंकर को सर्व प्रथम नमन किया। तब उसने परिवार के सब लोगों को देवानन्दा के साथ, अवस्थापिनी-बेहोशी की निद्रा में लीन कर दिया। बाद में, देवानन्दा और त्रिशला के अपने अपने गर्भ को, कुंवार कृष्ण १३ की रात्री में हरण कर, और पीछा उन को एक दूसरे से बदल कर, उसी रात्रि में, गर्भाशय में ले जाकर रख दिया। पाठकों को यह वर्णन पढ़ कर बड़ा अचरज जान पड़ेगा। उन के अन्तः करण में तर्क-वितर्क की कई तरंगें उठेंगी। इस बात में थोड़ी देर के लिए वे अविश्वास की छाया भी देखेंगे। कोई कोई तो इस बात को बिलकुल मन-गढ़न्त भी मानेंगे। कोई कुछ भी कहे सुने। हम तो उन्हें यही कहेंगे, कि जब आज के इस गये-गुजरे ज़माने का भौतिक-विज्ञान और वैज्ञानिक लोग तक, इस प्रकार के प्रयोगों में, एकांश रूप से सफलता प्राप्त कर रहे हैं, तब असाधारण शक्ति-सम्पन्न देव के लिए गर्भों को हेर-फेर कर रख देने की क्रिया, कौन कठिन और अचरज-भरा काम था! आज भी क्लोरो-फॉर्म की शक्ति को जान कर, उस की सहायता से, चिकित्सा शास्त्र के पंडित लोग, ऐसी ही अनेकों प्रकार की क्रियाओं में सफलता प्राप्त करते हुए देखे सुने जाते हैं। आज भी क्लोरो-फॉर्म की सहायता से,

समय असमय, रोग-ग्रस्त गर्भवती माताओं के पेट की चीरा-फाड़ी कर के, कुछ काल के लिए उनके गर्भ को इधर उधर रखने रखाने का वर्णन, समाचार-पत्रों में, कभी पढ़ने-सुनने को मिलता है। और उस अवस्था में, वे माताएँ जीवित रहती हुई भी, उस चीरा-फाड़ी की प्राणनाशक वेदना को अनुभव नहीं कर पातीं। जब पीछी होश में लायी जाती हैं, तभी उन्हें अपनी वेदना का अनुभव होने लगता है। फिर, आज का यह काम बड़ी होशियारी और शीघ्रता से भी किया जाता है। ठीक उसी प्रकार, बड़े ही थोड़े समय में, उस देव ने भी दोनों स्थानों के गर्भ का हेर-फेर निर्विघ्नता-पूर्वक कर डाला। इस काम से उन गर्भवती देवियों को किसी कष्ट या वेदना का अनुभव भी नहीं हुआ। पर भगवान् महावीर ने इस काम को जान लिया था। उन्हें अपने हरण होने के पूर्व के समय की स्मृति थी। और अपने हरण हो चुकने पर भी आपने जान लिया था। *

पाठक पूछेंगे, कि देवानन्दा और त्रिशला के कर्म-बन्धनों के बीच वह कौनसा टंटा-फ़साद था, कि जिस से एक को अपना अमूल्य और दिव्य प्रकाशमान् हीरा, दूसरे के कांच के टुकड़े से और दूसरे को अपना कांच का टुकड़ा, पहले के अमूल्य हीरे से बदल देना पड़ा। इस के उत्तर में संक्षेपतः हम आप

*नोटः—भगवती-सूत्र के पांचवें शतक के चौथे उद्देशे में भी गर्भ-हरण तथा उसे पुनः स्थापन करने का ज़िक्र इस प्रकार से आया हैः-गर्भ-हरण तथा पुनः उस की स्थापना चार प्रकार से की जाती हैः—

(१) गर्भाशय में से गर्भ को हरण कर, गर्भ में पुनः रखना।

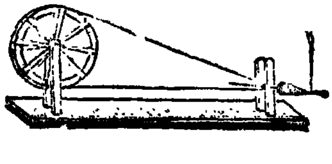
(२) गर्भाशय में से गर्भ को हरण कर, योनि द्वारा अन्य गर्भ को पुनः रखना।

(३) योनि के मार्ग से गर्भ का हरण और पुनः गर्भाशय में अन्य गर्भ की स्थापना।

और (४) योनि के द्वारा गर्भ का हरण कर, योनि ही के द्वारा पुनः अन्य गर्भ को गर्भाशय में रखना।

इस प्रकार गर्भ-हरण और उस की पुनर्स्थापना के चार भेद दिखा कर, पहले, दूसरे और चौथे भेदों को निषिद्ध बताया गया है। और तीसरे ही प्रकार का अवलम्बन, देव के द्वारा यहां किया गया है।

को यों कहेंगे, कि ये दोनों अपने किसी पूर्व के भव में देवरानी और जेठानी थीं। त्रिशला, देवरानी थी। ये दोनों, सम्मिलित परिवार-प्रथा के नाते, एक ही घर में रहती थीं। एक दिन, जेठानी ने देवरानी के बहुमूल्य रत्नजटित आभूषणों का एक डिब्बा चुरा लिया। यह बात कई दिनों तक देवरानी को मालूम भी न हो पाई। एक दिन आवश्यकता होने पर उसे कुछ आभूषणों की चाहना हुई। उसी समय, उसे डिब्बे के, घर ही घर में ग़ायब हो जाने का पता चला। उस की ढूंढ़ खोज भी खासी की गई। पर चोर तो घर ही का था। पता भी यदि चलता, तो कैसे? अन्त में, त्रिशला को अपनी जेठानी के रूखे व्यवहार से पता चला, कि हो न हो, डिब्बा उस के आभूषणों का उसी की जेठानी के द्वारा उड़ाया गया है। तब तो त्रिशला ने अपनी जेठानी को बहुत कुछ समझाया बुझाया। भय भी दिखाया। पर नतीजा कुछ भी न निकलता देख, बेचारी अंत में हाथ-पैर पटक कर बैठ रही। पाठको! त्रिशला ने, अपना कोई वश चलता न देख, अपनी जेठानी के अपराध को क्षमा कर दिया होगा। परंतु क्या, उस के कर्मों ने भी उसे क्षमा दे दी होगी? नहीं, कदापि नहीं। देवानन्दा ने उसी अपने दुष्कृत का सैकड़ों गुना बदला, आज के सौदे के हेर-फेर के रूप में पाया। और यों, अपने उन चोरी तथा झूठ, आदि के प्रारब्ध कर्मों का खाता चुकता किया। जीवों की इस दयनीय दशा पर बड़ी ही तरस आती है। वे ऐसा शास्त्रों, सद्गुरुओं और सन्तों के मुखों के द्वारा, सुनते-सुनाते हुए भी, फिर भी ऐसे कु-कर्मों से बाज़ नहीं आते! ये अज्ञ जीव नहीं सोचते, कि बीज तो जैसे एक बोया जाता है; परन्तु फल उस के अनेकों के रूप में काटने पड़ते हैं! और फिर उन फलों के अन्दर भी बीज रहता है; और उन बीजों के भी फिर फल तैयार होते हैं। अन्त में जाते जाते, जब तक उन फलों के बीज बिलकुल निर्वीर्य और निस्तेज नहीं हो जाते, तब तक उन के फलों का ताँता इसी क़दर चलता ही रहता है। यही हालत कर्मों की है। इस विषय का सविस्तर वर्णन आगे चल कर यथा समय और यथा स्थान पर किया जायगा।



प्रकरण-सातवां

भगवान् महावीर की जन्म-भूमि।

अब भगवान् महावीर को देवानन्दा के गर्भ से लाकर त्रिशला के गर्भ में रख दिये गये। त्रिशला, यह एक क्षत्रिय वंशी और यशोधनी सरदार की पत्नी थी। उस के पति का नाम सिद्धार्थ था। ये क्षत्रिय-कुण्ड नामक एक ग्राम में रहा करते थे। यह क्षत्रिय कुण्ड ग्राम, वैशाली नगरी, जो किसी समय लिच्छवि वंश की राजधानी थी, उसका एक बहुत बड़ा भाग था। यह क्षत्रिय-कुंड-ग्राम जहां एक ओर एक बहुत बड़ा शहर माना जाता था, वहां एक स्वतन्त्र राजधानी भी यह था। और, सिद्धार्थ यहां के प्रसिद्ध राजा माने जाते थे। सिद्धार्थ के आधीन का राज्य जो भी छोटा था; तब भी वह विद्या और वैभव, इज्ज़त और आबरू, आदि बातों में अपनी समानता के अन्य राज्यों से बढ़-चढ़ कर था। बिहार प्रांत के गया नामक ज़िले में लखवाड़ गाम जहां आज बसा हुआ है, क्षत्रिय-कुण्ड-ग्राम की स्थिति वहीं बताई जाती है।

अब पाश्चात्य पुरातत्त्व-वेत्ताओं के मत से भी एक दो बातें विशेष उल्लेखनीय जान पड़ती हैं। उन में से कोई तो अपने मत के अनुसार, क्षत्रिय-कुंड ग्राम को, लिच्छवि वंश की राजधानी वैशाली नगरी का, एक पुरा तो मानते हैं; परंतु सिद्धार्थ को वहां का राजा नहीं मानते। उन की शोध में वह वहां का एक साधारण जागीरदार था। डॉक्टर हर्मन जेकोबी का यह कथन है। अब डॉक्टर हॉर्नल की शोध के अनुसार, वैशाली का दूसरा नाम 'वाणिय ग्राम बताया जाता है। यहां वे

जैन धर्म कल्प सूत्र के आधार पर, क्षत्रिय-कुंड-ग्राम को, वैशाली के पड़ौस ही में बसा हुआ एक स्वतन्त्र नगर मानते हैं। फिर, उनका यह भी कथन है, कि तत्कालीन वैशाली एक बहुत ही बड़ी, लम्बी-चौड़ी और विस्तृत नगरी थी।

आगे चल कर वे कहते हैं, कि चीनी यात्री ह्युएनसंग के भारतयात्रा के समय में, वैशाली नगरी की लम्बाई लगभग बारह (१२) मील की रही होगी। इस नगरी के तीन मोटे मोटे और अति ही प्रसिद्ध विभाग थे। जिनके नाम क्रमशः (१) क्षत्रिय-कुंड-ग्राम (आजकल वसुकुंड); (२) ब्राह्मणकुंड-ग्राम या वाणिज्यग्राम (आजकल बेसूर); और (३) वैशाली थे। इन में से पहला विभाग वैशाली के उत्तर में अवस्थित था। दूसरा, दक्षिण में और तीसरा उस के मध्य में बसा हुआ था। वैशाली नाम के तीसरे विभाग में, तत्कालीन भारत के एक प्रसिद्ध राज-वंश की राजधानी थी। जो लिच्छवि के नाम से प्रसिद्ध था। सिद्धार्थ, क्षत्रिय-कुंड-ग्राम के जागीरदार, इसी राज-वंश के आधीन थे। इसी एक मात्र प्रधान बात के कारण, कि वैशाली नामक विभाग एक प्रसिद्ध राज-वंश के आश्रित था, सारा का सारा शहर ही वैशाली के नाम से पुकारा जाता था। सच है, मनुष्य की विशेष अवस्थाएँ ही पदार्थों में उन की अपनी लघुता या गुरुता का कारण बनती हैं। फिर, कोई मनुष्य, एक किसी गांव के किसी मुहल्ले विशेष में रहनेवाला यदि होता है, तो जन-साधारण में वह उस मुहल्ले का रहनेवाला न कहला कर, उसी गांव का रहवासी कहलाता है। हो सकता है, कि जैन-शास्त्रों में, इसी न्याय से काम लिया गया हो। अगर ऐसा न होता, तो भगवान् महावीर को क्षत्रिय-कुंड-ग्राम का निवासी कहने के बदले जो स्थान स्थान पर उन्हें 'वैशालीय' के नाम से सम्बोधित किये गये हैं, न किये जाते। बुद्धचरित्र की एक आख्यायिका के आधार पर भी, वैशाली तीन मुख्य विभागों में विभाजित थी, बताया जाता है।

इसी क्षत्रिय-कुंड-ग्राम के विभाग का पूर्व और उत्तर का उप-भाग 'कोल्लगी' के नाम से मशहूर था। उस में, ज्ञातृ अथवा नाय जाति के क्षत्रिय-वंशी लोगों ही की बस्ती विशेष कर के थी। भगवान् महावीर का जन्म इसी जाति के क्षत्रिय-वंश में हुआ। छियांसठवें सत्र के अनुसार, इस कोल्लगी उपविभाग का नाम न्यायकुल भी पढ़ने को मिलता है। जिस का कोल्लाग-सन्निवेश के साथ सम्बन्ध

था। उसके पास एक उपवन के होने के कारण, विपाक सूत्र में उस का नाम 'दुइपलास उज्जाण' भी लिखा पाया जाता है। परंतु "नाय सण्डे उज्जाणे" आदि आदि कथनों के आधार पर, वह नाय-कुल का ही था, प्रतीत होता है।

इस कथन से, उस बात का समर्थन होना पाया जाता है, जिस के आधार पर, क्षत्रियकुण्डग्राम का एक 'नयर' (नगर) की तरह उल्लेख किया, देखा जाता है। क्योंकि क्षत्रियकुंड ग्राम से भी तो वैशाली का ही बोध होता था। कल्प-सूत्र में, क्षत्रियकुंड-ग्राम के साथ, 'नयरं समितर वाहिरियं' यह विशेषण लगा पाया जाता है। जिस के पढ़ने से भली भांति जाना जा सकता है, कि यह वैशाली नगरी ही का वर्णन है। और, जिस सूत्र या सूत्रों के आधार पर, क्षत्रिय-कुंड-ग्राम को एक मुहल्ला सिद्ध किया जाता है, वह बात इस के साथ ठीक ठीक नहीं बैठती।

इन सम्पूर्ण बातों से हम इन निर्णयों पर पहुंचते हैं, कि भगवान् महावीर के पिता जो सिद्धार्थ थे, वे, क्षत्रिय-कुंड-ग्राम अथवा वैशाली नामक नगरी के, कोल्लंगी नामक उप-विभाग में रहनेवाली, नाय-वंशी क्षत्रिय जाति के एक मुखिया थे। हमारे इस निर्णय की सचाई में, कई जैन शास्त्रों के प्रमाण भी उध्दृत किये जा सकते हैं। कल्पसूत्रादि ग्रन्थों में, सिद्धार्थ का वर्णन साधारणतः एक क्षत्रिय सरदार की भांति ही किया हुआ, पाया जाता है। परन्तु हां, कुछ इने गिने एक दो स्थान ऐसे भी उन में देखने को मिलते हैं, जिन में सिद्धार्थ का मान और मर्तबा एक राजा की भांति रक्खा गया है। उन में उसे राजा के नाम से सम्बोधित भी किया गया है। परन्तु है वह अपवाद रूप से।

इन प्रमाणमूलक बातों से पाठक अच्छी तरह जान सकते हैं, कि महावीर का जन्म स्थान, वैशाली नगरी के क्षत्रिय-कुंड-ग्राम नामक विभाग में, कोल्लंगी नामक उप-विभाग ही था। जिस के प्रमाण में एक बात यह भी कही जा सकती है, कि दीक्षा धारण करने के पश्चात् ही, भगवान् अपने जन्मस्थान के समीपवर्त्ती 'दुइपलास' नाम के एक चैत्य में जा कर कुछ काल के लिए रहे थे। भगवान् के पिता-माता तथा नाय-वंश के अन्य क्षत्रिय लोग, भगवान् पार्श्वनाथ के भक्त थे। और उन्हों ने भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायी गृहस्थों के धर्म-साधने के लिए, अपनी बस्ती के निकट ही में एक भवन की स्थापना की थी।

एक विशेष प्रमाण की बात और भी कही जा सकती है। सूत्र सतहत्तर (७७)

और अठहत्तर (७८) में, ब्राह्मण कुंड-ग्राम के विषय में 'उच्चनीय मज्झिम कुलाई' का लिखा हुआ वर्णन मिलता है। और इस वर्णन के साथ, रोश्विल द्वारा रचित बुद्ध-चरित्र के वर्णन की बातें पूरा पूरा मेल खाती हैं। उस के अनुसार वैशाली के मुख्यतः तीन विभाग थे। जिन में से पहले या मुख्य विभाग में सात हज़ार (७०००) घर ऐसे थे, जिन के ऊपर सोने के कलश चढ़े हुए थे। दूसरे विभाग में, जो पहले से शोभा, आदि में कुछ घटकर था, रजत-कलश वाले चौदह हज़ार (१४०००) घरों की बस्ती थी। और तीसरे विभाग में, इक्कीस हज़ार (२१०००) घर तांबे के कलश से शोभित थे। यह तीसरा विभाग, शोभा, शक्ति आदि में अपने पहले के दोनों विभागों से घटिया था। इन विभागों के रहवासी भी क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणी के लोग थे।

डॉक्टर हॉर्नेल के शब्दों में यह कथन प्रमाणयुक्त माना जाता है। पाठक अपनी विद्या, बुद्धि, विवेक, शास्त्रावलोकन और अनुभव से इस कथन के सत्यासत्य का शोध लगावें।

भगवान् महावीर के माता-पिता का पद और सम्मान.

भगवान् के माता-पिता के पद और सम्मान के विषय में, जैन ग्रन्थों में कई बातें प्रचलित हैं। कोई तो उन के पिता सिद्धार्थ को एक बहुत बड़ा राजा बतला कर, और उन की प्रधान भार्या का नाम त्रिशला रानी कहते हैं। और कोई उन्हें एक साधारण सरदार मान कर, 'राजा सिद्धार्थ' कहने के बदले, क्षत्रिय सिद्धार्थ के नाम से जगह जगह सम्बोधित करते पाये जाते हैं। इसी भांति रानी त्रिशला भी क्षत्रियाणी त्रिशला ही उन के द्वारा कही गई है। इस से तो हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं, कि जो भी भगवान् के पिता एक बहुत बड़े राजा चाहे न रहे हों; और चाहे वे एक छोटे से राज्य ही के अधिपति हों; तथापि, था उन का सीधा सम्बन्ध वैशाली के समान, अपने समय के एक अति प्रसिद्ध, राज-वंश से। अतः उन के राज्य की सीमा कितनी ही छोटी रहने पर भी, तत्कालीन राजाओं के अंदर, उन के मान की सीमा, उन की अपनी समानता

के अन्य क्षत्रिय सरदारों से, कई गुना अधिक रही होगी। इस बात में सन्देह के लिए ज़रा भी गुंजाइश न होनी चाहिए।

रानी त्रिशला के माता-पिता

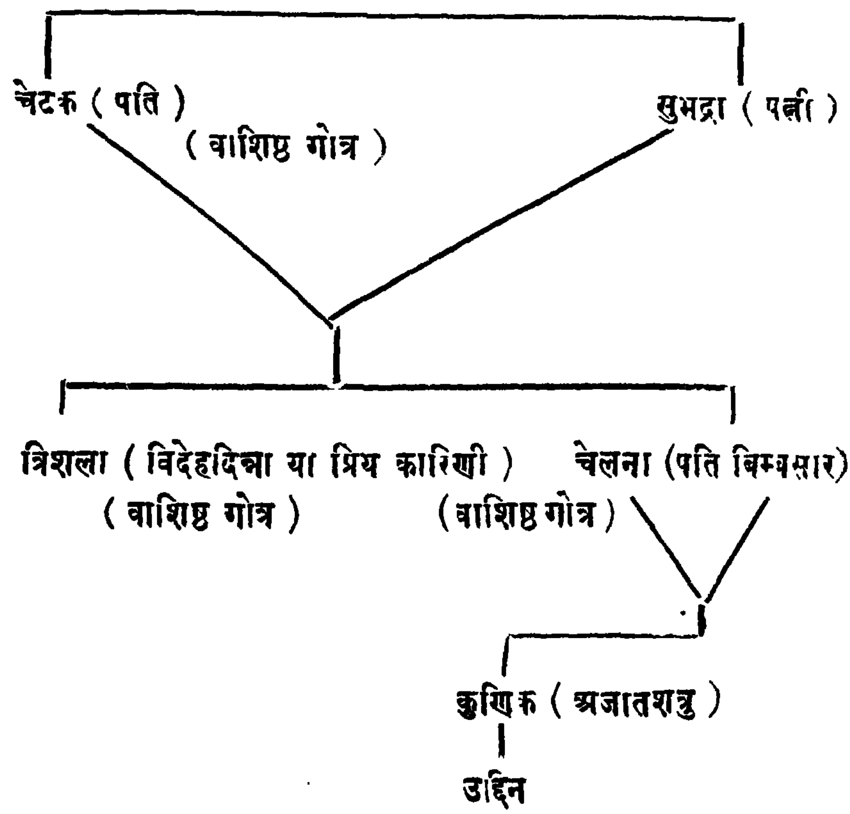
रानी त्रिशला विशाला नगरी के अधिपति चेटक की पुत्री थी। इसी विशाला नगरी के पास क्षत्रिय-कुंड-ग्राम नाम की एक बस्ती थी। वहां के मुखिया खानदान के सरदारों में से एक का नाम सिद्धार्थ था। त्रिशला का विवाह इन्हीं सिद्धार्थ के साथ हुआ था। कदाचित् यही कारण है, कि तत्कालीन बड़े बड़े नृपतिगणों की नामावली के साथ, सिद्धार्थ का नाम भी इतिहासों में पाठकों को देखने के लिए मिलता है। क्योंकि, सिद्धार्थ एक विशाल राज्य के जमाई थे। तब इन का मान-मर्तबा बड़ों के समान होना भी अवश्य चाहिए था। राजा चेटक जैन धर्म का अनुयायी था। अनुयायी ही नहीं, वह अपने ज़माने का एक कट्टर और दृढ़ धर्मी जैनी था। जिस के प्रमाण में, जैन-सूत्रों में अनेकों स्थल पर उन के नामोल्लेख का पाया जाना प्रसिद्ध है। जैन-सूत्रों में उन की इतनी प्रसिद्धि का दूसरा कारण यह भी हो सकता है, कि वे भगवान् के निकटतम सम्बन्धियों में से भी एक थे।

त्रिशला के अतिरिक्त, चेटक के एक दूसरी कन्या भी थी। जिस का नाम चेलना था। वह मगधदेश के राजा बिम्बसार—श्रेणिक—को व्याही गयी थी। इस राजा बिम्बसार का नाम प्रायः बौद्ध और जैन दोनों के धार्मिक ग्रन्थों में एक ही सा पाया जाता है। इस से पता लगाया जा सकता है, कि किसी दिन वह बौद्धमत का भी अनुयायी था। इधर उधर के स्थलों में इस का ज़िक्र प्रायः यों आता है, कि रानी चेलना, जो इस की धर्म-पत्नी थी, जैन-धर्म को माननेवाली थी। परन्तु यह बौद्ध मत का अनुयायी था। इन दोनों के बीच धार्मिक प्रसंगों पर अक्सर वाद-विवाद होता ही रहता था। कालान्तर में एक दिन इसी श्रेणिक की, अनाथी नाम के एक मुनि से भेंट हो गयी थी। और, उन के द्वारा इस की शंकाओं का सब प्रकार से पूरा पूरा समाधान हो जाने पर, उसी दिन से जैन-धर्म के आश्रय में यह आ गया था। जिस का संक्षिप्त विवेचन पाठकों को इसी ग्रन्थ

में यथा-स्थान मिलेगा। अन्त में चलते चलते, तो यह जैन-धर्म का इतना कट्टर अनुयायी बन गया था, कि इस के द्वारा भगवान् महावीर की अनेकों प्रकार से सत्सेवाएँ हो पायी हैं। और, जैन-धर्म के आश्रयदाताओं में से यह भी एक उच्च कोटि का आश्रयदाता माना और समझा जाता है।

त्रिशला रानी के गर्भ से तीन सन्तानें हुई थीं। जिन में से एक तो हमारे वीर भगवान् महावीर थे। इन के सिवाय, इन के एक भाई था, जिन का नाम नन्दिवर्द्धन था, और सुदर्शना नाम की एक बहिन थी। भगवान् के एक काका भी थे। जो सुपार्श्व के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। वीर प्रभु के प्रियदर्शना नाम की एक कन्या थी। पाठकों को पर्याप्त परिचय कराने के लिए, प्रसंगवश उन की माता के, तथा उन के वंश वृक्षों को हम यहां दिये देते हैं। वे यों थेः—

भगवान् महावीर की माता का वंश-वृक्ष



भगवान् महावीर का वंश-वृक्ष

सिद्धार्थ (पति) त्रिशला (पत्नी) सुपार्श्व
काश्यप(गोत्र)

नन्दिवर्द्धन(बड़ा भाई) वर्द्धमान (महावीर, पति) सुदर्शना (बड़ी बहिन)

यशोदा (पत्नी)
(कौडिन्य गोत्र)

जामालि (पति-पत्नी) प्रियदर्शना (पुत्री, दूसरा नाम अनवज्जा)

शेषवति यशोमति

त्रिशला के द्वारा १४ स्वप्नों का दर्शन

जिस समय देवानन्दा का गर्भ देव के द्वारा हरा गया और उसे त्रिशला के गर्भाशय में रक्खा गया, उस समय त्रिशला रानी ने नीचे के चौदह शुभ स्वप्न देखेः—(१) पहले में एक श्वेत हाथी उन्हें दीख पड़ा। (२) दूसरे में-वृषभ उन के सन्मुख से हो कर निकला। (३) तीसरे में उन्हों ने केशरी या वनराज को देखा। (४) चौथे में लक्ष्मी को देवी के रूप में देखा। (५) पांचवें में खिले हुए और सुगन्धित पुष्पों की माला उन्हें नजर आई। (६) छठे में चन्द्र के दर्शन हुए (७) सातवें में, सूर्य को उन्हों ने देखा (८) आठवें में

फहराती हुई ध्वजा के शुभ दर्शन उन्हें हुए। (९) नौवें में, कलश दिख पड़ा। (१०) दशवें में खिले हुए पद्मों से भरा-पूरा, एक सरोवर उन्हें दिख पड़ा। (११) ग्यारहवें में उन्होंने विस्तीर्ण चीर समुद्र को देखा। (१२) बारहवें में, एक देव-विमान पर उन की दृष्टि पड़ी। (१३) तेरहवें में रत्नों का एक ढेर उन्हें दिख पड़ा। और (१४) चौदहवें में, निर्धूम तथा जाज्ज्वल्यमान अग्नि की शीखा को देखी। तदनन्तर त्रिशला रानी की नींद टूटी। वह उसी समय सजग हुई और एक एक करके उन स्वप्नों के शुभाशुभ फलों पर विचार करने लगी। विचार करने पर वह नीचे के निर्णय पर पहुँची। आज मुझे स्वप्न तो बड़े ही शुभ दिख पड़े हैं। उन का फल बड़ा ही मीठा और आनन्दकारी होता दिख पड़ता है। अब वह समय अति ही निकट आ रहा है, जब कि मेरे पति का नाम संसार में उज्ज्वल हो और मेरी गोदी की, अमर शोभा संसार में फैले।। मालूम होता है, कि संसार की हिंसा, घृणा, और सम्पूर्ण पाप-तापों का स्थान, अब अहिंसा, प्रेम और विश्व-शान्ति लेना चाहती है। अत्याचार अपना अन्त देख, मानो सिसकियां भरने का पूर्व संकेत कर रहे हैं। दुनियां की दासता, दीर्घ काल के लिए लोप सी हुआ चाहती है। और, संसार अब इस पाठ को सीखने के लिए सजग हो उठा है, कि यहां का एक छोटा से छोटा हीन विचारवाला पुरुष भी अब अपनी शुभ करणी के द्वारा, भगवान् के पद तक को प्राप्त कर सकता है और निर्वाण-पद को पा सकता है। इस प्रकार जो भी विदुषी त्रिशला रानी ने अपने स्वप्नों का फल निश्चित कर लिया; तथापि, उन्होंने अपने द्वारा देखे हुए इन स्वप्नों का सन्देश अपने पति को भी उसी समय देना, उचित और कर्तव्य तथा धर्म-मूलक समझा। वह यह मनसूबा कर अपने बिस्तर से उठ खड़ी हुई। अपने शयनागार से बाहर निकली। और उसी चण, पड़ौस ही के दूसरे शयनागार में, जहां राजा सिद्धार्थ निद्रा में सोये हुए थे, आयीं।

पाठको ! आप को यह बात, ऊपर के उदाहरण से, अपने हृदय पर लिख लेनी चाहिए, कि पति और पत्नी से शयनागार और शैया, उस समय अवश्यमेव अलग अलग होते थे। वैज्ञानिकों का भी यही कथन है, कि एक ही शैय्या पर सोते पड़े रहने से हर समय भावना बिगड़ी हुई ही रहती है। भावनाओं के बिगड़ने से, मनुष्य कई प्रकार के शारीरिक रोगों से घिरा रहता है। फिर रोगी की संतानें भी रोगी, निकम्मी, निखट्टू, और हत-वीर्य व निस्तेज होती है।

और वे असमय में ही, कौमार अवस्था में प्रवेश पाते ही, अपने ब्रह्मचर्य का सत्यानाश करने को दौड़ पड़ती हैं। इस का मूल और पापरूप कारण उनके पिता-माता ही है। ऐसे सुपूतों (!) से खुद उन्हीं की नहीं, तो देश और जाति की समुन्नति की आशा ही कैसे की जा सकती है? जिस जिस ने प्रकृति के नियमों को कुचला है, प्रकृति ने उसी क्षण, उस को भी नेस्त नाबूद कर दिया है। क्या ही अच्छा हो, यदि मनुष्य, अपने ज्ञान की डींग मारने वाला मनुष्य, कुदरत के शासन को भी ज़रा देखता-भालता और मानता रहे। घोड़े, बैल, हाथी, सिंह, आदि पशुओं की तुलना में, मनुष्य कितना बल-हीन है? इस का विचार करते हुए, उसे, उनकी अपेक्षा कितना अधिक, विषय वासना सेवन से दूर रहना चाहिए? परन्तु अभागा मनुष्य समाज इस बात को क्यों सुनने लगा? वह तो अपनी विषय-वासनाओं की पूर्ति में, हाथी, घोड़े, आदि ऊँच श्रेणियों के पशुओं की बात तो कौन कहे? वरन् नीच श्रेणी के पशु पक्षियों, कुत्ते-कौए जैसे प्राणियों से गया-बीता बन जाता है! और उजाड़ शहर में मुर्दों की बादशाही क़ायम करने को चलता है! और वह मूर्ख असमय पर, अपने खेत में बीज फूँक देने वाले किसान के समान कालीधार डूब जाता है। अतः जो चाहते हो, कि हमारा नर-तनु, निर्वाण-पद को प्राप्त करने वाला बने; हमारी सन्तानें शूर-वीर और देश तथा जाति का सिर ऊँचा रखने वाली हों; हम श्रेष्ठ मनुष्य-देह को पा कर, पशु पक्षियों से भी हीन-तर न कहलावें तो उनका कर्त्तव्य और धर्म हो, कि वे गृहस्थी में रहते हुए भी, ब्रह्मचर्य का पालन करना सीखें। मुनि राजों की संगति और शास्त्रों के पठन पाठन द्वारा, विचारों को सदा पवित्र रक्खें। पति और पत्नी, सदा एक ही शयनागार और शैया पर कभी न सोवें।

अस्तु, अब फिर रानी त्रिशला की ओर चलें। रानी ने मधुर शब्दों द्वारा अपने पति को जगाया। पति ने त्रिशला को अपने पैरों की ओर खड़े देखा। उन्हों ने उन्हें आसन पर बैठने की आज्ञा दी। पति की आज्ञा को पा कर वह पड़ौस के एक आसन पर बैठ गई। उन के पति ने उन्हें उस समय वहां आने का कारण पूछा। उत्तर में उन्हों ने अपने द्वारा आज देखे हुए चौदह स्वप्नों की, सारी बातें कह सुनाई। सिद्धार्थ राजा ये सारी बातें सुन कर बड़े ही प्रसन्न हुए और अपने भाग्य को सराहने लगे। उन्हों ने उन स्वप्नों पर एकांत विचार किया। थोड़ी देर के बाद, अपनी प्रेयसी के प्रति आदर दर्शाते हुए कहा, "प्रिया!

ये स्वप्न, राज्य, लक्ष्मी, सुख और सौभाग्य के वर्द्धक हैं। तुम्हारे गर्भाधान के दिन पूरे होने पर, तुम्हारी कोख से, एक बड़े ही यशस्वी, धर्मात्मा, अहिंसा के अवतार और परम त्यागी पुत्र की उत्पत्ति होगी।" यह कथन सुन, त्रिशला का हृदय आनन्द से नाचने लगा। पति की आज्ञा पाते ही, वह पुनः वहां से उठ कर, अपने शयनागार में आ बैठी। वहां आ कर पीछी वह सो नहीं गई। शेष रात्रि को उन्होंने धर्म और उसके तत्त्वानुसन्धान के चिन्तवन में बिताया। शुभ स्वप्नों के आने पर यदि कोई सो जाता है, और अशुभ स्वप्न आ जाता है तो शुभ स्वप्न का शुभ फल नाश हो जाता है। यह विचार कर त्रिशला रानी सावधानता पूर्वक जागती रही।

जैन सूत्रों में जहां भी कहीं राजा लोग भगवान् के दर्शन तथा वन्दन आदि को जाते हैं, वहां वहां उस के पहले, उन का शौच तथा मुख-मार्जन आदि से निवृत्त हो कर, स्नान करने का उल्लेख पाया जाता है। और, स्नान करने के पहले भी व्यायाम का वर्णन वहां देखने में आता है। इस से भली भांति जाना जाता है, कि आज से लगभग ढाई हज़ार वर्ष पूर्व भारत में व्यायाम का घर-घर प्रचार था। अस्तु। प्रातः काल होते ही, सिद्धार्थ अपने नित्य-नियम के अनुसार उठे। वह भी शौच और मुख-मार्जन आदि से निवृत्त हुए। पश्चात्, वे व्यायाम-शाला में गये और वहां उन्होंने साधारण तथा विशेष कई प्रकार के व्यायाम अपने शारीरिक बल के अनुसार किये। पाठक! प्रतिदिन प्रकृति में व्यायाम की धूम मची हुई देखते भी तो हैं। यदि इस से कोई यह भी कहे, कि व्यायाम के बिना, जीवधारियों का जीवन और जीवन-विकास जगत् में नहीं; तो भी कोई अत्युक्ति नहीं। फिर केवल समझदार मनुष्य ही इस बात के शौक़ीन नहीं हैं। जगत्, आज के नव-जात शिशुओं तक में इस की करामात देखता है। पशु और पक्षी भी इस के असर को जानते और मानते हैं। यही क्यों, पौधों और लताओं तथा बेलों तक इस ने अपने यश को फैला रक्खा है। नन्हें नन्हें जन्तु तक व्यायाम करते देखे जाते हैं। जब व्यायाम का इतना व्यापक व्यापार विश्व में फैला हुआ है, तब हम भी दो बातें उस के लिए यहां कह देना उचित और प्रासंगिक समझते हैं।

व्यायाम—'शरीरस्य अयास-जनकं कार्यं व्यायाम-संज्ञकम्।' व्यायाम की

साधारण परिभाषा—शरीर से कोई भी परिश्रम-जनक काम का लेना व्यायाम है। सम्पूर्ण शरीर को परिश्रम पहुँचाने का कार्य 'साधारण-व्यायाम' है। और, किसी विशेष अंग ही को, जिस से मिहनत पड़े, वह 'विशेष व्यायाम कहा गया है। अभी अभी ऊपर बताया जा चुका है, कि इस व्यायाम की धूम दुनियां की दशों दिशाओं में फैल रही है। पहलवान लोग जहां दंड, बैठक, कुश्ती, आदि के द्वारा व्यायाम की रस्म-अदाई करते हैं; वहां माता की गोदी में लेटे रहनेवाले नव-जात-शिशु, अपने हाथ-पैरों को हिला-डुला कर और किलकारियां मार कर ही, व्यायाम करते हुए देखे जाते हैं। इसी से उन का खाया-पीया हज़म हो जाता है। पशु, जंगलों की अपनी लम्बी सफ़र तथा वहां दौड़-धूप कर के ही इस के नियम का पालन करते हैं। पक्षी आकाश में उड़ान मार कर और इधर उधर उड़ कर, तथा अपनी बाज़ुओं को फड़ फड़ा और फैला कर, अपने दाना-पानी को पचाते हैं। प्रायः वे ही पौधे और लताएँ तथा बेलियां, आदि विपुलता से फूलते फलते और दिन-दूने रात-चौगुने बढ़ते हुए नज़र आते हैं, जो व्यायाम करने के मिस, शुद्ध प्रकाश और वायु में ज़ोरों से लहलहाते रहते हैं। छोटे छोटे जन्तु भी रेंग कर और भिनभिनाते हुए, अपनी शक्ति और शरीर के अनुसार, व्यायाम कर लेते हैं।

भोजन को पचाने और शरीर को निरोग, सर्वांग सुन्दर, तथा हृष्ट-पुष्ट बनाये रखने ही के लिए, प्रकृति ने व्यायाम की योजना जगत् में की है। आयुर्वेद के आचार्य महर्षि वाग्भट्ट अपने 'अष्टांगहृदय' नामक ग्रन्थ में, व्यायाम से होने वाले लाभों का वर्णन यों करते हैं—"व्यायाम से फुर्ती आती है। कार्य करने की शक्ति बढ़ती है। जठराग्नि प्रज्ज्वलित होती है। शरीर का बलगम नाश हो जाता है। और, शरीर के सारे अंग प्रत्यंग, नीरोग, सुदृढ़, मज़बूत और सुन्दर बन जाते हैं। वैद्यक के ग्रन्थ 'भाव-प्रकाश' में लिखा है,-व्यायाम करने से बुढ़ापे का तक़ाज़ा नहीं होने पाता। व्यायाम नित्य नियमपूर्वक करते रहने पर, मनुष्य मृत्यु-पर्यन्त युवा बना रह सकता है। और, जो लोग बेडौल मोटे हो जाते हैं, उन का मोटा-पन भी छूट जाता है।" परन्तु व्यायाम का शौक़ रखने-वालों को सदा यह भी स्मरण रखना चाहिए, कि सब लोगों, के लिए सदैव व्यायाम हितकर भी नहीं है। बिना व्यायाम के ठीक ठीक नियमों को जाने, जो सभी तरह के लोग, बिना किसी ढंग के और समय असमय का कुछ भी विचार

न करते हुए, व्यायाम करने लग जाते हैं। उन्हें आगे चल कर ज़रा ही दूरी पर बड़ी हानि उठानी पड़ती है। इस के लिए 'भावप्रकाश' के रचयिता का मत है, कि "जो अभी अभी भोजन आदि से उठा हो; जो ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन नहीं करता; जो खांसी, श्वांस, क्षय, रक्त-पित्त, क्षत और शेष के रोगों में से किसी भी रोग का रोगी है; और, जो कमज़ोर है; उन्हें भूल कर भी व्यायाम न करना चाहिए।"

आगे चल कर वे ही फिर यों कहते हैं—"परन्तु हाँ, शक्ति के होने पर यदि हो सके, तो धीरे धीरे, खुली हवा में टहलने पर, व्यायाम की रस्म को ये खुशी खुशी अदा कर सकते हैं।" फिर, अत्यन्त कठोर व्यायाम भी सभी के लिए सर्वत्र हानिकारक ही है। जैसा कि 'अष्टांग हृदय' का कथन है, कि–"शक्ति से परे व्यायाम करने के झूठे अभिमान से शरीर में खुश्की बढ़ जाती है। तृषा का रोग लग जाता है। क्षय, श्वाँस, रक्त-पित्त, ग्लानि, खांसी आदि भयंकर रोग उस मनुष्य को आ घेरते हैं। अतः व्यायाम के कितने ही प्रकार होने पर भी, बड़े बड़े डॉक्टरों वैद्यों और हकीमों के अनुभव और आंख से तो यही जाना तथा देखा जाता है, कि खुली हवा में, बस्तियों के बाहर, प्रकृति सौन्दर्य से भरे-पूरे वनों अथवा पहाड़ों, आदि स्थानों में, तेज़ी के साथ, केवल नाक से लम्बी और धीमी श्वांस लेते हुए भ्रमण करना, सभी प्रकार के व्यायामों में सुन्दर, सुलभ, सर्व-प्रिय और बड़ी ही शान्ति देनेवाला है।" साथ में उन का यह भी कहना है, कि "भ्रमण करते समय हाथों को बिलकुल खुले छोड़ देना चाहिए। शरीर के सारे अंगों का संचालन भी स्वाभाविक रूप ही से होने देना चाहिए। और, भूल कर भी कभी श्वांस को रोकने का प्रयत्न, चलते समय, न करते हुए, केवल नाक ही से श्वांस को लेना, और छोड़ना चाहिए। मुंह से श्वांस का लेना मानो मौत को नज़दीक बुलाना है।"

व्यायाम के कुछ नियम–(स्वामी शिवानन्दजी, बरूड के बताये हुए)–(१) व्यायाम के स्थान में शुद्धता, हवा और प्रकाश का पूरा पूरा होना आवश्यक है। (२) व्यायाम सुबह और शाम दोनों समय किया जाता है। सुबह के व्यायाम से दिन-भर फुर्ती और उल्लास काम में बना रहता है। और, शाम के व्यायाम से दुःस्वप्न नहीं आते; तथा नींद गहरी आती है। (३) पसीने से रोग और तरह तरह की हानियां शरीर में हो जाती हैं। अतः वह उसी समय पोंछ लिया जाता है। (४) व्यायाम में सदा शुद्ध प्रणाली ही का विशेष उपयोग

किया जाता है। झुक कर सिर को कभी नीचे नहीं ले जाते। ऐसा करने से प्रायः मनुष्य पागल बन जाया करते हैं। अन्धे हो जाते हैं। आयु घट जाती है। इस लिए नियम है, कि गर्दन और सीने को सदा ऊँचा रक्खा जाता है। (५) किसी भी प्रकार की कसरत करते समय मुँह से श्वांस कभी भूल कर भी नहीं ली जाती। परन्तु हां, थकावट के समय मुंह से श्वांस कभी छोड़ी जा सकती है। मुंह के द्वारा श्वांस लेने से फेफड़े कमजोर हो जाते हैं। साथ में, और भी भांति भांति के भयंकर रोग भी होते हुए दिख पड़ते हैं। (६) श्वांस को सदा नाक ही से ली और छोड़ी जाती है। श्वांस लेने और छोड़ने का काम बिलकुल धीमे से किया जाता है। (७) किसी भी प्रकार के कसरत करने के पीछे एकदम कभी बैठ नहीं जाते। (८) कसरत करने के बाद पेशाब भी कर दिया जाता है। ऐसा करने से शरीर की फालतू गरमी बाहर निकल जाती है। और, मन तथा तन, दोनों स्वस्थ और शांत बने रहते हैं। (९) व्यायाम करते समय अपनी शक्ति का ध्यान भी पूरा पूरा रक्खा जाता है। किसी के दिखावे में आकर, झूठे अभिमान के साथ, शक्ति से अधिक व्यायाम भी कभी नहीं किया जाता। (१०) व्यायाम और भोजन में कम से कम दो घंटे का अंतर अवश्य रक्खा जाता है। (११) असमय का व्यायाम हानि पहुंचाता है। (१२) जहाँ तक बन पड़ता है, स्नान के पहले ही व्यायाम कर लिया जाता है। (१३) कभी कभी अपने ही हाथों जाड़ों में सप्ताह में दो तीन बार और गरमी में महीने में दो तीन बार, शुद्ध तिलों के तेल का मालिश का किया जाना बड़ा ही लाभप्रद है। ठंढक में सरसों का तेल भी काम में लाया जा सकता है। (१४) व्यायाम को सदा सर्वदा खेल समझ के करते रहने से स्वास्थ्य और शरीर सुन्दर तथा सुदृढ़ बनते हैं। विपरीत इसके, जब वह एक भार समझ के किया जाता है, उस से लाभ के बदले अकसर हानि ही अधिक उठानी पड़ती है। (१५) व्यायाम के समय चित्त और चेहरे को सदा प्रसन्न रखने की तदबीर की जाती है। और, (१६) हो सके, तो व्यायाम के समय एक शीशा भी सामने रख दिया जाता है। यह भावना को बलवती बनाने में सहायक होता है। जिसका असर मन और शरीर, दोनों ही पर बड़ा शीघ्र और सुन्दर पड़ता देखा जाता है। आदि।"

राजा सिद्धार्थ और स्वप्न-शास्त्रज्ञ

राजा सिद्धार्थ ने तब व्यायाम से निवृत्त हो, शुद्ध तेलादि का मालिश करवाया

पश्चात् उन ने स्नान किया। इस के बाद, सुन्दर वसन और आभूषणादि से सुसज्जित हो, वे राज-सभा में आये। उन ने वहां आते ही स्वप्न-शास्त्रज्ञ लोगों को बुलाने का आयोजन किया। स्वप्न-शास्त्रज्ञ लोग आये। त्रिशला रानी के स्वप्नों का, अथ से इति तक का सारा ब्यौरा, उन के सामने रक्खा गया। उस समय रानी त्रिशला भी, उन से कुछ ही दूरी पर, स्वप्नों के फलों को सुनने के लिए आ बैठी थी। उन्होंने शान्त-चित्त हो कर, कुछ देरी तक उन पर एकान्त विचार किया। अन्त में उन में से एक अगुआ यों बोला, 'स्वामिन्! स्वप्न आने के नौ कारण हुआ करते हैं। स्वप्न-शास्त्र में उन का विवेचन नीचे के अनुसार पाया जाता है। (१) अनुभव से स्वप्न आया करते हैं। (२) किसी बात को सुन कर मन में धारण करने से स्वप्न आते हैं। (३) किन्हीं चीजों को बारीक निगाह से देखने और चित्त में उन की स्मृति बनाये रखने से, तत्सम्बन्धी स्वप्न अकसर देखे जाते हैं। (४) स्वप्न आने का एक कारण प्रकृति का विकारमयी होना भी है। (५) स्वप्न यदा-कदा स्वाभाविक रीति से भी आते रहते हैं। (६) चिन्ता की मात्रा, जैसे जैसे बढ़ती जाती है, मनुष्य तरह तरह के स्वप्नों के जंजाल में वैसे ही वैसे ज़ोरों से फँसता रहता है। (७) देवतादि का उपद्रव भी स्वप्नों को दिखाने वाला होता है। (८) धर्म-कार्यों के करते रहने से शुभ और संकट-नाशक स्वप्नों के दर्शन होते रहते हैं। और (९) पापों के उद्वेग से अशुभ और अनिष्ट-कारी स्वप्न, मनुष्य देखता है।

इन ऊपर गिनाये हुए स्वप्न आने के नौ कारणों में से छः तो ऐसे हैं, जिन के द्वारा शुभ या अशुभ कैसा ही स्वप्न दिख पड़े, बिलकुल निरर्थक होता है। शेष के तीन कारणों के द्वारा, देखे हुए स्वप्न सार्थक और शीघ्र ही फल देने वाले होते हैं। इन कारणों के द्वारा देखे हुए स्वप्न, यदि रात्रि के पहले प्रहर के हों, तो उन का फल, दर्शक को बारह महीने में दिख पड़ता है। दूसरे प्रहर के देखे हुए इन स्वप्नों का फल छः महीने में मिलता है। इसी तरह तीसरे प्रहर में देखे हुओं का फल तीन मास में और चौथे प्रहर वालों का एक महीने में फलाफल नज़र आता है।

इस के बाद वह मुखिया फिर बोला, कि स्वप्नों की संख्या स्वप्न-शास्त्र में बहत्तर (७२) प्रकार की गिनाई गई है। इन में से तीस (३०) स्वप्न बड़े ही शुभ-फल के देनेवाले होते हैं। इन्हीं तीसों में से चौदह (१४) स्वप्न उस रमणी-

रत्न को दिख पड़ते हैं, जिस की गोदी से किसी तीर्थंकर या चक्रवर्ती की उत्पत्ति होनेवाली होती है। वासुदेव और बलदेवों को उत्पन्न करनेवाली देवियों को, इन्हीं शुभ स्वप्नों में से क्रमशः सात और चार स्वप्न दिख पड़ते हैं। तथा जिस के गर्भ से माण्डलिक राजा की पैदायश होती है, वह रमणी केवल एक स्वप्न इन में से देखती है। महारानी त्रिशला ने तो इन्हीं में से चौदह शुभ स्वप्नों को एक साथ देखा है। इस से प्रत्यक्षतः जान पड़ता है, कि आपके राज्य, लक्ष्मी और गौरव का विस्तार होगा। कुल की वृद्धि होगी। और महारानी के गर्भाधान का समय पूर्ण होने पर, उन की कोख से एक ऐसे पुत्र-रत्न का जन्म होगा जो आगे चल कर अपने पराक्रम से या तो चक्रवर्ती सम्राट् बनेंगे; या नहीं तो वे तीर्थंकर बन कर, निर्वाण-पद को प्राप्त करेंगे। यही नहीं, यदि वे तीर्थंकर बने, तो संसार के अत्याचार और अन्यायों का, दीर्घकाल के लिए अंत हो जायगा। संसार में शांति का सुंदर शासन होगा। और भव-सागर में ड़ते-भुते जीवों के लिए उन के लोक और पर-लोक को बताने में, वे एक जलयान का काम देंगे। उन स्वप्न-शास्त्रज्ञों के द्वारा ऐसे भावी शुभ संदेश को सुन राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला, दोनों आनंद के कारण गद्गदकंठ हो गये। वे हर्ष के कारण फूले अंग न समाने लगे। उन दोनों ने उन स्वप्न पाठकों के प्रति बड़ा ही स्नेह और आदर दर्शाया। तथा उन्हें विपुल धन भेंट-स्वरूप में दे कर, उन के घरों को विदा किया। इन बातों को सुन कर, राज-सभा ने भी अपने स्वामी सिद्धार्थ के प्रति बड़ा ही सत्कार दिखाया। राजा ने दर्बार को बरखास्त किया। और वहां से उठ कर, अपनी रानी के साथ राज-महलों में आये।

रानी त्रिशला और गर्भ की प्रति—पालना.

रानी त्रिशला अब अपने गर्भाधान के समय को बड़ी ही सावधानी और आनंद के साथ बिताने लगी। जिस दिन से चौदह स्वप्न उन ने देखे, तभी से उन के पति के कोष में धन की वृद्धि होने लगी। जंभक देव ने भी इस काम में बड़ी सहायता की। ज़मीन में गड़े हुए और पुराने धन को बटोर बटोर कर, उन्हों ने उन के कोष में ला कर रक्खा। राज्य की सीमा भी बढ़ी। सिद्धार्थ का

आदर-सत्कार पहले से बीसों गुना बढ़ गया। सच है, जिस मनुष्य के पास अपने पूर्व-जन्मों के सुकृतों का बड़ा ही सुंदर संग्रह होता है, उस के लिए भयानक वन भी सुंदर से सुंदर बस्ती का रूप धारण कर लेता है। सभी मनुष्य उस के हित-चिंतक और मित्र बन जाते हैं। और, सारी पृथ्वी उस के लिए रत्न—गर्भा हो जाती है। यों अपनी और अपने राज्य की हर प्रकार से बढ़ती होती हुई देख कर, राजा सिद्धार्थ और त्रिशला दोनों को, स्वप्न—शास्त्रज्ञों के कथन की सचाई का दिनोंदिन अधिकाधिक परिचय मिलने लगा। तब उन दोनों ने निश्चय किया; कि स्वप्न—शास्त्रज्ञों की भविष्यवाणी के अनुसार यदि अपने को पुत्र हो आया, तो अवश्य ही अपन लोग उसे सर्व–गुण-निष्णात 'वर्द्धमान' का शुभ नाम देंगे। त्रिशला तब से और भी सजग बनी। अपने गर्भ की प्रति-पालना के लिए, उन्हों ने अपने उस काल के शास्त्रीय नियमों का अथ से इति तक पालन करना अपना कर्तव्य और धर्म समझा। वह सदैव अपने स्वास्थ्य को उत्तम रखने की चेष्टा करती रहती। दिन में कई बार, थोड़ा थोड़ा करके भोजन करती। अति गरिष्ट, कड़ुवे, कसैले, खट्टे और फीके भोजनों को वह कभी छूती भी नहीं थी। औषधि के रूप में भी अभक्ष्य और अपेय पदार्थों का वह कभी सेवन न करती। अपने पहनावे की ओर भी वह विशेष ध्यान रखती। उस समय, चुस्त और बदन को जकड़े रहनेवाले वस्त्रों को उन्हों ने कभी भूल कर भी धारण नहीं किया। वह भली भांति जानती थी, कि ऐसा करने से बच्चे की बाढ़ रुकेगी; तथा हो सकता है, कि उस के ऐसा करने से गर्भ–जात बच्चा अपने स्थान से भी टल जाय। उन्हों ने गर्भवती बन कर, अपने विचारों को तो, कभी और किसी भी हालत में बिगड़ने का अवसर न आने दिया। रहन-सहन भी उन की बड़ी ही आदर्श थी। वह अपने गर्भ काल में न कभी अति ऊपर के स्थान पर चढ़ती और उतरती। दौड़ना, कूदना, नाचना तथा अन्य परिजनक कामों से वह दूर रहती। उन्हें ज्ञान था, कि ऐसा करने से गर्भ-पात हो जाने का भय बना रहता है। शोक, चिंता, भय, और क्रोध के आवेशों से भी वह बाल बाल बचती रही। क्योंकि गर्भ-जात बच्चे के मस्तिष्क और स्नायुओं पर, इन के कारण गहरा धक्का पहुँचता है। फिर वह दिनरात सोये भी न रहती। क्योंकि, ऐसा करने से वह समझती थी, कि अनेकों प्रकार के भले-बुरे विचार मन में आवेंगे। चित्त में ग्लानि होगी और पाचन-शक्ति बिगड़ जायगी। अतः वह बहुत ही कम और वह भी धीरे धीरे, चलती फिरती।

वह रात में पूरे दश घंटे तक शांत और गहरी नींद में सोती। वह अपने सिर को खींच तान कर कभी न गुंथवाती और सदा उसे साफ़ करवाती। क्योंकि ऐसा करने से रोम-कूपों के मैल से भर जाने और उन के द्वारा शुद्ध वायु के भीतर पहुंचने में किसी प्रकार की कोई दिक्कत नहीं रहती। ऋतुस्नान के दिन से उन्होंने पूर्ण प्रसन्न रहने, शृंगार करने तथा शुद्ध सफ़ेद वस्त्रों को पहनने का मानो व्रत सा ले लिया था। वह सदा मीठे, पतले, हृदय को आनन्द देनेवाले, चिकने और दीपन वस्तुओं से बने हुए हलके भोजनों को सदा करती। और, उन्हों ने सुन और पढ़ रक्खा था, कि माता के समस्त उत्तम व्यवहारों पर ही, उन की सन्तान का एकान्त सदाचारी बनना निर्भर है। अतः वे अपने व्यवहार को उत्तम से उत्तम बनाये रखने में सदा सयत्न रहती थीं।

गर्भवती माताओं को किस प्रकार रह कर अपना समय बिताना चाहिए, यह बात तो, साधारण रूप से, उन्हें त्रिशला रानी की करणी से भली भांति जान पड़ेहीगी। परन्तु माताएँ ही बच्चों के जन्म और कर्म की विधाताएँ होती हैं। वे चाहें, तो उन की संतान शूर-वीर बन सकती हैं। दानी, मानी, धनी, विद्वान्, धार्मिक, मुमुक्षु, कंगाल, रोगी, लंगड़ी, लूली, या कोढ़ी जैसी भी चाहें, माताएं ही अपनी संतानों के बनाने की पूरी पूरी ज़िम्मेदार हैं।

गर्भ में भगवान् महावीर के अवधिज्ञान का उपयोग

भगवान् के गर्भकाल का समय, कुछ दिनों तक, माता-पिता तथा उन के परिवार के लिए बड़ा ही सुख-दायक बीता। कुछ ही दिनों के बाद भावी भगवान् महावीर ने, अपने अवधि ज्ञान के बल से विचार किया, कि मेरे हलन-चलन से, माता को बड़ा ही कष्ट होता है। यह विचार कर, उन्हों ने अपनी हलन-चलन की उदर में होनेवाली, क्रिया को बंद कर दी। भगवान् महावीर ने जो भी यों अपनी माता के कष्ट को कम करने का मनसूबा बांधा था। परन्तु माता के हृदय पर इस बात का कुछ विपरीत ही असर पड़ा। ऐसा होते ही वह तरह-तरह के बुरे भले विचार करने लगी। वह बार बार अपने भाग्य को कोसने लगी। कुछ ही समय के बाद वह बड़ी ही उदास हो कर कहने लगी, "क्या, मेरे दुर्भाग्य से मेरे गर्भ को कोई

हरण कर ले गया ? या, क्या वह मृत्यु को प्राप्त हो गया ? या, वह गल गया ? हो न हो, अवश्य इन बातों में से कोई न कोई एक बात ज़रूर हुई है। अगर ऐसा न हुआ होता, तो गर्भ का हलन-चलन बंद क्यों और कैसे पड़ सकता था ? यह मेरे एक-मात्र दुष्कर्मों ही का फल है। पूर्व भव में मैंने कोई न कोई अघोर कर्म किये होंगे। जिन का फल मुझे आज यों चुकाया जा रहा है। कदाचित्, मैंने भी कभी, पशु-पक्षियों के बच्चों का, या मनुष्यों की नन्हीं नन्हीं संतानों का, इसी तरह उनके माता-पिताओं की गोदी से वियोग कराया होगा ! या, प्राणियों को ज़मीन में डाट कर, उन के प्राण और सम्पत्ति को लूटा होगा ! या, पशु-पक्षियों के रहने के स्थान नष्ट-भ्रष्ट किये होंगे ! या, परायों के बाल-बच्चों पर मैंने कभी कोई बुरी नीयत रक्खी होगी ! या, दवा आदि के दुष्ट प्रयोगों के द्वारा, कभी किसी के गर्भपात का कारण मैं बनी हूंगी ! या, वन में आगी कभी लगा कर सैकड़ों, हज़ारों मूक और निरपराध जीव-जन्तुओं के प्राण मैंने आनंद-पूर्वक लूटे होंगे ! या, अन्य अन्य बुरे आचरणों को मैं अपने व्यवहार में कभी लाती रही हूंगी। यह, ऐसे ही किसी न किसी, मेरे अत्याचार का जीता-जागता दुष्परिणाम है। अगर ऐसा न हुआ होता, तो क्यों मेरा गर्भ आज इतने दिनों का हो कर निर्जीव हो गया होता ! हाय ! मैं अभागिन कैसे बड़े बड़े तरह तरह के मनसूबे अपने मन ही मन में बांध रही थी ! हा हन्त ! मेरी सारी आशाओं पर आज पानी फिर गया ! मेरा भाग्य भी तो ऐसा बली कहां है, जो एक महान् आत्मा की माता कहलाने का सौभाग्य मुझे मिल सकता ! इस के लिए बड़े भारी तप और त्याग की आवश्यकता है। और तो और, परन्तु हे भगवन् ! उन स्वप्न-शास्त्र-ज्ञों ने क्या बिगाड़ा था, जो उन तक की वाणी मिथ्या हो गई ! सच है, 'भाग्यं फलति सर्वत्र, न विद्या न च पौरुषं।' हा, दैव ! अगर ऐसा ही होना था, तो मुझे पहले चौदह शुभ स्वप्न ही क्यों दिख पड़े ? " यों अनेकों प्रकार के विचार करते हुए, और चिन्ता के मारे चित्त को उदास बनाये, रानी त्रिशला ने कुछ समय बिता दिया। वह मन ही मन में घुलती जाती थी। अब उस के चेहरे पर पहले के हर्ष का कहीं नाम भी दिख न पड़ता था। उस ने जो भी अपने ये विचार, घोर दुःख के कारण, किसी पर प्रकट नहीं किये। तथापि, उस के मलीन चेहरे ने, उस के अन्तःकरण के दुख-भरे भावों को, उस के निकट रहने वाले दास दासीयों पर बिना कुछ कहे ही अवश्य प्रकट कर दिया। होते होते

यह बात कुछ ही समय के बाद राजा सिद्धार्थ के कानों तक पहुँची। जब उन ने इस सन्देश को सुना, तब तो वे बड़े ही दुखित हुए। और, अपने भाग्य की बार बार निन्दा करने लगे। वे अपने हृदय को और अधिक न थांभ सके। वे लड़खड़ाते पैरों और हारे हुए हृदय से रानी के पास आये। वहां आ कर उन ने अपनी रानी की बड़ी ही दयनीय दशा देखी। उन की छाती भर आयी। उसी काल राज-परिवार के लोगों ने भी इस अशुभ सन्देश को सुना। वे भी दौड़े दौड़े वहां आये। सब मिल कर बड़ी ही चिंता करने लगे। पर अन्त में, अपना कोई वश इस काम में चलता न देख, अछता पछता कर अपने अपने घर को लौट चले। कुछ समय यों भी बीत गया। रानी त्रिशला, सिद्धार्थ राजा और राज-परिवार के दुख की घड़ियों के टलने का एक समय फिर मौका आया।

कुछ समय के बाद गर्भस्थ भावी महावीर ने अपने अवधिज्ञान से देखा, कि "मेरा स्थिर रहना, माता-पिता तथा उन के पारिवारिक जनों के लिए, बड़े भारी विषाद का कारण बन गया है। इस से उन का खाना-पीना और सोना, सभी दुःखद हो गये हैं। वे अब प्रतिपल चिंता में चूर रहते हैं। मैंने तो माता को विशेष कष्ट, मेरे हलन-चलन की क्रिया के द्वारा, न हो, इस के लिए स्थिर रहना निश्चय किया था। परंतु परिणाम इस का कुछ उलटा ही निकला। फिर कष्ट देने का मेरा इरादा भी कभी नहीं था। खैर, जो हुआ सो हुआ। अब जितना भी जल्दी हो सके, उन के विषाद को मिटा देना चाहिए।" ऐसा विचार कर, उसी काल, उन्होंने अपने शिशु-शरीर को कुछ कंपा दिया। बस, फिर क्या था! माता की तबियत फिर हरी हो गयी। माता-पिता और परिवार का सारा विषाद मिट गया। माता ने अपनी मुरझाई हुई आशा लता को फिर लहलहाते और खिलते हुए देखा। सब के जी में जी आया। भावी भगवान् महावीर ने फिर अपने मन में सोचा, कि "मेरे हलन-चलन की क्रिया के, ज़रा समय के लिए ही रोक देने मात्र से, मेरे कुटुम्बियों को, और खास कर मेरे माता-पिता को इतना भारी विषाद हुआ, कि वे तन-छीन और मन-मलीन हो गये थे; इस से जान पड़ता है, कि मेरे माता-पिता का मेरे प्रति बड़ा ही भारी वात्सल्य भाव और मोह है। जब ये मेरे वियोग के आभास मात्र से इतने अधिर हो उठे, तब इन के जीते रहते हुए, मेरे दीक्षा-व्रत स्वीकार करने में तो, इन्हें अवश्य ही घोरातिघोर विषाद मेरे लिए होगा। क्या अचरज है, कि मेरे उस वियोग के विषाद में ये

अपने प्राणों को भी छोड़ बैठें ! तब क्या, इन के लिए मेरा कोई कर्तव्य नहीं है ? नहीं, है क्यों नहीं ? अवश्य है । अच्छा, तो मैं अभी से यह निश्चय करता हूं, कि इन के संसार में जीवित रहते हुए, मैं दीक्षा-व्रत को स्वीकार न करूंगा । जो भी मानव-जीवन की आयु की व्यवस्था और उसके मूल्य तथा महत्त्व को समझते हुए, सौदा यह होगा बड़ा ही महंगा; तब भी माता पिता के वात्सल्य-प्रेम और परोपकारों का बदला चुकाने का इस से अधिक बढ़िया और कोई साधन नहीं हो सकता । "

पाठको ! देखा, आदर्श बालक के, अपने माता पिता के प्रति, आदर्श व्यवहार करने का नमूना ! उन्हों ने अपने माता–पिता का मन–रंजन करने के लिए, अपने दीक्षा–व्रत जैसे जीवन के एकान्त उद्देश के विचार तक को, उतने समय के लिए ठुकरा दिया, जितने समय के लिए उन के माता–पिता संसार में जीवित रहेंगे ! क्यों न हो, अन्त में तो वे इसी पुण्य–भूमि भारत–वसुन्धरा के एक पुरुष–रत्न अपने निकट भविष्यत् ही में बनने वाले थे । यही कारण है, कि उन्हों ने माता को पृथ्वी से भी गुरुतर और पिता को आकाश से भी ऊंचा समझ कर, गर्भ-वास ही में अपने अवधि-ज्ञान की सहायता से दीक्षा-व्रत के समय का निश्चयात्मक निर्णय किया । उन्हों ने वहां भली भांति जान लिया था, कि माता-पिता, तथा अन्य उन पुरुषों को, जो विद्या, धर्म, विज्ञान, अनुभव, सदाचार, आदि में बड़े हों, हर प्रकार से सदा प्रसन्न बनाये रखने ही से आयु, बल, विद्या और यश की अथक रूप से वृद्धि हो सकती है । क्या, पाठको ! इस से भी बढ़ कर, माता-पिता की भक्ति का प्रमाण आप हम से मांगेंगे ? आगे चल कर, अपने जन्म के पश्चात्, भगवान् ने अपने माता-पिता की भक्ति के लिए कुछ भी उठा कर न रक्खा । इस से यह बात प्रत्यक्ष जान पड़ती है, कि माता-पिता का हर प्रकार से मन-रंजन करते हुए, उन की आज्ञाओं का यथोचित पालन करना और उन की सेवा-शुश्रूषा में सदा रत रहना, प्रत्येक पुत्र का परम कर्तव्य और धर्म है । उन की आज्ञाओं का न मानना घोर पातक है । फिर, जो पुत्र आज अकसर उन से लड़ते-भिड़ते और उन के प्रति बुरे से बुरे शब्दों का प्रयोग करते देखे और सुने जाते हैं, उन्हें किन शब्दों से सम्बोधित करना चाहिए ? उन की इस प्रकार की करणी तथा कथनी का कैसा घातक फल उन्हें मिलेगा, इस का विचार वे स्वयं ही करें । हम तो केवल इतना ही कहेंगे, कि यह बात,

उन के अपने जीवन और जन्म के लिए बड़ी ही लज्जाजनक और लांछनीय है।

जैन धर्म में जो उन्नीसवें मल्लिनाथ भगवान् हुए हैं, वे गृहस्थाश्रम में सदैव अपने माता पिता के पैर छूने को जाते थे, ऐसा ज्ञाताजी सूत्र में उल्लेख है। इसी तरह श्री कृष्णचंद्र महाराज भी अपने माता पिता के पैर छूने को नित्यप्रति जाया करते थे। जिसका कथन अन्तकृतजी सूत्र में है। अतः इस के विषय में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। क्यों कि समय समय पर अपने धर्म ग्रंथों में इस विषयक अनेकों हित-वार्त्ताएं सुनी व देखी जाती हैं। नीति-शास्त्रों में भी माता-पिता की भक्ति के लिए अत्यधिक वर्णन आता है। संसार भर के धर्म ग्रंथों ने माता-पिता की भक्ति और सेवा शुश्रूषा को प्रधान रूप दिया है। इस सम्बंध की बातों को, कुछेक अंशों में, हम अन्य धर्मों की पुस्तकों से, या विद्वानों के मतों से भी उद्धृत किये देते हैं। जिन्हें पढ़ सुन कर बंधुओं के दिलों में भी मातृ-पितृ-भक्ति का भाव विशेष रूप से जागरूक हो सकेगा। ऐसी हमारी आशा और पूर्ण विश्वास है।

कुरान शरीफ में कहा है-" जिस पुरुष ने माता पिता की चित्त लगा कर सेवा की, उस के लिए बिहिश्त (स्वर्ग) का द्वार सदा के लिए खुल गया। अपने माता पिता को कभी कडुवे बोल न कहो। विनय-पूर्वक उन का सदा आदर किया करो। नित उठ कर भगवान् से प्रार्थना करो, कि हे भगवन् ! कि इन्होंने मेरे लड़कपन में पाल पोष कर मुझे बड़ा किया है। तू इसलिए इन का सदा भला कर।"

क्रिश्चियन लोगों के धर्म ग्रंथ-बाइबिल का कथन है—" हमेशा अपने माता-पिता के साथ आदर का बर्ताव करो। और सदा सर्वदा उन की चिन्ता रक्खो।"

पारसियों के धर्म-ग्रंथ अवस्ता में लिखा है-" अपनी माता को कभी भी किसी भी तरह से नाराज़ न करो।"

मनुस्मृति में इस का वर्णन पढ़ने में यों आता है-" मनुष्यों की उत्पत्ति और उन के पालन-पोषण, आदि में माता-पिता को जो जो कष्ट सहन करने पड़ते हैं, सैकड़ों वर्ष तक उन की सेवा करते रहने पर भी, माता-पिता के उन उपकारों का बदला कभी भी नहीं दिया जा सकता। इसलिए माता-पिता और गुरु का प्रिय कार्य पुत्रों को सदा करते रहना चाहिए। इन तीनों ही के संतुष्ट हो जाने से सारे तपों

की क्रिया पूरी हो जाती है। इन तीनों की सेवा ही का नाम, इन तीनों को हर प्रकार से प्रसन्न रखने ही का नाम, 'परम तप' है। इन की आज्ञा ले कर ही मनुष्यों को धर्म के प्रत्येक आचरण का आरम्भ करना चाहिए।"

हिन्दुओं के धर्म-ग्रंथ महाभारत में व्यास महाराज, भीष्म पितामह के द्वारा युधिष्ठिर के सामने यों कहलाते हैं—"माता पिता की भक्ति, मेरी समझ में सब से श्रेष्ठ धर्म है। तीनों लोक, तीनों आश्रम, आदि सभी माता-पिता में मौजूद हैं। और उन से भी बढ़ कर गुरु में हैं। जो इन तीनों की भक्ति करने से कभी भी विमुख नहीं होता, वह अवश्य तीनों लोकों को जीत लेता है। जिस ने इन तीनों का सत्कार किया, उस ने जगत् को प्रसन्न कर लिया; और जिस ने इन का अनादर किया, उस की सारी क्रियाएं नाश को प्राप्त हो गयीं। ऐसा मेरा निश्चित मत है।"

श्रीमद्भागवत् पुराण में भी कहा गया है, "इस जगत् में ऐसा कौन सामर्थ्यवान् पुरुष है, जो अपनी देह को उत्पन्न करनेवाले पिता के उपकारों का बदला दे सकता है। पिता के मन के भावों को समझ कर, उन के अनुसार काम करनेवाला पुत्र उत्तम है। वह पुत्र जो पिता के कहने पर काम करता है, मध्यम गिना जाता है। और, जो पिता के सौंपे हुए कामों को श्रद्धा के बिना करता है, वह अधम पुत्र है। तथा, जो पिता के कहने पर भी, उस के मन के अनुसार कार्य को नहीं करता, वह तो अधमाधम है।"

तैत्तिरीय उपनिषद् में लिखा है—"माता एक देवी के समान है और पिता तथा आचार्य देव-तुल्य हैं।"

"अपने माता-पिता को सब से अधिक प्यारे जानो। क्योंकि, जगत् में जान, माल, आदि जितने भी छोटे बड़े पदार्थ हैं, वे सब तुम्हें इन्हीं से मिले हैं।" विद्वान् सिसरो का ऐसा कहना है।

'पाइथागोरस' नाम के एक विद्वान् की सम्मति है, कि "अपने माता-पिता का आदर करो। अपने सम्बन्धियों का आदर करो। और शेष लोगों में से, उन के सद्गुणों को देख कर, अपने मित्र चुनो।"

माता-पिता की भक्ति के सम्बन्ध में 'कनफ्यूशियस' नाम के पाश्चात्य विद्वान्

का मत है, कि-" इस जगत् में बहुत से लोग आज कल माता-पिता की सेवा का अर्थ, केवल उन का पालन-पोषण करना मात्र समझ बैठते हैं। परन्तु उन की सेवा का यह अर्थ बिलकुल अधूरा है। भरण-पोषण तो अपने कुत्तों और घोड़ा-घोड़ी, आदि पशुओं का भी किया जाता है। परन्तु माता-पिता के भरण-पोषण में यदि भक्ति की भावना नहीं है, तो उन के और उन पशुओं के साथ किये हुए व्यवहार में फिर कोई अंतर ही क्या है? अतः भक्ति के बिना भरण-पोषण सच्ची सेवा नहीं, वरन् केवल ढकोसला मात्र है।"

हमारे सुज्ञ पाठकों ने जैनेतर धर्मों व विद्वानों के, माता-पिता की भक्ति के बारे में, ऊपर कहे हुए कथनों को अवश्य ध्यान-पूर्वक पढ़ा होगा। तब तो, जैसा कि हमारा विश्वास और अनुमान है, वे ज़रूर ज़रूर इस निष्कर्ष पर पहुँचे होंगे, कि माता-पिता की भक्ति तो प्रत्येक बालक को करनी है। परन्तु करनी किस ढँग से? हमारे विचारों से उस में-(१) सम्मान; (२) प्रेम; (३) सम्मान तथा प्रेम-युक्त सेवा; (४) उन की आज्ञा का यथोचित पालन; और (५) सभ्यता, इन पांच तत्त्वों की पूरी पूरी आवश्यकता है। अतः जो अपना इह-लौकिक तथा पारलौकिक भला चाहें, उन्हें इन पांचों बातों को सामने रखते हुए, अपने माता-पिता और गुरुजनों की भक्ति करनी चाहिए। और हमें सदा सर्वदा यह ध्यान में रखना चाहिए, कि उन की अमोघ कृपा ही में हमारी सम्पूर्ण प्रकार की उन्नति और उन की नाराजी ही में हमारे सर्वनाश का बीज छिपा हुआ है। अस्तु।

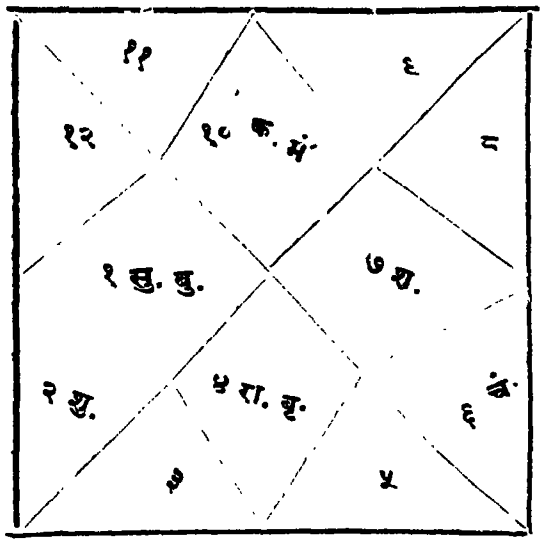
प्रकरण-आठवां

भगवान् महावीर का जन्म और जन्मोत्सव.

रानी त्रिशला का गर्भाधान काल, फिर सुख पूर्वक बीता। यों एक एक दिन गिनते हुए, पूरे नौ मास और साढ़े सात दिन बीत चुके। बस, उसी समय से जगत् की अनुचित प्रवृत्तियों ने कुछ पलटा खाया। दशों दिशाओं में मानो एक विचित्र अनुराग सा भर गया। वे प्रसन्न हो उठीं। चारों ओर शीतल, मन्द, और सुगन्धित वायु का संचार होने लगा। प्रकृति में जिधर भी देखो उधर हर्ष, हर्ष, हर्ष ही का हाट भरा हुआ नज़र आया। अपने वैभव के पसारे ऋतुराज वसंत ने भी भगवान् के स्वागत की पूर्व तैयारी प्रकृति में कर दी। फूले हुए आम्र-वृक्षों की महासुगंध-सनी डालियों में छिप कर कोकिला ने भी, भगवान् के आने का संदेश, जगत् को ऊँचे स्वर से दिया। गुलाब और मोगरे की कलियां प्रस्फुटित हुईं। मानो, भगवान् के आगमन की प्रतीक्षा में वे भी हंस हंस कर खड़ी हों, ऐसा जान पड़ने लगा। भौंरे तक अपनी मीठी मीठी गुंजार के मिस भगवान् के आगमन में चारों ओर स्वागत-गीत गाने लगे। वायु के द्वारा भगवान् के आने की तैयारी सुन, वृक्षों ने जगह जगह सुगंध सने फूलों के अत्यन्त कोमल और रंग-बिरंगे पांवड़े बिछाये। शकुन भी चारों ओर बड़े ही शुभ होने लगे। अंत में वह घड़ी भी आयी, जब भगवान् महावीर जगत् में आये। वह दिन और वह शुभ घड़ी जगत् में चिरकाल तक चिरस्मरणीय रहेगा।

ईसवी सन् से ५९९ वर्ष के पूर्व, या पार्श्व संवत् २५० के, चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी के दिन, जिस समय चन्द्र हस्तोत्तरा नक्षत्र में था, ऐसे शुभ समय में, त्रिशला रानी के गर्भ से, सिंह के लक्षण वाले और सुवर्ण के समान कान्तिमान्

एक बड़े ही दिव्य, भव्य और रूप-राशि पुत्र का प्रसव हुआ। आगे चल कर यही बालक अपनी शुभ करणी के द्वारा भगवान् की उपाधि और निर्वाण-पद तक को प्राप्त कर सका। यही बालक आगे चल कर भगवान् महावीर के नाम से इस जगत् में प्रसिद्ध हुआ। उन्हीं भगवान् की जन्म कुंडली नीचे के अनुसार है:—



अब हम आगे चल कर पास ही में बतावेंगे, कि भगवान् के जन्मोत्सव में किन किन देवता और देवियों ने विशेष भाग लिया। उस के पहले हमें यह भी जान लेना चाहिए, कि उन के दिव्य, भव्य, कांतिमान् और प्रतापशाली जन्म तथा शिशु-शरीर का, हम अभिमान के साथ, आदर पूर्वक इस जगत् में स्वागत तो अवश्य करते हैं। परन्तु हमारी ओर का यह सम्पूर्ण स्वागत और सत्कार, केवल उन के मनुष्य-शरीर और उस के द्वारा भावी ईश्वरीय करणी की सूचना ही के प्रति है। अगर, वे एक ईश्वरीय रूप और शरीर से हमारे सम्मुख आये होते, तो संसार की मोह–माया की विकटतम जाल में फंसे हुए, विवेक-हीन हम भूले भटके पुरुषों के द्वारा, उन के स्वागत और सत्कार की बातें तो बड़ी दूर रहतीं; प्रथम तो हम उन्हें पहचान तक भी न सकते! अतएव पाठको! हमें निसंकोच रूप से यह मानना पड़ेगा, कि भगवान् एक दिव्य मनुष्य शरीर और उन के कर्मों को ले कर ही वे हमारे सम्मुख आये थे। हमें भी मनुष्य बन कर ही उन के पास पहुंचना है। पहुंचना ही क्यों? हमें अपने मनुष्य–स्वभाव और उस की विचित्र भूलों को भी उन के सा-

मने पेश करना है। जिस समय, हम ऐसा करने का साहस पूर्वक सामर्थ्य प्राप्त कर लेते हैं, उसी दिन, उन की आदर्श करणी और कथनी का अनुकरण तथा अनुसरण करने का सुंदर सबक़ भी हम सीख पाते हैं।

भगवान् का जन्म यहां होते ही, भवनपति, व्यन्तर ज्योतिषी, तथा अन्यान्य वैमानिक देवी-देवताओं को भी इस बात का पता चला। उन ने इस शुभ समाचार को और भी अधिक फैलाने का प्रयत्न किया। वे जन्मोत्सव में शरीक़ होने के लिए दौड़-धूप मचाने लगे। आकाश-मार्ग विमानों से खचाखच भरगया। सच है, सुकृत-शील और सदाचारी के स्वागत तथा सत्कार करने में कौन अपनी लालसा नहीं दिखाता? कुछ देवताओं ने चारों ओर सुगन्धित वायु को फैलाने और वृत्तों के अंचल से फूलों को चुन चुन कर,, जगह जगह, आगन्तुक सज्जनों के लिए, कोमलतम पांवड़े बिछाने का कार्य अपने सिर लिया। और इसी मिस उत्सव में साम्मिलित होने का मनसूबा बांधा। कुछ देवताओंने सुहावनी बूंदा बूंदी करके, रास्तों की धूल को बैठाने के मिस, वहां पहुंचने का आयोजन किया। चारों ओर की छप्पन दिक् कुमारियां भी दिव्य रूप को धारण कर, त्रिशला रानी के पास प्रसूति-गृह में, मंगल गीत तथा अनेकों कामों में हाथ बटाने के मिस, वहां आ इकट्ठी हुईं। उसी तरह शक्रेन्द्र भी सपरिवार, भावी जगदोद्धारक प्रभु की अनुपम रूप-माधुरी को देखने और सेवा के लिए वहां आ पहुंचे। बारह देवलोकों, भवनपति, वाण-व्यन्तर आदि के क्रमशः दश, बीस और बत्तीस इन्द्र, सूर्य और चन्द्र ये सभी सिद्धार्थ के पुत्र-रत्न के जन्मोत्सव में सम्मिलित होने के लिए निकल पड़े। सब देवों ने जन्मोत्सव बड़ी ही धूम-धाम से मनाया। कदाचित् हमारे कई पाठक इस बात पर शंका करने लगेंगे, और पूछने लगेंगे, कि सिद्धार्थ तो एक छोटा सा राजा या इज़्ज़तदार सरदार मात्र था। उन के यहां जन्मोत्सव में तब ऐसे बड़े लोग और देव आये ही क्यों? और कैसे? पाठको! इस के लिए हम केवल यही कहेंगे, कि जो भी वह बड़ा राजा नहीं था; और एक इज़्ज़तदार सरदार मात्र ही था। तब भी वह वैशाली जैसे वैभव और यश सम्पन्न तथा अपने ज़माने के बड़े ही उन्नत एक राज्य के अन्तर्गत था। दूसरे, उस के पुत्र के प्रबल पुण्य-कर्मों के संयोग से उस के धन, राज्य, सुख और सौभाग्य की उस समय के पहले ही से अथक वृद्धि होना प्रारम्भ हो गयी थी। बस, ये ही दो मुख्य कारण थे, जिस से बड़े बड़े देवता

और लोग उसके पुत्र-जन्मोत्सव में आकर शरीक हुए। आये हुए देवों ने नंदीश्वर द्वीप में अठाई महोत्सव को भी मनाया। देव शक्ति से यह सारा कार्य एक ही रात्रि में सानंद सम्पन्न हो गया। अंत में, आगन्तुक सभी देवी-देवता अत्यन्त हर्ष मनाते हुए, अपने अपने स्थानों की ओर रवाना हुए। राजा ने अपने भाग्य और रानी की कोख की भूरी भूरी प्रशंसा की। राज-परिवार के समस्त लोगों ने भी भांति भांति की बधाइयाँ, आकर सिद्धार्थ राजा को दीं। त्रिशला रानी के मन को जो अपार आनंद हुआ, उसे लिख कर, यहां बताने के लिए हमारी जड़ लेखनी शक्ति-विहीन है। उसका ठीक ठीक वर्णन तो, प्रायः वे ही लोग करने का साहस कर सकते हैं, जिन्होंने उसे एक बार अपनी आंखों से भली भांति देखा है। परंतु हमें तो उन की शक्ति भी इस काम में न्यून दिख पड़ती है। क्योंकि, "गिरा अनयन, नयन बिनबाणी" का न्याय, उन के लिए भी लागू पड़ता है। फिर वर्णन करने का काम वाणी का है। परंतु वाणी तो बेचारी नेत्र-विहीन है। वह तो केवल सुनी हुई बातों को कहने का हक और शक्ति रखती है। इसी तरह नेत्रों ने उसे देखा जरूर होगा। परंतु वे मूक हैं। वाणी-विहीन हैं। अस्तु। जिन लोगों ने त्रिशला के आनंद को देखा होगा, वे भी उसका पूरा पूरा वर्णन कदापि नहीं कर सकते।

जब दूसरे दिन सिद्धार्थ अपने सम्पूर्ण कार्यों से निवृत्त हो कर राज दरबार में गये, तब उन्हों ने राजाओं की प्राचीन लोक-रंजन कारक प्रथा के अनुसार, कारागृह के प्रधान अधिकारी को बुला भेजा। उस के आजाने पर, अपने पुत्र के जन्मोत्सव की खुसी में, कतई कैदियों को बन्धन-मुक्त करने की आज्ञा उसे दी। तदनुसार, कैदी बन्धन-मुक्त कर दिये गये। पुत्र-जन्म की खुशी, राज्याभिषेक, युद्ध में विजय, और अनेकों ऐसे ही कई महोत्सवों में, अकसर राजा लोग, पुराने समय से, कैदियों को बन्धन-मुक्त करते चले आये हैं। राजा सिद्धार्थ ने भी वैसा ही किया। बड़ा भारी दरबार भरा। प्रजा के सारे छोटे बड़े लोगों को उस में आमन्त्रित किया गया। उस में राजा ने प्रजा के प्रति और प्रजा ने अपने स्वामी राजा के प्रति असीम प्रेम और सहानुभूति दर्शायी। इस रस्म की अदाई पारस्परिक भेटों, उपहारों, घोषणाओं और अभिवादनों के द्वारा की गई। यह महोत्सव पूरे दश दिन तक मनाया गया। चारों ओर बड़ी ही खासी चहल-पहल रही।

राजा ने कई लोगों को तरह तरह के ऋणों से मुक्त किया । बीसों प्रकार के कर उठा दिये गये । कई लोग ऐसे भी थे, जो बाहर के कर्ज़दार थे । सरकारी खज़ाने से उन्हें विपुल धन की सहायता दे कर, सदा के लिए उन्हें निश्चिन्त बना दिया गया । राज्य भर में एक सा आनंद मनाया जाने के लिए, सरकार की ओर से सम्पूर्ण प्रकार की आवश्यक सामग्री प्रजा को दी गई ।

तीसरे दिन गाजे-बाजे के साथ नव-जात शिशु को सूर्य और चन्द्र के दर्शन करवाये गये । छठे दिन, नगर की परम सुन्दरी, कुल-शीला रमणियाँ, राजमहल में मांगलिक गीत गाने के लिए आयीं । वे सौभाग्य के चिह्न कुंकुम और अनेकों प्रकार के अंगरागों को धारण किये हुए थीं । बारह आभरण और सोलहों शृंगार से युक्त तो वे थीं ही । रानी त्रिशला ने उन के साथ मिल कर 'रात्रि-जागरण' का उत्सव बड़े ही आनन्द के साथ मनाया । जागरण के अन्त में आपस में कई प्रकार की भेंटों और उपहारों का आदान-प्रदान किया गया । ग्यारहवें दिन जात-कर्मोत्सव की रस्म पूरी की गयी । बारहवें दिन नाम-करण की बारी आयी । राजा ने अपने कुटुम्ब-परिवार और जाति के सम्पूर्ण लोगों को आदर और विनय पूर्वक बुला भेजा । कई प्रकार के सुन्दर, मनोहर और मंगलमय उपहारों को ले ले कर, वे लोग राज-महल में आये । राजा ने सभी का यथायोग्य सत्कार किया । भेंट और उपहारों के आदान प्रदान का काम हो चुकने पर, राजा की ओर से उन्हें प्रीति-भोज दिया गया । तत्पश्चात्, राजा ने घोषित किया, कि जब से यह पुत्र, गर्भवास में आया था, ठीक उसी दिन से, राजधानी व राज्य-भर में, सुख, सम्पत्ति, सुमति, सुविचार और सुयश की वृद्धि होना शुरु हुआ और तभी से वह वृद्धि आज तक वैसी ही अविराम रूप से जारी है । क्या ही अच्छा हो, कि इस वृद्धि को देख, सुन और अनुभव कर, नवजात राज-कुमार का सार्थक ' वर्द्धमान् ' नाम रखा जाय । उपस्थित सभी जनता ने राजा की इस समय-सूचकता का, हृदय से एक मत हो कर अनुमोदन और समर्थन किया । यों, उस दिन की सारी रस्मों की पूर्ति हो जाने पर, सभी लोग अपने अपने घर को, राजा, राज्य और राज-कुमार की मंगल कामना करते हुए, लौटे । जो भी याचकों को सदैव ही अच्छे अच्छे भोजन खाने को और सुन्दर वस्त्र पहनने को, दान में मिलते थे, तथापि उस दिन प्रत्येक याचक ने मन चाही चीज़ पायी ।

राज-कुमार और राजा ने उन की ओर से भी अनेकों प्रकार की मांगलिक आशीशें पायीं। चारों ओर से उठी हुई आशीर्वादों की शरीर को पुलकित करनेवाली ध्वनि को सुन सुन कर, राजा बार बार अपने जीवन और जन्म को सराहते थे। और, उस से भी अधिक, वे त्रिशला के भाग्य की सराहना करते थे। वे सदा सोचा करते और कहते रहते, कि "मैं एक छोटे से राज्य का स्वामी हूं। फिर भी बड़े बड़े देवताओं के द्वारा मेरे आज के इस सम्पूर्ण मान का मूल कारण मेरा पुत्र तो है ही; परन्तु त्रिशला जैसी विदुषीदेवी का, मेरे जीवन के साथ संयोग भी, इस मान के देने-दिलाने में कुछ कम हाथ नहीं रखता है।" राजा ने इन सब कामों से फ़ारिग़ हो, एक दिन अपने इस पुत्र-जन्म की पूर्व सूचना देने वाले स्वप्न-शास्त्रज्ञों को बुलाया। उन के आने पर, राजा ने धन और मान से उन की यथोचित सेवा की। जाते समय उन्हों ने भी राजकुमार के यश को दिगन्त व्यापी बनने का शुभाशिर्वाद दिया।

राज-कुमार वर्द्धमान् अपने नाम को सार्थक करते हुए, प्रतिदिन चन्द्रमा की कलाओं की भांति बढ़ने लगे। वे जन्म काल से ही बड़े शान्त और गम्भीर थे। रूप उनका बड़ा ही सलोना था। शरीर सुडौल और गोरा था। समय समय पर इधर उधर की कुलीन नारियां, जो त्रिशला के पास आतीं, उस के हाथों से राजकुमार को अपनी गोदी में ले लेतीं। वे उसके साथ बड़ा ही प्रेम दर्शातीं। और तरह तरह के लाड़ लड़ातीं। बालक की ओर सभी सतृष्ण नेत्र से देखतीं और अपने भाग्य को सराहतीं। इस प्रेम के व्यापार को बढ़ता देख, माता त्रिशला मन ही मन बड़ी प्रसन्न होती थी।

राज-कुमार की परिचर्या में विशेषज्ञों की नियुक्ति

राज-कुमार वर्द्धमान् की परिचर्या में भी, सब के सब बड़े ही अनुभवी, विज्ञ, धीर, शान्त, दान्त, स्वस्थ, सदाचारी, सद्गुणी और परम कुलीन लोग रक्खे गये थे। उन के माता-पिता का विश्वास था, कि बड़ों के बालक, अकसर

हीन स्वभाव और मैले मन के नौकर-चाकरों के कारणों से ही बिगड़ा करते हैं। माता-पिता तो उन्हें नौकर-चाकरों के भरोसे छोड़ कर निश्चिन्त हो जाते हैं। तब तो उन कोमल हृदय बालकों को, उन्हीं के साथ में रह कर, दिन का अधिकांश भाग जैसे तैसे काटना पड़ता है। यहीं उनके हीन-स्वभाव और मैले-मन तथा अधम कार्यों की छाया, उन कोमलांग और निरे निष्कपट बालकों के स्वभाव, मन और कार्यों पर पड़ती रहती है। यही कारण है, कि वे आगे चल कर अपनी बपौती वंश, जाति, धर्म, और देश के नाम को बरबाद करने वाले प्रायः निकलते हैं। जिन लोगों के हाथों में रह कर उन के बालकपन का अधिकांश भाग कटा है, मन वचन, और कर्म में वे उन से भी अधिक गँदले रहते हैं। उन में न तो खान-पान और व्यवहार की व्यवस्था का कोई ढँग होता है; और न उन के स्वभाव में, उन के कुल की कोई मान-मर्यादा ही देख पड़ती है। जगह जगह शील, सत्य, संयम, और सन्तोष, आदि का उन के हाथों अपघात होते देखा जाता है। उन का मनुष्यत्व उन के बचपन के संस्कारों का विकसित स्पष्टीकरण होता है। यदि उन का बचपन, उन के माता-पिताओं के द्वारा ज़रा ही बुद्धिमानी के साथ, आदर्श पुरुषों की देख-रेख में बिताया जाय, तो आगे चल कर उन का जीवन कुछ और ही तरह का हो जाय। वे उस समय जैसे बनना चाहें, बन सकते हैं। वे ओछे लोगों कि देख-रेख में रक्खे जा कर, शूर, वीर, तेजस्वी और स्वदेशानुरागी ज़रूर बना दिये जाते हैं। परन्तु उन की शूरता, वीरता, स्वदेशानुराग और तेज, बड़े ही विचित्र होते हैं। वे अघोरी की तरह खाने और शरीर को बेहद मोटा बनाने ही के काम में अपनी शूरता समझते हैं। ज़रा से भी भय से कांप उठने में उन की वीरता गिनी जाती है। चटक-मटक को बग़ल में दबा कर वे तेजस्वी बनना चाहते हैं। और, देश के खरे पसीने की कमाई को, वे पानी के रूप में बहा कर, विदेशी माल को बदले में खरीदने के अपने व्यवहार को स्वदेशानुराग बतलाते हैं। क्या, हमारे पाठक, राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला के इन सराहनीय सिद्धान्तों को, अपने जीवन की शोभा, बच्चों को, नौकरों के हाथों सौंपते समय, काम में लाने की चेष्टा करेंगे? यदि इस ओर उन ने ज़रा भी लक्ष्य दिया, तो भविष्यत् में वे अपनी सन्तानों को अवश्यमेव सुखी और सम्पन्न देख सकेंगे। ऐसा हमारा निश्चित अनुमान है।

राज-कुमार वर्द्धमान् को 'महावीर' की उपाधि

राज-कुमार वर्द्धमान् यों तो सयाने होने पर बालकों के साथ रोज खेलते ही थे। पर एक दिन वे एक विशेष प्रकार का खेल खेलने लगे। वह 'कलामडाली' का खेल था। एक बच्चा इस खेल में दूसरे बालकों से कुछ ही पहले झाड़ पर चढ़ जाता और शेष उसे पकड़ने के लिए फिर चढ़ते। जब वह पकड़ा जाता तो वह हारा हुआ समझा जाता। और उसे पकड़ने वाला विजेता होता। दूसरी बार, विजेता बालक की पहले चढ़ने की बारी आती। यों, इधर तो ये छोटे छोटे मन–भावन बालक, इस प्रकार का खेल खेलने में तन और मन से जुटे हुए थे, और दूसरी ओर, उस समय, प्रसंगवश, स्वर्ग में बैठे हुए इन्द्र, बालक वर्द्धमान् के अतुल बल की प्रशंसा देव-सभा में कर रहे थे। इस विषय पर बात ही बात में इन्द्र और एक देव के बीच विवाद ठन गया। उसे, देवों की सभा में नर-बालक वर्द्धमान् की प्रशंसा, बड़ी ही कडुवी लगी। उस ने उस बालक के बल को अज़माना चाहा और उठ कर देव-सभा से चला। चलते चलते वह उन बालकों के पास आया। कुछ ही पलों में, राज-कुमार के बल की परीक्षा के लिए अपने रूप को उस ने बदल दिया। और, एक भयंकर सर्प का रूप धारण कर के, वह देव, उसी वृक्ष के तने में, एक बड़ा सा घेरा डाल कर बैठ गया। भाग्य से उस समय वर्द्धमान ही की बारी वृक्ष पर चढ़ने की थी। वर्द्धमान् भागते भागते आये और झाड़ पर चढ़ने ही वाले थे, कि इतने में दूर के खड़े हुए बालकों ने भयभीत हो कर, वर्द्धमान् को, उस वृक्ष के तने में सांप के बैठे रहने की बात कह कर उसे भागने का सन्देश दिया और आप भी भागने लगे। वीर वर्द्धमान् ने उन्हें भागने से रोका और वे उन से बोले, "भाई भागने की क्या बात है? यह तो बेचारा एक जन्तु है; और अपन मनुष्य हैं। यह अपना कर ही क्या सकता है? तुम भागो मत। मैं इसे पकड़ कर अलग छोड़ आता हूं"। बच्चों के शरीर जो भी कांप रहे थे; तब भी साहसी वर्द्धमान् के शब्दों से उन्हें कुछ तसल्ली हुई। बालक वर्द्धमान् ने जा कर चट उस विषहरे सांप को हाथों में पकड़ लिया। पास खड़े हुए बालक फिर डरे और भागने लगे। वे सोचने लगे, कि

यह, कहीं खेल ही खेल में इस विष की बेलि को उन के ऊपर न फेंक मारे । वर्द्धमान् ने उन्हें फिर भी आश्वासन दिया । और भागने से रोका । बालकों को उस के कोमल हृदय और सत्य स्वभाव का पूरा पूरा पता था । वे वहीं के वहीं ठहर गये; और इतने ही में वर्द्धमान् उस सांप को दूर जा कर एकान्त में छोड़ आये । बालकों ने भी अब उस खेल को बन्द कर देना उचित समझा और वे दूसरा खेल खेलने लगे ।

इस बार ' घोड़ी और सवार ' का खेल उन्हों ने शुरू किया । वह देव भी सांप का रूप छोड़, चट उन बालकों में आ मिला । खेल में शर्त यह ठहरी, कि हारने वाला बालक घोड़ी बने और जीतने वाला सवार बन कर उस की पीठ पर चढ़े । खेल शुरू हुआ । वर्द्धमान् हर बार जीतते गये । और, एक के बाद दूसरे की पीठ पर सवार बन कर चढ़ते गये । एक बार उस देव की पीठ पर भी चढ़ने का मौक़ा उन्हें आया । देव ने यह अवसर, वर्द्धमान् को अपनी चाल से चकित करने और उन के बल की परीक्षा लेने के लिए, भला समझा । वर्द्धमान् के उस की पीठ पर बैठते ही, वह ऊपर को उठा । और, बात की बात में, वह ताड़ के झाड़ के समान लम्बा बढ़ गया। लम्बा ही नहीं, उसी क़दर उस के शरीर की चौड़ाई भी बढ़ी । वह अपने उस विकट रूप से वर्द्धमान् को डराने का प्रयत्न करने लगा । पर राजकुमार उस की इस फ़रेबी से डरने वाले ही कब थे ? परन्तु उन्हों ने अपने साथियों को बड़ा ही भयभीत पाया । उन्हों ने उन्हें भागते हुए गिरते-पड़ते देखा । उन्हें अपने साथियों का यह दुख असह्य हुआ । उसी काल, उन्हों ने उस की पीठ पर एक साधारण मुट्ठी का प्रहार किया । देव को वर्द्धमान् का वह साधारण प्रहार भी बड़ा ही दुख-दायक प्रतीत हुआ । उस ने लाचार हो कर अपने शरीर को झुका दिया । वर्द्धमान् सरलता-पूर्वक उस की पीठ से नीचे उतर पड़े । और उन्हों ने अपने साथियों को अपने पास पुकारा । बालक, बड़े ही प्रसन्न हो हो कर दौड़े हुए राज कुमार के पास आये और उन्हें अपने गले से लगाया । इतने में उस देव ने भी अपने वास्तविक रूप को प्रकट किया और, वर्द्धमान् के पैरों पड़ कर उस ने अपने अपराध की क्षमा उन से मांगी । वह यह भी बोला, कि " इन्द्र ने आप के बल और प्रताप की बड़ी ही प्रशंसा की थी । मुझे वह बात न भायी । और इसी कारण, मैं ने तरह तरह की फ़रेबी कर आप के बल को जानना चाहा । मेरी परीक्षा

में आप, इन्द्र ने जो कुछ भी आप के सम्बन्ध में कहा था, उस से भी अधिक सफल हुए। आप सचमुच में अतुलित बल-शाली हैं। इतना कह कर, देव अपने स्थान की ओर विदा हुआ। देव रास्ते में जगह जगह राजकुमार वर्द्धमान् के यश का विस्तार करता हुआ, अपने लोक में आगया। उधर, बालक भी इस संवाद से बड़े ही प्रसन्न हुए। वे खेल को बन्द कर रास्ते भर राज-कुमार के अतुलित बल का बखाण करते-करते, अपने अपने घर को आये। वहां जा कर, उन्हों ने अपने अपने माता-पिता और घर के लोगों से आज की सारी घटना अथ से इति तक कह सुनायी। उन बालकों के द्वारा, यह संवाद घर घर में उसी समय बिजली की भांति फैल गया। लोगों ने वर्द्धमान् के बल और साहस की सहस्रों मुखों से प्रशंसा की और उसी दिन से बालक वर्द्धमान् 'महावीर' के नाम से जगत् में प्रसिद्ध हुए।

राजकुमार महावीर का विद्याध्ययन

जिनेन्द्र व्याकरण की रचना.

राज-कुमार महावीर के अब विद्याध्ययन की बारी आयी। इस समय उन की आयु का सातवाँ वर्ष खतम हो चुका था। आठवें वर्ष के प्रारम्भ में उन्हें, उन के माता-पिता ने बड़े ही समारोह के साथ, विद्याध्ययन कराने के लिए, विद्यालय में उपाध्याय के पास भेजे। आग-काड़ी में आग, कहीं बाहर से नहीं लानी पड़ती। वह तो उस के अंदर होती ही है। उसे तो रगड़ने मात्र ही की देर होती है। ज्योंही उसे रगड़ा, कि आग उस में से प्रकट हो जाती है। यहां पाठकों को यह भी स्मरण रखना चाहिए, कि उस आग-काड़ी में गंधक, आदि मसाला पहले ही से लगाये रखना पड़ता है। यदि उस में मसाला लगा न रहा, तो, साधारण काड़ी को किसी पर रगड़ कर, उस में से आग प्रकट करना, एक बिलकुल असम्भव बात होगी। हम यह नहीं कहते, कि दो साधारण पदार्थों की रगड़ से आग प्रकट नहीं होती। नहीं, वह होती अवश्य है। परंतु उन में सख्त रगड़ की आवश्यकता

है। और उस सख्त रगड़ की गरमी को पाने के पहले ही, साधारण और एक छोटी सी काड़ी, टूट-फूट जाती है। इसी उदाहरण के अनुसार, राज-कुमार महावीर ने अपने पूर्व के कई गणनीय भवों में, विद्याध्ययन के द्वारा बड़ा ही प्रगाढ़ ज्ञान प्राप्त कर रक्खा था। पूर्व जन्मों के संस्कारों के प्रभाव से ही वे अवधि ज्ञान सहित जन्मे थे। अतः यहां तो उन्हें, आगकाड़ी को जैसे खींचने ही की देर होती है, उसी भांति केवल याद दिलाने मात्र ही की आवश्यकता थी। पाठक हमारे इस कथन की सचाई का प्रत्यक्ष प्रमाण चाहते हों, तो आज के स्कूलों में जा कर, वे भली भांति इस बात को देख सकते हैं। स्कूलों ही में क्यों, उन के घरों में भी तो, वे इस बात को प्रत्यक्ष कर सकते हैं। देखिये, एक बालक तो आप के यहां ऐसा होता है, जिसे कोई बात एक बार बतायी नहीं, कि वह उसे याद हुई नहीं। वह उसे केवल याद ही नहीं हो पाती; वरन् अपनी छोटी ही अवस्था में, वह उसे इस प्रवीणता के साथ भी करने लगता है, कि जिसे देख देख कर संसार के बड़े बड़े उस विषय के पंडित अपने दाँतों तले अंगुली देते हैं। सज्जनो! यह क्या है? यह उस के पूर्व जन्मों की गाढ़ी कमाई का फल मात्र है। यह उस की उस विषय में, जन्म-जन्मान्तरों की कड़ी रगड़ का जीवित परिणाम मात्र है। और कुछ भी नहीं। फिर, उसी घर में कोई एक दूसरा बालक ऐसा भी दिख पड़ता है, जिसे आप किसी एक बात को जन्मभर समझाते समझाते थक जाते हैं। पर वह उस के सिर ही में नहीं बैठती। यहाँ लाचार हो कर आप को यह मानना पड़ेगा, कि इस विषय में उस के पूर्व जन्मों की कोई जानकारी उस के अपने पास संचित नहीं है। वह बेचारा करे भी तो क्या? इन्हीं बातों पर ध्यान रखते हुए, पाठको! अब अपने मुख्य विषय की ओर आइये।

पहले पहल उपाध्याय जी ने राजकुमार को अ, आ, आदि लिख कर बोलना बताया। तब एकान्त में बैठ कर उन्हें याद करलाने के लिए उन से कहा। राजकुमार ने सम्पूर्ण वर्णमाला अध्यापक को लिख कर बता दी और पूरी पूरी बोल भी दी। उपाध्यायजी ने समझा, कुमार उच्च वंश के हैं। माता पिता भी विद्वान् हैं। इतना ज्ञान तो उन्हों ने राजकुमार को घर पर ही करा दिया होगा। इस में कोई विशेषता की बात नहीं है। अब गिनती के कुछ अंक, दूसरी वार उन की पट्टी पर लिख दिये गये राजकुमार ने इस के उत्तर में, कुछ ही देर के बाद, सारी गिनती और पहाड़े लिख कर बता दिये। उपाध्याय ने इस

बार भी पहले ही का कारण समझ कर, कोई अचरज जैसी बात न समझी। तीसरी बार, उन्हें कुछ जोड़ बाकी सम्बन्धी सवाल दिये गये। उन्हें उन्हों ने तुरन्त ही हल कर दिया। चौथी बार, कुछ और भी ऊँची श्रेणी के सवाल डाले गये। राज-कुमार उन्हें भी हल कर लाये। अब तो अध्यापक बच्चे की उम्र, और दिये हुए काम की कठिनाई का सम्बन्ध, अपने मन में लगाने लगे। इस बार उन्हें कुछ अचरज भी हुआ। राज-कुमार की प्रखर बुद्धि की वे मन ही मन में सराहना करने लगे। पांचवीं बार, उन्हों ने उन्हें वे प्रश्न पूछे, जो उन के विद्यालय की अन्तिम कक्षा की योग्यता के थे। राज कुमार ने हँसते हँसते बड़ी ही आसानी और शीघ्रता के साथ उन्हें भी हल कर दिया। उपाध्याय का आश्चर्य और भी बढ़ा। वे उन्हें बड़ा ही प्रतिभावान् बालक समझने लगे। साथ ही, उन्हों ने ऐसे शान्त, गम्भीर, हँसोड़ और प्रतिभावान् बालक को पाकर अपने विद्यालय की बड़ी भारी शोभा भी समझी। यों अध्यापक बड़े ही पशोपेश में थे, कि राज-कुमार को यहां सिखाना क्या चाहिए? जो भी सीधी से सीधी और कठिन से कठिन यहां की बात इन के सामने रक्खी जाती है, उन सब बातों में तो ये पूरी तरह पारंगत हैं। तदपि, उपाध्याय ने उन के सामने कुछ ऐसे आड़े-टेढ़े प्रश्न रक्खे, जिन में स्वयं अध्यापक की बुद्धि भी गति-हीन थी। राजकुमार ने उसी अपने हँसी और आसानी के रफ़्तार से, उपाध्याय को उन की भिन्न भिन्न बारीकियों को सुलझा के दिखा दी। तब अध्यापक की कुछ आँखें खुलीं। अब तो उन्हों ने उन्हें एक बालक के रूप में किसी महा पुरुष को देखा। वे मन ही मन में तरह तरह के तर्क वितर्क करने लगे। कभी वे सोचते, कि राजा ने इन्हें मेरे पास पढ़ने को क्या भेजा है, दरअसल में, मेरी परीक्षा लेने के लिए इन्हें यहां पठाया है। कभी उन्हें अपनी आजीविका के छिन जाने का भय हो आता। कभी वे सोचने लगते, "यों ही कुछेक दिन मैं और निकल जाने दूँ। तब मैं इन्हें अपने साथ ले कर, राजा के पास जाऊँगा। वहां राजा से या राज-सभा के किसी विद्वान् से इन की परीक्षा लेने को कहूँगा। मेरा विश्वास है, कि राज-कुमार उन की परीक्षा में भी बाल बाल पूरा उतरेंगे। बस, फिर तो चारों ओर से मेरी प्रशंसा होने लगेगी। धन तो तब मेरे हाथ का मैल रह जायगा। मुँह मांगा धन पाऊँगा। और घर आऊँगा। राज्य में मेरा नाम फैल जायगा। राजा के घर में मेरी पग-फेरी होना शुरू हो जायगी। फिर, मुझे कभी

ही किस बात की रह जायगी ? सभी ओर से पौबारह ही पौबारह मेरे जीवन में देखने को तब मिलेगा।" इन तरह तरह के तर्क-वितर्कों और चिन्ताओं के मारे बेचारे अध्यापक के नाकों दम आ गया था। उपाध्याय को बिना ही कारण ऐसी चिन्ता में फँसा देख, एक बूढ़े ब्राह्मण के वेश में इन्द्र देव वहां आये।

इन्द्र देव ज्योंहीं उस विद्यालय में पहुंचे, त्योंहीं परस्पर के नमस्कार और कुशल-प्रश्न की रस्म-अदाई पहले हुई। फिर, कुछ ही देर के पश्चात्, उस वृद्ध ब्राह्मण के वेष को धारण करने वाले इन्द्र देव ने उपाध्याय जी से कुछ महत्त्व-भरे शास्त्रीय प्रश्न पूछे। उन्हें सुन कर उपाध्याय जी और भी घबराये। वे कहने लगे, कि "हाय ! इस बालक वर्द्धमान् से तो, मैं दुखी पहले था ही ! यह दूसरी बला मेरे सिर पर और कहां से आ गयी ? हा प्रभु ! क्या, मेरी आजीविका ही के,ये लोग ग्राहक बने हैं ? इतना सोचते सोचते उन्हों ने बड़ी ही करुणा-भरी दृष्टि से राज कुमार वर्द्धमान् की ओर देखा। इतने ही में राजकुमार बोल पड़े, कि "क्या, पण्डितजी इन प्रश्नों का उत्तर मैं ही दे दूं ? उपाध्याय जी तो इस बात की राह ही देख रहे थे। जिस से उन की लाज किसी तरह उस समय रह जाय। इन्द्र ने इस बात को भली भांति जानते हुए भी, उस ओर ज़रा ऊपरी लापरवाही और हीनता दिखायी। वे कहने लगे, "जिस बात को सुलझाने में, स्वयं उपाध्याय जी सरीखे पंडित पुरुष भी ज़रा बुद्धि और सोच-विचार का समय रखाते हैं, उसे, यह ज़रा सा बालक, 'छोटे मुंह बड़ी बात' के न्याय से, छुड़ादेने को कहता है" उधर राजकुमार को कहां चैन था ? वे बोले, "अच्छा वृद्ध महोदय ! सुनिये। यों कह, उन के सम्पूर्ण प्रश्नों के उत्तर, न्याय-संगत और युक्ति-युक्त रूप से, वे राजकुमार देने लगे और, जिस बात को सुन कर, उन के उपाध्याय जी बड़े ही असमंजस में पड़ गये थे, उस का निपटारा उन्हों ने ज़रा ही देर में वहां सब के सामने कर दिया। अध्यापक ने और अन्य पास के लोगों तथा छात्रों सभी ने अपने दांतों अंगुली लगायी। तथा राज-कुमार के ऊपर चारों ओर से "शाबास" की वर्षा होने लगी। अध्यापक को बालक की विद्या और अप्रातिम बुद्धि पर जहां हर्ष हुआ; वहां उन्हें अपनी विद्या और बुद्धि के प्रति, हृदय में बड़ी भारी ग्लानी भी हुई। जिस की झांई उस समय उन के चेहरे से दर्शकों को भली प्रकार दिखाई पड़ती रही होगी।

उस वृद्ध ब्राह्मण के वेष में इन्द्र ने फिर उस बालक के प्रति, एक एक करके

नीचे के दश प्रश्न और रक्खे । बालक ने उन का अर्थ करते समय, उन के प्रत्येक अंग-प्रत्यंगों पर पूरा पूरा प्रकाश डाला । और प्रत्येक विषय का स्पष्टी-करण उन्हों ने इस भांति किया, कि प्रत्येक साधारण से साधारण व्यक्ति भी उसे सरलता-पूर्वक समझ कर, पूरे पूरे रूप में उस को ग्रहण कर सके। इस समय भी राजकुमार की मुख-मुद्रा शान्त,गम्भीर,और बड़ी ही प्रसन्न दिख पड़ती थी। जिन बातों का साँगोपाँग वर्णन करने के लिए पंडित लोग भी ज़रा चक्कर में पड़ जाते हैं; और उन के विचार के लिए अवधि चाहते हैं; राजकुमार ने उन्हीं पेचीदा बातों को, वहीं की वहीं, बात की बात में,कह समझाया। वे प्रश्न इन पर थे-(१)संज्ञा-सूत्र। (२)परिभाषा सूत्र। (३)विधि सूत्र। (४) नियम सूत्र (५)प्रतिसेठ सूत्र। (६) अधिकार सूत्र। (७) अतिदेश सूत्र(८)अनुवाद सूत्र।(९)विभाषा सूत्र। और(१०) निपात सूत्र।

कहते हैं, भावी भगवान् के मुँह से निकले हुए, इन्हीं प्रश्नों के स्पष्टी-करण ने आगे चल कर एक बृहद् व्याकरण का रूप धारण किया।

राज-कुमार के मुंह से इन बातों का उत्तर सुन कर, उपाध्याय जी के अचरज की अब तो सीमा ही न रही। वे मन ही मन कहने लगे, राजा ने अवश्य मेरी परीक्षा ही के लिए इन्हें पाठशाला में बैठाया है। अब इन्हें अधिक समय तक यहां बैठाये रखना ठीक नहीं। राजा के पास इन्हें अपने साथ ले कर चलना चाहिए। और, इन की सम्पूर्ण आश्चर्यमयी बातों का, जो इन के द्वारा यहां आज तक घटी हैं, बिलकुल अथ से इति तक, राजा के सामने चल कर वर्णन कर देना चाहिए। नहीं तो, एक दिन रोजी भी चली जायगी और बड़ी मुश्किल से कमाये हुए अभी तक के यश से भी हाथ धोना पड़ेगा। यह विचार कर वे उन्हें राजा के पास ले चलने को तैयार हुए। वृद्ध ब्राह्मण के वेष में इन्द्र देव ने भी उपाध्याय जी के इस काम का समर्थन किया और कहा, "मुझे तो, उपाध्याय जी! यह बालक बड़ा ही चमत्कृत मालूम पड़ता है। इस छोटी सी अवस्था में इस के ज्ञान और प्रतिभा की यह प्रखरता है, तब न मालूम आगे चल कर तो यह अपने समय का कैसा अपूर्व औ स्वयंबुद्ध विद्वान् निकलेगा। मेरा तो अनुमान, और विश्वास है, कि निकट पड़ौस ही में यह जगत् में एक बड़ा ही विचित्र महा पुरुष भी सिद्ध होगा। इतनी बुद्धिमत्ता रखते हुए भी, अभिमान का तो इस के पास आभास तक भी नहीं है। इस के इन लक्षणों से जान पड़ता है, कि जहां यह अपनी विद्या और बुद्धि से शास्त्रों का मंथन तो करेहीगा; वहां संयम, सत्य,

त्याग और अहिंसा का सुंदर सबक भी यह संसार को सिखावेगा। मैं इसके इन गुणों को देख कर बड़ा ही प्रसन्न हो पाया हूँ। मैं अन्तःकरण से इसे आशीर्वाद देता हूँ कि, "यह शीघ्र ही फलेफूले और संसार के दुखी जीवों के ताप को मिटाने में सचमुच में सहायक बने।" यों कह कर ब्राह्मण अपने स्थान की ओर चलते बने; और उपाध्यायजी राजकुमार महावीर को ले कर राजा के पास चले।

राज-कुमार महावीर के साथ उपाध्यायजी का
राज महल में प्रवेश

राज-कुमार को ले कर उपाध्यायजी राजमहल में राजा के सम्मुख आये। राजा ने उन का यथोचित सत्कार किया। तदनंतर आसन देकर उन्हें बैठाया। कुशल-प्रश्न के पीछे राजाने उन के आने का कारण पूछा। उपाध्यायजी लज्जा, हीनता और प्रेम-सने भावों के साथ सत्य का मिश्रण कर के बोले, "राजन्! आप के यह राजकुमार युगयुगान्तरों तक संसार में चिरजीवित रहे। इस छोटी सी अवस्था में ये तो इतने प्रखरतम बुद्धिवाले हैं, कि जिस के ज्ञान के आगे मेरी कोई हस्ती नहीं है। मैं क्या, दूसरे विद्वान् भी इन की बुद्धि, ज्ञान और प्रतिभा का लोहा मानते हैं। बड़े बड़े विद्वानों और बुजुर्गों का मत है, कि ये अति शीघ्र ही अपनी प्रतिभा और बुद्धि से संसार को चकित करेंगे। संसार इन्हें उस समय 'स्वयं-बुद्ध' के नाम से पुकारेगा। इन के स्वभाव में अभिमान, मात्सर्य, आदि कषायों की ज़रा भी छाया नहीं है। इन लक्षणों से मालूम होता है, ये अपने समय के एक अपूर्व त्यागी और अहिंसा के कट्टर पोषक भी होंगे। मेरे अपने विद्यालय में जब से इन का प्रवेश हुआ, तब से अभी तक मैं ने तो एक अक्षर भी इन्हें नहीं सिखाया। हां, इन के विद्यालय में आ भर्ती हो जाने से, मेरी अनुभव और ज्ञान-शक्ति में वृद्धि अवश्य हुई है। मुझे अपने ज्ञान और विद्या के अहंकार पर ग्लानि होने लगी है। इन की छोटी सी उम्र की चकित कर देने वाली प्रतिभा-शक्ति, विद्यालय के अनेकों बूढ़े और सोते हुए छात्रों को सजग कर देने में बड़ी ही सहायक हुई है। उन के ऊपर राजकुमार के आदर्श स्वभाव की छाप तो बड़ी ही गहरी पड़ी है। तब क्या मैं कहूं, कि आप ने केवल मेरी परीक्षा के लिए ही राज कुमार वर्द्धमान को विद्यालय में भेजे थे? इस में ठकुरसुहाती और झूठाई का नामनिशान भी नहीं है।"

राजा सिद्धार्थ ने बदले में प्रेम और विनम्रता-पूर्वक कहा, " उपाध्यायजी! बात

ऐसी नहीं है। आप कभी ऐसी बात न समझें। आप परिडतों की परीक्षा? यह उलटी बात कैसी? यह बाल्यावस्था पठन-पाठन ही के लिए है। व्यवहार के लिए ऐसा करना आवश्यक भी है और था। इसी अवस्था में विद्याध्ययन का प्रारम्भ भी करना चाहिए। लोक-मर्यादा की रक्षा और प्रतिपालना भी तो ऐसे ही होती आयी है। अगर समय पर ऐसा न किया जाय, तो जगत् से सुकर्मों के लोप हो जाने की सम्भावना बनी रहती है। फिर, यह बात दूसरी है, कि पूर्व जन्मों के संस्कारों की प्रबलता और निर्बलता के अनुसार, किसी को केवल याद मात्र दिलाने से ही उन बातों की पूरी पूरी स्मृति उस के हृदय में जाग उठती है। किसी को कुछ काल तक बताते रहने पर, उन का उस को साधारण ज्ञान हो पाता है। और, किसी को बार बार या जीवन भर तक बताते रहने पर भी वे बातें उसे याद नहीं होतीं। जो कुछ भी हो। आप के विद्यालय में आने से, इस को पूर्व-जन्मों के ज्ञान की स्मृति तो जाग उठी। यह भी क्या कम महत्त्व की बात है? अतएव आप अपने मन को ज़रा भी मलीन न कीजिये। आप के सत्य-सने व्यवहार को देख और अनुभव कर, मुझे बड़ी ही प्रसन्नता होती है। मैं आप जैसे लोगों से आशा भी ऐसी ही रखता था। और यही कारण था, कि बच्चे को मैं ने आप के सुपुर्द कर दिया था। मेरी तो इच्छा थी, कि बच्चा कुछ काल तक और भी आप के विद्यालय में रहे और सयाने बने; परन्तु जब यदि आप ही की ऐसी भावना है, तो अच्छा, बालक को अब यहीं रखे लेता हूं।" यों कह सुन कर, राजा सिद्धार्थ ने उपाध्यायजी को विपुल धन, भेंट-स्वरूप, राजकुमार वर्द्धमान के हाथ से दिलाया। और अन्त में, उन का उचित सत्कार कर के, प्रेम-पूर्वक उन्हें विदा किया।

पाठको! देखा, प्राचीन भारत के अध्यापकों का शिष्यों के प्रति व्यवहार और उन के अपने सिर उन की ज़िम्मेदारी का भार? बालकों के माता-पिता की भी गाढ़ भक्ति उन लोगों में रहती थी। शिष्य भी कैसे शिष्ट होते थे? वे सदा सर्वदा किसी प्रकार अध्यापक के प्रीति-भाजन बने रहते थे? एक दूसरे के हृदय में किस सुन्दर सुहृदता की भावना परस्पर होती थी? क्या, अध्यापक और शिष्यों का वह सुखद और हितकर सम्मिलन फिर भी भारत में कभी देखने को मिलेगा?

प्रकरण—नौवां

राज कुमार वर्द्धमान का विवाह और सिखवन

पाठकों ने राजकुमार वर्द्धमान की बड़ाई उन के उपाध्याय के मुख से सुन ली। आगे चल कर, उन की प्रखरतम प्रतिभा और शारीरिक शक्ति की अनेकों आश्चर्य भरी घटनाओं को लोगों ने समय समय पर और भी देखा-सुना। उन की इन घटनाओं से, लोगों के हृदयों में उन के प्रति बड़ी ही श्रद्धा जाग उठी। अब जनता ने उन की अद्भुत कार्यावली को देख और सुन कर, उन के उपनाम 'महावीर' ही के नाम से उन्हें पुकारना आरम्भ किया। जो उन के गुण और कर्मों के सर्वांश में अनुरूप था। उन की प्रत्येक बात में महापुरुषत्व भी कूट कूट कर भरा था। लोग बार बार सोचते और कहते, "हो न हो, ये कोई बड़े भारी महापुरुष संसार में आये हैं। अवश्य जान पड़ता है, कि इन के द्वारा जगत् के जीवों का बड़ा ही हित होने वाला है। इन के शारीरिक लक्षण, कार्य और अनुपम प्रतिभा भी इस बात की अक्षरशः गवाही दे रहे हैं।" यों, अपनी बाल लीलाओं से, अपने माता-पिता, पुरजन और परिवार के समस्त लोगों को, अचम्भित, आनन्दित और आशान्वित बनाते हुए, राज-कुमार, शुक्ल पक्ष के वर्द्धमान चन्द्रमा की भांति रोज़ रोज़ बड़े होते जाते थे। क्रमपूर्वक धीरे धीरे बढ़ कर, उन्होंने बालकपन से एक दिन तरुणाई के राजद्वार में प्रवेश किया।

जन्म से ले कर आज तक की अनेकों चमत्कार पूर्ण और नवीनता-भरी

घटनाओं से, अपने प्राण-प्रिय कुमार के भावी जीवन की गति-विधि का निश्चयात्मक पता, जो भी उन के माता-पिता ने आज से बहुत पहले ही लगा लिया था; तथापि, अपने प्राण-दुलारे पुत्र के सुलभ स्नेह के वश हो कर, उन के माता-पिता ने उन के अनुरूप एक आदर्श कन्या की खोज करना भी प्रारम्भ कर ही दी। उधर, समरवीर नाम के एक तत्कालीन प्रसिद्ध राजा ने भी अपनी यशोदा नामक कन्या को विवाह के योग्य समझा। उस ने जगह जगह उत्तम वर की छान बीन करने के लिए दूतों को भेजा। कुछ दूतों ने वापस आ कर, राज कुमार वर्द्धमान् की अनुपम प्रतिभा और चमत्कृत विद्या-बुद्धि का वर्णन राजा समरवीर के सम्मुख किया। उस ने ज्योंही इस शुभ संदेश को सुना; बड़ा ही आनंदित हुआ। तुरंत ही उस ने स्वामि-भक्त कुछ राज-दूतों को सिद्धार्थ के दरबार में भेजे। और, उन के द्वारा उन से अपनी कन्या का विवाह राज-कुमार वर्द्धमान् के साथ कर देने की अपनी प्रार्थना और इच्छा प्रकट की। सिद्धार्थ ने आये हुए राज-दूतों का समुचित स्वागत किया। परस्पर वार्तालाप छिड़ने पर सिद्धार्थ ने कहा—"त्रिशला देवी और मैं, दोनों हृदय से चाहते हैं, चाहते ही नहीं, प्रयत्नशील भी हैं, कि हम लोग अपने जीते जी राज-कुमार वर्द्धमान् के विवाह महोत्सव को अपनी आंखों देख सकें। परंतु वर्द्धमान् के विचित्र कार्य, सदाचारी स्वभाव, और दयार्द्र भावों में अपूर्व उत्साह की झलक के साथ, उन के असाधारण त्याग और संयमशीलता को देख देख कर, एक ओर जहां हमारा हृदय आनंद से बांसों उछलने लगता है; वहां दूसरी ओर, उन के द्वारा संसार-त्याग का भय भी हमारे हृदयों को सदा कँपाता रहता है। संसार के प्रति वैराग्य भाव उन के आज के नहीं है। जब से वे पैदा हुए हैं, तभी से ये भाव आज तक उन के अंदर, बराबर बढ़ते ही चले जा रहे हैं। हम ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में, कठिन से कठिन विषाद और अधिक से अधिक हर्ष के समय, उन के वैराग्य भाव सदा एक ही से देखे सुने हैं। यही कारण है, कि हमारे प्रयत्नवान् रहने पर भी, कुमार के सामने अभी तक हम लोग उन के विवाह के विषय को नहीं छेड़ सके हैं। कुमार के सम्मुख इस प्रस्ताव को रखने का साहस भी हमने कई बार किया; परंतु हर बार अंत में यह समझ कर, कि कुमार की संयम-सनी ज़बर्दस्त त्याग-भावनाओं की दलीलों के सामने हमारा यह साहस टिकनेवाला ही कब का है, हम वैसा न कर सके। आज आप का साथ पा कर, हम इस विषय को राज-कुमार के पास पहुँचाने का प्रयत्न और

कर देखेंगे। उन के सखा और सुहृद् लोगों के हाथ, इस काम की ज़िम्मेदारी आज अपन सौंपेंगे। सम्भव है, उन के द्वारा आप की राज-कन्या के सौभाग्य से, हमारी मनशा कुछ फलीभूत हो जाय।

तदनन्तर मौक़ा पा कर, राजा सिद्धार्थ ने वर्द्धमान् के सखा और सुहृद् लोगों को राज-महल में बुला भेजा। उन के आ जाने पर, राजा ने उन की आज की ज़िम्मेदारी समझायी। और उसे सफल बनाने की आशा में, उन्हें तरह तरह का प्रलोभन भी दिया गया। वे लोग विवाह के प्रस्ताव को गौण बना कर, सदा की भांति राज-कुमार के पास पहुंचे। वहां पहुंच कर वे अपने अपने नित्य के कामों में लग गये। फिर, वे एक निश्चित समय में राज-कुमार के पास इकट्ठे हुए। इधर उधर की बातें करते कराते, अंत में वे राज-कुमार के विवाह की बात पर आये। कुछ चुने हुए सखाओं के द्वारा, राज-कुमार के सम्मुख उन के विवाह का प्रस्ताव रक्खा गया। सभी सखाओं ने उस समय उस का एक स्वर से समर्थन भी किया। राज-कुमार के कानों में ज्योंहीं यह बात पहुँची, वे बोले।

राज-कुमार—सखाओ! तुम सदा मेरे साथ रहते करते हो। मेरे स्वभाव से भी तुम भली भांति परिचित हो। संसार के प्रति उपराम के भावों को भी, शायद सदा से तुम मेरे अंदर देखते आये होंगे। फिर भी ऐसी बात तुम मुझे कहते हो! मुझे तुम्हारे इस प्रकार के, गंदले विचारों पर, बड़ी ही दया आती है।

सखा-लोग—प्यारे कुमार! जो भी हम लोग इन उत्तम विचारों से भली भांति परिचित हैं; आप का सुन्दर साथ पा कर जोभी हम ने भली भांति जान पाया है, कि संसार से विरक्त रहने में जो आनन्द है, उस का शतांश भी संसार का साथ करने में नहीं है; तथापि, हम आप ही के विचारों के साथ रह कर, माता-पिता की आज्ञा का पालन करना-करवाना भी अपना परम कर्तव्य और धर्म मानते हैं। आप के माता-पिता, आप जैसे आदर्श कुमार को पा, जहां अपना परम सौभाग्य मानते हैं; वहां वे उन की मुख-कृति से, अब आप के विवाह महोत्सव को देखने के लिए भी छटपटाये से दिख पड़ते हैं। यह तो हुई आप के अपने माता-पिता की बात। तब हमारे माता-पिता भी, उस शुभ दिन और शुभ घड़ी को देखने के लिए कुछ कम लालायित नहीं हैं। वे तो उस दिन को देखने के लिए मानो मुँह धोये ही बैठे हैं। मनुष्य-जीवन की

आयु की अल्पता और उस की महत्ता को समझते हुए, मामला यद्यपि बड़ा बेढब सा जान पड़ता है, तथापि माता-पिता के प्रति कर्तव्यों का पालन कर, उन्हें प्रसन्न बनाना, यह भी मनुष्य-जीवन का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। फिर, आज तक के हमारे अपने साथ में रहते हुए, ऐसा मौक़ा कभी एक बार भी नहीं आया है, जब कि आप के करुण-हृदय ने हमारी प्रार्थनाओं को अस्वीकार किया हो। तब क्यों न हम मान लें, कि आज भी हमारी प्रार्थना, आप के द्वारा अवश्यमेव स्वीकृत होगी!

राजकुमार—ऐ मेरे विचारवान् सखाओ! जान पड़ता है, कि तुम ममत्व के कीचड़ में फँस गये हो। मेरे साथ रह कर, पहले तो तुम्हारा यह विचार ही दूषित है। दूसरे, तुम कहलाने को तो मेरे सखा और सुहृद् हो; परन्तु करणी तुम्हारी मुझे फँसा मारने की हो रही है। तुम भली भांति जानते और मानते हो, कि स्त्री, पुत्र, परिवार, आदि का परिग्रह और ममता ही भव-भ्रमण के मूल कारण हुआ करते हैं। ये ही लोग अपने स्वरूप-ज्ञान में मुख्यतः बाधक बनते हैं। फिर, सखाओ! इन का साथ तो हर एक योनि में रहा है। क्या, फिर भी अभी तक इन की ओर से तृप्ति नहीं हुई? यह मनुष्य-तनु बड़े भाग से मिला है। प्राणी इस योनि में केवल, आदर्श जीवन बिताने और उस के द्वारा निर्वाण-पद की प्राप्ति करने को यहां आता है। भोग भोगने को नहीं। फिर, इन का साथ यहां कर, खाने, सोने,खेलने और मेलों-ठेलों में क्यों घूमते रहना चाहिए? यह बहार तो केवल इने गिने दिनों की रहती है। स्त्री ही की संगति कर बड़े बड़े लोग मर मिटते हैं। अतएव भाई! जो तुम सच्ची शान्ति चाहते हो, तो इस बला से बचने का प्रयत्न करो। और दूसरों को भी अपने बल-भर बचाओ। मैं तो अभी तक दीक्षा कभी की ग्रहण कर चुकता; पर एक इसी विचार से, कि मेरे ऐसा कर लेने पर, मेरे माता-पिता को मेरी जुदाई का दुख असह्य वेदना देनेवाला होगा, मैं आज तक दीक्षित नहीं हो सका हूँ।

यों कुछ देर तक दोनों ओर से खूब ही बहस चलती रही। राज-कुमार की अकाटय दलीलों के आगे, सखाओं की दलीलों ने मुंह बन्द कर लेना उचित समझा। विजय का सेहरा राजकुमार ही के विशुद्ध विचारों को बंधा। वे लोग हताश हो कर अब वहां से उठना चाहते ही थे, कि इतने ही में त्रिशला देवी का आगमन वहां हुआ। राज-कुमार ने, तथा अन्य बैठे हुए कुमारों ने उठ कर, उन

के प्रति समुचित सम्मान प्रकट किया। फिर, वर्द्धमान हँस कर बोले, "माता! आप आयीं, यह तो बड़े ही आनन्द की बात मेरे लिए है। परन्तु इतना कष्ट उठाने की जरूरत ही आप को क्या थी? अच्छा होता, कि आप मुझे बुला भेजतीं। मैं उसी समय आप की सेवा में आ हाज़िर होता।"

त्रिशला देवी—मेरे प्यारे लाल! मेरे जन्म जन्मान्तरों के पुण्य कर्मों के उदय होने ही से, मैं ने तुम सरीखा सर्व गुणसम्पन्न, धीर और वीर बालक पाया है। बड़े बड़े ज्योतिषियों का कहना है; और हम लोग भी जिस बात को तुम्हारे गुण, और स्वभाव से नित-प्रति देखते, सुनते और अनुभव करते आ रहे हैं। जैसे जैसे समय बीतता जा रहा है, वैसे ही वैसे वह अधिकाधिक सिद्ध होती जा रही है। संसारी जीव जिन के शुभ दर्शनों के लिए सदा उत्कंठित से बने रहते हैं, वही तुम पुत्र रूप से मेरी कोख के द्वारा प्रकट हुए हो। यह बात मेरे लिए, मेरे पितृ और ससुर वंशों के लिए, मेरी जाति और मेरे देश के लिए कम गौरव और सौभाग्य की बात नहीं है। मुझे यह भी जान पड़ता है, कि जगत् के जीवों के उद्धार के हेतु ही तुम्हारा यहां आगमन हुआ है। यह सब कुछ देखते, सुनते और अनुभव करते हुए भी, मेरा और तुम्हारे पिता का संसारी हृदय, तुम्हारे अन्दर अपने पुत्र होने की भावना को भूलने और छोड़ने के लिए अभी तैयार नहीं है। अभी तक हम लोग तुम्हें अपना पुत्र ही कर के मान रहे हैं। और यही कारण भी है, कि मैं तथा तुम्हारे पिता और परिवार के सभी लोग तुम्हारे विवाह महोत्सव की शुभ घड़ी को देखने के लिए बड़े ही उत्कंठित हो उठे हैं। हम चाहते हैं, कि तुम्हारे नाते अब हम अपनी प्यारी पुत्र-बधू को भी देखें और लाड़ लड़ावें। मेरे लाल! कितना अच्छा हो, यदि तुम अपने करुण हृदय और सदाचरणशील स्वभाव से, केवल हम लोगों को प्रसन्न करने के निमित्त ही, मेरी इस छोटी सी नम्र बात को मान लो बेटा! तुम्हारे उज्जल कार्य और तुम्हारी प्रखरतम प्रतिभा का यश जगत् में घर घर फैले। जगत् के भूले भटके लोग तुम्हारे आदर्श विचारों के सुन्दर मार्ग में चल कर अमर शान्ति का अनुभव करें। लाल! तुम्हारे जीवन की छोटी से छोटी घटना, जगत् के दुखी जीवों के लिए दीपस्तम्भ का काम दे। मेरा तुम्हें यही कहना है।

माता इतना कह कर चुप हो गयी। राज-कुमार अब तो बड़े ही असमंजस में पड़े। उन की मानसिक त्याग की वृत्तियों और माता त्रिशला के मन की परि-

ग्रह वाली भावनाओं में, कुछेक देर के लिए घोर युद्ध सा छिड़ गया। अन्त में राज-कुमार ने निश्चय किया, कि माता-पिता के मन का परितोष करना पुत्र का सब से पहला और प्रधान धर्म है। अतः कुछ भी हो, वर्तमान में अपने माता पिता की आज्ञा को मान लेना यही मेरे लिए श्रेयस्कर है। इस निश्चय के अनुसार, उन्हों ने अपनी माता और सखाओं को सम्बोधन कर के कहा, कि "जो भी इस विवाह सम्बन्धी बात में, मुझे तो तनिक भी सुख और सौन्दर्य दृष्टि-गोचर नहीं होता, तब भी मेरे माता-पिता, परिजन और सखाओं के हित, स्वार्थ, और सुख की रक्षा, मेरे विवाहित होने से हो सकती हो, तो उन के हित, स्वार्थ और सुख के लिए मैं अपने हित, स्वार्थ, और सुख को भी हंसते हंसते त्याग सकने के लिए तैयार हूँ। मुझे इस में ज़रा भी आपत्ति और असमंजस नहीं है। यह आप निश्चय रखिये।"

इस बात को राज-कुमार के मुख से सुनते ही माता और सखाओं के हृदय उल्लसित हो उठे। राजकुमार के करुणा-पूर्ण हृदय और कोमल स्वभाव की उन्हों ने भूरि भूरि प्रशंसा की। तब वे वहां से उठ कर अपने अपने स्थान को गये। माता त्रिशला भी राज-महल में आगयी। रानी के द्वारा राजा सिद्धार्थ ने इस घटना को सुना। उन की भी हृदय-कलिका खिल उठी। आये हुए राज-दूतों ने भी इस बात को राजा के द्वारा जाना। उन्हों ने अपनी राज-कन्या और उस के पिता के परिवार के भाग्य को बार बार सराहा। गांव में भी यह मंगल समाचार फैला। सभी ने बड़ा हर्ष मनाया। बड़े समारोह के साथ, यशोदा का वाग्दान आये हुए राज दूतों ने किया और विवाह की तिथि निश्चित कर, अपनी राजधानी की ओर वे लौट पड़े। उन के जाते समय, राजा सिद्धार्थ ने विपुल धन और मान के साथ उन का सत्कार किया।

राज-कुमार वर्द्धमान का वैवाहिक जीवन.

नियत समय पर कुमार का विवाह-महोत्सव बड़ी धूमधाम और समारोह के साथ मनाया गया। दूर दूर के बड़े बड़े लोग उन के विवाह में आमन्त्रित किये गये थे। उन्हों ने आ कर विवाह की शोभा को और भी बढ़ा दी थी। इस बार

भी कारावास से कितने ही क़ैदी लोग छोड़े गये; राज्य-कर माफ़ किये गये! लोगों को भेंटें और इनामें दी गयीं। यशोदा ने अपने यशस्वी पति को पाकर अपने भाग को सराहा। माता-पिता और परिवार के लोगों ने प्यारी पुत्र-वधू का मुखड़ा देखा। याचकों को दिल खोल कर दान दिया गया। यशोदा को भी, समर-वीर नृपति ने कन्यादान में हाथी, घोड़े, दास, दासी, और धन तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ विपुलता से दीं। राज्य में सभी जगह प्रायः इस महोत्सव का हर्ष मनाया गया। और राजा तथा राज-कुमार को जगह जगह से बधाइयां भेजी गयीं। इस काम से सभी को हर्ष हुआ। परन्तु राजकुमार की चित्त-वृत्ति में तिल-भर भी परिवर्तन नहीं हुआ। वह ज्यों की त्यों बनी रही। उन का मन पहले ही के समान उदासीन और समरस बना रहा। मानो, उनके माता-पिता और परिवार के लोगों को, यह उन के संसार त्याग की तैयारी की पूर्व सूचना थी। शरीर से वे गृहस्थाश्रम और राज-महल में रहते हुए भी, मन उन का संयम में रम रहा था। सामने आये हुए कर्म भोगों को कर्म-क्षय और वासना-त्याग के लिए वे भोगते अवश्य थे, परन्तु एक भोगी के नाते नहीं। कर्म भोग के सम्बन्ध में उन का प्रत्येक काम और मन की गति, सदा सर्वदा एक कर्मण्य उदासीन की भांति रहती थी। स्त्री, माता-पिता और संसार के धन तथा यश की लालसा भी उन्हें नहीं थी। और न किसी प्रकार का मोह ही इन में उन को था। उन का मन तो केवल परोपकार करते हुए, स्व-स्वरुप को पहचानने के लिए ही उतावला हो रहा था। जितना भी जल्दी हो सके, सर्व-संग परित्याग कर के, भिक्षाटन करते हुए, और संसार के दुखित जीवों को भय-मुक्त करते हुए निर्वाण-पद को प्राप्त कर लेना यही उन के जीवन और जन्म का एक मात्र उद्देश था। वे, यों अपने स्वयं के लिए तो जीवन मरण से मुक्त होने का पवित्र आचरण करते ही थे; परन्तु अपनी कृतियों से, अन्य संसारी पुरुषों को भी धर्माचरण करने का सीधा और सुन्दर सबक वे हर घड़ी पढ़ाते जाते थे। वे अपनी विद्या और प्रतिभा से सभी के संशयों को दूर करते। स्वयं पद पद पर सत्य का पूरा पूरा बर्ताव कर, अपने आसपास के लोगों को सन्मार्ग पर चलाने की चेष्टा करते। उन्हें दश-यति धर्मों का आचरण करते देख, लोग भी वैसा ही करने लगते। जो महा पुरुष अपने हृदय को भोग और योग दोनों अवस्थाओं में समरस रख सकते हैं, उन की उदासीनता, संसार के प्रति रहे हुए

द्वेष या निराशा में से कभी प्रकट नहीं होती। किन्तु हाँ, वस्तु-स्थिति की वास्तविकता के प्रकट हो जाने पर, उन में उन की वह उदासीनता कभी किसी क़दर छिपी भी नहीं रह सकती। संसार में रहते हुए सुख, दुख, विषाद और हर्ष के सभी भोगों को वे भोगते हैं; परंतु उन का संसारी जीवन, विचार-दृष्टि से देखने पर, जल में कमलवत् दिख पड़ता है। और होता भी वास्तव में ऐसा ही है। अपने सम्पूर्ण प्रारब्ध कर्मों की प्रकृति के साथ, अनासक्ति-भाव से भोग करते रहने, उस की निर्जरा करने और सम्पूर्ण कषायों के वातावरण में भी निश्चल-मन बने रहने का, मानो वे कठोरतम व्रत धारण कर के ही इस जगत् में आते हैं। राज-कुमार वर्द्धमान् ने इसी ऊपर की अवस्था में रहते हुए, वैवाहिक जीवन का कुछ समय बिता दिया। इस अवधि में, उन के महल में, जहां एक ओर, कुमार का मन संसार में जकड़ रखनेवाली नित नयी नयी भोग-विलास की बहु-मूल्य सामग्रियाँ, जुटी रहती थीं; वहाँ दूसरी ओर, कुमार का विराग-सना मन, उतनी ही अधिकाधिक प्रबलता से, संसार की असारता और अनित्यता का अनुमान कर, त्याग-भावों की ओर अग्रसर होता जा रहा था। परंतु राज-कुमार को, अपने अवधिज्ञान की उपस्थिति और साक्षी में की हुई अपनी प्रतिज्ञा की पूरी पूरी स्मृति थी। और, इसीलिए वे अपने पिता-माता की जीवित-अवस्था में, दीक्षा व्रत के धारण करने का, उन के सम्मुख, नाम लेना भी उचित और आवश्यक नहीं समझते थे। अस्तु।

विवाह के कुछ समय पश्चात् राज-कुमार के यहाँ एक कन्या की उत्पत्ति हुई। उस का नाम प्रियदर्शना रक्खा गया। आगे चल कर, उसी कन्या का विवाह, जामालि नामक उच्चवंशीय, एक समान वय, गुण, बल और विवेक, तथा विचारवाले राज-कुमार के साथ, सम्पन्न हुआ था।

एक समय, जब राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला बड़े ही वृद्ध हो चुके थे, परस्पर बैठ कर वार्तालाप करने लगे, कि "अपना शरीर अब तो बड़ा ही जीर्ण-शीर्ण हो गया है। जान पड़ता है, कि अब अपना अन्तिम समय बिलकुल निकट आ पहुँचा है। संसार के माया-मोह तथा कुमार वर्द्धमान के वात्सल्य-प्रेम में पड़ कर, अपन लोग दीक्षा धारण करने से अभी तक वंचित रह गये। यह काम अपने संसारी स्वार्थ और हित के लिए जो भी कुछ ठीक हुआ जान पड़ता

है; तथापि, अपने पारलौकिक-हित और लोकमर्यादा की रत्ता और स्थिति की दृष्टि से, यह उतने ही अंशों में बुरा भी हुआ है। परन्तु 'गयी सो गयी, अब राख रही को' के न्याय से जीवन के जितने भी दिन शेष हैं, उन का तो सदुपयोग कर ही लेना चाहिए। अतः अब संथारा कर के अपनी आत्मा को पवित्र करलेना ही परम श्रेयस्कर और न्याय-संगत जान पड़ता है। पीछे की चिंता का अपने लिए कोई प्रश्न नहीं है। ज्येष्ठ कुमार नन्दिवर्द्धन सब प्रकार से सुशील और आज्ञाधारी है। कुल की मान-मर्यादा की रत्ता वह भली भांति कर सकेगा। और, वर्द्धमान तो सब प्रकार से योग्य है ही। वह तो प्राणी-मात्र का प्यारा है। और, प्राणी-मात्र उस के साथ प्रेम करना, अपने शुभ कर्मों का उदय समझते हैं। " पति और पत्नी, दोनों का एक मत इस बात पर होते ही, संथारा लेने के लिए वे तैयार हो गये।

अपने अभिलषित व्रत की पूर्ति के लिए, पहले उन्होंने जगत् के जीव-मात्र के प्रति, दया की भावना अपने हृदय में की। फिर, तीन करण और तीन योगों से, हिंसा झूंठ, चोरी आदि अष्टादश पापों का शरीर, मन और वचन से परित्याग किया। तदनन्तर, अपने कृत पापों की आलोचना उन्हों ने की। एकान्त स्थान में घास का आसन बिछाया। और, उस पर बैठ कर, अपने शेष जीवन में अहार-पानी के ग्रहण करने का परित्याग किया। धर्म भाव तो, इन की नस नस में पहले ही से फैला हुआ था। क्यों कि ये, तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ भगवान् के संतानिया श्री केशीकुमार के श्रावक-श्राविकाओं के समुदाय में से थे। यों, कुछ समय तक, निर्विघ्न रूप से, हार्दिक भावना के साथ, आदर्श श्रावक और श्राविका के धर्म का पालन करते हुए, ये आनन्द-पूर्वक परलोक को सिधारे। यहां से वे बारहवें स्वर्ग में जा कर जन्मे। वहां से अपने कर्म-भोगों की समाप्ति हो जाने पर, महाविदेह क्षेत्र में उन का जन्म होगा। फिर, वहां पर, वे अपने सांसारिक ऐश्वर्य और सुख भोगों को ठुकरा देंगे। और दीक्षा-व्रत के ले लेने पर, अष्ट कर्मों का नाश हो जाने के बाद, वे वहां से मुक्ति में सिधारेंगे।

राज कुमार वर्द्धमान की आयु अट्ठाईस वर्ष की जब हुई, उन के माता-पिता का देहावसान हो गया। माता पिता का वियोग होने से, उन के परिवार और विशेष कर उन के बड़े भाई नन्दिवर्द्धन को बड़ा ही दुख हुआ। राजकुमार ने सब को

समयोचित सान्त्वना दी। इस पर भी उन के भाई के चित्त से मातृ-पितृ-वियोग की वेदना दूर न हुई। राजकुमार वर्द्धमान् ने उन्हें फिर समझाया--"भाई! मौत तो प्राणी मात्र के पीछे लगी हुई है। यहां जो जन्म ले कर आता है, अवश्य एक न एक दिन वह पीछा यहां से मर कर जाता ही है। यहां पर सदा सर्वदा के लिए न कोई आया और न कोई आता है। फिर इस में शोक करने की बात ही कौनसी है? यदि तुम शरीर के लिए शोक करते हो, तो वह तो नामकर्म के द्वारा बना हुआ पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड है। और आयु-कर्म समाप्त हो जाने पर उस से सम्बन्ध छूटना अनिवार्य है। यदि चेतन आत्मा के लिए शोक करते हो, तो वह अविनाशी है; अजर है; अमर है; और अजन्मा है। अतः ज्ञानी कभी भूल कर भी ऐसे मोह के चक्कर में नहीं पड़ते। उन्हें आत्मा की अजरता, अमरता, नित्यता, और अविनाशीपन का सदा ध्यान और ज्ञान रहता है। इसी से वे इन सम्पूर्ण मोहमय विचारों से रहित होकर, हर्ष और शोक को कभी प्राप्त नहीं होते। किन्तु अनजान लोग ही देह को आत्मा मान कर, इस प्रकार के शोक-मोह से व्यथित होते रहते हैं; और दिन रात घुलते रहते हैं। भाई! ऐसा समझ कर शोक को छोड़ो और अपने आगे के कर्त्तव्य में लगो। जन्म और मरण ही को संसार कहते हैं। ये जन्म और मरण तो इस के व्यापार मात्र हैं। अतः उठो, शोक को छोड़ो। यह तो कायरों और अज्ञानियों का काम है।"

राजकुमार के तत्त्व-भरे इन वचनों को सुन कर नन्दि-वर्द्धन का शोक और मोह दूर हुआ। फिर, उन्हों ने प्रजा के सर्वानुमत की रक्षा और परिपालना करने के हेतु, अपने प्यारे अनुज वर्द्धमान के प्रति, पिता के पद पर बैठने और राज्य-भार को अपने कन्धों लेने की प्रार्थना की। राजनीति के अनुसार तो, नन्दिवर्द्धन ही राज्य-भार के अधिकारी थे। परन्तु एक तो लोक-मत सब का सब राजकुमार महावीर की ओर था। जिस का कारण, उन के आदर्श सद्गुणों के साथ, उन का अपूर्व बुद्धि-कौशल, असाधारण प्रतिभा-शक्ति और वीरता-पूर्ण अनेकों चमत्कृत कार्य थे। दूसरे, नन्दिवर्द्धन का भी अपने अनुज पर अलौकिक प्रेम था। अपने अनुज के सद्गुणों की छाप, अभी तक उन के हृदय पर भी अच्छी पड़ चुकी थी। अतः हृदय से भी वे यही चाहते थे, कि राज्य की बागडोर यदि विवेकशील और वीर वर्द्धमान अपने हाथों ले लें, तो वे निश्चिन्त हो कर, आत्म-

कल्याण का मार्ग ढूंढ़ने में कुछ सफलता प्राप्त कर सकेंगे। परन्तु विरक्त हृदय वर्द्धमान इस प्रस्ताव को मानने वाले ही कब के थे? फिर, इस भार के धारण कर लेने में, एक तो लोक-मर्यादा के क़ानून की अवहेलना होती थी। दूसरे, उन के पवित्र जीवन का उद्देश्य ही कोई दूसरा था। अपने उस समय में, आत्म-राज्य का एकाधिपत्य प्राप्त करना, उनके जीवन का अन्तिम और प्रथम लक्ष्य था। तब वे इस तुच्छ राज्य के लोभ से मोहित ही क्यों होते? कुमार वर्द्धमान के इन त्यागमय भावों को देख और जान कर, अन्त में मन्त्री लोगों ने ज्येष्ठ कुमार नन्दिवर्द्धन ही को, सिद्धार्थ के स्थान बैठा कर, उन का विधि-पूर्वक राज्याभिषेक किया।

अपने ज्येष्ठ भाई को राज्यासन पर बैठे कुछ ही समय बीता होगा, कि वर्द्धमान एक दिन समय पाकर, अपने भाई के पास पहुंचे। भाई ने उन का यथोचित सम्मान कर उन्हें बैठाया और उन के आने का कारण पूछा। इस के उत्तर में राज-कुमार ने बड़े ही आतुर हो कर कहा, "भाई! इस संसारी जीवन से अब तो मैं पृथक् होना चाहता हूँ। अच्छा हो कि अब आप मुझे दीक्षा-व्रत धारण करने, और उस के द्वारा आत्म-कल्याण करने की अनुमति दें।" अपने कनिष्ठ भ्राता के इन वचनों ने, राजा नन्दिवर्द्धन के अन्तर-तल को वेध दिया। वे बड़े ही दुखित हुए। उन्हों ने बड़े ही उदास और शोक-सने शब्दों में कहा, "भाई! माता पिता ने तो मुझे छोड़ ही दिया है! अब तुम भी मुझ को छोड़ कर जाना चाहते हो! उन के वियोग-जनित दुख में, मेरे आंखों का पानी अभी सूखने भी नहीं पाया है, कि इतने ही में, प्राणी-मात्र के प्रति अपनी करुणा का अविरल स्रोत बहाने वाले कहला कर भी, तुम अपने भाई के जले हुए हृदय पर नमक छिड़कने के लिए, मेरे पास आये हो। भाई! तुम विवेकशील हो। मैं तुम्हें और अधिक कुछ भी नहीं कहना चाहता। जो तुम्हें उचित सूझे, मेरे, तुम्हारे और प्रजा-वर्ग के आवश्यक कल्याण की भावना अपने हृदय में रखते हुए करो।"

करुण-हृदय वर्द्धमान, अपने ज्येष्ठ भ्राता, राजा नन्दिवर्द्धन के दुख-पूरित शब्दों को और अधिक देर तक न सुन सके। वे वहां से उठ चले और शीघ्र ही अपने महल में आ बैठे। उन के कोमल हृदय पर भाई के उन शब्दों का बड़ा ही प्रभाव पड़ा। यों, एक ओर, परिवार का मोह उन्हें अपनी ओर खींच रहा

था। दूसरी ओर, भव-ताप-त्रसित जीवों के कल्याण की उत्कंठा उन्हें सता रही थी। कुछ देर एकान्त में बैठ कर उन्हों ने विचार किया। और अन्त में निश्चय किया, कि उन्हें अपने दीक्षा-व्रत को धारण करने के महत्त्व-पूर्ण सङ्कल्प से, कुछ दिनों के लिए और विरत रहना चाहिए। यह बात, जो भी उन की हृदय-तन्त्री की उठती हुई झनकार के राग से ज़रा भी मेल नहीं खाती थी, तब भी अपने ज्येष्ठ भ्राता और प्रजावर्ग को प्रसन्न करने का, उस समय, कोई अन्य उपाय अपने पास न देख, उन्हें यह बात स्वीकार कर लेनी पड़ी थी। और यों, उन्हें अपने निश्चित मार्ग से लगभग दो वर्ष के लिए और दूर सरक जाना पड़ा था। और इसी समय से आपने सचित्त पदार्थों का सेवन करना छोड़ दिया था।

अभी तक राज-कुमार यों करते करते पूरे पूरे अट्टाईस वर्ष और कुछ महीनों की आयु वाले हो चुके थे। अब उनके दीक्षा धारण करने के समय में एक वर्ष से कुछ ही ऊपर का समय और रह गया था।

जब भावी भगवान् महावीर की आयु के उन्तीस वर्ष बीत चुके, तब, अन्य पहले के तीर्थंकरों की भांति भावी भगवान् महावीर से भी लौकान्तिक देवों ने नम्रता पूर्वक मधुर मधुर शब्दों में यों निवेदन किया:-"हे जगत् के जीवों के सच्चे हितेच्छुक! हे मोक्ष-स्वरूप! जगत् को आप शीघ्र ही मोक्ष का सच्चा स्वरूप समझावें। जिस से पवित्र अहिंसा के फहराते हुए झण्डे के नीचे आ कर, संसार के प्राणी शान्ति, सुख और कल्याण का मार्ग ढूंढ़ सके।" तब तो भगवान् महावीर ने दान दे कर मोक्ष के प्रथम अंग, दान की श्रेष्ठता को जगत् के सम्मुख रखने की आवश्यकता समझी। अपने आदर्श उद्देश के अनुसार दान का देना उन्हों ने प्रारम्भ किया। ऐसे समय, भावी तीर्थंकरों के उद्देश और कार्य में बाधा न पड़ने के हेतु, तथा उन महापुरुषों के द्वारा मोक्ष के द्वार, सद्दान की प्रणाली जगत् को समझाने के विचार से, वैश्रमण देव, इन्द्र की आज्ञा से भण्डार सदा भरपूर रक्खा करते हैं। इस बार भी ऐसा ही हुआ। दान का वर्णन शास्त्रों में जगह जगह मिलता है। जो सदा सर्वदा दान दिया करता है, वह जगत् का प्यारा हो जाता है। उस के शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। दान ही जगत् में एक ऐसी चीज़ है, जो सम्पूर्ण बुराइयों को दूर कर देता है। फिर यदि

दान, श्रद्धा और मधुर भाषण के साथ दिया जावे, तो उस के लिए तो कहना ही क्या है ! कहा भी है, मधुर भाषण के साथ दान, नम्रता और निरभिमानता के साथ ज्ञान, क्षमा के साथ शूरता और त्याग के साथ धन, ये चारों कल्याण-कारी बातें, एक साथ किसी बिरले ही मनुष्य में पायी जाती है। राज-कुमार महावीर में, इन चारों बातों का एक ही साथ पूरा पूरा समावेश था।

इस के अतिरिक्त, राज-कुमार के ज्येष्ठ भ्राता नान्दिवर्द्धन ने भी, अपने प्राणप्रिय भाई के मनसूबे को सब भांति पूरा करने के लिए, जगह जगह कई प्रकार की दान-शालाएँ खुलवादीं। उन में अन्न, वस्त्रादि के सिवाय और भी कई प्रकार की वस्तुएँ दान में दी जाती थीं। अनाथ, सनाथ, अपंग, अपाहिज़, अन्धे, लंगड़े, लूले, काने, खोड़े, बहिरे और गूँगे, जो भी उन में जाते, कोई भी विमुख हो कर वहाँ से लौटने न पाते। उन की अपनी इच्छा के अनुसार, उन्हें दान दिया जाता। इस से सारे शहर में और बाहर भी बहुत दूर दूर तक यह बात फैल गयी, कि अब राज-कुमार दीक्षा-व्रत धारण कर के, अपना तथा संसार का आत्म-कल्याण करनेवाले हैं। राज-कुमार का यह आदर्श ध्येय देख और सुन कर, अनेकों विचारवान् लोगों को अपने जीवन और सांसारिक क्षणिक, परंतु मोहक सुखों के प्रति, बड़ी ग्लानि हो आती। वे मन ही मन कहने लगते, कि "हाय! अपने पास, जीवन को सुख-पूर्वक बिताने और शरीर का भली भांति भरण-पोषण करने तक को, प्रबन्ध नहीं है ! तब भी अपन संसार की मोह-माया में फँसे हुए हैं! पौद्गलिक सुखों के पीछे पड़े रह कर जीवन को पशु-पक्षियों की भांति बिता देना उचित समझते हैं ! परंतु दीक्षा-व्रत से कोसों दूर भाग कर, देव-दुर्लभ मनुष्य-जीवन को सफल बनाना कभी नहीं चाहते ! जहाँ अपनी एक ओर ऐसी दशा है; वहाँ दूसरी ओर, युवक महावीर, अतुलित राजसी भोग और सुख को तिनके की भांति ठुकरा कर, दीक्षित बनने के लिए आतुर हो रहे हैं। वे सब प्रकार के भरे-पूरे अपने पौद्गलिक सुखों को, भव-बन्धन और जन्म-मरण का मुख्य हेतु जान कर, उन्हें, एक सच्चे त्यागी की संयम-शीलता और अपरिग्रह से बदल देने के लिए लालायित हो रहे हैं। अब वे शीघ्र ही आत्म-शांति और स्व-स्वरूप का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर, संसार के दुखित प्राणियों को, भव-रोग से मुक्त होने का उपाय सुझावेंगे। उन का जन्म और जीवन धन्य है!" इस

प्रकार की चर्चा घर घर फैलने लगी। तब तो दूर दूर से अनाथ और सनाथ सभी प्रकार के लोग वहाँ आने लगे। उन्हों ने सोचा, कि दान भी मिलेगा और महा पुरुष महावीर के चरण-दर्शन भी होंगे। शास्त्रों का कथन है, कि तीर्थंकर बननेवाले प्रज्ञाशील महापुरुषों के हाथ से पाया हुआ दान, बड़ा ही शुभ फल-दायक होता है। देवता लोग उसे पा कर, पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष और क्लेशादि को भूल जाते हैं। राजा, सेठ, सेनापति, आदि को यदि वह मिल जाय; और वे उसे अपने भंडार में जा कर रख देवें, तो अगले बारह वर्षों तक उन का भंडार भरपूर भरा रहता है। उस में ज़रा भी कभी कोई कमी नहीं होने पाती। यश चाहनेवालों का यश अपरिमित रूप से बढ़ता है। रोगियों के रोग उस दान से दूर होजाते हैं। दुबारा, अगले बारह वर्षों में उन के शरीर में कोई भी शारीरिक रोग नहीं होने पाता।

इस प्रकार, भावी भगवान् प्रसन्न हो हो कर दान देते जाते थे; और लोग अपने भाग्य की सराहना कर कर के दान की वस्तुएँ लेते जाते थे। उस समय, राजकुमार महावीर के पास, सौधर्मेन्द्र, इशानेन्द्र, चमरेन्द्र, बलेन्द्र, भुवनपति, व्यन्तरदेव, ज्योतिषी और विद्याधर, आदि खड़े हुए उन की उचित सेवा में लगे हुए थे। यद्यपि भगवान् अतुलबली थे, तदपि भक्ति के लिए दान देते समय उन के हाथों को कष्ट न पहुँचे, सौधर्मेन्द्र अपना हाथ उन के हाथों के नीचे लगाये रहते थे। दान का जितना भाग जिस के भाग्य में बदा हो, उतना ही, उस याचक के मुँह से मांगने के लिए बोल निकले; इस की ज़िम्मेदारी ईशानेन्द्र ने अपने हाथों ली थी। फिर, कभी याचकों के भाग्य से यदि किसी को कुछ कम दान मिलता, तो उस की पूर्ति करने के लिए चमरेन्द्र और बलेन्द्र वहां खड़े हुए थे। कभी किसी को दान तो, तीर्थंकरों के हाथों से मिलनेवाला होता, परन्तु यदि अपनी उस की शारीरिक असमर्थता, या भीड़-भाड़ की अधिकता के कारण वह वहां न जा सकता, तो उस के हिस्से की वह दान की वस्तु, भुवनपति देव ला कर उसे देते थे। याचकों को दान ले चुकने पर, व्यन्तर देव उन्हें अपने अपने निज के स्थानों पर वापस पहुँचा आते। और ज्योतिषी देव, विद्याधरों आदि को, तीर्थंकरों के द्वारा दान दिया जाने के समय को ठीक ठीक बतलाने का काम अपने सिर लिये हुए रहते। यों, प्रतिदिन एक करोड़, आठ लाख सोने की मुहरों का दान दिया जाता था। दान की यह क्रिया पूरे पूरे एक

वर्ष तक जारी रही। कुल तीन अरब, इठ्यासी करोड़, अस्सी लाख मुहरों का दान, याचकों को, राज-कुमार महावीर ने दिया। इस के सिवाय, राजा नन्दिवर्द्धन के दान की रक़म अलग थी।

पाठकों! दान की इस लम्बी चौड़ी रक़म के यहां उल्लेख करने का, हमारा तो केवल यही उद्देश्य है, कि प्रभु ने खुद दान दे कर, संसार के सामने दान की महत्ता का एक आदर्श उदाहरण रक्खा है। उन्हों ने बतलाया है, कि दान यह मोक्ष-धर्म की प्रधान और प्रथम सीढ़ी है। जब ममत्व भाव की भावना मन से छूट जाती है; जब 'मेरे' और 'तेरे' के भाव मन से निकल जाते हैं, तभी समता के भावों का मन में उदय होता है। और इसी समत्व की दशा में मनुष्य दान दे सकता है। चित्त की इस अवस्था में दिया हुआ दान ही प्रधान दान होता है। कृपण पुरुष तो दान के नाम ही से कांपता है। यदि प्रसंगवश उसे कोई दान देने की बात कह दे, तो उस का जी घबराने लगता है। और यदि कभी कहीं, तीन अरब से अधिक मुहरों के दान का नाम ही उस ने सुन पाया; तब तो उस बेचारे के होश-हवास ही गुम हो जाते हैं। क्योंकि, उसने तो आज तक 'लेना' ही 'लेना' या 'जोड़ना' ही 'जोड़ना' सीखा है। उस के जीवन की क्रियाओं में 'देने' का कहीं नाम तक नहीं मिलता। यही कारण है, कि ममत्व के पंजों में भी वह बुरी तरह से फँसा रहता है। ममत्व ही सब प्रकार के पाप और बन्धनों की जड़ है। जो मनुष्य जितना ही अधिक ममताशील होता है, चक्रफेरी के चक्कर में भी वह उतना ही अधिक घूमता रहता है। तेली के कोल्हू के बैल की भांति उस के आवा-गमन के चक्करों का दीर्घ-काल तक अन्त ही नहीं हो पाता। पाठको! मोक्ष-धर्म के प्रथम और प्रमुख द्वार, 'दान' की प्रणाली में प्रवेश करने के मिस, जगत् के भूले भटके जीवों को, इसी कारण से, भगवान् ने ममत्व की पाश में से पूरे पूरे निकल चुकने का आदेश, सब से प्रथम दिया है। इसी ममता के त्याग से मनुष्य संसृति की चक्की में पीसे जाने से मुक्त हो सकता है। संसारी जीव ममत्व के कारण ही आसक्ति से बंधते रहते हैं। और उस आसक्ति के द्वारा स्वार्थवश हो नाना प्रकार के दुख पाते हैं; तथा बारंबार बन्धन में पड़ते हैं। अतः पाठको! आप लोग भी ममत्व को छोड़ कर दान देना सीखिये और मोक्ष-धर्म के महल में प्रवेश कीजिए।

प्रकरण—दसवां

भगवान् महावीर का दीक्षा महोत्सव.

अपने ज्येष्ठ भ्राता, राजा नन्दिवर्द्धन से आज्ञा ले कर भगवान् महावीर ने अपने दीक्षा-व्रत के धारण करने का दिन निश्चय पहले ही से कर लिया था। इस बार, राजा ने भी अपने भ्राता के पवित्र विचारों को, अब अधिक समय तक स्थगित करना किसी प्रकार उचित न समझा। परन्तु हां, इस के पहले, उन्हों ने भगवान् महावीर को बड़े से बड़े सांसारिक प्रलोभनों में फँसा कर, कड़ी से कड़ी परीक्षा उन की अवश्य लेना चाही थी, और ली भी थी। प्रत्येक बार की परीक्षा में, भगवान् महावीर सोलह आना उत्तीर्ण हुए थे। अंत में, राजा को जब यह सब प्रकार से निश्चय हो गया, कि अब वर्द्धमान के आगे हमारे सारे प्रयत्न विफल हो रहे हैं; और तो और, हमारे इन कठिन प्रयत्नों का, उन के जीवन पर हमारी इच्छाओं के बिलकुल विपरीत असर पड़ रहा है; उन का मन त्याग की प्रगाढ़ भावनाओं से, दिनोंदिन और भी गहरे रूप से रंगा जा रहा है; तब तो लाचार हो कर, उन्हों ने अपने छोटे भाई को, प्रसन्न वदन से दीक्षा-धारण करने की आज्ञा दे दी।

दीक्षा-धारण का शुभ दिन जैसे जैसे निकट आता जा रहा था, भगवान् महावीर का चेहरा उतना ही अधिक, हर्ष के मारे विकसित देख पड़ता जाता था। राजा नन्दि-वर्द्धन ने उस दिन को निकट आया जान कर, नगर को सब प्रकार

से भली भांति सजाने का हुक्म, अपने अनुचरों को दिया। हुक्म पाते ही अनुचर लोग अपने अपने काम में लग गये। जगह जगह मंडप वगैरह, जो भी बनाने को थे, सब बना दिये गये। उस समय, दीक्षा-महोत्सव को देखने और धूमधाम से मनाने के लिए, सपरिवार चौसठों इन्द्र और अन्य देवी-देवता भी वहां पर आ पहुंचे। अनेकों राज्यों के राजा और छोटे बड़े सर्दार भी काफ़ी संख्या में वहां आ डटे। एक बड़ी ही सुन्दर और रत्नों की चन्द्रप्रभा नामक भव्य शिविका तैयार करवायी गयी। उस दिन चारों ओर से लोगों का समुद्र उमड़ पड़ा था। दिशा विदिशाओं में बाजे ऐसे गम्भीर राग और ढंग से बज रहे थे, मानों वे जगत् की असारता की सूचना उस उपस्थित जन-समूह को दे रहे थे। और गगनभेदी ध्वनि से कह रहे थे, "प्यारे मित्रो! ऐ संसार के जीवो! तुम भी इसी प्रकार संयम–शील बन कर, अनन्त सुख के चिर अधिकारी बनने के लिए संयम की महिमा को समझो।"

भगवान् महावीर, अगहन कृष्ण १० के दिन प्रातःकाल के समय, स्नानागार में लाये गये। तब वहां क्षीर-सागर के शीतल और सुमधुर जल से उनका जलाभिषेक करवाया गया। स्नानागार में चारों ओर देवता लोग खड़े हुए थे। इन्द्रादि देवों के हाथों में वस्त्र और आभूषण थे। जो स्नान के बाद, राजकुमार को पहराये जाने के लिए थे। स्नान कर लेने के पश्चात्, उन के सारे शरीर पर बावन चन्दन आदि के महान् सुगन्धित पदार्थों से बने हुए घोल का विलेपन किया गया। जो अति ही शीतल सुगन्धित, शरीर के सम्पूर्ण चर्म रोगों का जड़-मूल से नाशक और स्वास्थ्यकर था। विलेपन के बाद उन्हें दिव्य वस्त्र और आभूषण पहराये गये। और चन्द्र-प्रभा नामक, सब प्रकार से सुसज्जित एक अति ही सुन्दर शिविका में वे बैठाये गये। उस समय की अनुपम छबि का पूरा पूरा वर्णन करना अति ही काठिन काम है। वह सवारी बड़ी ही धूम-धाम और समारोह के साथ नगरी के बड़े बड़े बाज़ारों में से हो कर निकाली गयी। साथ में बाजों का बड़ा ही गम्भीर और संसार के प्रति हृदय में उपरति पैदा करने वाला गगन-भेदी नाद न्यारा ही चित्त को लुभा रहा था। सुशोभित भगवान् महावीर के ऊपर कोई चँवरें ढुला रहे थे, तो कोई छत्र-दंड ही अपने हाथों में पकड़ कर, उन के ऊपर छाया कर रहे थे। चारों ओर से देव गण विमानों में

चढ़ चढ़ कर, उन पर सुगन्धित फूलों की एक सी, घनी और मन्द मन्द वर्षा कर रहे थे। शिविका के आगे, प्रधान देवता, राजा नन्दिवर्द्धन, अन्यान्य आये हुए राजा लोग और राज परिवार के लोग थे। उन के पीछे, दूसरे दूसरे दूर के सरदार-गण, सेना-पति, सार्थवाह और नगर के प्रतिष्ठित तथा कुलीन व्यक्ति साथ में थे। देवता मधुर मधुर रूप से दुन्दुभी बजाते जा रहे थे। मानो, अपनी दुन्दुभी के मिस,वे अज्ञान-विमोहित संसार के लोगों को यह चेतावनी दे रहे थे,कि जो महा पुरुष अपने सभी प्रकार के सांसारिक सुखों का सर्वथैव त्याग करते हुए, संयम और त्याग के पहियेदार अजस्र रथ में बैठ कर,संसार के जीवों की सेवा के लिए मैदान में यों आ उतरते हैं,उन की परिचर्या में,नहीं नहीं,उन के ऊपर अपने सर्वस्व तक को निछावर करने में, बड़े बड़े देवता भी इस प्रकार हाथ बांधे उन के आगे खड़े रहते हैं। "जय जय नन्दा" , "जय जय भद्दा" के गगन-भेदी नारे, साथ के लोग लगाते जा रहे थे। जुलूस धीरे धीरे यों रास्ते को पार करता जा रहा था। बीच बीच में, उन के पारिवारिक जन उन का सैकड़ों प्रकार से अभिनन्दन करते थे। स्थान स्थान पर देवता उन के परिवार के बड़े बूढ़ों के साथ मिल-जुल कर, उन के लिए तरह तरह के शुभ संवाद कहते थे। वे कहते, "हे जगदोद्धारक! आप अपनी अजित इन्द्रियों पर, अपने सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के बल पर, पूर्ण विजय प्राप्त करें। अंगीकार किये हुए दीक्षा-व्रत को समुचित रूप से जन्म-पर्यन्त पालन करने में आप सब प्रकार से सामर्थ्यवान् बनें। अनेक प्रकार के कठोरतम विघ्नों उपसर्गों और परिषहों को,आप अपने तपोबल से सौजन्य-पूर्वक सहन करते हुए मुक्ति के अलौकिक और अक्षय सुख का सांगोपांग सम्पादन करें। परिषहों का आप के ऊपर कोई भी असर कभी भी न होने पावे। रागद्वेष का प्रभाव आप पर न हो। वे कभी स्वप्न में भी आप के संगी-साथी न बनें। शम, दम, समिति, गुप्ति और धैर्य, आदि सद्गुणों और बाह्याभ्यन्तर तपस्या के द्वारा, आप आठों ही प्रकार के कर्म-रूपी महान् अजेय शत्रुओं पर सर्वथा विजय प्राप्त करें। शुद्ध ध्यान के बल अद्वितीय आत्म-स्वरूप को पहचानने का ज्ञान, आप के शरीर, मन और वाणी का अमोघ अस्त्र बने। और, मोक्ष-पद आप के चरणों को निहारते हुए, सदा हंसता हुआ आप के सामने खड़ा रहे। हे कल्याणकारी! आप का सब प्रकार से कल्याण हो।" इस समय की छटा बड़ी ही नयनाभिराम और मनोहर थी।

इस प्रकार तीसरा प्रहर होते होते शिविका समेत सारे लोग ज्ञात नामक वन-खण्ड के प्रांत में पहुंचे। वहां एक अशोक वृक्ष के तले लोगों ने अपने कन्धों के ऊपर से शिविका को धीरे से उतारा। भगवान् महावीर उस में से बाहर आये। वे अपने शरीर पर के आभूषणों को तथा राजसी वस्त्रों को उतारने के लिए बड़े ही लालायित हो रहे थे। इस दिन उन की बेले की तपस्या अर्थात् अनशन के लगातार दो दिन हो चुके थे। दो दिन से उन्होंने ज़रा भी अन्न-पानी को ग्रहण नहीं किया था। भगवान् के दीक्षा का समय आ लगा। उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के लगते ही, प्रभु ने अपने शरीर पर के राजसी आभूषणों और वस्त्रों को दूर कर दिये। बदले में, देवाधिराज इन्द्र ने प्रभु के कन्धों पर एक दिव्य वस्त्र उस समय रख दिया। सिर के केशों का पंच-मुष्टी लोचन कर लिया गया। उन बालों को इन्द्र देव ने क्षीर-सागर में पधरा दिये। उस समय जनता तो शान्त थी ही; परन्तु प्रकृति भी स्वयं निस्तब्ध और नीरव बनी हुई थी। उस समय प्रभु ने सिद्ध भगवान् को नमस्कार कर के चारित्र-धर्म अङ्गीकार कर लिया। जिसका श्रीमदाचारंग जी सूत्र में यों उल्लेख है:—

सिद्धाणं णमोकारं करेइ करेत्ता सव्वं मे अकरणिज्जं पाव कम्मं त्तिकट्टु सामाइयं चरित्तं पडिवजइ।

यों दीक्षा-व्रत के ग्रहण करने का कार्य समाप्त हुआ। इस के पश्चात् ही उन्हें वहीं का वहीं, मनःपर्यव नामक चौथा ज्ञान हो गया। पाठकों को इस बात में किसी भी प्रकार का अचरज करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह सब प्रभु के जन्म जन्मान्तरों की पूर्व तैयारी का प्रत्यक्ष फल था। हम संसार में भी इस बात का कई जगह उदाहरण आज देखते हैं। व्यापार, आदि में एक आदमी ज़रा सी ज़बान हिलाता है। बदले में, बात की बात में वह लाखों-करोड़ों का धनी बनता हुआ, कभी नज़र आता है। विपरीत इसके, एक दूसरा आदमी जन्म भर चोटी से पैर तक पसीना बहाता रहता है। जी तोड़ कर परिश्रम करता है। सदाचरण-शील भी वह सब प्रकार से बने रहने की चेष्टा करता है। परंतु जीवन पर्यंत रोटियों तक की मुहताज़ी बनी रहती है। पाठको! इस का रहस्य तो आप भली प्रकार समझ ही गये होंगे। एक के साथ, अपने पूर्व जन्मों के सुकृतों की कमाई है। और दूसरा, उस कमाई से बिलकुल वंचित है। तभी तो

कहा जाता है, कि "जो जैसा करता है वैसा ही फल पाता है।" अस्तु। अपने उस मनः पर्यव ज्ञान की सहायता से वे ढाई द्वीप और दो महा-सागरों में निवास करनेवाले सम्पूर्ण सन्नी पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को, तत्काल ही जान सकते थे। फिर, भगवान् महावीर वहाँ से विहार करने के लिए प्रस्तुत हुए।

नव-दीक्षित भगवान् के दर्शन

यदि सुकृत की पूर्व पूंजी से वंचित संसार, दीक्षा जैसे महाव्रत को ग्रहण करने के लिए असमर्थ हो, तो कम से कम वह हमारे साथ दो क़दम आ कर, ज्ञात नामक वन में खड़े हुए, और जैन शासन को दिपानेवाले उन नव-दीक्षित तथा संयमधारी शाहंशाह के, अपने विचार की आखों के द्वारा दर्शन मात्र ही कर ले; और, यों अपने जीवन और जन्म को सफल करने की कुछ चेष्टा वह करे। प्रभु को विहार के लिए उद्यत देख, अब वहां की उपस्थित जनता अपने कलेजे को न थांभ सकी। अब उन के कलेजे उन की आंखों के रास्ते से छलछलाते हुए बाहर निकलने लगे। उस समय, उदासीनता ने थोड़ी देर के लिए अपना एकच्छत्रीय शासन वहां फैला दिया। प्रभु के विरह का अनुभव कर, जनता जिस शोक-सिन्धु में उतरा रही थी, उस की सुध दिलाने तक के लिए हमारी लेखनी जड़ है! वह उस वर्णन का कथन करने के लिए वाणी-विहीन है! जनता की आंखों से पखालों के रूप में प्रवाहित होती हुई आंसुओं की वेगवती गरम गरम धारा में, उस की जीवन-लीला का संवरण हो चुका है। अतः आगे चलिये।

प्रभु महावीर अब जगत् के जीव मात्र के प्रति सदा सदय रहने का अमिट व्रत धारण कर, ज्ञात नामक वन में खड़े हुए उस लोक-सागर को पार करने के लिए प्रस्तुत हुए। पहले देवता और पारिवारिक जनों, आदि ने उन के चरणों में नमन कर विधिवत् वंदना की। तदनंतर, निकट खड़ी हुई उस अपार भीड़ ने "भगवन्! संसार के तापों से बचाओ कहते हुए उन्हें भक्ति-भाव-पूर्वक नमन किया। भगवान् अपने भव-जाल के मोहमय पाश को छिन्न-भिन्न करते हुए, इस उठती हुई उम्र में, समस्त राजसी वैभव को पैरों तले रौंद कर और पवित्र संयम को धारण कर के, आत्मानुभव कर आत्म-कल्याण करने और अपने साथ ही जगत् के

दुखित जीवों को आत्मानुभव कराने को उद्यत हो गये। भगवान् के प्रत्येक अंग से तेज की धाराएँ निकल रही थीं। वे परम सुंदर और सुवर्ण-कान्ति-विशिष्ट थे। ऐसे परम त्यागी पुरुष पुंगव को देख कर सभी लोगों के मुख से एक स्वर में यही निकला, "भगवन्! आप ही जगत् में सच्चे साधु हो; आप ही दयामय और करुणा की आकर हो; आप ही संसार के महाजन और आप ही संसार के दुखी जीवों का उद्धार करने वाले भगवान् हो। राज्य-सुख को त्याग कर के, साधुलोग जिस शक्ति से कठोर तप की आराधना करते हैं, वह शक्ति उन्हें आप ही से मिली है। आप के पवित्र हाथों शीघ्र ही संसार का मंगल-साधन हो।"

दीक्षित भगवान् का कार्यक्षेत्र, अधिकार और जिम्मेदारी

पाठको! अब प्रभु वीर वर्द्धमान एक छोटे से अधिकारी नहीं हैं। अब अखिल संसार ही में उन की आत्म-शासन वाली एकच्छत्रता की अमलदारी है। उस लौकिक राज्य में उन के कभी कोई शत्रु भी उठ सकते थे। यहां, उन के शत्रु भी उन से मैत्री जोड़ने में लालायित रहेंगे। और वैसा हो जाने पर वे अपना सौभाग्य समझेंगे। उन के पौद्गलिक राज्य में तरह तरह के दण्डों का विधान था। और, पापियों से घृणा की जा सकती थी। परन्तु उन के इस आत्म-शासन में घोर से घोर अपराध के अपराधी के लिए भी क्षमा और केवल क्षमा के द्वारा उस से पश्चात्ताप करा के, उस के समस्त पापों के प्रक्षालन का विधान है। और इस में, पाप से घृणा की जाती है। किन्तु पापियों को हृदय से लगाया जाता है। प्रभु के इस आत्म-शासन की सीमा में प्रवेश पाते ही, जगत् के सम्पूर्ण प्राणी मात्र के वे बन्धु स्थानीय हो गये। पहले भगवान् अपने ही राज-मन्दिर के किसी एक भाग विशेष में रहने वाले थे; अब जगत् के सभी महल प्रभु के पावन पदों को चूमने के लिए लालायित रहेंगे। पहले, वे एक राज-कुमार की हैसियत से पौद्गलिक, नश्वर और एक नियमित सम्पत्ति के अधिकारी थे। परन्तु अब आत्म-स्वरूप का ज्ञान ही उन की नित्य और असीम सम्पत्ति होगी। उन्हीं की क्यों, वे उस का एक नये रूप में जगत् को सदा के लिए हद-हदूद भी दे

जावेंगे। पहले, उन के राजसी वेष में, उन से डर कर, उन के परिचितों के सिवाय, अन्य कोई भी उन से मिलने का अनुचित सहास नहीं कर सकता था। अब एक संयमी के वेष में जगत् उन के चरण चूमेगा। उन के चरणों पर अपना सिर रक्खेगा। उन्हें अपना और अपने को उन का समझेगा। पहले जनता, और वह भी इनी-गिनी, उन के कानूनों को केवल राज-दबाव के कारण मानती थी। अब उन के 'अहिंसात्मक' कानून को जगत् का बच्चा बच्चा मानेगा। मानेहीगा नहीं वरन् उस को यथेष्ट रूप में व्यवहार का रूप देने ही से उस के जीवन में स्थिति, और सुन्दरता आवेगी। पहले उन की पौद्गलिक सम्पत्ति पर संसार के चोर, डाकू, या अन्य ठग लोग घात लगा सकते थे। अब वे लोग बिना बुलाये प्रभु की शरण में आ कर और अपने दुष्कर्मों के प्रति पश्चात्ताप प्रकट कर, सुपथ पर लगने के साधनों को प्रभु से पूछेंगे। पहले प्रभु की असाधारण विद्या, अलौकिक प्रतिभा, और वीरता का उपयोग उन के कुछ इने गिने आदमियों के लिए ही होता था। अब उन की उन्हीं शक्तियों का सदुपयोग जगत् की स्थिति, हित और उत्थान में होगा। पहले, संसार के किन्हीं पदार्थों के प्रति, उन के हृदय में भेदाभेद की भावना का उदय हो जाना अनिवार्य हो सकता था। परन्तु अब संसार की सभी दिशाओं में समता उन की साथिन बनी रहेगी। पहले, हो सकता है, कामादि रिपुओं को जीतने में उन का सतत प्रयत्न और प्रयास रहा हो। परन्तु अब तो जहां जहां उन के चरण पहुंच पावेंगे वहां वहां उन के शरीर के द्वारा उन की वाणी की बुलन्द आवाज़ जा सकेगी; और ग्रामोफ़ोन की चूड़ियों के मानिन्द, सच्छास्त्रों में भरी हुई उन की अमृत-सनी वाणी, मनुष्यों की हृत्तन्त्री के तारों को जब तक झंकारित करती रहेगी; तब तक और तहां तक, बेचारे इन रिपुओं की पहुंच भी किसी क़दर न हो पावगी। पाठको! हमारी निर्जन वन की सूखी हुई लकड़ी, आदि के द्वारा बनी हुई जड़ लेखनी, उन के उस अद्वितीय आत्म-राज्य का यह तो केवल बाहरी वर्णन ही, और वह भी कुछेक अंशों ही में, कर पायी है। उस का भीतरी वर्णन करना तो, उस के शक्ति और साहस के बाहर का काम है। उस का सांगोपांग वर्णन करने का अधिकारी तो वही होता है, जिस का प्रवेश उस की सीमा में भली भांति हो चुका है। अस्तु।

यहां आकर सचमुच में आप ने कुछ देखा और सीखा हो तो उसे आजन्म

अपने जीवन के आचरण में उतारने का प्रण, यहां प्रभु के सम्मुख करते चलिये। प्रभु का ज्ञान-मय दर्शन आप की आत्मा में अमर बल का संचार करे। आप अपने प्रण को, अपने सतत प्रयत्नों के द्वारा कार्य का रूप देने में अमित बल पावें।

कुमारगांव की ओर भगवान् का विहार

भगवान् ने उस वन-प्रदेश से विहार करने के लिए कुमार-गांव की ओर जब अपने क़दम बढ़ाये, राजा नन्दिवर्द्धन और उन के परिवार के सारे लोग, उन की ओर सतृष्ण नेत्रों से टकटकी लगा कर देखने लगे। और बिलख-बिलख कर प्रभु के वियोग में रोने लगे। राजा नन्दि-वर्द्धन बड़े ही कातर स्वर में बोले " वीर ! आप के बिना अपने राज-मंदिर में मेरे जीवन की शेष घड़ियाँ कैसे कटेंगी ? मैं अब आपके बदले किस को अपना साथी बनाऊँगा ? मैं अब किस के साथ बैठ कर, राजनीति की पेचीदा उलझनों को अनायास ही में सुलझा सकूंगा ! किस के साथ सलाह-मशविरा मैं करूंगा ? भाई ! आप तो राग-द्वेषादि से मुक्त बन जाने के कारण, अपने पराये को कभी याद भी न करेंगे; परंतु हमारे हृदय आप को कैसे भूल सकेंगे। हा हन्त ! ! उस समय, उन्हें समझा-बुझा कर शांत करनेवाला, सिवाय उन के छल-छल बहते हुए आँसुओं के, और कोई भी दूसरा संगी-साथी उन के पास न था। वे उन की आँखों से निकलते और उन के दुख भरे गरम हृदय को ठंढा करने का कुछ प्रयत्न करते। परंतु जिन हृदयों की ताप के बुझाने के लिए पास ही में खड़े हुए बड़े बड़े देवताओं की बुद्धि और प्रयत्न भी भोंथरे हो चुके थे, असफल बन चुके थे; तब तो बेचारी आँखों के आँसुओं की बिसात ही कितनी थी, जो उन के ताप को शमन करने में वे समर्थ होते ? उन लोगों को भगवान् की ओर टकटकी लगा कर देखते हुए, कुछ देर और भी बीत गयी। पल पल जैसे भी अधिक बीतता जाता था, भगवान् के शरीर की दूरी वैसे ही वैसे उन से और भी अधिक होती जाती थी। अन्त में वे उन की आँखों से ओझल हो गये। तब तो वे और भी अधिक कातर स्वर से उन्हें पुकार पुकार कर रोने-विसूरने लगे। आखिर, इन्द्र आदि देवताओं के समझाने-बुझाने और धैर्य बँधाने पर, भगवान् की दिव्य वाणी और विचारों ही को अपना चिर-

संगी बना कर वहां से अपने अपने स्थानों की ओर लौट पड़े। देवता भी अपने अपने स्थानों की ओर गये।

प्रथम विहार में रास्ते के उपसर्ग

इधर प्रभु के शरीर पर चन्दनादि उत्तमोत्तम सुगंधित पदार्थों का जो लेप किया हुआ था, उस की सुगंध, पवन के साथ मिल कर, चारों ओर महक रही थी। भौंरे उस मस्त महक पर मदोन्मत्त हो कर, उस के निकास स्थान को ढूढ़ने के लिए दिशा-विदिशाओं में मँडराने लगे थे। अन्त में, उस के निकास स्थान, प्रभु के शरीर को पाकर, वे आ आ कर उस पर बैठने और मंत्र-मुग्ध की भांति मुग्ध हो, उस का रस पान करने लगे। वे उस सुगंध का पान करने में इतने मस्त हो गये, कि पीछे जाते जाते तो, उन्हों ने प्रभु के शरीर का रक्त चूसने और उन के माँस को नोचने तक का वीभत्स कार्य जारी कर दिया। उस समय शारीरिक वेदना भी बड़ी ही विकराल थी। परंतु प्रभु ने हंसते हंसते वह भी सहन करली। भौंरों का यह क्रूर व्यापार उस समय तक जारी रहा, जब तक कि उन के शरीर पर लगे हुए उस विलेपन की सुगंध, वायु के साथ अंतिम सयम तक मिलती रही। प्रभु ने इसे भी अपने पूर्व जन्मों के किसी ऋणानुबंधन का फल ही समझा। पाठको! क्षमा, अहिंसा, सहिष्णुता, त्याग और संयम का कैसा अपूर्व सम्मिलन है? परंतु इस सम्मिलन की घाटी भी कितनी तंग है! कितनी खतरनाक है!! क्या, कभी आप भी इस तंग और खतरनाक घाटी में से निकल कर, निर्वाण-पद के राज-मार्ग पर पहुंचने की इच्छा रखते हैं? यदि हां, तो आज ही से उसे पार करने का अभ्यास और प्रयत्न कीजिये! यदि आज आप उस में प्रवेश न कर सकते हों, तो न सही! कल सही! दश दिन के बाद सही! दश वर्ष के बाद सही! जीवन की अन्तिम घड़ियों के पहले पहले तक, कभी न कभी सही!! पर, पैठिये अवश्य उस में एक बार! बिना उस में से निकले, मोक्ष का राज-मार्ग कभी आप को दिख ही नहीं सकता! अतः इच्छा हो, तो अपने प्रयत्न को उस ओर सतत जारी रखिये।

यों, एक ओर तो, भौंरे उन के दिव्य शरीर में चिपट कर, उन के पूर्व-

कृत किसी कर्म का खाता ब्यौढ़ा कर रहे थे। या, भौंरे स्वयं अपने क्रूर स्वभाव का यों परिचय देते हुए, अपनी कातर गूँज के द्वारा भगवान् से बार बार प्रार्थना कर रहे थे, कि "यदि आप पतित-पावन हैं, तो हम जैसे पतित और क्रूर-कर्मा जीवों को भी सदाचारी और सत्पथगामी बनाइये।" दूसरी ओर, वन-देवियां भी उस विलेपन की मोहक महक और प्रभु के शरीर में उन की उठती हुई तरुणाई, अनुपम रूप-लावण्य और जगत्-मात्र के प्रति प्रेम-भरी चितवन को निहार और अनुभव कर, प्रभु के मन को उन के अपने मोह-जाल में फँसा मारने के लिए, अनेक प्रकार के हाव-भाव दिखाने लगीं थीं। अनेक प्रकार की काम-वासना की पूर्ति के प्रयोग वे उन पर करने लगीं थीं। परन्तु 'फूल की अणी से जैसे हीरा कभी नहीं वेधा जाता;' ठीक उसी प्रकार, भगवान् के, समता के सुन्दर भावों से लबालब भरे हुए, मन पर भी उन का रंच-मात्र असर न हुआ। उन के शरीर की बात तो अभी दूर रखिये। परन्तु अपने मन के द्वारा भी प्रभु ने, उन युवतियों के, रूप-माधुरी की उन सजीव प्रतिमाओं के हाव-भावों को न तका। हां, इस का उलटा असर उन वन-देवियों ही पर अवश्य हुआ। भगवान् के शरीर की इस अलौकिक वैराग्य-मयी भावना ने, उन युवतियों के मनों में, उन के खुद के शरीर और उन के सौन्दर्य के प्रति, ग्लानि और विरति पैदा कर दी। उन का देहाभिमान चूर चूर हो गया। सच है, पारस को छू कर लोहा भी सोना बन जाता है। पाठको! हमारी राय में तो, इस पारस का कोई मूल्य ही नहीं! अन्त में तो वह जड़ ही ठहरा। वह पारस, पारस ही नहीं है, जो लोहे को पारस में न बदल दे। यह शक्ति तो हमारे भगवान् ही में है। एक बार अन्तःकरण पूर्वक, शुद्ध भाव से, जिसने भी विवेक की आखों से उन को देखने, विचारने और समझने का प्रयत्न किया; जिसने भी उन की करणी और कथनी का अनुसरण और अनुकरण कर, अपने को उन के राज-मार्ग पर ले जाने की हिम्मत की; वह फिर कैसा ही पापी और क्रूर-कर्मा क्यों न हो, वह कुछ ही काल में, अवश्यमेव, वैसा ही भगवान् बनने की हिम्मत करने लगता है। और, अपने निश्चय तथा करणी की शक्ति के अनुसार, आज या कल, वह वैसा ही भगवान् बन भी सकता है।

फिर, दो घड़ी दिन रहा होगा, कि प्रभु कुमार-गाँव के निकट जा पहुँचे। प्रभु ने वहीं ठहरना निश्चय किया। ध्यान करने के योग्य एकान्त स्थान को देख

कर, वे वहाँ जा विराजे। कुछ ही देर के बाद, नासिका के अगले भाग पर अपनी दृष्टि को ठहरा कर, प्रभु ध्यान करने के लिए निश्चिन्त बन खड़े हो गये।

भगवान् के साथ ग्वालों की क्रूरता

इतने ही में कुछ ग्वाल-बाल लोग बैलों को लिये हुए उधर आ निकले। और बैलों को वहीं चराने लगे। परंतु बीच ही में अचानक उन ग्वालों को कोई जरूरी काम आ पड़ा। तब वे अपने बैलों को, भगवान् के हाँ या ना कुछ भी न कहने पर, उन्हीं के भरोसे, वहीं चरते हुए छोड़ कर चले गये। अपना काम पूरा कर के वे वहां वापस आये। परंतु अपने बैलों को वहां चरते हुए न देख कर, उन के मन में तरह तरह के तर्क-वितर्क उठने लगे। उन्हों ने भगवान् से पूछा। किन्तु भगवान् तो ध्यान-मग्न थे। उन्हें संसार के कामों की कुछ सुध ही न थी। तब उत्तर दे कौन ? जब उन्हों ने उन से कुछ भी उत्तर न पाया, तब तो उन का सन्देह और भी बढ़ा। फिर भी वे अपने बैलों की खोज में इधर उधर चल पड़े। जितनी देर में, उन लोगों ने आसपास के वन-प्रदेश को चारों ओर से देखा-भाला, उतनी देर में बैल भी पेट भर के चर लिये। और अंत में, वे वहीं वापस आ गये, जहाँ भगवान् खड़े खड़े ध्यान लगाये हुए थे। रास्ते में बैलों की और ग्वालों की भेंट ही न हो पायी। ढूँढ़ते ढूँढ़ते ग्वाले जब हताश हो गये, तब वे फिर पहले ही के स्थान की ओर लौट पड़े। और, चलते चलते कुछ ही देर में वे भी वहां आ पहुंचे, जहाँ भगवान् ध्यानस्थ खड़े थे। वहाँ बैलों को उन के निकट ही, इस बार चरता देख, एक ओर उन को बड़ी खुशी हुई। साथ ही, ध्यान-स्थित भगवान् के प्रति तरह तरह के सन्देहात्मक विचार भी करने लगे। वे परस्पर कहने लगे, "हो न हो, इसी तपस्वी ने अपने बैलों को छिपाया था। इसी ने अपने को आज इतना हैरान किया। मालूम होता है, बैलों को उड़ा ले जाने के लिए यह सब इस की बयान्ती थी। अपने भाग भले हैं, जो बैल अपने हाथ पीछे पड़ गये। अगर कुछ ही और देर कर के अपन यहाँ पहुँचते, तो यह इन बैलों को ज़रूर ज़रूर भगा ले जाता। मालूम नहीं, यहां कितने दिन तक यह और ठहरेगा ? इस ने तो एक ही दिन में अपनी जानें जोखिम में ला पटकीं। अगर, यह ज़्यादा दिन यहां टिका, तो न मालूम

क्या क्या आपदाएँ अपने ऊपर आवेंगी! तब क्यों नहीं आज ही इसे मार कर यहां से भगा दें? अगर, पहली ही बार में इसे अपनी बुरी नीयत और कु-करनी का पूरा पूरा मज़ा चखने को न मिलेगा, तो फिर तो इस का हौंसिला खूब ही बढ़ जावेगा।" ऐसा कह कर अपने कन्धों पर पड़े हुए रस्सों को उन लोगों ने उठाया। और लगे उन से मारने सड़ा-सड़, तड़ा तड़ भगवान् को! ग्वालों ने भर-पेट मारा प्रभु ने एक शब्द तक बदले में न कहा। शब्द! शब्द मुंह से बोलना यह तो बहुत दूर की बात है। भगवान् अपने ध्यान से किंचिन्मात्र भी विचलित नहीं हुए। देहाभिमान को तो उन्हों ने आज से कई दिन पहले ही परे फेंक दिया था, फिर उन्हें इन बातों का विचार होता भी, तो कैसे और कहां से? भगवान् ने इस वीभत्स व्यापार को भी, ग्वालों के किसी भव के कर्मों के फल की अदाई का सस्ता और सरल सौदा समझा। अतः उन्हें ग्वालों से द्वेष और घृणा के बदले और भी अधिक प्रेम हो आया। धन्य प्रभु! आप के बिना संसार में आज कौन इतना क्षमता-शील पुरुष-रत्न है, जो अपने कर्मों के फल की अदाई में, शारीरिक, मानसिक और नैतिक, सभी प्रकार के बलों से सम्पन्न हो कर के भी, अपने खुद के साथ इतनी रुखाई करे? परंतु प्रभु! आप इस तरह के उपसर्गों को हँसते हँसते यदि न सहते; और प्रतिहिंसा की भावना तक अपने मन में रखते, तो बात बात में परीक्षा के मैदान में उतरा हुआ यह क्रूर संसार, आप को निर्भीकता के नायक, सत्य के उपासक, सहिष्णुता के आधार और प्रेम तथा अहिंसा के एकांत पोषक के रूप में, आज कैसे पहचान सकता? आप के वास्तविक प्रभुत्व के मूल्य को, यह निर्दयी संसार कैसे जान पाता? 'अहिंसा' सचमुच में आप ही जैसे वीर-रत्नों की दासी बन कर आज तक जगत् में रहती आयी है। अन्यथा, कायरों और क्रूर-कर्मा लोगों के पास जाने पर, उसे कायरता, अत्याचार और नामर्दानगी का जामा पहनना पड़ा है। प्रभु! आप के पावन चरित्र का पठन-पाठन कर, कायर भी वैसे ही धीर, वीर, गम्भीर और सत्पथानुरागी बनें।

इधर तो, भगवान् उन ग्वालों के द्वारा इस प्रकार भयंकर रूप से सताये जा रहे थे; दूसरी ओर, इन्द्र देव ने स्वर्ग में बैठे ही बैठे अपने मन में यह विचार किया, कि "आज प्रभु ने दीक्षा-व्रत को ग्रहण किया है; आज से तो उन का जीवन-क्रम ही बदल गया है; मालूम नहीं अब वे कहां होंगे और क्या करते

होंगे ? " इन्द्र के मन में इस विचार के उठते ही, उन्हों ने, अपने अवधि-ज्ञान के बल से, भगवान् के स्थान का पता लगाया। फिर, उन्हों ने एक एक करके, भगवान् के ऊपर घटी हुई आज की सम्पूर्ण दुर्घटनाओं को जानली। तब तो उन्हें बड़ा ही दुख हुआ। और, जैसे ही वे उस समय वहां बैठे थे, वैसे ही और उसी वेष में, वे भगवान् के पास आ पहुँचने के लिए, स्वर्ग से निकल पड़े। जितना भी जल्दी उन से बना, वे प्रभु के पास पहुँचे। वहां पहुँचने पर उन अज्ञानी ग्वालों द्वारा, जो राक्षसी व्यवहार प्रभु के साथ हो रहा था, उसे उन्हों ने देखा। उन्हों ने तुरन्त ही ग्वालों को हटका। उन के उस निर्दयी व्यवहार की निन्दा उन्हों ने की। और अंत में, समझा-बुझा कर वहां से उन्हें भगा दिया। तदनन्तर, प्रभु का ध्यान पूर्ण हुआ। इन्द्र ने उन्हें नमन किया। और, बड़े ही नम्र भाव से हाथ जोड़ कर वे उन से बोले, "भगवन् ! दीक्षा का तो अभी थोड़ा ही समय बीता और शरीर की ऐसी दशा ! भगवान् का शरीर और भौंरों का इतना भयंकर साहस ? गँवार ग्वालों की इतनी गुस्ताखी और इतनी गर्दी ? भगवन् ! अभी तो एक नहीं दो नहीं, पूरे पूरे बारह वर्ष इन उपसर्गों के बीच रह कर आप को बिताना है। अगर स्थिति आज ही सरीखी आगे भी रही, तो हम से अपनी आंखों के द्वारा, यह सब का सब वीभत्स कांड, कैसे देखा जायगा ? इस पावन शरीर के द्वारा, अभी तो जगत् के जीवों का उद्धार होना और करना है। क्या, ऐसे समय में हमारा कोई कर्तव्य प्रभु के साथ नहीं है ? प्रभु ! सदय हो कर आज्ञा दीजिये, जिस से हम सेवक के रूप में शरीर-रक्षक बन कर आप के साथ रह सकें।" प्रभु ने बड़े ही शान्त और प्रसन्न-वदन से इन्द्र को उत्तर दिया, "देवराज इन्द्र ! प्रथम तो, वन में, रण में, शत्रुओं में, जल में, आग में, समुद्र में, गिरि-गह्वर में या उस की शिखर पर, सोते हुए, ग़फ़लत में, या आफ़त में पड़े हुए प्राणियों की रक्षा, एक मात्र उन के पूर्व-जन्म के कर्म ही करते हैं। अर्थात् कठिन से कठिन आफ़त के आ पड़ने पर, और रक्षक नाम के भी पास न रहने पर, यदि पूर्व-जन्मों के शुभ कर्म प्राणी के रक्षक बन जायँ, तो वहां भी वह बाल बाल सुरक्षित रह सकता है। दूसरे, सैकड़ों बाणों की अणियों से बिंधा हुआ शरीरधारी भी बिना समय के आये, बिना अपने उस समय के भोग-शरीर का भोग पूरा किये, कभी नहीं मर सकता। परन्तु, काल के आजाने पर, वही प्राणी केवल कुशा की नोक के छू जाने मात्र से ही, संसार से चल

बसता है। और तीसरे, जो तीर्थंकर होते हैं, वे अपने कर्म रूप अन्तरङ्ग शत्रुओं को जीतने में दूसरों की सहायता कभी नहीं चाहते हैं। वे तो अपनी ही प्रतिभा से, अपने ही सद्गुणों के व्यवहार से और अपनी ही आत्मा की अनन्त शक्ति से, समस्त बाधाओं, उपसर्गों और परिषहों का, धीर और गम्भीर बन कर सामना करते हैं। और, हंसते हंसते उन्हें सहन कर जाते हैं। अपनी ही आत्मा के विकास पर, केवल-ज्ञान को प्राप्त करना, एक मात्र उन के जीवन और जन्म का उद्देश होता है। वे, इसी प्रकार के केवल-ज्ञान को प्राप्त कर, स्वार्थ और परमार्थ की साधना को सिद्ध करना चाहते हैं। उन का यह सौदा, संसार की आंखों में फिर चाहे कितना ही महंगा क्यों न हो। शक्रेन्द्र! इस कथन में न तो किसी प्रकार के आत्माभिमान का आभास ही है; और न आप की सहायता की कोई अवहेलना ही है। अस्तु।"

पाठको! देखे, महापुरुषों के विचार? और उन के मार्ग की कठिनता! तभी तो संसार उन्हें अपना आदर्श मानता है। उन के पद-चिह्नों पर चल कर आप भी वैसा ही बनने का प्रयत्न करता है। सचमुच में वे चराचरमात्र के सुहृद् होते हैं। दुखियों के दुख को दूर करने की शक्ति उन्हीं में होती है। उन्हें और तो कोई लोभ नहीं होता; पर संसार के हित के वे लोभी अवश्य होते हैं। उन्हें अपने शरीर की तो रंच मात्र भी कोई पर्वाह नहीं रहती; पर वे पराये दुखों को हरण करने के लिए, हर समय, अपनी सम्पूर्ण शक्तियों से जुटे रहते हैं। वे पथ-भ्रष्टों के लिए प्रज्वलित दीपस्तम्भ का काम देते हैं। वेही अभागों के आधार और त्याग, आदि जितने भी उच्च भाव हैं, उन के विधायक माने जाते हैं। जगत् की कोई भी कुभावना उन के आगे कभी टिक नहीं सकती। जगत् को आत्म-कल्याण का मार्ग उन्हीं का दिखाया हुआ होता है। सत्य और अहिंसा-व्रत के वे सच्चे पालक और पोषक होते हैं। उन के दर्शनों से पाप पलायमान हो जाते हैं। पापियों को उन्हीं ने अपने हृदय से लगाया है और उन्हें पाप पराङ्मुख किया है। ऐसे महापुरुष ही आत्म-कल्याण के मार्ग में आनेवाले विघ्नों का, कभी भूल कर भी अपनी प्राप्त शक्तियों से सामना नहीं करते। कैसी ही भीषण से भीषण आपदाएं उन पर क्यों न आवें, वे आप तो उन्हें नहीं हटाते जो नहीं हटाते; पर दूसरों की सहायता की अपेक्षा भी वे कभी नहीं रखते। फिर वह सहायता चाहे बड़े से बड़े देवताओं की ओर से उन्हें मिलने वाली हो,

या मनुष्यों के द्वारा। उन का तो एक ही उद्देश होता है, कि अपने निकाचित् कर्मों का फल, चाहे फिर वह कितना ही कठोर से कठोर और बड़े से बड़ा क्यों न हो, अवश्य भोगना ही चाहिए। इस में दूसरों की सहायता की याचना और आवश्यकता ? यह बात तो अपने कर्मों की पूंजी को बढ़ाने की है। यही कारण है, कि वे अपने कृत-कर्मों के फलों को निश्चल, धीर, सहिष्णु और क्षमताशाली होते हुए भी क्षमाशील बन कर, सहन करते हैं।

साधारण कर्मों का क्षय, कदाचित्, संयमशीलता और कायिक, वाचिक और मानसिक तपों के द्वारा हो भी सकता हो; परंतु अपने निकाचित् कर्मों का फल तो, जीव को जरूर भोगना ही पड़ता है। बिना उन का भोग भोगे, प्राणी अपने अगले भव के लक्ष्य को नहीं वेध सकता। भगवान् इस सिद्धान्त की सचाई को पहले ही से जाने हुए थे। भगवान् ने मन में सोचा, कि "निकाचित् कर्मों का निरोध करने में, जब ऐसे बड़े बड़े मुनि भी, जो तेरहवें गुणस्थान में विचरण करनेवाले होते हैं, असमर्थ उतरे देखे जाते हैं, तब उन का निरोध करने में इन इन्द्रदेव की तो बिसात ही क्या है ! भगवान् ने इसी सिद्धान्त के आधार पर, शायद इन्द्र देव की मनचीती न होने दी थी। प्रभु की भक्ति, तप-निष्ठा, संयम-शीलता, तथा सम्पूर्ण प्रकार के अन्यान्य सद्गुणों को, एक ही समय में, और एक ही स्थान, प्रभु के शरीर में देख, और प्रत्यक्ष प्रमाणों से उन का अनुभव कर, इन्द्र को सहज ही में प्रभु पर अत्यन्त अनुराग हो आया था। और, यही कारण था, कि उन्हों ने भक्ति-भाव से प्रेरित हो कर प्रभु के साथ रहने की उन से प्रार्थना की थी। परंतु भगवान् को तो अपने शरीर से तनिक भी मोह न था। फिर, वे इन्द्र या अन्य किसी की भी प्रार्थना को, उन के शरीर की रक्षा तथा सेवा आदि के सम्बन्ध में, स्वीकार ही क्यों और कब करते ? उन के आत्मबल के निर्मल प्रकाश में, शारीरिक उपसर्ग तथा विघ्न-बाधाओं के कारण उत्पन्न होनेवाला भय रूपी अंधकार, टिक ही कैसे सकता था ? पाठको ! सिधाई, सचाई और निर्भयता के साथ, स्वावलम्बन का कैसा अनोखा पाठ अपने चरित्र से भगवान् ने तुम्हें सिखाया है ? आज तुम उन्हीं के मार्ग का अनुसरण करनेवाले बन कर और उन के नाम की उपासना का ढोंग रच कर, सिधाई, सचाई और निर्भयता का कैसा गला घोट बैठे हैं ? यही कारण है, कि मोक्ष की प्राप्ति तो लाखों कोस दूर रही; बल्कि तुम अपनी आत्मिक अमोघ शक्ति को भूल कर,

जीवन के साधारण से साधारण व्यापार तक में, आज कैसे परमुखापेक्षी और पराधीन बन चुके हैं! आज तुम ने अपनी ग़फ़लत के कारण, अपनी सिधाई, सचाई, निर्भयता और आत्म-निर्भरता को खो कर, दासता की कैसी विकट जंज़ीरों से, अपने आप को और अपने देश को जकड़ा देने में सहायता की है! कहीं ठिकाना है, इस गुलामी का? ऐ सर्वज्ञ और वीर प्रभु के अनुयायी जीवो! यदि आप के हृदयों में ज़रा भी अपने भगवान् और उन के व्यवहारों का अभीमान है, तो काट दो इस गुलामी की जंज़ीर को! तोड़ दो इस दासता की बेड़ी को! कमर कस के शीघ्र ही उठ बैठो! और, अब अधिक समय के लिए, अपने सर्वज्ञ भगवान् के नाम और उपासना को भूल कर भी कलंकित न करो! उठो! जागो! और, अपने भगवान् की सिधाई सचाई और निर्भयता को अपना कर, स्वावलम्बन का सबक़ फिर से सीखो! तथा उसे अपने जीवन के व्यापारों और व्यवहारों में उतारो! स्वावलम्बन की सहायता से ही, आप को अपनी निज की खोई हुई आत्म-शक्तियों का ज्ञान होगा। उस आत्म-ज्योति के उज्ज्वल प्रकाश में, दुनिया की कौन सी मदमाती जाति है, जो आप को कायर, और गुलाम, आदि के घृणित नामों से सम्बोधित कर सकेगी? भव्य,! आप की बुद्धि में स्वावलम्बन की भावना का विकास हो।

तब इन्द्र ने मनही मन भगवान् के स्वालम्बन की प्रशंसा की और नमन कर के अपने स्थान की ओर उन्हों ने प्रस्थान किया। परंतु वहाँ से जाने के पूर्व इन्द्र, भगवान् के द्वारा उसे इतना समझाने बुझाने के पश्चात् भी, सिद्धार्थ नामक एक व्यन्तर देव को, जो पहले भगवान् की मौसी का पुत्र था और पीछे से व्यन्तरों में जा कर जन्मा था, प्रभु के ऊपर आनेवाले उपसर्गों को रोकने के लिए, वहाँ रख ही गये। उधर, मेरु सुमेरु के समान अपने विचारों में अचल, जलधि के समान गम्भीर, की भांति भगवान् महावीर भी अपने अवशेष कर्मों का खाता पूरा करने के लिए फिर ध्यान मग्न हो गये।

प्रकरण—ग्यारहवां

भगवान् महावीर की छद्मस्थ अवस्था.

कोल्लांग सन्निवेश में प्रभु का आगमन.

यों ध्यान-मग्न रह कर, सारी रात कुमार—गांव के जंगल ही में भगवान् ने काट दी। प्रातः काल होते ही दूसरे दिन प्रभु वहां से विहार कर कोल्लांग सन्निवेश में पधारे। वह दिन उन के बेले के पारणे का था। अतएव चलते चलते भगवान् 'बहुल' नामक ब्राह्मण के घर पर पहुँचे और वहीं पारणा किया। देवों ने इस के उपलक्ष्य में, उस ब्राह्मण के घर के ऊपर तथा उस के आस-पास दिव्य वस्त्राभूषण, मुहरों और गन्धोदक आदि की वर्षा की। तथा, 'अहोदानम्' 'अहोदानम्' की गगन-भेदि घोषणा वहां चारों ओर सुनाई दी। पारणा कर के भगवान् ने वहां से विहार कर दिया।

मोराक सान्निवेश में प्रथम चातुर्मास

अब विचरण करते करते वे मोराक नामक सन्निवेश में पहुँचे। वहां दुइजन्त नामक एक तापस के आश्रम में वे पधारे। उस आश्रम का कुलपति, प्रभु के पिता का मित्र था। वह उस समय वहीं था। उस ने प्रभु के पास आ

कर अगाढ़ स्नेह दर्शाया। और प्रभु का प्रथम चातुर्मास वहीं करने की उन से आदर पूर्वक प्रार्थना की। प्रभु ने उस की भावना देख, उस की प्रार्थना स्वीकार की। वहां एक रात-भर खड़े ही खड़े ध्यानस्थ हो कर आपने बिताई। प्रातः होते ही वहां से भी विहार कर दिया। इस प्रकार एक के बाद दूसरे, और दूसरे के बाद तीसरे स्थानों को, अपने चरणों से पावन बनाते हुए, प्रभु ने चातुर्मास के प्रथम का अवशेष काल विचरण करने में बिता दिया। उस अवधि में तपस्या और ध्यान आप ने खूब ही किया। कभी कभी तो यहां तक हुआ, कि प्रभु चलते चलते ध्यान-मग्न हो जाते। परन्तु याद रहे, कि उस समय उपदेश प्रभु ने कहीं भी न किया। ज्ञान की पूर्णता को प्राप्त किये बिना, उपदेश देने की अभिलाषा भगवान् की कभी थी ही नहीं।

प्रथम चातुर्मास और अभिग्रह-धारण

चातुर्मास को निकट आया देख, प्रभु भी मोराक नामक सन्निवेश के निकट निकट विहार करते हुए चले आरहे थे। नियत समय के कुछ ही पहले प्रभु वहां पहुंचे। कुलपति ने प्रभु का समुचित स्वागत किया। बाद में, उन्हें घास की बनी हुई एक झोंपड़ी में ला उतारे। प्रभु निश्चिन्त हो कर उसी में ध्यान-मग्न रहने लगे अब वर्षा शुरू हुई। वर्षा के कारण, आश्रम के चारों ओर घास उग आयी। उसी आश्रम में अन्यान्य तपस्वी लोगों की झोंपड़ियां भी बनी हुई थीं। गायों ने आश्रम में आ कर घास चरना आरम्भ किया। घास चरते चरते, जब वे गायें आश्रम के अन्य तपस्वियों की झोंपड़ियों के पास पहुंचतीं, वे लोग उन्हें हटा कर दूर भगा देते। ऐसा करते करते, वे गायें भगवान् की झोंपड़ी के पास जा लगतीं। परन्तु वहां उन्हें हटकने और भगाने वाला था ही कौन, जो उन्हें ऐसा करने से वहां रोकता? प्रभु तो अपने ध्यान में मग्न रहते। उन्हें इन झँझटों से पड़ी ही क्या थी? अन्य तपस्वियों से महावीर स्वामी का यह साहस सहन न किया गया। वे उस आश्रम के कुल-पति के पास पहुंचे। वहां जा कर उन्हों ने दो बातें और भी अपनी ओर से महावीर के विरुद्ध कहीं। उन्हों ने अपनी फ़र्याद में बताया, कि "पहले तो गायें आ आ कर, उन के सामने ही, झोंपड़ी के आस पास का घास खाती

हैं। दूसरे, पशुवृत्ति और पशु-योनि के गुण, धर्म के अनुसार, उन्हों ने, महावीर की झोंपड़ी को भी तहस-नहस कर दिया है। तब तक महावीर बैठे बैठे देखते रहते हैं। उन्हें वहां से हटकने और भगाने का रंचमात्र भी प्रयत्न वे नहीं करते। इस से देखने वालों को यही जान पड़ता है, कि मुनि, यदि आप के आश्रम में आज कोई हैं, तो एक वेही हैं। और, दूसरे मुनि लोग तो, ऐरी गैरी-पंच-कल्याणियों की गिनती में हैं।" कुलपति ने भी मुनियों की मति ही का साथ दिया। उसे महावीर स्वामी के कामों के प्रति कुछ घृणा सी हुई। वह चला और अपने आश्रम में उन के पास आया। वहां आते ही बड़ी रुखाई और हिक़ारत की नजरों से प्रभु से कहा, "स्वामी जी! पक्षी तक अपने घोंसलों की रक्षा करते देखे जाते हैं; फिर, एक राज-पुत्र और वीर क्षत्रिय-कुमार हो कर भी, आप अपनी झोंपड़ी तक को, गायों से बचा नहीं सके? वाह! यह भी कोई लापरवाही है! एक तो आप के पिता थे, जो इस आश्रम की रक्षा भली भांति करते करवाते थे; दूसरी ओर, आप हैं, जिन्हों ने अपने आलस्य के कारण, सारी झोंपड़ी ही का तहस-नहस करवा दिया! हां, अज्ञानियों का आलस्य एक हद तक क्षन्तव्य हो सकता है। परन्तु आप जैसे विवेकी और इतना आलस्य एकदम! यह तो किसी क़दर भी ठीक नहीं है।

क्षमाशील प्रभु ने, कुलपति की कड़वी से कड़वी सारी बातें, प्रसन्न-वदन हो कर सुन लीं। उन के हृदय में उस के प्रति ज़रा भी रोष नहीं हुआ। उन्हों ने तो निश्चय कर ही लिया था, कि किसी भी तरह इन कर्मों का निपटारा हो जाना चाहिए। परंतु फिर भी मन ही मन प्रभु के, लोक मर्यादा और साधु-मार्ग में प्रवृत्त होनेवाले अन्य लोगों की रक्षा के लिए, एक विचार उठ आया। उन के अन्तस्थल से एक आवाज़ आयी। उस ने कहा, कि ऐसे परतन्त्र और अप्रीति-कारक स्थानों में साधुओं को ठहरना ही क्यों चाहिए? प्रभु ने उसी समय नीचे की प्रतिज्ञाएँ धारण कर के, वहां से चल देने का निश्चय किया।

प्रतिज्ञाएँ:-(१) अप्रीति-कारक स्थानों में कभी न रहना चाहिए।
(२) प्रायः मौनावस्था में रहना सब प्रकार से श्रेयस्कर है।
(३) कहीं भी क्यों न रहें, कायोत्सर्ग ही धारण कर के रहना चाहिए।
(४) अंजालि ही को पात्र समझ कर, उसी में आहार करना।
और (५) गृहस्थ से विनय कभी न करना।

इस प्रकार की कड़ी प्रतिज्ञाओं को धारण करने के बाद प्रभु ने वर्षा के समाप्त होने के प्रथम ही, उस आश्रम से एकदम विहार कर दिया। इस से अन्य तापसों की मनचीती हुई। परंतु कुलपति को भगवान् के वहाँ से, बिना कुछ कहे सुने, चले जाने का पश्चात्ताप हुआ। उस ने उसी समय भगवान् की इधर उधर कुछ शोध भी लगवायी। परंतु अंत में वह निष्फल हुआ।

आस्थिक गाँव में भगवान् का प्रवेश और यक्ष को सम्यक्त्व की प्राप्ति

प्रभु मोराक से विहार कर, पास ही के एक 'आस्थिक' नामक ग्राम में पहुँचे। इस गाँव का यह नाम पड़ने का कारण, ऐसा कहा जाता है, कि यहाँ एक यक्ष रहता था। जिस का नाम शूल-पाणि था। वह अकसर इधर उधर से प्राणियों को आते उधर देखता, और लपक कर उन्हें पटक मारता। यों कितने ही निरपराध प्राणी इस के हाथ से मारे गये होंगे। उन की हड्डियों को यह वहाँ एक स्थान विशेष में डाल देता था। यों करते करते, हड्डियों का एक बहुत ही बड़ा सा ढेर वहाँ इकट्ठा हो गया था। और अंत में, वह बस्ती, उसी हड्डियों के बड़े भारी ढेर के कारण से, 'आस्थिक' नाम से प्रसिद्ध हो गयी थी। उस बस्ती के लोगों ने, तब घबरा कर और अपने जीवन का और कोई उपाय न देख, उस यक्ष के द्वारा होनेवाले उपद्रवों को रोकने के हेतु, उस यक्ष की सेवा-पूजा कर के उसे प्रसन्न रखने का उपाय सोचा था। भगवान् ने वहां पहुंचते ही इस घटना का वर्णन सुना। तब तो उन्हों ने उस गांव के यक्षालय ही में या उस के आसपास ठहरने और ध्यान करने की अपनी अभिलाषा प्रकट की। जब लोगों ने यह बात सुनी, वे घबरा कर प्रभु से प्रार्थना करने लगे, "स्वामिन्! उस नर-भक्षक यक्ष के यहां या आसपास जा कर निवास करना, यह तो किसी भी प्रकार उचित नहीं है। जब उस के सामने जा कर के ही अपने प्राणों को बचाना कठिन जान पड़ता है, तब वहां ध्यान-मग्न हो कर रहने की बात? भगवन्! अभी तो आप के पावन शरीर से जगत् का बड़ा भारी कल्याण-मंगल आप को करना है! यह

सब जान कर भी आप का ऐसा साहस करना, ठीक नहीं । हम लोगों ने जो भी उसे अपनी सेवा-पूजा और सामयिक भेंट, आदि के द्वारा प्रसन्न कर रक्खा है; तब भी सोते जागते, खाते-पीते, उठते-बैठते, हर समय हमारी जान का धोखा हमारे सिरों पर बना ही रहता है । मानो, भय से उन्मुक्त रहना, हमारे भाग्य में बदा ही नहीं है । उसी यक्ष के यक्षालय में ठहरने की बात, आप की, ठीक वैसी ही है, मानो काल को हंकार कर के और खुशी खुशी उस के मुंह में गिर कर के, जीवित और सुरक्षित रहने की चेष्टा करना है । हठवश, जो कोई एक रात के लिए भी वहां रहने का दुस्साहस करता है, वह बड़ी ही निर्दयता से, उस के द्वारा, वहीं का वहीं मार दिया जाता है । जब एक ही रात पूरी व्यतीत नहीं होने पाती, तब कुछ अवधि के लिए तो वहां रहने का विचार तक करना, बड़ा ही खतरनाक जान पड़ता है । अतः आप हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर के, यहीं कहीं आसपास में ठहर जाइये। वहां सब प्रकार से आप के लिए सुप्रबन्ध कर दिया जायगा ।" परंतु भगवान् उस यक्ष के भय से भयभीत होनेवाले ही कब थे ? उन्हों ने उन की प्रार्थना को अस्वीकार कर दी । तब लोगों ने, लाचार हो कर के, उन्हें दुखित हृदय से वहां रहने के लिए, सिधाई के साथ कह दिया। प्रभु भी तब उस स्थान की ओर प्रस्थान कर गये ।

प्रभु यक्षालय में पहुंचे । वहां एक कोना अपने रहने के लिए निश्चित किया। जहां वे ध्यान-मग्न हो कर खड़े रह सकें । तदनन्तर प्रभु कायोत्सर्ग कर के अपने ध्यान में वहां स्थित हो रहे । शाम का समय हुआ, तब वहां के पुजारी ने भी, उन्हें वहां रात में देर तक ठहरने के लिए, मना किया । परन्तु प्रभु एक तो मौन-व्रत में थे । और दूसरे, कायोत्सर्ग करके वे खड़े थे। अतः पुजारी के कहने-सुनने का प्रभु पर कोई असर नहीं हुआ । वे अपने ध्यान में पहले ही के समान अ-विचल हो कर निर्भीकता से खड़े रहे । पुजारी भी वहां से तब चला गया। अब यक्षालय में अकेले भगवान् रह गये ।

रात पड़ी । धीरे धीरे उस का अंधकार जैसे जैसे, सघन होता जाता था, वैसे ही वैसे, उस बस्ती के लोगों के हृदय भी भगवान् के शरीर की रक्षा के भय में, अधिकाधिक भयभीत होते जा रहे थे । रात्रि में अपने नियत समय पर, यक्ष उस यक्षालय में आया । उस ने अपने मकान में एक तपस्वी के वेष में खड़े हुए

प्रभु को देखा। उन्हें देखते ही उस के क्रोध की सीमा न रही। वह उन्हें भयभीत कर के वहां से भगा निकालने या खा जाने के लिए तरह तरह के विकराल स्वांग रचने लगा। पहले उस ने भयंकर गर्जना की। उस अट्टहास को सुन कर पशु-पक्षी भयभीत हो गये। झाड़ पर बैठे हुए इधर उधर के पक्षी तक भूमि पर गिर पड़े। मयूर बोल उठे। मानो, उन्हों ने उस की उस भीषण गर्जना को मेघ की गर्जना समझी थी। पर वीर प्रभु अपने ध्यान से रंच-मात्र भी विचलित न हुए। दूसरी बार में, उस ने विशाल काय पशु और पिशाचों का डरावना रूप धारण किया। और, भगवान् के सामने आ आ कर, भांति भांति की हरकतें वह करने लगा। भगवान् तब भी टस से मस न हुए। तीसरी बार में, उस ने अब एक अति ही विकराल सर्प का रूप लिया। पहले वह प्रभु के सामने जा कर ज़ोर ज़ोर से फुफकारने लगा। फिर, जगह जगह भगवान् के शरीर को उस ने डसना प्रारम्भ किया। इस में भी न तो भगवान् ध्यान से ही हटे और न उस का हलाहल विष ही उन के शरीर पर कोई असर कर सका। कहिये, पाठको! एक साधारण सर्प के एक बार मात्र काट लेने से जब मनुष्य को प्रायः अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता है; तब एक विकराल सर्प के द्वारा और वह भी बार बार काटना और उस पर भी सुरक्षित रहना? यह क्या कोई जादू है? नहीं! जादू टोना कुछ भी नहीं। वह सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य और देहाभिमान के अभाव के साथ तप का तेजोमय बल है। और कुछ नहीं। कोई भी चाहे, इस की आज़माइश कर सकता है। इस में देश, काल और पात्रों के अधिकारी और अनधिकारी होने की कोई चर्चा नहीं है। यहां जाति कुजाति, नर-नारी, वृद्ध-बालक, सधन-निर्धन सबों का एक सा प्रवेश है। यों, एक के बाद एक कितने ही विकराल स्वांग उसने भरे होंगे। और उन स्वांगों के व्यापारों का बढ़िया से बढ़िया, तथा क्रूर से क्रूर नमूना उस ने प्रभु को दिखाया होगा। कभी कभी तो, उस यक्ष के इन क्रूर कार्यों का प्रभु के ऊपर उलटा ही असर देखने को मिलता। प्रभु की मुख-मुद्रा भय और विषाद के कारण नहीं; वरन् आभ्यन्तरिक आनन्द के कारण, और भी अधिक गम्भीर और प्रसन्न जान पड़ती थी। निर्भयता और निर्वैर तो प्रभु की नस नस से टपके पड़ते थे।

इधर तो भगवान् के साथ यक्ष की ये घटनायें घट रही थीं। और, दूसरी ओर, सिद्धार्थ व्यन्तर मन ही मन में कुछ विचार बांध रहे थे। उन्हों ने दूर ही

से, अपने ज्ञान-बल के द्वारा, भगवान् के साथ घटी हुई उन घटनाओं का सारा दृश्य देखा। वह तब तो दौड़ा दौड़ा वहां आया। उस ने यक्ष को कहा, "अरे! अरे! तू ने यह क्या कर लिया? अरे यक्ष! तू नहीं जानता, कि इन्द्र भी इन्हें अपना पूजनीय मानता है और इन्हें नमन करता है? यह घटना आज की, अगर इन्द्र ने जान ली, तो फिर तेरा क्या होगा? यक्ष! अब जान पड़ता है, तेरे जीवन की घड़ियां निकट आ लगी हैं। अरे तू इन के चेहरे-मोहरे से भी इन्हें न समझ सका? तू यह तो भली भांति जानता था, कि लोग या कोई भी प्राणी, अपने प्राण बचा कर तुझ से परे भागने की कोशिश करते हैं, तब ये, जो चल कर तेरे यक्षालय में ठहरे थे, किसी न किसी अपने बल पर ही ठहरे होंगे। तू यह भी न जान सका?" यक्ष का मन तो, सिद्धार्थ-व्यन्तर के इस कथन के बहुत पहले ही कायर हो चुका था। वह तो, अपने प्रत्येक प्रयोगों को, जो भगवान् के शरीर पर उस के द्वारा किये जाते थे, निष्फल होते देख, पहले ही अपने मन में, तरह तरह के तर्क-वितर्क उन महापुरुष के लिए बांध रहा था। अब तो वह और भी घबराया। इतना कहने, सुनने और अनुभव करने के बाद सिद्धार्थ-व्यन्तर तो अपने स्थान की ओर चले गये। और, यक्ष ने अपनी आत्मा का आदेश मान कर आगे का काम किया।

पाठको! अंत में आत्मिकशक्ति की राक्षसी शक्तियों पर विजय हुई। यक्ष की अनीति और अत्याचारों का, जब प्रभु के शरीर पर रत्ती-भर भी असर न पड़ा, तब तो अपनी आत्मा की आवाज़ और सिद्धार्थ-व्यन्तर का कथन सुन कर, उस ने प्रभु से मन ही मन में हार मानी। यही नहीं हुआ। ज़रा आगे चल कर और भी विस्मयकारक परावर्तन उस के जीवन में हुआ। यक्ष ने भगवान् को अब एक साधारण तपस्वी नहीं, वरन् एक महान् पुरुष समझा। उन की वीरता की सैकड़ों बार मन ही मन में उस ने सराहना की। उन की धैर्य और सहिष्णुता को उस ने नमन किया। फिर तो, वह अपने मन को भी न रोक सका। वह भगवान् के चरणों में एकाकी गिर पड़ा। और, अपने कृत अपराधों के लिए बार बार प्रभु से क्षमा-याचना की। तदनन्तर फिर उस सिद्धार्थ देव ने उस शूलपाणि यक्ष को कहा, कि "हे यक्ष! जान पड़ता है, वास्तविक तत्त्व को समझने में तू आज तक असमर्थ रहा है। और, इस योनि में पड़े रहने का भी यही मुख्य कारण है। अब यथार्थ तत्त्व को समझने की तू चेष्टा और चिन्ता कर।

वीतराग पुरुष जो तुझे मिलें, उन्हें तू देवता के तुल्य समझ कर, उन का आदर सत्कार कर। साधुओं को अपने जीवन का संघाती बना। उन में गुरु-भाव रख कर, उन के साथ हार्दिक प्रेम करना सीख। शास्त्रों को कपोल-कल्पित और केवल ढकोसला मत समझ। उन में धर्म-बुद्धि रख। जगत् के जीवों को भी अपनी ही आत्मा के समान मान कर, उन के साथ प्रेम करना सीख। किसी के प्रति द्वेष कभी मत रख। और, पराये को सताने के समान कोई नीचता नहीं है, इस बात को सदा सर्वदा याद रख। तू जो नाना प्रकार की पीड़ा अभी जगत् के जीवों को देता रहता है, यह तेरी करणी तो तुझे और भी अधिक पतितावस्था में ले जानेवाली है। अतः अब सचमुच में तू अपना जीवन सुधारना चाहे, तो उठ! आज से अपने जीवन की दिशा और कार्यों को पलट दे! और, अपने द्वारा आज तक के किये हुए समस्त पापों का अन्तःकरण-पूर्वक प्रायश्चित्त कर के, पाप-मुक्त बनने की कोशिश कर। और इसी मात्र एक मार्ग पर तू चल कर अंत में कल्याण को भी प्राप्त कर सकेगा।" सिद्धार्थ-देव के इस सीधे और सच्चे, तथा कल्याणकारी कथन का उस यक्ष पर इतना गहरा असर पड़ा, कि उस ने उसी घड़ी से, अपनी दुष्ट वृत्तियों का परित्याग कर दिया। और अपने पापों के प्रति उसे गहरी घृणा हो आयी। उस ने सिद्धार्थ की आज्ञानुसार, उन अपने पापों का कठोर से कठोर प्रायश्चित जो हो सकता था, करना स्वीकार किया। बाद उस सिद्धार्थ देव के सदुपदेश से यक्ष ने सम्यक्त्व को धारण किया। फिर, प्रभु को नमस्कार कर, हाथ जोड़ वह बोला—"नाथ! आप बड़े भारी परोपकारी हैं। आप ने सैकड़ों अपकार के बदले भी मेरे साथ उपकार ही किया। यही क्यों? मेरे जीवन की कायापलट भी तो आप ने कर दी! उसे कुमार्ग से हटा कर सुमार्ग पर ले जा रक्खा। अगर, आप की ऐसी अनुपम दया न होती, तो जीवन-पर्यंत न जाने और कितने, तथा कौन कौन से भीषण अत्याचार मैं करता! कितने निरपराध और भोले-भाले मनुष्यों, तथा अन्य प्राणियों को मैं मारता! और जिन के बदले, न जाने कौन कौन सी तिर्यक् योनियों, व अन्य अन्य हिंसक जीवों के शरीरों में जन्म-धारण कर के, और भी कितने कठोर पाप मुझे कमाने पड़ते! और जिसके बदले, न जाने कितने लम्बे काल तक, नरक में पड़े पड़े मैं सड़ता रहता और रोते-कराहते नरक की प्राणलेऊ यातनाओं को भोगा करता! भगवन्! यह अद्भुत शक्ति आप के इन चरणों के दर्शनों ही की है, जिस के कारण, मैं

उन सम्पूर्ण भावी यन्त्रणाओं से बाल बाल बच गया। प्रभु ! आगे भी आप के चरणों में मेरी पावन प्रीति ऐसी ही बनी रहे। ऐसा कह कर प्रभु की उपासना में जुट पड़ा।"

भगवान् ने अपने इस प्रथम चातुर्मास में पन्द्रह पन्द्रह दिन की दो बार तपस्याएँ की थीं। उन दिनों आप बिलकुल अनशन-व्रत से रहे थे। यों, तप और ध्यान में लीन हो कर, और अनेक प्रकार के परिषहों को समभावों से सहन कर, तथा क्रूरों की स्वभाव-गत क्रूरता का अपने तपोबल से निकन्दन करते हुए, दीक्षा काल के पश्चात् का अपना प्रथम चातुर्मास खतम किया। उस समय पार्श्व-संवत् २५१ वां जगत् में प्रवर्त रहा था। इस के बाद प्रभु ने वहां से विहार कर दिया। मार्ग में जहां भी आप पधारे और ठहरे, वहां का मुख्य काम आप का ध्यान-मग्न हो कर रहना था। यों, आस्थिक गांव से धीरे धीरे विचरण करते करते, प्रभु एक बार फिर मोराक में पधारे।

मोराक में भगवान् और तान्त्रिक अच्छन्दक.

मोराक में एक बड़ा ही दुश्चरित्र और पाखण्ड-प्रिय व्यक्ति रहता था। जिस का नाम अच्छन्दक था। वह जानता कुछ भी नहीं था। न उसे किसी प्रकार की कोई सिद्धि ही प्राप्त थी। परन्तु वह लोगों में एक तान्त्रिक के नाम से खूब ही प्रसिद्ध हो रहा था। बस, झूठे यंत्र, मंत्र और तंत्र बता कर ही वह लोगों का धन, धर्म और सद्गुणों का अपहरण करता और अपनी आजीविका चलाता था। परन्तु प्रभु जब वहां पधारे; और उन के सच्चे और कठोर तप व ध्यान की महिमा लोगों में जब फैली; त्योंहीं अच्छन्दक के कार्यों में, पाखण्ड और ढकोसलेबाज़ी का जनता को कुछ अंशों में पता लगने लगा। तब तो जनता उस से सचेत हुई। और प्रभु के तप और ध्यान की ओर झुकने लगी। इस से अच्छन्दक की आजीविका में एकदम कमी हो गयी। इस कारण अच्छन्दक बड़ा घबराया। और, मौका पा कर, एक दिन प्रभु के सम्मुख आ, गिड़गिड़ा कर और हाथ जोड़ कर बोला, "कृपानाथ ! आप तो सर्वत्र पूजनीय हैं। जहां भी आप जा निकलेंगे, आप का समुचित सम्मान होगा। परन्तु चिंता यदि

कोई है, तो हम सरीखे अबोध जीवों के लिए है। प्रभु ! जब से आप का आगमन इस बस्ती में हुआ है, तभी से लोगों का ध्यान आपके तप और ध्यान की ओर आकृष्ट हो गया है। उसी दिन से, मेरे कामों के प्रति, उन के मनों में अश्रद्धा पैदा हो गयी है। मेरी रोज़ी में उसी दिन से गहरा धक्का मुझे लगा है। यदि इसी तरह और भी थोड़े दिन बीत गये, तो मेरे बाल-बच्चों का निर्वाह करना तक, मेरे लिए बड़ा कठिन काम हो जायगा। अतएव अच्छा हो, कि आप दया कर के कहीं अन्यत्र यहां से पधार जावें। और वह स्थान भी यहां से इतना दूर कम से कम हो, जहां, यहां के लोग कदाचित् ही पहुँच सकें। तब लोग, न आप को देखेंगे; और न वे आप के कामों का अनुकरण कर, मेरी अवहेलना ही कर सकेंगे।" प्रभु को उस की सत्य-सनी दीन वाणी पर बड़ा ही तरस आया। फिर, उन्हें 'अप्रीति-कारक स्थानों में कभी न रहना चाहिए' अपनी इस प्रतिज्ञा की सुध भी उसी काल हो आयी। तब तो प्रभु ने वहां रह कर अब पल-भर बिताना भी उचित और श्रेयस्कर न समझा। वे वहाँ से उसी समय विहार कर गये और, विचरण करते करते, 'वाचाल' नामक सन्निवेश में होते हुए, श्वेताम्बरी नगरी की ओर पधारे।

प्रकरण—बारहवां

चण्डकौशिक की सद्गति

भगवान् 'वाचाल' नामक सन्निवेश से विहार कर के, ज्योंहीं श्वेताम्बरी नगरी की ओर पधार रहे थे, रास्ते में एक ग्वाल-पुत्र उन्हें मिला। भगवान् की अनुपम शांत और गम्भीर शारीरिक स्थिति को देख कर, वह उन से उन के विहार के स्थान का पता लगाने लगा। और, जब उसे श्वेताम्बरी नगरी की ओर प्रभु के विहार का पता लगा, तब वह बड़े ही विनीत भाव से प्रभु से कहने लगा—"स्वामी जी! रास्ता तो श्वेताम्बरी नगरी को यह सीधा चला जाता है, पर है यह बड़ा ही खतरनाक। इस में एक अति ही भयावना और विषैला साँप रहता है। साधारण सर्प को देखने भर से विष नहीं चढ़ता। परंतु लोगों का कहना है, कि उसे तो देखने मात्र ही से विष शरीर में व्याप जाता है। इसी से वह 'दृष्टि विष-सर्प' के नाम से भी लोगों में प्रसिद्ध हो गया है। उस के विष की विषमता का भय मनुष्यों ही में नहीं; वरन् पशु-पक्षियों तक में एकसा घुस गया है। वे भी कभी भूल कर, उस के स्थान की ओर नहीं जाते। यदि भूले-भटके कभी उधर वे निकल भी जाते हैं, तो प्राणों को ले कर, वापस वहाँ से लौटना, उन बेचारों के लिए बिलकुल असम्भव हो जाता है। यों भूल में पड़ कर, आज तक कितने ही प्राणियों ने, उस के भयंकर विष प्रकोप के कारण, अपने प्राणों से हाथ धोया होगा। अतएव, महाराज! आप इस मार्ग से श्वेताम्बरी को पहुँचने का साहस न करें। यहाँ से थोड़ी ही दूरी पर दूसरा मार्ग है। आप उस से श्वेताम्बरी को जावें। मार्ग की सिधाई और कम दूरी के मोह में फँस कर, जान-बूझ कर प्राणों

को संकट में न डालें।" भगवान् ने बालक के प्रेम और सचाई मिली हुई सिधाई को सराहा। यह कहने-सुनने के उपरान्त वह बालक तो वहाँ से चलता बना। और, भगवान् कुछेक पलों के लिए वहीं ध्यान-मग्न हो रहे।

भगवान् ने उस समय के ध्यान में अपने दिव्य ज्ञान-बल से देखा, कि यह सर्प वास्तव में है कौन ? पहले यह कौन था ? सर्प-योनि में जन्म-धारण कर के, इस ने अन्य सर्पों से इतनी अधिक भयंकरता का पैर-पसारा क्यों कर रक्खा है ? उन्हों ने ज़रा ही देर में इन सारी बातों का पता पूरा पूरा लगा लिया। उन्हें जान पड़ा, कि वास्तव में यह सर्प पहले एक भव्य प्राणी था। अचानक किये गये किसी घोर दुष्कर्म के फलोदय से यह इस अधम-गति को प्राप्त हुआ है। और, अभी भी ऐसे ही अधम कार्य यह नित-प्रति कर रहा है, जिस के फल से यह आज से अधिक भीषण दुर्गति को प्राप्त होवे। फिर, यह सीधे रास्ते पर भी शीघ्रता से और सहज ही में लाया जा सकता है। यही नहीं, जिस शक्ति और साहस से आज वह कुमार्ग की ओर प्रवृत्त हो रहा है, उस से भी अधिक शक्ति और साहस के साथ, वह सन्मार्ग की ओर भी लगाया जा सकता है। इस में कोई सन्देह नहीं।

यदि पूर्व पुण्यों के उदय से, किसी मनुष्य को बलवान् मनः शक्तियाँ मिली हुई हैं और यदि वह उन का उपयोग भी सुमार्ग ही में या लोक-कल्याण के अर्थ ही में करता है, तब तो हर प्रकार से भला ही है; परन्तु यदि किसी दुष्कर्म के उदय से वह अपनी शक्तियों का दुरुपयोग कर रहा हो, तो संयमशील, ज्ञानवान् और त्याग-प्रिय पुरुषों के द्वारा, वह सहज ही में सुमार्ग पर भी लाया जा सकता है। भला, भगवान् भी अनायास ही हाथ आये हुए, ऐसे सुवर्ण सुयोग को अपने हाथों से कब जाने देनेवाले थे ? वे तो संसार में सुख और शांति की स्थापना करने के लिए, प्रेम और सेवा के मन्त्रों को फूंकने के लिए ही कार्य क्षेत्र में उतरे थे। त्याग और परले दर्ज़े का परोपकार ही उन के शरीर-रक्षक थे। पतित और कुमार्ग-गामी जीवों को सुमार्ग पर ला कर उन्हें सद्गति का सतत अधिकारी बनाना, यह उन के जीवन के मुख्य उद्देश्यों में से एक था। वे अपने समय के क्या मनुष्य और क्या पशु-पक्षी, तथा क्या कीट-पतंग, सभी में समता की भावना का एक सा प्रचार करना उन का ध्येय था। उन की ऐसी अनुपम उपकार सनी प्रकृति के कारण ही, उस विकराल-कर्मा सर्प की दुष्ट प्रवृत्तियों

को, उन ने, उस समय, दूसरी ओर मोड़ देने का अपना ध्येय निश्चित कर लिया था। और यों, उस सर्प के उद्धार करने का निश्चय, उन की परोपकारमयी प्रकृति के बिलकुल अनुरूप ही था। लोग उस क्रूर-कर्मा सर्प के कामों को देख और सुन कर जो भी उस से घृणा करने लगे थे, तब भी भगवान् की उच्चतम भावना के अनुसार, वह सर्प रंच-मात्र भी घृणा का पात्र नहीं था। उन का सदुपदेश था, कि घृणित वास्तव में वह नहीं है, जिस के साथ घृणा की जाती है। परंतु घृणित वह है, जो घृणा करता है। फिर, आत्मोन्नति का इच्छुक और प्राणी-मात्र की भलाई की भावना रखनेवाला तो, सदा ही सब से अकारण प्रेम करता है। सब से प्रेम-पूर्वक मिलता है। और, सब को अपनी ही आत्मा के समान देखता है। कष्टों को सहन करने का अभ्यास भी भगवान् ने यथेष्ट रूप में आज तक कर लिया था। और प्राणियों की सेवा के मार्ग में नाना प्रकार के कष्टों को हंसते हंसते सहन कर जाना, यही उन के तप का उद्देश था। वे समझते थे, और अपने कार्यों से जगत् को उन्हों ने भली भांति बता भी दिया, कि सरल कार्यों के करने में ही मनुष्यों को सदा प्रसन्न न रहना चाहिए। क्योंकि, ऐसा करने से आत्मा की अनेकों निहित शक्तियां अविकसित रूप में रह जाती हैं। इसलिए हमेशा कठिनतर कार्यों की फिराक में रहना चाहिए। और, अपने तपो बल और त्याग से उन्हें सरलतम बनाना चाहिए। भगवान् का हृदय, किसी शक्ति की विकृतावस्था में उस की अयोग्यता को आंकनेवाला नहीं था। वे अयोग्यता तो उस में जानते और मानते थे, जो अपनी आत्मा के तपोबल और दिव्य प्रकाश से उसे सत्पथ की ओर मोड़ सकने में असमर्थ रहता, या किसी प्रकार की कायरता दिखाता। भगवान् ने अपने ध्यान के द्वारा सर्प की क्रूर शक्तियों और उन के मूल कारणों का पता पूरा पूरा लगा लिया था। जिस विकराल सर्प की क्रोधाग्नि में पड़ जाने पर, आज कई प्राणियों के, असमय ही में, प्राणों का विनाश हो जाता है; क्या, प्रयत्न करने पर, उसी क्रूर-कर्मा सर्प को सीधे मार्ग पर नहीं लाया जा सकता? नहीं लाने की बात तक कहना, मानो, अपनी दिव्य और अनुपमेय आत्मिक-शक्तियों की अवहेलना करना है। साधु प्रयत्नों के बल पर वह सर्प अवश्य शांति-शील और क्षमावान् बनाया जा सकता है। किन्तु हां, उन साधु प्रयत्नों में नितान्त निस्स्वार्थ, तथा निष्कपट प्रेम की पूरी पूरी आवश्यकता है।

भगवान् ने यह सब बातें सोच विचार कर, उस सरल-हृदय ग्वाल-पुत्र के कहने-सुनने की ओर तनिक भी ध्यान न दिया। वे तो एक परम शांत और धीर पुरुष की भांति उसी मार्ग में क़दम बढ़ाते चले। उन्हों ने पीछे पैर रखना कदापि योग्य न समझा। सच है, प्रलयकाल के पवन से पर्वत भी चलायमान् हो जाते हैं, परन्तु धीर और गम्भीर पुरुष, घोर से घोर विपद् के आ पड़ने पर भी, अपने निश्चल चित्त से एक क्षण-भर के लिए भी कभी चलायमान् नहीं होते। और तो और अपने प्राण-नाश का समय आ उपस्थित होने पर भी, 'न करने योग्य काम को नहीं करना चाहिए और करने-योग्य कामों को बिना किये कभी नहीं रहना चाहिए,' यही मात्र एक उन का उद्देश्य रहता है। चलते चलते प्रभु अब उस सर्प के रहने के स्थान के पास आ पहुंचे। वहां जा कर, उसी अपने तप और ध्यान के काम को आपने संभाला। पड़ौस ही में, सम भूमि देख कर कायोत्सर्ग ध्यान आपने लगाया। यों, ध्यान लगाये हुए भगवान् को शान्ति में खड़े खड़े कुछ समय जब बीत गया, तब वह सर्प बाहर निकला। निकलते ही उस सर्प ने प्रभु को अपने सामने देखा। देखा ही नहीं, स्थित हुए देखा। तब तो उस के क्रोध का पारा खूब ही गरम हो गया। उस ने मन ही मन सोचा, "मेरे निर्जन और शान्त वनैले राज्य में, जहां हिंसक जानवरों तक को अपने प्रवेश की हिम्मत एक बारगी नहीं हो पाती, वहां इस मनुष्य के ऐसे निर्भीक और अचल हो कर खड़े रहने का साहस? और वह भी मेरे निकट और मुंह के सामने? जान पड़ता है, यह संसार के किसी घोर से घोर क्लेश के कारण पीड़ित है, जिस के कारण दुखित हो कर, यह अपने आप को, अपने ही हाथों, मेरे मुंह में फेंकने के लिए यहां चल कर आया है। और, अपनी मौत की प्रतीक्षा में मेरे सम्मुख खड़ा है। सच है, पाठको! जिसे पीलिया रोग हो जाता है, वह जगह जगह और प्रत्येक वस्तु में भी, अपने ही रोग के उस पीलेपन की झांई को देखता और अनुमान करता है। चाहे वह वस्तु, फिर किसी भी रंग की क्यों न हो? जो मनुष्य सावन के महीने में, जब कि प्रकृति में चारों ओर हरियाली छायी रहती है, अन्धा हो जाता है, उसे भयंकर से भयंकर ग्रीष्म की तपन के समय भी, प्रकृति के सब प्रकार से नंगी रहने की अवस्था में भी, उसी हरियाली का आभास दिख पड़ता है। पाठको! इन दोनों बातों का कारण तो आप भली भांति समझ ही गये होंगे। ठीक इसी तरह, वह बेचारा सर्प ही, संसार के घोरतम क्लेश से क्लेशित था। और देख रहा था क्लेशित, वीत-राग भगवान् को!

ज्ञान, और अज्ञान के आवरण में यही तो अन्तर है !

सर्प अपने स्थान से अब भगवान् की ओर चला। पास जा कर, एक अति ही भयंकर फुफ़कार उस ने उन के शरीर पर मारी। और कुछ पीछे हट गया। उस की वह फुफ़कार ही इतनी अधिक विषमयी थी, कि आसपास, उस के कारण से, चारों ओर नीली झांई फैल गयी। आग की चिनगारियां सी इधर उधर चमकने लगीं। उस बन-प्रदेश में, उस के आस-पास के झाड़ तो, बहुत पहले ही से उस की इस विष-ज्वाल से मुरझा कर, ठूंठ से बन चुके थे। हां, कुछ दूरी पर कुछ झाड़ हरे-भरे दिखलाई पड़ते थे। समय असमय कभी कोई पक्षी भी आ कर, अपना बासा वहां उन पर ले लेते थे। इस समय भी कुछ पक्षी उन पर बैठे हुए थे। उस फुफ़कार की विष-सनी वायु वहां तक पहुंची। और, वे बेचारे उसी दम औंधे हो कर ज़मीन पर गिर पड़े। आसपास दौड़ते हुए कुछ वनैले जन्तुओं की भी यही गति हुई। यह तो वहां का रोज़ का व्यापार था। परन्तु भगवान् ज्यों के त्यों खड़े रहे। उन के शरीर पर उस का कोई असर नहीं हुआ तब तो वह और भी क्रोध में आया और लपकता हुआ भगवान् की ओर गया। इस बार उस ने बड़े ही जोर से, भगवान् के पैर के, एक अंगूठे को डस लिया। तब भी भगवान् पहले ही के समान अटल और अचल हो कर ध्यान-मग्न खड़े रहे। उन्हें, न तो उस सर्प की भीषण फुफ़कार की विष-ज्वाल ही की लहर चढ़ी थी; और न उस सर्प के काटने का कोई ध्यान था। इस पर सर्प को मन ही मन बड़ा अचरज हुआ। अपने विष-प्रयोग की शक्ति पर उसे बड़ा भारी गर्व था। भगवान् को स्वस्थ और शान्त रूप में पहले ही के समान खड़े हुए देख कर, उस का वह सारा गर्व चूर चूर हो गया। उस ने अब की बार और भी अपनी शक्ति की आज़माइश की। लपक कर उस ने भगवान् के शरीर में जगह जगह डस लिया। ज़ोरों से, उन के शरीर को, अपनी फुफ़कार के बल धराशायी करने की कोशिश की। परन्तु आत्मिक शक्ति के सामने शारीरिक बल की हस्ती ही कितनी और क्या है ?

तरह तरह की वैज्ञानिक शोध के इस ज़माने में, बहुत सम्भव है, कि लोग इस बात पर अनेकों प्रकार के अनर्गल तर्क वितर्क करने लगेंगे। और बात भी देखने में ऐसी ही लगती है। परन्तु जिस बात के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण काफ़ी रूप में दिये जा सकते हैं, उस के लिए फिर भी संशय उठाना और तरह तरह

की कल्पनाएँ करना, निरा थोथापन और बुद्धि के भ्रमका प्रदर्शन मात्र करना है। आज हम अपनी आँखों से देखते हैं, कि एक साधारण से साधारण पुरुष भी हमारे भारतीय देहातों में, अपने यन्त्र, मन्त्र, या तन्त्रों के बल से, बड़े बड़े सर्पों को पकड़ लेते हैं। उन के सामने रहते हुए, बिना किसी के दबाये या पकड़े, बड़े बड़े विषधर साँप या गोहरे, अपना बलभर प्रयत्न करने पर भी, अपने मुँह को खोल नहीं सकते। वे इस भांति उन के मन्त्र, तन्त्रों के द्वारा कील दिये जाते हैं। वेही लोग, किसी को, किसी अज्ञात स्थान में विकराल सर्प के द्वारा डस लेने पर, उन सर्पों को, दूर दूर से अपने मन्त्र-बल से एकदम बुलवाते हैं; और उन्हीं के पास से उन के अपने विष को पीछा चुसवाते हैं। अपने मन्त्र आदि के बल, वे सर्प आदि का विष उतार देते हैं। यही नहीं, वे बड़े बड़े शेरों और रीछों के वन में से भी, उन के सामने से होते हुए, सरलता और निर्भीकता से निकल जाते हैं। परंतु वे शेर और रीछ बकरी के समान खड़े खड़े उन्हें देखते रहते हैं, और उन पर किसी प्रकार का वार नहीं करते।

पाठको! जब साधारण मन्त्र, तन्त्र, यन्त्रों के बल की बात ऐसी अचरज-भरी दिख पड़ती है; जब आज के नाम-मात्र के तप और ध्यान का, उन हिंसक जीवों की क्रूर भावनाओं पर ऐसा सुन्दर असर पड़ा देखा जा सकता है, तब एक परम योगी के शरीर पर, जो जगत् मात्र के कल्याण की भावनाओं को लिये हुए, अनेक प्रकार के तापों को सहन कर रहा है, और जो अपने ज़माने-भर के किसी भी महापुरुष को अपने आत्म-बल का सानी नहीं रखता, यदि उस सर्प का विष असर न करे, तो इस में अचरज की और अनहोनी कौन सी है! फिर, एक सच्चे और लोक-हितकारक वैरागी त्यागी पुरुष के लिए, अपने सर्व-व्यापक आत्म-स्वरूप के चिंतवन के सिवाय, किस में तो राग और किस में द्वेष की भावना हो सकती है! वह तो सब को अपनी ही आत्मा के समान देखता और मानता है। इसलिए न तो वह स्वयं किसी से डरता है और न किसी दूसरे ही को वह डराता है। और, जगत् के तरह तरह के कार्यों से भी उस का कोई ख़ास प्रयोजन नहीं है।

पाठको! देखी ध्यानावस्थित एक योगी की स्थिति? उस स्थिति के अनुपम प्रभाव को भी आप ने जान लिया होगा! सज्जनो! आप भी ध्यान, ज्ञान, दान, तप, सभी करते होंगे। परन्तु अपनी छाती पर हाथ रख कर, अपने हृदय

से जरा पूछिये, कि आप में से कोई एकाध भी, अधिक नहीं तो, क्या, एक दो ही मिनिट के लिए, अपने मन को चारों ओर से रोक कर, कभी यों ध्यान में मग्न हुआ है ? ध्यानावस्था में हमारा कुछ भी हो जाय; हमारे शरीर पर सांप रेंगे; या बिच्छू चलें; वे हमें काटें; डसें; डंक मारें; या फुफकारें; चाहे हमारे शरीर पर पशु–पक्षी उड़ उड़ कर बैठें; या दाद-खाज-खुजली कुछ ही उठें; हमें किसी भी बात की कोई खबर उस काल में न हो। सच पूछा जाय, तो उस समय शरीर से हमारा कोई सम्बन्ध होता ही नहीं है। एक मात्र आत्म-स्वरूप ही से हमारा उस समय में सम्बन्ध होता है। हमारे शरीर की जब तक ऐसी अवस्था नहीं हो जाती, तब तक ज्ञान और ध्यान, तप और उपासना का कोई मजा नहीं; कोई आनन्द नहीं; कोई सार और कोई मूल्य नहीं। फिर, चाहे बनावटी ज्ञान, ध्यान, तप, आदि क्रियाएं कर के अपने जीवन का अन्त कर दो तदपि कुछ नहीं। तुम्हारे जीवन की गति-विधि में इस से कोई लाभकारी हेर-फेर नहीं हो सकता। अगर तुम चाहते हो, कि तुम्हारी जिन्दगी में आनन्द का अनुभव तुम कर सको, तो केवल एकाग्रता और तल्लीनता से ही वह आनन्द तुमारे जीवन में आ सकता है। अस्तु। पाठको ! अभी भगवान् बन जाना दूर रहा। केवल भगवान् के बताये हुए रास्ते ही पर चल कर, दिन के बीस और चार पूरे चौबीस घंटों में से, कम से कम केवल पांच-सात मिनिट ही तक, आप वैसे ध्यान के लगाने का अभ्यास करें, तो भी आप के जीवन की आत्मिक प्रकृति में, एक दो सप्ताह के भीतर ही, आप को बड़ी भारी अचरज-भरी उन्नति का अनुभव होने लगेगा।

भगवान् के शरीर पर, अपने किसी भी प्रयोग का लेश-मात्र भी असर न होता देख, सर्प को जहां एक ओर घोर दुख हुआ; वहां दूसरी ओर, उसे अचरज भी कुछ कम न हुआ; और तीसरी ओर, बड़े असमंजस में भी वह पड़ा। फिर, एक बार, भगवान् के शरीर की ओर से, उस के द्वारा, उसे इतना अधिक सताया जाने पर, भी रत्ती भर रोष करते न देख, उसे भगवान् के शरीर पर दया भी आयी। उस पर, रोष करना तो अलग रहा; उन्हों ने अपने खड़े रहने की स्थिति तक में, एक तिलभर की हरकत न की ! इस से उन की वीरता की भी छाप उस के अन्तःकरण पर पड़ी। उस वीरता के कारण, भगवान् के शरीर के प्रति प्रेम भी हुआ। इन सम्पूर्ण भावों के, एक ही समय में एकीकरण हो जाने से, वह मन्त्र-मुग्ध दृष्टि से भगवान् के शरीर की ओर देखने लगा। उस ओर निहारते ही

उस सर्प के मन की कुवासनाएँ काँपने लगीं। प्रभु का शरीर, उसे उस समय, करुणा, दया, शांति, अहिंसा, सहिष्णुता, और अलौकिक वीरता के मेल से बना हुआ, एक सजीव शरीर दिख पड़ा। प्रभु का समभाव देख उस की क्रूर प्रवृत्तियां, अब और अधिक समय के लिए, उस के हृदय में न ठहर सकीं। उन दुष्ट प्रवृत्तियों के उस के हृदय से दूर होते ही,वह आत्म-धिक्कार का शिकार बना। उस की आत्मा, बार बार, उन के प्रति किये हुए दुर्व्यवहारों के कारण, उसे अन्दर ही अन्दर, दारुण रूप से कोसने लगी। वह, जैसा कि उस की शारीरिक हरकतों से जान पड़ता था, उस समय बड़ा ही पश्चात्ताप करने लगा। ओह! चन्द मिनिटों ही की सत्संगति का यह असर! हलाहल विष की बेलि, सर्प तक के स्वभाव में सत्संगति से यह अनोखी हेर-फेर! परन्तु यह सत्संगति मिलती बड़े भाग्य से है। जब जन्म जन्मांतरों के भाग्यों का उदय होता है, तभी ऐसी सत्संगति की प्राप्ति होती है। और, इस के प्राप्त होने पर, जब अज्ञान जन्य मोह और मद के अन्धकार का नाश हो जाता है, तभी विवेक का उदय हो सकता है। तथा, बिना विवेक की प्राप्ति हुए, स्व-स्वरूप का बोध ही कभी नहीं हो पाता। अतएव उचित है, कि कल्याण-कामी पुरुषों को विवेक की प्राप्ति के लिए, सत्कर्मों का सदा सर्वदा अनुसरण करते रहना चाहिए।

उस के मन में इस अचानक भाव-परिवर्तन को होता देख कर, भगवान् ने उस से कहा, "बुज्झ बुज्झ चण्ड कोसिया!" अर्थात्—तेरे मन की दुष्ट प्रवृत्तियों में यह आकस्मिक परिवर्तन देख कर मुझे बड़ा आनन्द होता है। तुझे भी मैं आनंदित देख रहा हूँ। तेरी आत्मा में सद्गुणों का जो अभी यह क्षणिक विकास हो आया है, यह तेरे पूर्व सुकृतों का फल है। तू इसे स्थिर बनाने की कोशिश कर। इस विकास के द्वारा तू अपने असली रूप को समझने की चेष्टा कर। आज तक, जो मोह के वश हो कर, तू अपने आप को भूला हुआ था, उसी का एक मात्र यह कारण था, कि उस अन्धकार में तू तो दुखी था ही; परन्तु तेरे कारण, जगत् के कई निरपराध और भोले-भाले प्राणी भी समय असमय सताये जाते थे। चण्ड कौशिक! स्व-स्वरूप को पहचानने के मार्ग की ओर तेरी प्रवृत्ति हो। मोहवश, इस भव में की हुई भूलों के लिए, एक बार अब तू अंतःकरण से पश्चात्ताप कर के, उन का प्रायश्चित कर। और, सद्गति के मार्ग पर लग। अपने पूर्व भवों में किये हुए कर्मों पर, तू एक सरसरी निगाह फेंक जा।

और समझ, किस पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए तू इस गति को प्राप्त हुआ है। आगे के लिए और अधिक भूल न कर। नहीं तो, इस से भी अधमतर गति तेरे लिए बाट जोह रही है।

उस सर्प ने प्रभु के इन वचनों को बड़े ध्यान से सुना। सुनने के बाद कुछ पलों तक इन पर मनन उस ने किया। मनन करते ही जाति-स्मरण-ज्ञान उसे हो आया। उस ने जाना, कि पूर्व भव में वह एक साधु था। उस समय वह भिक्षा के लिए एक बार घरों में जा रहा था। जाते जाते अचानक किसी मरे हुए मेंडक पर उस का पैर पड़ गया। उस के साथ में, उस समय उस का एक शिष्य था। वह अपनी प्रकृति से लाचार था। शान्त से शान्त व्यक्ति को भी वह उस के साथ से क्रोधी बना देता था। उस ने चट अपने गुरु से कहा, "गुरु जी! आगे न बढ़िये! आगे न बढ़िये!! यह मेंडक आप के पैर से दब कर मर गया है। चलिये, अब प्रायश्चित कीजिये।" गुरु जी ने इसे समझाया, बावरे! यह तो पहले ही से मरा पड़ा है। मैं ने इसे नहीं मारा। हां, भूल से मेरा पैर उस पर अवश्य लग गया है।" परन्तु शिष्य उन के इस कथन से थोड़े ही अपनी हट छोड़ने वाला था! वह जैसे जैसे अपने गुरु के साथ आगे बढ़ता गया, बस, वह तो अपना ही राग अलापता चला। इस से उसे क्रोध आ गया। और मौका पा कर, उस ने अपने शिष्य को भली भांति सीधा कर देने का विचार अपने मन में ठाना। एक एकान्त स्थान देखा। उस ने उसे अपने मनसूबे को पूरा करने की ठीक जगह समझी। बस, तब तो अपने आपे को भूल और लपक कर, अपने चेले पर वह टूट पड़ना ही चाहता था, कि इतने ही में ऊपर की छत से उस का सिर टकराया और सिर के फूट जाने से, चक्कर खा कर वह भूमि पर गिर गया। कुछ देर तक वह बेहोश हो कर वहीं पड़ा रहा। और अन्त में तड़प तड़प कर, आर्त-ध्यान वश हो, वहीं उस ने अपनी देह छोड़ दी।

पाठको! क्रोध के वश में हो कर, यों अभी भी उस साधु ने अपना सर्वस्व नाश कर लिया और आगे भी न जाने कितने और कौन कौन से भवों में, उसे अपने इस क्रोध के भोगों को भोगना पड़ेगा। वह यहां से मर कर, कायक्लेश आदि तपस्या के कारण ज्योतिषी-देव जाति में जा कर जन्मा। वहां किसी प्रकार अपना जन्म उस ने बिता दिया। परन्तु वहां से चव कर,

कनकखल नामक स्थान में वह जन्मा। जहां कौशिक नाम का कुलपति वह कहलाया। उस के आधीन कुछ ज़मीन वहां थी। उस में कुछ दूसरे दूसरे तपस्वी लोग रहा करते थे। कौशिक, अपनी बाल्यावस्था ही से बड़े उग्र स्वभाव वाला था। उस के क्रोध से कंठ तक उकता कर, वे तापस लोग, उस की ज़मीन को छोड़ अन्यत्र जा रहे। अब अकेला कौशिक उस निर्जन वन में रहता। फूल फल, काष्ट-भार, आदि लेने के लिए, कोई भी मानव बेचारा भूले-भटके उधर आ निकलता, कौशिक उसे वहां मार भगाता, और उन्हें अपनी सीमा के बाहर करता। उस के इन क्रूर कर्मों और उग्र स्वभाव के कारण, लोग उसे 'चण्ड-कौशिक' (चण्ड=भयंकर, विकराल) के नाम से पुकारने लगे थे। जैसे जैसे उस की उम्र व्यतीत होती जा रही थी, उस के उग्र स्वभाव में भी उसी क़दर बढ़ती होती जाती थी। एक दिन, श्वेताम्बरी नगरी से कई क्षत्रिय-कुमार उस के आधीन की ज़मीन में आ निकले और वहीं वे नाना भांति की क्रीड़ा भी करने लगे। इतने ही में उस चण्ड-कौशिक की निगाह उन पर पड़ी। और वह उन्हें मारने के लिए लपका। परन्तु,

'खाड़ खनत हैं और को, ताको कूप तयार।' वाली बात घट गयी। वह मारने को तो उन क्षत्रिय कुमारों को दौड़ा था। परंतु वह खुद मर गया। रास्ते के एक भग्न-कूप में, दौड़ते दौड़ते, वह गिर पड़ा और प्रचण्ड क्रोध के आवेश में, उस ने अपने प्राणों को वहीं छोड़ा। तभी से वह इस सर्प योनि में आया। और, उसके पूर्व-कृत कर्म, तथा उग्र स्वभाव के कारण, यहां भी व 'चण्ड कौशिक' ही के नाम से प्रसिद्ध हुआ। भगवान् के दर्शन और उपदेश से, उस ने अपने इन पूर्व भवों के अलग अलग वृत्तान्तों को पूरी तरह जाना। उसे प्रबोध हुआ, कि जिस भीषण क्रोध वृति के कारण, उसकी यह अधमाधम गति आज तक हो रही है, यदि अभी भी उसने उस का परित्याग न किया, तो आगे उसकी और भी क्या विकराल और दयनीय गति होगी ? उसने अपनी अन्तरात्मा से उठी हुई इस यथार्थ आवाज़ का समादर किया। उसी दिन से उस ने क्रोध की प्रवृति का परित्याग कर देने का भीषण व्रत लिया।

अनेकों लोगों का इरादा रहता है, कि वे क्रोध का बदला क्रोध ही से चुकावें। पर हमारी समझ से वे इस बात में ग़लती करते हैं। क्रोध को एक भयंकर आगी कहा गया है। अतः क्रोध के बदले क्रोध करना, मानो आगी

को आगी से बुझाने का प्रयत्न और प्रयास करना है। पाठको! हमारी आँखें, हमारा ज्ञान, और हमारा अनुभव, कोई भी इस बात की साक्षी देने के लिए तैयार नहीं होता, कि आगी को आगी से बुझाया जाता है। हाँ, आगी, पानी से या धूल से बुझायी जा सकती है। उसी प्रकार क्रोध की आभ्यन्तरिक आगी भी केवल क्षमा या सत्प्रेम के द्वारा ही बुझायी जा सकती है। अन्यथा, क्रोध का बदला क्रोध से चुकाने में तो क्रोध की ज्वाला और भी भयंकर और प्राण-लेऊ बन जाती है। फिर, अपने इसी भव में, इस आग से उस प्राणी का निस्तार हो जाय, सो भी नहीं है। न जाने किन किन नीच योनियों की सैर कराती हुई, कितने काल तक यह आँच उसे जलाती रहती है। कालकूट विष को तो, केवल भूल से या जान कर के खा लेनेवाला ही मरता है; परंतु क्रोध के लिए, प्रत्यक्ष अनुभवों से यह बात नहीं मानी जा सकती। क्रोध करने पर तो प्राणी का विनाश होता ही है। परंतु क्रोध के तो पास रहने पर भी, चित्त उस की आँच में रोज़ जलता ही रहता है। फिर, व्यर्थ के क्रोध में आना तो अपने ही हृदय को जलाना है। दूसरे की उस से कोई हानि नहीं होती। क्रोध के आवेश में आकर जब मनुष्य अपने आपे से बाहर हो जाता है, तब तो अपने बड़े-बूढ़ों और प्रिय जनों तक की हत्या करने पर वह उतारू हो जाता है। और बढ़ते बढ़ते, वही क्रोध कभी घोर दुःख और पश्चात्ताप का रूप जब धारण कर लेता है, तब तो मनुष्य आत्म-हत्या करने से भी बाज़ नहीं आता। यह वह क्रोध ही है, जिस से मानसिक और शारीरिक तथा नैतिक दुर्बलता शरीर में आ चिपटती हैं, जिस से चेहरा विकृत और बदसूरत हो जाता है। अतः मनुष्यों को चाहिए, कि क्रोध का बदला क्रोध से चुकाने का कभी विचार तक अपने मन में न लावें। क्रोध के कभी उत्पन्न हो आने पर, मनुष्य अपने सद्-विवेक के द्वारा वह उसे अपने शरीर में रोक ले। ऐसा ही पुरुष, विद्वान् और तत्त्वज्ञों की दृष्टि में 'तेजस्वी' कहलाता है। समय असमय उसे ऊपर से कठोरता कदाचित् धारण भी करनी पड़ती हो; परंतु उस का हृदय रहता नवनीत से भी कोमल है। उस की इस तेजस्विता का उपयोग भी, अत्याचार-पीड़ित प्राणियों को उन्मुक्त करने ही में होता है। इस के विपरीत, जगत् के कोने कोने में जो अनेकों भयंकर तांडव नृत्य, समय असमय हम देखते रहते हैं, उन के मूल में, ध्यान-पूर्वक देखने से, 'क्रोध के बदले क्रोध करने' ही का विषम ध्येय हमें दिख पड़ता है। इन्हीं सब बातों का विचार कर, प्रभु ने न तो उस सर्प पर किसी प्रकार का कोई

क्रोध ही प्रकट किया और न उसे अपने अनुपम आत्म-बल से भस्म ही उन्हों ने किया। पर प्रभु ने असाधारण क्षमा से काम लिया। अगर वे ऐसा न करते, तो नास्तिक जगत् उन के अलौकिक कामों में किसी दूषण का आरोपण आज अवश्य करता।

पाठको! प्रभु ने चण्डकौशिक आदि उन के अपने प्रति-पक्षियों को, यों क्षमा कर दिया। परन्तु आज-कल के अजितेन्द्रिय, क्षीण-बल और दुर्बल-चेता तथा हतवीर्य लोग उन की इस क्षमा के कई विचित्र विचित्र अर्थ लगाने लगे हैं। इन सब के भिन्न भिन्न अर्थों से यह प्रत्यक्ष जान पड़ता है, कि हमारे वीर भगवान् ने जिस आदर्श क्षमा का अनुसरण किया था, ये उस के वास्तविक तत्त्व को आज भली भांति जान नहीं पाये हैं। या, जिन्हों ने जाना है, आज अकसर देखा जाता है, वे भी उन के अनुरूप, अथवा उन्हीं के मार्ग से चल कर क्षमावान् बनने का बीड़ा नहीं उठाते। अतः प्रसंग-वश, भगवान् की उस क्षमा का दिग्दर्शन भी, हमें यहा संक्षेप में करा देना उचित जान पड़ता है।

भगवान् की क्षमा का व्यापकरूप था 'सत्यपि सामर्थ्ये अपकार-सहनं क्षमा।' अर्थात् उन की क्षमा में, अपना अपकार करने वाले से, बदला लेने की पूरी पूरी सामर्थ्य रहते हुए भी बदला न लेकर, उस के अपकार को प्रसन्नता के साथ सहन कर लेने की क्षमता थी। उन की क्षमा का आदर्श ध्येय था, कि दूसरे के द्वारा अपना कोई भी अनिष्ट होता देख कर, सब से पहले इस बात का विचार किया जाय, कि वास्तव में उस से हमारा कोई नुकसान है, या नहीं। कई बार, जैसा कि अकसर देखने में आता है, कि मनुष्य क्रोध के, या द्वेष के विकार के वशीभूत हो जाने से, इस बात का स्वयं निर्णय नहीं कर सकता। तब किसी महापुरुष के पास जा कर, उसे इस बात का निर्णय करवाना पड़ता है, या करवाना चाहिए। यदि उन के निर्णय से हमें ज्ञात हो जाय, कि इस में सचमुच हमारी हानि के होने की सम्भावना है; तब उस का कारण ढूंढ़ा जाना चाहिए। क्यों कि, बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। उस समय स्वस्थ चित्त से हमें सोचना चाहिए, कि उस ने हमारा नुकसान यदि किया है, तो क्यों किया? क्या, कभी जान में, या अनजान में हम ने भी उसे नुकसान पहुंचाया था? या कभी उस के अनिष्ट की कामना ही की थी? यदि ऐसा नहीं भी किया तो फिर क्या, हम से कभी कोई ऐसी भूल हुई थी, जिस से उस को कोई हानि उठानी पड़ी

हो ? यदि ऐसा कभी हमारे हाथों से हो गया है, तब वह फिर क्या बुराई करता है ? क्या, हमारी हानि करने वाले के प्रति हमारे मन में प्रति-हिंसा के भाव कभी नहीं उठते ? यदि उठते हैं, तो फिर हमें क्या अधिकार है, कि हम अपने ही जैसे एक प्राणी के हृदय में, अपने ही सदृश भावों के उदय होने पर, उस का अनिष्ट चीतें, या करने में जुट पड़ें ? ऐसे समय हमारा कर्तव्य और धर्म तो यह होना चाहिए, कि अपनी भूल के लिए हम स्वयं पश्चात्ताप करें। और, उस का प्रायश्चित करने के लिए, अपने शुद्ध और सरल चित्त से नम्रता-पूर्वक उस से क्षमा-प्रार्थना करें। ऐसी अवस्था में, अभिमान, झूठी ऐंठ, तथा अकड़ को छोड़ कर, क्षमा-याचना करने में, किसी प्रकार की हानि की सम्भावना तो कभी है ही नहीं; वरन्, आत्म-संशोधन अवश्य हमारा हो जाता है।

इस भाँति, भली प्रकार आत्म-निरीक्षण कर लेने पर भी, अपना कहीं कोई दोष यदि अपने को जान न पड़े, तो फिर धीरता पूर्वक हमें यह देखना चाहिए, कि उस प्राणी ने उक्त अनिष्ट का कार्य, हमारे साथ, किस परिस्थिति में पड़कर किया है। क्या, उस की नीयत ही हमें नुक़सान पहुँचाने की थी ? या, किसी परिस्थिति में पड़ कर और बाध्य हो कर उसे ऐसा करना पड़ा ? फिर, विचार किया जाय, कि हम भी यदि उसी परिस्थिति में होते, तो क्या करते ? इस प्रकार की जाँच पड़ताल से यदि यह पता लग जाय, कि उस काम में उस की बुरी नीयत नहीं थी, परन्तु परिस्थिति ही उस कार्य का प्रधान कारण थी। तो फिर, हमें कोई अधिकार और आवश्यकता नहीं रह जाती, कि हम भी उस पर क्रोध करें।

कदाचित् यह भी निश्चित रूप से कभी प्रमाणित हो जाय, कि उस ने जान-बूझ कर ही हमें नुक़सान पहुँचाने के लिए ऐसा अनिष्ट कार्य किया है, तो इस से तो यह साबित हो जाता है, कि वह सचमुच में भ्रम में है। और, भ्रम में पड़ा हुआ भूला हुआ होता है; पागल के समान होता है। तब वह तो सर्वथैव क्षमा का पात्र है; होना ही चाहिए। वह तो भूल कर भी बाध्य नहीं। उस पर क्रोध करने का हमें कोई हक़ नहीं है। यदि हम उस पर क्रोध करते हैं, तो न केवल अपनी ही हानि हम उस से करते हैं; वरन् जगत् मात्र-को भी नुक़सान पहुँचाने का हम प्रयत्न करते हैं। क्योंकि, हम भी तो इस संसार शरीर के एक अंग हैं और, यदि शरीर का एक कोई अंग विष से दूषित है, तो सारे

शरीर पर उसका कुप्रभाव पड़ता देखा जाता है। तब तो धीरे धीरे सारा शरीर ही उस विष से आक्रान्त हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में, अपने, उस के और जगत्-भर के मंगल के लिए, अपना अपकार या अनिष्ट करने वाले पर, क्षमा करना ही सर्वोत्तम और सर्वत्र-सुलभ साधन है। यदि मनुष्य-समाज इस सिद्धान्त को स्वीकार कर ले और इसे अपने बर्ताव में लाने लगे; यदि लोग एक दूसरे के प्रति क्रोध, या प्रतिहिंसा के भावों का प्रयोग करने के पूर्व, परस्पर में इस प्रकार से विचार कर लिया करें, तो जगत् से बड़े बड़े अनर्थों का सदा सर्वदा के लिए नाम तक उठ सकता है। फिर न तो जगत् में शान्ति की स्थापना करने के लिए, बड़े बड़े अन्तर्राष्ट्रीय महा सम्मेलनों के खिलवाड़ करने की आवश्यकता रह जाती है; और न, निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी दम्भपूर्ण कोरे प्रस्तावों ही की धूम जगत् में मचानी पड़ती है! जन-संहारक शास्त्रों और नाशकारी जड़ विज्ञान की उपयोगिता तब आप से आप जगत् में कम हो सकती है। गत योरोपीय महा युद्ध ने जगत् को यह भली भाँति दर्शा दिया, कि आज के इस भौतिक विज्ञान की उन्नति ही, संसार के रक्त-पात, और उस में रात दिन की बाढ़ के समान बढ़ती हुई सम्पूर्ण आपदाओं का मूल कारण है।

परंतु हमारे इस विवेचन से, कोई भ्रमवश हो कर, कदाचित् भगवान् की इस पवित्र क्षमा को कायरता में न बदल दें। या उन की समझ से तब तो, संसार में वीरता की आवश्यकता ही शायद न रह जाय। दोनों में से बात कोई एक भी नहीं है। अनादि काल से यह बात देखी, सुनी और अनुभव करने में आती है, कि सच्ची क्षमा सदा ही से वीरों और बलवानों का धर्म रही है! कमज़ोर और कादर पुरुषों के तो वह कभी पास भी तक नहीं फटकती! जो कापुरुष ज़रा ज़रा से चूहे, बिल्ली के शब्दों को सुन कर के ही कांप और चौंक उठते हैं; एक घूसे या लाठी के भय से ही भाग कर, घरों में बन्द होकर बैठ रहते हैं; या, स्त्रियों का श्वांग सजा कर, एक स्थान से दूसरे स्थान में प्राण बचाने के भय से जा घुसते हैं; वे क्षीण-बल पुरुष क्या कभी क्षमा कर सकते हैं? उन का हृदय तो सदा ही भय के कारण भुंजता रहता है। ऐसे लोग और क्षमा? वे बेचारे क्षमा के मर्म को समझ ही क्या सकते हैं? इस संसार में क्षमा तो उसी ने की और वही कर सकता है जो बल और वीर्य-सम्पन्न था और है। और, जो अपराधी को दण्ड देने में स्वयं सब प्रकार से समर्थ था और है। परन्तु

जिन का दिल तो एक तरफ जल रहा है; दूसरी तरफ, मन ही मन में जो तरह तरह के श्राप दे रहे हैं; तीसरी ओर, घर से तक बाहर निकलने का जिन का साहस नहीं है; उन के द्वारा क्षमा करने की बातों का कहना, क्षमा का केवल उपहास करना है! क्षमा को नामर्दी का जाभा पहनाना है! वीरता का दिवाला खसकाना है।

फिर, क्षमा में प्रति-हिंसा का भी कभी कोई स्थान नहीं रहता। जब तक हृदय के किसी भी कोने में प्रति-हिंसा का ज़रा सा भी अंकुर छिपा रहता है, तब तक मनुष्य के उस शरीर में क्षमा की पूर्ण प्रतिष्ठा कभी हो ही नहीं पाती। और, जब तक क्षमा अपने पूरे रूप से वहाँ नहीं बैठ पाती, तब तक प्रति-हिंसा, अनिष्ट और अत्याचार की आशंका उस हृदय में सदा सर्वदा बनी ही रहती है।

अब प्रति-हिंसा के कुछ बाहरी रूप का दर्शन भी हमें अवश्य कर लेना चाहिए। मान लो, एक व्यक्ति ने दूसरे को गाली दी। बदले में, दूसरे ने भी उस के साथ वैसा ही व्यवहार किया। बस, दोनों बराबर हो गये। यह प्रति-हिंसा का प्रत्यक्ष रूप है। परंतु इस के सूक्ष्म या परोक्ष रूप और भी कई हैं। जिन का प्रतिपादन, जैन सिद्धान्त स्थान स्थान पर करते हैं। जैसे, ऊपर के उदाहरण में बदले में गाली तो किसी ने नहीं दी। परंतु डर वह अवश्य गया। या, मानो कि सभ्यता के अनुरोध से उस ने वैसा नहीं किया। और, पुलिस में, या कोर्ट में जा कर फ़रियाद उस ने अवश्य कर दी। पाठको! यहाँ भी प्रति-हिंसा ज्यों की त्यों ही बनी रही। परंतु हाँ, इतना ज़रूर कहा जा सकता है, कि प्रति-हिंसा के साधन का यह तरीक़ा, पहले से कुछ अच्छा हो सकता है। इस में भी डर कर पुलिस, आदि में जाने की बनिस्बत, सभ्यता के लिहाज़ से वहा जाना और भी भला है। अब मान लो, कि बदले में किसी ने गाली भी नहीं दी; पुलिस या कोर्ट में व अर्जाऊ बन कर भी नहीं गया; परंतु उस के मुंह से सहसा यह उद्गार तो निकल ही पड़े कि "गाली देने से उसी का मुंह गंदला होता है। उसे अपनी करणी का फल एक न एक दिन मिलेगा! अवश्य मिलेगा, और, ब्याज समेत मिलेगा!!" पाठको! यहां भी भय और शील, तथा दम्भ और अभिमान का एकीकरण है। यह भी प्रति-हिंसा के साधन का एक तरीक़ा ही है। परन्तु हां, है यह साधन अपने पहले के दो साधनों से उत्तम कोटि का! इस में, यहां तो कोई फ़रियाद नहीं की जाती। परन्तु कर्म-फल के हाथ, इस की

मीमांसा अवश्य सौंप दी जाती है। यहाँ, यह मानने में भी कोई अड़चन नहीं, कि आज इस भाव को अपने हृदय में धारण करनेवाले लोगों की भी आशातीत कमी है। प्रति-हिंसा का इस से भी अधिक सूक्ष्म रूप एक और भी होता है। वहाँ, प्रति-हिंसा हृदय ही में छिपी रहती है। जिस का पता किसी एक ख़ास समय पर लगता है। जब कभी भी, फिर कितने ही सालों के बाद ही चाहे वह क्यों न हो, गाली देनेवाले पर कोई विपत्ति आ पड़ती है, हमारे मुँह से तब सहसा निकल पड़ता है; हमारे मन में उसी क्षण यह भावना हो आती है, "चलो, अच्छा हुआ! अमुक अमुक समय और स्थान में इस ने मुझे गाली दी थी। देर तो बहुत हो गयी। पर, 'प्रकृति के कार्यों में देर ज़रूर है, अन्धेर नहीं है;' के न्याय से, अपने किये का फल तो इसे अवश्य मिल गया।" इस प्रकार के उद्गार या भावना का, हमारे हृदय में केवल यही अर्थ हो सकता है, कि हम उसे किसी न किसी प्रकार का दण्ड भोगते हुए, देखने को लालायित थे। नहीं तो, ये उद्गार हृदय से आज निकलते ही, उस के, कैसे? यह भावना ही उस के मन में पैदा क्यों हो पाती? उस पर वह विपत्ति चाहे फिर किसी कारण से आयी हो; परन्तु हम तो उस का कारण अपने ही को समझ बैठते हैं। यह प्रति-हिंसा की भावना अदृश्य रूप से हमारे हृदय में छिपी हुई थी। जो समय पाकर विकसित हो उठी। आज जगत् में, कई बड़े बड़े लोग तक, इस परोक्ष रूप में होने वाली प्रति-हिंसा के पोषक और पक्षकार दिख पड़ते हैं। पाठको! ऐसा होता ही क्यों है? इस का एक ही कारण और एक ही उत्तर भगवान् के सिद्धान्त से तो क्षमा का एकान्त अभाव मात्र ही है।

हमे यहां यह भी सदा स्मरण रखना चाहिए, कि वैर की भावना केवल इसी जीवन में दुखदायी नहीं होती; वरन् परलोक में भी वह दुख देती है। वैर की वासनाओं को साथमें रख कर मरने वाला, न मालूम कितने काल तक, कुयोनियों की कठिन यन्त्रणाओं को भोगता है। अतः क्षमा ही एक ऐसा अनुपमेय साधन है, जो इस दुख से मनुष्य को बाल बाल बचा सकता है। वह केवल क्षमा ही है, जिस के द्वारा द्वेष और दुर्भावना का खाता चुकता कर दिया जाता है।

पाठको! केवल ऐसी सर्वांग सुन्दर और आदर्श क्षमा के बल पर ही, वीर भगवान् ने, अपने समय के क्रूर से क्रूर प्राणियों के साथ प्रेम का प्रचार

किया था । और, एक-मात्र इसी के आधार पर, वे अपने अन्तिम जीवन को सुख तथा शान्ति के साथ बिता सके थे । यही नहीं ! आज उन के द्वारा अपनायी हुई उस क्षमा के सिद्धान्तों को काम में लाकर, हम भी अपने जीवन को सुखी और शान्त बना सकते हैं । वे क्रोध करने वालों पर, बदले में कभी भी क्रोध नहीं करते थे । दुर्वचन कहने वालों और उन के शरीर पर तरह तरह के अपघात करने वालों तक का, उन की अन्तरात्मा अहित नहीं करती थी । उन्हों ने अपनी करणी और कथनी से जगत् को भली प्रकार दिखा दिया था, कि द्वेष की प्रचण्ड आगी केवल क्षमा के शीतल जल ही से बुझायी जा सकती है । क्रोध या प्रति-हिंसा तो उस में घृत का काम करते हैं । और, दयालुता, सहन-शीलता, नम्रता आदि सद्गुण ऐसे ही क्षमा के साथी रह सकते हैं ।

ऐसे ही क्षमाशील पुरुषों के सम्मुख जा कर क्रूर कर्मा प्राणी, यदि अपने स्वभाव को बदल दें; यदि वे अपनी क्रूरता और क्रोध को,दयालुता तथा करुणा और शान्ति में बदल दें, तो इस में नयी और अचरज की बात ही कौन सी है ! यदि, उन के सामने जाने पर भी, उन क्रूर कर्मा प्राणियों के क्रूर स्वभाव में कोई परिवर्त्तन, नहीं होता, तो फिर वे महापुरुष ही कैसे हैं ? और, उन के आत्मतेज का प्रभाव ही कैसा और क्या है ? महापुरुषों का जन्म ही जगत् में क्रूरों की क्रूरता और आततायियों के अत्याचार को, अपने सद्गुणों के द्वारा शमन करने, और उन्हें सुमार्ग पर लगा कर, संसार में शान्ति, सुख तथा समता के भावों की संस्थापना करने के लिए होता है । अस्तु ।

पाठको ! भगवान् के संयम, सत्य, अहिंसा, तपोबल और क्षमा की छाप उस चण्डकौशिक सर्प के हृदय पर ऐसी बैठ गयी, कि अपने शेष कर्मों का बदला चुकाने के निमित्त उस ने उसी दिन से अनशन व्रत धारण कर लिया । और उसी काल से किसी को भी न सताने का उसने संकल्प कर लिया । उस की विष-भरी फुफकार और विषैली श्वास से प्राणियों का प्राण नाश न होने देने के लिए, उसने अपने सिर को अपनी बामी के भीतर घुसेड़ दिया और शरीर को बाहर पटक रक्खा । कुछ ही दूरी से, इस घटना के थोड़ी सी देरी के बाद, कुछ ग्वाल-बालों ने, भगवान् को उस भयानक सर्प की बामी के निकट खड़े देखे । वे चकित हुए और खेल के मिस ही उस ओर कुछ आगे बढ़ आये । पास के वृक्षों पर चढ़ कर उन्हों ने सर्प को अपना शरीर बामी के बाहर फैलाये

और उसके पास ही में भगवान् को ध्यान-मग्न खड़े हुए देखा। इस दृश्य को देख कर उन का अचरज और भी बढ़ा। उन्हें कुछ खुशी भी हुई। खुशी उन्हें इसलिए हुई थी, कि उसी सर्प के द्वारा उन के कितने ही पशु बेचारे, असमय ही में, काल कवलित हो चुके थे; और वही सर्प आज उन्हें बिना अपना कोई बल दिखाये बिलकुल मुर्दा-सा पड़ा हुआ वहां नज़र आया। जो भी इस खुशी में प्रति-हिंसा की भावना छिपी थी, तदपि संसार के सभी जीव भगवान् तो बन ही न गये थे! वे बाद में झाड़ों के ऊपर से उतरे! और उन्हीं झाड़ों की आड़ में हो हो कर, उस सर्प पर कंकड़ों का कुछ ज़ख्मी प्रहार सा करने लगे। सर्प इतने पर भी हिला डुला नाहिं।' बालक अन्त में स्वभाव के भी तो बालक ही थे। उन्हों ने उस सर्प के पास आ आ कर, अपने पास की लकड़ियों से उसे इधर उधर उछालना और उस के शरीर पर लकड़ियों के प्रहार करना भी प्रारम्भ कर दिया। सांप तब भी चुपचाप रहा। उसने सोचा, कि उस के कृत अशुम कर्मों के आगे, वह सब, केवल कुछ नहीं के समान था। कहीं कहीं सिधाई भी कष्ट का कारण बन जाती है। चण्ड-कौशिक ने इस सिधाई का भी स्वागत किया। वह तो यही सोचता रहता, कि आज तक जो भी अशुम कृत्य उस ने किये हैं, उन का बदला इसी सिधाई से उसे चुका देना चाहिए। इसी में उस का अब परम हित है। उन बालकों के हृदय में भी दया आयी। उन्हों ने उसे पीटना और उछालना बन्द किया। और दौड़े दौड़े गांव में गये।

गाँव के लोगों ने उन के द्वारा इस वृत्तान्त को सुना। दौड़ दौड़ कर वे भी उसे देखने के लिए वहाँ आये। भगवान् उस समय तक वहीं ध्यान-में स्थित थे। लोग मन ही मन कहते, यह सारी करामात इसी साधु की है। नहीं तो, किस की क्या मज़ाल, जो यहाँ आने की हिम्मत वह कर सकता! ग़ज़ब का तपोबली है! जिस के तप-तेज के आगे, ऐसे ज़हरीले साँपों का नशा भी चूर चूर हो जाता है। लोग यों तरह तरह की बातें, भगवान् और उस सर्प के बारे में, कहते हुए वहाँ से लौट पड़ते। वर्षों का उजाड़ पड़ा हुआ रास्ता, जो कल तक बंद पड़ा था, प्रभु के पैर रखते ही आज जारी हो गया है। यों, कुछ काल तक, लोगों का वहाँ खूब ही आवागमन रहा। वह मार्ग अब बिलकुल निष्कंटक हो गया। भगवान् के ध्यान और संयम की ओर लोगों का हृदय खिंचा। उन्हें भगवान् से प्रेम और भक्ति बढ़ी। मार्ग के चालू हो जाने पर, घी बेचनेवाली

औरतें उस ओर निकलते समय, उस साँप के पास आतीं। उस के प्रति प्रेम-सूचक दो शब्द कहतीं। और तब घी से उस की पूजा कर के वे अपने रास्ते में लग पड़तीं। चण्ड-कौशिक तब तक भी गति-हीन सा हो कर पड़ा रहता। और तो और, उन के सामने वह हिलता डुलता तक नहीं था। क्योंकि, ऐसा करने में, उस की धारणा के अनुसार, उन्हें उस से कहीं भय लग जाने की आशंका होती। अब वह इतना शांत बन चुका था। सच है, "सत्संगति कथय किं न करोति पुंसाम्?" कुछ दिन तक उस सर्प की इसी भांति घी से पूजा होती रही। तब तो चींटियां उस घी के लालच से उस के शरीर में आ आ कर चिपटने लगीं। चींटियों को उस के शरीर पर चलती देख कर, पूजा के भाव से जो घी उस पर डाला जाता था, वह भी अब बंद हो गया। उन चींटियों ने सांप के शरीर पर चिपटे हुए घी के लालच से उन ने उस के शरीर को चलनी चलनी बना दिया। सर्प ने इस बार भी एकांत सहनशीलता धारण की। दूसरे समयों में तो, अपने पास किसी भी जीव को न देख कर वह हिलता-डुलता भी था। अब तो 'कोई चींटी उस के शरीर के नीचे आ कर और दब कर मर न जाय,' उस की इस धारणा ने उस का हिलना-डुलना तक बंद कर दिया। और, उस का अंत भी इसी दशा में हुआ। पूरे पूरे पन्द्रह दिन तक वह सर्प इस प्रकार के कष्टों को समभावों के साथ सहन करता हुआ जीवित रहा। अपने शरीर को छोड़ने के बाद, वह सहस्रार नामक स्वर्ग में जा कर जन्मा। उधर भगवान् ने वहाँ से उत्तर-वाचाल की ओर विहार किया।

प्रकरण—तेरहवां

उत्तर-वाचाल में भगवान् की तपस्या

इधर भगवान् चण्ड—कौशिक सर्प के वास-स्थान से विहार कर, उत्तर—वाचाल ग्राम में पहुंचे। वहां भगवान् ने पन्द्रह दिन की तपस्या की। पारने के दिन निर्दोष आहार-पानी की गवेषणा-युत भिक्षा को ग्रहण करने के निमित्त, फिरते-फिरते नागसेन नामक एक सद्गृहस्थ के घर के निकट से हो कर निकले। इतने ही में प्रभु को उस ने देखा। वह तब तो उसी समय उन के सामने आया और, आहार पानी को ग्रहण करने की प्रार्थना उन से करने लगा। कृपालु भगवान् ने उस के घर से भोजन ग्रहण किया। पारणा कर के फिर प्रभु ने वहां से विहार कर दिया।

सुरभिपुर के मार्ग में 'सुदृष्ट' के द्वारा उपसर्ग

उत्तर—वाचाल ग्राम से विहार करते हुए भगवान् एक दिन सुरभिपुर की ओर पधार रहे थे। रास्ते में गंगा नदी पड़ी। उसे नाव के द्वारा पार कर के दूसरी ओर के रास्ते से सुरभिपुर को जाना पड़ता था। एक मल्लाह, भगवान् की शान्त और प्रसन्न चित मुद्रा को देख कर प्रसन्न हो उठा। उस ने उन्हें अपनी नाव में बिठा कर, परले पार छोड़ देने की प्रार्थना की। भगवान् के बिना कुछ कहे-सुने ही, नाविक ने इस प्रकार की प्रार्थना उन से की थी। उस की प्रार्थना स्वीकार हुई। भगवान् नाव में चढ़े। नाव चलने लगी। इतने ही में

एक घूवड़ नामक पक्षी विशेष, चिल्लाया। उस की उस चिल्लाहट को, उसी नाव में बैठे हुए क्षेमिल नाम के एक शकुन-शास्त्री ने सुनी। उस ने उसी समय मल्लाह से कहा, "भाई! आज नाव के परले पार पहुंचने में मुझे तो बड़ा ही सन्देह दिख पड़ता है। घूवड़ पक्षी की आवाज़ भी अभी तक ऐसा ही कह रही है। नदी के बीच में पहुंचते पहुंचते कदाचित् मरणान्त कष्ट का अनुभव अपने को करना पड़े। परन्तु हां, इस शान्त मुद्रा वाले प्रसन्न-चित योगी के तपोबल से अपन बच जायं, तो यह बात दूसरी है।" नाविक ने उस के इस कथन पर कोई ध्यान न दिया। वह तो नाव को खेते हुए चला ही गया। इतने ही में नाव मंझ-धार में जा पहुंची। वहां 'सुदृष्ट' नामक एक देव रहता था। यह नाग कुमार जाति के देवों में से था। अपने अगले भव में यह कभी एक सिंह की योनि में था। जहां यह, भगवान् महावीर के पूर्व जन्म के 'त्रिपृष्ट वासुदेव' नामक एक मानव-शरीर से निष्कारण ही मारा गया था। उसे, उस समय, अपने पूर्व भव के उस बदले को निकालने की बात सुझी। उस ने अपने मन में कहा, "अपने बल के कोरे गर्व में आ कर ही, इन ने मेरे प्राण हनन किये थे। यह मौका अचानक हाथ आ लगा है। अब मैं इन्हें ज़िन्दा यहां से जाने ही कैसे दूं? अपना पराक्रम दिखा कर, आज अपने पिछले वैर का बदला, इन से ब्याज समेत चुकता कर लेना चाहिए।

पाठको! भगवान् ने अपने त्रिपृष्ट के पूर्व भव में उस सिंह के प्राण लूटे थे। वही सिंह का जीव आज अपना बदला लेने के लिए उपस्थित हुआ है। कर्म की इस सत्ता को कौन टाल सकता है? यह राजा और रंक, उत्तम जाति और अधम जाति, तथा तीर्थंकर और अवतार सभी पर भी अपना एकसा शासन रखती है! कर्म की इसी सत्ता के आधीन हो कर, कोई भी कर्ज़दार कोई भी अपने कर्मों के कर्ज़ से कभी उन्मुक्त नहीं हो सकता। उसे अपना ऋण पाई पाई चुकाना ही पड़ता है। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, या कभी भी, समय आने पर उस का भुगतान करने पर ही शान्ति मिल सकती है। मनुष्य उस की अपनी सबल अवस्था में और भाग्योदय के समय में, नाना प्रकार के पाप और अत्याचारों को अन्धा बन कर करता है। वह उन के भावी दुष्परिणामों की उपेक्षा कर, अपनी तात्कालिक वासनाओं की पूर्ति करने में, ज़रा भी आगा पीछा नहीं सोचता। और, निडर हो कर मन-मानी, घरजानी करता रहता है।

परन्तु हमें यह सदा सर्वदा ध्यान में रखना चाहिए, कि कर्म की सत्ता के आगे, हमारे इन बुरे-भले कामों के लिए, माफ़ी की कोई गुंजायश नहीं है। या, यूं कहो, कि कर्म की सत्ता कर्मों के फल को भुगताने में 'माफ़ी' का नाम तक नहीं जानती। यही नहीं, कई गुने रूप में, वह उन कृत-कर्मों का बदला बड़ी ही सख़्ती के साथ चुकाती है। प्रकृति का क़ानून, किसी एक विशेष जीव को छोटा और किसी दूसरेको बड़ा कभी नहीं बतलाता। उस के क़ानून में, छोटे से छोटे और बड़े से बड़े सभी जीवधारी, अपने अपने जीवन काल और उन के अपने कर्मों को बिताने और करते रहने में, पूरे पूरे स्वाधीन हैं। अतः अपनी किसी भी प्रकार की सबलता के घमण्ड में आकर, अपने से निर्बलों के साथ दुर्व्यवहार करने, तथा उन के प्राणों को लूट लेने पर, उस का कड़े से कड़ा बदला मिलता है। क्योंकि, यह काम, क़ुदरत के क़ानून को तोड़ने और उस के व्यवस्थित शासन में खलबली मचा देने का होता है। फिर, हम चाहे समुद्र में ग़ोता लगाने वाले ही क्यों न हों! चाहे सुमेरु के सिर पर हम चढ़ बैठने की शक्ति से सम्पन्न हों! चाहे घोर युद्ध में शत्रुओं को जीत लेने वाले हों! चाहे संसार की सम्पूर्ण कलाओं और विद्याओं में हम पारंगत हों! और, चाहे 'विद्या' के बल पर पक्षियों की भांति आकाश-चारी हम हों! परन्तु हमारे कृत-कर्मों का फल एक न एक दिन हमें भोगना ही पड़ता है। ज़रूर भोग लेने पर ही, उन से हमारा पिं-ड छूट सकता है। यह जान कर और हमारे आगम के इस पवित्र आदेश को, कि "कडाण कम्माण ण मोक्खो अत्थि" को सदा अपनी आंखों और हृदय के सामने रख कर, प्रत्येक समझदार प्राणी को, अपने अपने कर्मों को करते समय, बड़ी ही सावधानी से काम लेना चाहिए।

अपना बदला ले लेने का विचार मन में उठते ही वह सुदृष्ट देव उस नाव के ऊपर लपका। उस के निकट जाकर उस ने बड़े ही ज़ोर की एक किलकारी मारी। जिस से नाव में बैठे हुए, भगवान् को छोड़ कर, सभी लोग चौंक पड़े और भयभीत हो गये। तब क्रोध के प्रचण्ड आवेश में आकर वह भगवान् से बोला, "अरे! तू अब यहां से बच कर मेरे चंगुल में से कैसे निकल सकता है? आज मेरे तूफ़ान के आगे अब तू किसी भी हालत में अपने प्राणों की रक्षा नहीं कर सकता! अपने पूर्व-जन्म के कर्मों का खाता खोल! और ब्याज समेत उस की सारी रक़म, जो मेरे नाम तुझ पर पावती निकल रही है, अदा कर के यहां

से आगे बढ़ ! तू ने, बिना ही तेरा कोई अपराध किये, मेरे प्राण लिये थे, उस की अदाई में, आज तू अपने और अपने साथ में बैठे हुए इन सब लोगों के प्राणों को मेरे हाथ सौंपता जा !"

यह कह कर, तुरन्त ही एक बड़े ज़ोर की आंधी उस ने अपनी माया से छोड़ी। जिस से गंगा का जल बीसों हाथ ऊपर चढ़ आया। दोनों किनारों के लोग भी, अपने प्राणों को ले ले कर इधर उधर भग-दौड़ मचाने लगे। किनारे के खड़े हुए झाड़, जड़ समेत उखड़ उखड़ कर बड़े ज़ोरों से गंगा में आ कर गिरने लगे। पानी के ज़ोरों से उठने और गिरने की भयंकर आवाज़ वहां होने लगी। सभी का जी मुट्ठी में आगया। परन्तु भगवान् तो पहले ही के समान शान्त-भाव से मौन हो कर बैठे रहे। कभी कभी उन के चेहरे पर, उन के विचित्र आत्म-तेज के साथ उदासीनता के भावों की भिड़न्त हो उठती थी। वह इस बात की सूचक थी, मानो वे अपने मन में, अपने साथ, दूसरे प्राणियों को दुखित और भयातुर देख देख कर, दुखी हो रहे थे। वेही दुख के भाव कभी कभी उन के अनुपम तेज-सम्पन्न चेहरे से टपक पड़ते थे। पास में बैठे हुए लोग इस बात का अनुभव भी कर रहे थे; पर किसी के हृदय में उन से किसी बात के पूछने की हिम्मत नहीं होती थी। सच है, महा पुरुषों के, स्वच्छ दर्पण के समान, निर्मल और कोमल अन्तःकरण में सदा सर्वदा परायों ही के दुख-दर्दों की झांई पड़ती रहती है। संसार के उसी दुख और भय को समूल भगाने के लिए, अपने प्राणों को अपने हाथों में ले कर, वे मैदाने-जंग में उतरे रहते हैं। अस्तु। नाव भी उन की ज़ोरों के साथ उथल-पुथल होने लगी। नाविक घबराया। उस ने नाव को किनारे लगाने के लिए खूब ही हाथ-पैर मारे। परन्तु देव की शक्ति के आगे उस का एक भी प्रयत्न सफल न हुआ। तब तो, वह बिलकुल ही निराश हो कर, अपनी नाव और यात्रियों को दैव के आधीन छोड़, चुप-चाप हो बैठ गया। नाविक को यों निराश और नाक़ामयाब जब लोगों ने देखा, तब तो उन्हों ने अपने आप को बिलकुल काल ही के मुंह में गिरे हुए समझा और अपना अन्तिम समय जान कर, वे लोग अपने अपने इष्ट को स्मरण करने लगे। और, उन तेजस्वी और तपोधनी प्रभु की ओर वे निहारने लगे।

पाठको ! शास्त्रकार और शास्त्रज्ञ लोगों ने सत्संग और मुनि–समागम के

असाधारण लाभों का जगह जगह उल्लेख किया है। प्रायः संसार का प्रत्येक अनुभवी आदमी सत्संगति और मुनि-समागम का आज भी अपने अन्तस्तल की प्रेम-भरी भाषा में, अपनी शक्ति के अनुसार, गुण गान करता है। हम लोग भी आज जब संसार के कामधन्धों से ऊब उठते हैं; किधर भी जब हम मानसिक शान्ति नहीं पाते; हमारे पास सब कुछ होते हुए भी जब कोई गुप्त चिन्ता हमारे पास होती है; तब हम भी मुनि-समागम या सच्छास्त्रों का पठन-पाठन करके ही, हमारी उस अशान्ति या मानसिक क्लेश का कितने ही अंशों शमन कर सकते हैं। फिर, सन्तों के साथ, एक महान् तपोधनी महापुरुष के साथ, नाव में बैठ कर, संसार की एक नदी के पार जाने में प्राणों की आशंका? जिस अनुपम आत्म-बल के अधिकारी का, उन के पौद्गलिक शरीर का नहीं, केवल उन के सदुपदेशों मात्र का साथ कर, आज भी, हम संसार महासागर के परले पार सहज ही में जा सकते हैं; उन के साथ नाव में बैठ कर एक नदी को पार करने में जीवन की ऐसी निराशा? यह और कुछ नहीं! हम, उस के साथ बैठनेवालों ने, अपनी अज्ञानता, स्वार्थान्धता, और मानसिक मलीनता के कारण, उस तपस्वीराज के हृदय और उन के कामों को नहीं पहचाना! उन के तपोधन के वास्तविक मूल्य को हम ने नहीं आँका! यही नहीं! नाव में उन साथ के बैठे हुए यात्रियों में से कुछेक ने तो, भगवान् को बिलकुल निष्क्रिय और निश्चिन्त बैठे देख कर, कुछ अपशब्दों की मन्द मन्द वर्षा भी उन पर की उन लोगों ने ज़रा भी न सोचा, कि "In prosperity the heart of the great becomes gentle like a lotus-flower, while in calamity it is hardened like the rock of a great mountain." अर्थात् सुख और शान्ति के समय, महान् आत्माओं का चित्त कमल से भी कोमल रहता है। और, विपद्-काल में वही चित्त पर्वत की एक महान् शिला के समान कठोर बन जाता है।

उसी समय, सम्बल और कम्बल, नाग-कुमार जाति के दो देवों को, भगवान् पर अचानक आयी हुई इस आपत्ति का पता चला। सुदृष्ट भी इन्हीं की जाति का था। पर उस की देवायु पूर्ण होने को आई थी। इसी से वह क्षीण-बल और हत-वीर्य हो चुका था। परंतु ये दोनों देव नौ-जवान होने के कारण सुदृष्ट से सबल और सामर्थ्यवान् थे। ये अपने पूर्व भव में बैल की योनि में थे। जिन्हें जिनदास नामक एक अति ही श्रद्धावान् श्रावक ने पाल रक्खा था। वह इन के

दाना-पानी के नियम और समय का कभी उल्लंघन न करता। और न वह इन से कभी इन की शक्ति से बाहर का कोई काम ही लेता। वहाँ इन का जीवन बड़ी ही शांति और सुख-पूर्वक बीता। वह इन के लिए नीचे के पाँच दोषों का सदा सर्वदा परित्याग करता रहा। यही नहीं, उस के घर में, जितने और भी ढोर, आदि थे, सभी के प्रति वह इन दोषों का पूरा पूरा त्याग करता और उन के प्रति वह अपनी शक्ति-भर सदा दयावान् रहता था। वे दोष इस प्रकार थेः—

(१) 'बंधे'—अपने आश्रित पशुओं को इस प्रकार जोर से खेंच कर, या खिंचवा कर स्वयं बाँधता और बँधवाता, दूसरों से।

(२) 'वहे'—इस प्रकार की ताड़ना करना-कराना कि जिस से उन के अवयवों में कोई विशेष चोट पहुँचे।

(३) 'छविच्छेद'—पशुओं के कान, नाक, पूंछ, इत्यादि इत्यादि अंगों को काटना, कटवाना, छेदना, छिदवाना, और उन्हें किसी दूसरे रूप से तोड़ मोड़ देना।

(४) 'अइभारे'—अपने आश्रित लादे या जोते जाने वाले पशुओं पर उनकी शक्ति से अधिक बोझा लादना या लदवाना।

और (५) 'भत्तपाणवुच्छेद'-उन के खान-पान न करना अर्थात् ठीक समय पर घास-पानी न देना। जिनदास इन पांच दोषों (अतिचारों) में से किसी को भी अपने पास न फटकने देता था।

एक दिन जिनदास ने किसी पर्व के दिन पौषध किया था। अर्थात् उस दिन संसार की सम्पूर्ण झंझटों से मुक्त हो कर, वह चारों प्रकार के आहार का परित्याग कर के एकान्त ध्यान में स्व-स्वरूप का चिन्तवन करने के लिए बैठा था। इतने ही में वहां उस का एक प्यारा मित्र आया। उस ने जिनदास से उत्सव में जाने के लिए, अपनी गाड़ी में जोतने को, उस के बैलों को मांगा। हम जैसा कि ऊपर कह आये हैं, कि जिनदास पौषध में ध्यानस्थ हो कर बैठा था। और, उस के नियमानुसार, उस ने सम्पूर्ण प्रकार के सावद्य व्यापारों से भी आज (उस दिन) अपना मन खींच रक्खा था। जिनदास ने न तो हां ही कही, और न नाहीं उस ने की। मित्र ने 'मौनम् सम्मत्ति-लक्षणम्' समझा। और घर

जा कर बैलों को वह अपने साथ ले गया। अपने घर ला कर उस ने जिनदास के प्राण से भी प्यारे उन बैलों को गाड़ी में जुतवाया। फिर, गाड़ी में अपने पराये और पाड़ पड़ौसियों को भर कर, वह उत्सव में राग-रंग मनाने को चला। बैल बड़े ही पानीदार थे। गाड़ी में जोतते ही नौ-दो ग्यारह हुए। मित्र ने हंस हंस कर गाड़ीवान् को उन्हें और भी तेज़ी से भगाने को कहा। गाड़ीवान् ने भी अपनी पूरी शक्ति उन को भगाने में लगाई। जिनदास के मित्र, और उस के गाड़ीवान् को तो बैलों के कष्ट का अनुमान होने ही क्यों लगा था? हां वे बैल उन के खुद के घर के होते, तो उन्हें उन की कुछ पर्वाह भी होती! उन्होंने सारे दिन-भर उन बैलों को अपने पेट-भर दौड़ाया और सैर-सपाटा करते रहे। बेचारे उन बैलों को, बेवशी के कारण, आज जिस यातना को भोगना पड़ा था, वह उन के जीवन में किसी भी दिन उन्हें नहीं भोगनी पड़ी थी। वे सदा सुख-चैन से पाले-पोषे गये थे। न तो उन्हें इतना वजन ही कभी ढोने का प्रसंग आया था; न वे इतना कभी भागे ही थे; और न उन्हें इस प्रकार मारा पीटा ही कभी गया था। जिस तिस तरह से उन का वह दिन तो बीत गया। परन्तु आज की यातना से उन्हों ने अपने जीवन की आशा छोड़ दी। रात के समय, उस मित्र ने उन को ले जाकर उन के स्थान पर ज्यों का त्यों बांध दिया उस ने उन के दाना-पानी तक का प्रबन्ध भी उस दिन न किया। अब तो बेचारे बैलों के प्राण और भी संकट में पड़े। सारी रात उन्हें छटपटाते हुए बीती दूसरे दिन जब पौषध-व्रत को पाल कर जिनदास अपने घर पर आया, तो उस ने अपने बैलों की बड़ी ही दयनीय दशा देखी। इस पर, उसे अपने मित्र के इस निन्दनीय व्यवहार के प्रति बड़ी ही तरस आयी। उस ने उसी समय बैलों की सेवा शुश्रूषा करना शुरू की। पर बैल इस समय तक प्रायः मरणासन्न हो चुके थे। जिनदास ने अपने प्रयत्न और बल-भर उन्हें बचाने के लिए दौड़ धूप की। परन्तु बैलों का अन्न-जल अब उस के घर से उठ चुका था। इस से उस का एक भी प्रयत्न सफल न हुआ। अन्त में जब उसे भी उन के जीवित रहने की कोई आशा न रही, तब उस ने उन के प्रति अपने हृदय में दया ला कर और उन के कानों के पास जा कर, णमोकारमंत्र सुनाया। बैलों ने भी स्वस्थ और सावधान हो कर, उस के उस कथन को बड़ी ही उत्सुकता से सुना। और तत्काल ही अपने शरीर को उन्हों ने छोड़ दिया। जिनदास की ऐसी सत्संगति पा कर ही वे बैल अपनी

पशुयोनि को छोड़ देव-योनि में जा कर जन्मे । इस बार वेही बैल, ये सम्बल और कम्बल नाम के दो देव बने ।

ये दोनों देव भगवान् के पास पहुँचे । उन्होंने अपने बल से सुदृष्ट को उसी समय मार भगाया और उस की माया दूर कर दी । इस प्रकार, प्राण-नाशक आपदा को यों अचानक ही टली हुई देख कर, सब लोगों के जी में जी आया । नाविक ने भी जल्दी जल्दी नाव खेयी । उस समय नाव में बैठे हुए लोग, जहाँ अपने बाल बच्चों के भाग्य से अपने को आज बचा हुआ कह रहे थे, वहाँ वे पड़ौस में बैठे हुए परम तपस्वी भगवान् के प्रति भी अपनी असीम कृतज्ञता प्रकट कर रहे थे । वे कहते जाते थे, कि आज उन के समुदायिक कर्मों का गंगा में नाव के निमित्त से, उदय हो आया था । उन्हीं तपस्वी राज की अनुपम कृपा और तपबल का प्रभाव था, कि वह, इतना ही दुख दिखा कर शीघ्र ही शमन हो पाया । अगर ये तपस्वी उन की नाव में न बैठे होते, तो उन के जीवन की आज कैसी विचित्र दशा हुई होती ! 'ले उतरता एक साधू, नाव को भव पार' जो किसी ने कहा है, बहुत ही ठीक कहा है । उनके अपने प्राणों की रक्षा का सारा श्रेय उन भगवान् महावीर ही को था । इतने में नाव किनारे पर आ लगी । सब लोग प्रभु का गुण-गान करते हुए नाव से घाट पर उतर पड़े । भगवान् ने भी नाव से नीचे पैर रक्खा । ज्योंही वे नाव से नीचे उतरे, उन्होंने ईर्यापथिक के पाप का शमन करने के लिए कुछ देर के लिए ध्यान किया । यों, कुछ देर तक ध्यान-मग्न रहने के पश्चात्, प्रभु ने वहाँ से आगे की ओर विहार किया ।

पुष्पक द्वारा भगवान् के चरण-चिह्नों का अनुसरण

प्रभु धीरे धीरे विहार करते हुए स्थूणाक नगरी में पहुँचे। वहाँ भी नगरी में आप ने पदार्पण न किया। नगरी के बाहर ही एक छायादार वृक्ष के नीचे आप जा स्थित रहे। और खड़े हो कर ध्यान करने लगे। भगवान् के द्वारा, गंगा-पार के इस किनारे का स्थान छोड़ने के कुछ ही देर के बाद, पुष्पक नाम का एक सामुद्रिक शास्त्री भी उसी मार्ग से हो कर सुरभिपुर को जा रहा था। रास्ते में उसने भगवान् के पद-चिह्नों को देखा। अपने सामुद्रिक ज्ञान के बल उस ने पता लगाया, कि "हो न हो, ये चरण-चिह्न किसी न किसी चक्रवर्ती सम्राट् के हैं। किसी न किसी कारण से जैसा कि उनके पैरों के चिह्नों से जान पड़ता है, उन के साथी उन्हें छोड़ कर चले गये हैं; और वे अब अकेले रह गये हैं। ऐसी हालत में, वे अवश्य किसी न किसी साथी की फ़िराक़ में होंगे। क्या ही अच्छा हो, कि जल्दी जल्दी चल कर, मैं उन के पास पहुँचूं, और, उन का साथी तथा सहायक बन कर, मुंहमांगी और मनचाही सम्पत्ति उन से प्राप्त करूं। जिस से शेष जीवन को सुख और शान्ति के साथ बिता सकूँ। "यह पता लगा कर, वह उन चरण-चिह्नों के आधार पर वहाँ से चल पड़ा। और, जल्दी जल्दी पैर उठाता और रखता हुआ, वह स्थूणाक नगरी में, उस रास्ते के द्वारा वहाँ पहुँचा, जहाँ भगवान् एक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ खड़े थे; तथा वे चरण-चिह्न भी जहाँ जा कर समाप्त हो रहे थे। वहाँ पहुँच कर, भगवान् को एक मुनि के रूप में वहाँ खड़े हुए उस ने देखा। उसे उसी समय सामुद्रिक शास्त्र और अपने सामुद्रिक ज्ञानके प्रति बड़ी ही घृणा पैदा हो आयी। वह तरह तरह के विचार मन में करने लगा। उस की सारी आशाओं पर पानी फिर गया। वह कहने लगा, कि "हाय! अगर मैं ऐसा जानता, कि एक चक्रवर्ती के बदले मुझे एक भिक्षुक देखने को आज मिलेगा, तो क्यों मैं इधर आता! और, क्यों इतना समय इधर खोता? इधर आने के बदले अगर अपने स्थान ही पर मैं रहा होता, तो इतने समय में वहीं पर कुछ न कुछ कमा लिया होता!" दैवयोग से इन्द्र भी वहां उस समय आ पहुँचे। उन्हों ने इस व्यक्ति को निराश और क्षीण-बल देखा। उन्हों ने इस से कहा, "पुष्पक! क्या, तू इन तपस्वी राज को कोरा भिक्षुक ही समझता है?

अगर तू ऐसा मानता है, तो यह तेरी महान् भूल है ! ये साधारण भिक्षु के समान ऐसे वैसे भिक्षुक नहीं है। ये तो एक ऐसे भिक्षुक हैं, जिन के चरणों पर इन्द्र और संसार के चक्रवर्त्ती भी अपना सिर रखने के लिए, लालायित रहते हैं। हाँ, ये स्वयं अपने लिए भिक्षुक ज़रूर हैं। परंतु संसार के तुझ जैसे भूले-भटके पुरुषों के लिए तो,ये इन्द्रादि देवता और चक्रवर्त्तियों से कई गुणे अधिक गुण-सम्पन्न आज भी हैं। आज से कुछ ही दिन पहले, इन तपस्वी राज के हाथ से करोड़ों का दान दिया गया है। परंतु अब तो ये एक ऐसे असाधारण दान को देने के लिए संसार के मैदान में उतरे हैं, जिसे पाकर संसार के दुखी-दर्दी शांति को प्राप्त हो सकेंगे; और जिन की बदौलत याचक अयाचक बनेंगे। चल, निराश मत हो। इस दरबार में आ कर आज तक कोई विमुख नहीं फिरा। जिस ने जिस रूप से इन तपस्वी को देखा और भजा;तथा देखेगा और भजेगा;उसे उसी रूप में ये तपस्वी दिखा और आगे भी दिखेगा। अतः, उठ ! इन तपस्वी और सामुद्रिक शास्त्र को झूठा न समझ। तुझे जितना चाहिए उतना धन तू मुझ से ले ले ! और, जन्म-भर के लिए अयाचक बन !" यों कह कर, इन्द्र ने उसे उस की इच्छा के अनुसार, बहु-मूल्य मणि, माणिक और हीरे आदि दिये। तब तो पुष्पक बड़ा ही सन्तुष्ट हुआ। और, तपस्वीराज की मन ही मन बड़ी प्रशंसा करने लगा। धन ले कर, पुष्पक ने भगवान् को नमन किया और अपने घर की ओर चल दिया। इन्द्र भी भगवान् से विदा हो अपने स्वर्ग-लोक में आया। पीछे से भगवान् ने भी वहाँ से विहार कर दिया।

राजगृह में जुलाहा और भगवान् का दूसरा चातुर्मास

भगवान् ने स्थूणाक नगरी से विहार कर, राजगृह में अपने पावन पदों को रक्खा। उस में नालन्द नामक का एक मुहल्ला था। उस मुहल्ले में एक जुलाहे की धर्म-शाला थी। वहाँ आप ठहरे। आजकल के पाठक यहाँ यह सोचेंगे, कि क्या, और कोई जगह भगवान् को ठहरने के लिए वहाँ न मिली, जो वे एक जुलाहे की धर्म-शाला में जा कर राजगृह में ठहरे ? पाठको ! राजगृह में ही क्यों, कहीं भी, भगवान् के ठहरने के स्थानों का कोई अभाव नहीं था। उन के लिए सभी जगह

के सभी स्थान खुले हुए थे। यह तो आप भली भांति जानते हैं, कि अगर आप अपने कुटुम्ब के लिए ही संसार में जीवित हैं; अर्थात् उसी के स्वार्थ के लिए रात-दिन लगे रहते हैं, तो बदले में, केवल आप का कुटुम्ब ही आये दिनों आप का हो सकता है। परन्तु कटुम्ब के एक छोटे दायरे से निकल कर, यदि आप एक मुहल्ले की भलाई में अपने जीवन को बिताते हैं, तो किसी संकट के समय वह मुहल्ला आप के लिए प्राण निछावर करने को तैयार रहता है। इसी तरह आगे आगे आप बढ़ चलें। और, अब मानिये, कि आप ने सारे संसार को सुखी और समृद्ध बनाने के लिए, अपने सम्पूर्ण सुखों को तिलांजलि दे दी है; तब क्या, बदले में, सारा संसार आप के मन और मरज़ी को रखने वाला न बनेगा? जरूर बनेगा। बनेगा ही नहीं आप के शरीर से पसीने की एक बूंद भी टपकेगी, वहीं संसार आप की सेवा और रक्षा में अपना खून पानी के मोल बहा देगा। परन्तु इस के लिए, पहले ऐसा व्रत धारण कीजिये; और तब अपने तन,मन तथा धन को संसार के लिए वार दीजिये। फिर,संसार आपका और आप संसार के बनेंगे। बिना इस परीक्षा में उतरे और सफल हुए,संसार आप के साथ हमदर्दी नहीं दिखावेगा;वह आप को अपना सेवक, सहायक और साथी न समझेगा। भगवान् ने अलौकिक त्याग किया था। उन के पवित्र जीवन का उद्देश भी इन्हीं बातों की पूर्ति के लिए हुआ था। अस्तु। उस धर्मशाला में ठहरने के प्रभु के कई उद्देश थे। एक तो यह कि उस जुलाहे ने भगवान् के प्रति अति ही श्रद्धा और भाव-भक्ति दिखायी थी। दूसरे,वह स्थान एकान्त और शान्त था। जहां उन के ध्यान में अकारण ही कोई विघ्न बाधा नहीं पड़ सकती थी। तीसरे, लोगों का आवागमन भी इधर बहुत कम था। और चौथे, भगवान् के हृदय में न तो कोई ऊंच नीच ही था; न उन के हृदय में किसी प्रकार की छूआछूत ही के भाव थे; और न उन्हें किसी जाति या व्यक्ति विशेष ही से प्रेम था। वे तो सारे विश्व को अपना कुटुम्ब समझते थे। भगवान् की भावना और हृदय में भ्रष्ट तो केवल वही था,जो अपने हृदय की अपवित्रता से अपवित्र होता। जिसका हृदय कपटी,और विचार पतित होता। कैसा ही अछूत व्यक्ति कोई क्यों न होता, पर यदि उस का हृदय शुद्ध और विचार ऊँचे होते, भगवान् उसे ही ठीक समझते। उन के विचारों के अनुसार, जिस का हृदय शुद्ध और निष्कपट है, उस के तो स्पर्शमात्र से अपवित्र मनुष्य भी पवित्र और पतित भी उन्नत बन जाता है। उन की आज्ञा थी, कि शुद्ध आच-

रण रखने के लिए, किसी विशेष देश, काल, या पात्र, और विद्या बुद्धि, बल, तथा विवेक की तनिक भी आवश्यकता नहीं है। अस्पृश्यता मनुष्य-जीवन का सब से बड़ा कलंक है। किसी मनुष्य को अछूत और अस्पृश्य मानना और देखना, मनुष्य-समाज का भारी से भारी निरादर करना है। अपनी आत्मा को पापियों से नहीं, वरन् पापों से अछूत बनाने ही में तो सच्ची पवित्रता और अछूतपन है। किसी के छू जाने, या उस के स्पर्श करने मात्र से छूत हो जाना, और अपने को पापी समझने लगना, ये सब तो अपने पतित-पावन और उच्च धर्म को अपवित्र, कलंकित और अधूरा समझने की बातें हैं! फिर, कहीं भी ठहरने या उतरने से हमारी धार्मिक हानि कुछ नहीं होती! धर्म तो जाता है कुमार्ग-गामी बनने से; व्यभिचार करने से; (यहाँ व्यभिचार शब्द से केवल पर स्त्री संगम ही का अर्थ न लिया जाय। इस शब्द का यहां प्रयोग करने का हमारा उद्देश, एक बड़े ही व्यापक अर्थ से है। जिस प्रकार, अपनी ही स्त्री में सन्तोष न मान कर, पर-नारियों को तकना और उन का संग करना, संसार की दृष्टि में एक साधारण व्यभिचार है; ठीक उसी प्रकार, एक राजा बन कर राजा के धर्म, कर्म और कर्तव्यों का यथेष्ट रूप से पालन न करना; एक विद्यार्थी बन कर विद्याध्ययन के निमित्त अपने सर्वस्व को निछावर न कर देना; एक साधु बन कर साधुत्व की वृत्ति का पूरा पूरा पालन न करते हुए, मन को विषय-विकारों में फँसाये और लुभाये रखना; एक सिपाही हो कर रक्षा तथा सेवा के अपने मुख्य कामों को छोड़, भय दिखाते हुए रिश्वत, आदि लेना; आदि आदि हमारे व्यभिचार के विशेष विशेष और बड़े ही दूषित प्रकार हैं) और, अपनी स्वार्थ सिद्धि और लम्पटता के कारण, किसी को सताने से। धर्म का सम्बन्ध हृदय से रहा और रहता है। धर्म तो वास्तव में हमारे जीवन को धारण करता है; सोते हुओं को जगाता है, जागे हुओं को सचेत करता है; सचेतों को उठाता है, उठे हुओं को उन्नत बनाता है; और उन्नत बने हुओं को आत्मानुभव कराता है! वह अमृत है, जो मरे दिल के मुर्दों में संजीवनी शक्ति फूंकता है। वह पारस है, जो भूले-भटके और त्रि-ताप से तप्त लोहे के समान संसारी जीवों को अपने गले लगा कर, कञ्चन बनाता है! वह सभी अवस्था और सभी दशाओं के लोगों के लिए, सदा सर्वदा कल्याणकारी है! वह कोई कच्चा धागा नहीं है, सो सांस की हवा से टूट फूट जाय!

पाठको ! सभी के लिए कैसी समानता का सिद्धान्त भगवान् के हृदय में था। उन की इन्हीं आदर्श भावनाओं के कारण ही वे भगवान् बने थे और उन्हीं का सर्व साधारण में प्रचार करने के लिए अपना जीवन अर्पण कर दिया था। तब क्या, आप भी अपने को उन्हीं वीत-राग और वीर तथा सर्वज्ञ भगवान् महावीर का अनुयायी और उपासक मानते और समझते हैं ? यदि हाँ, तो उठिये ! हृदय की कायरता और छल-छिद्रता को छोड़ कर, आप भी आज से अपने हृदय से आज से व्यर्थ के भेद-भावों को निकाल फेंकिये ! और, उन्हीं समता के सिद्धान्तों को अपने व्यवहार में ला कर, जीवन को सुन्दर, संस्कृत और सफल बनाइये ! योगीराज महा-प्रभु आप की नस नस में समता का संचार करें।

यों, भगवान् ने उस जुलाहे की धर्मशाला में ठहर कर ध्यान करना शुरू किया। समय समय पर इधर उधर के लोग प्रभु की तपस्या का यश सुन कर वहाँ आते; और उन के दर्शन कर अपने भाग्य को सराहते। उस धर्मशाला का स्वामी जुलाहा भी भगवान् की सेवा में उपस्थित रहता और, रोज उन से, चातुर्मास वहीं मनाने की प्रार्थना करता रहता। परंतु कभी तो प्रभु ही ध्यान-मग्न रहते; और कभी स्वयं जुलाहा ही प्रार्थना करते करते थक जाता और निराश सा हो कर, अपने घर चला जाता। एक दिन प्रभु विराजे हुए थे। जुलाहे ने, तब अच्छा अवसर जान कर, चातुर्मास के लिए प्रार्थना की। प्रभु ने उस का आन्तरिक प्रेम देख कर, उस (दूसरे) चातुर्मास को वहीं व्यतीत करना स्वीकार कर लिया। जुलाहे ने अपने को कृतकृत्य समझा। और, घर को गया।

भगवान् भक्ति-भाव-पूर्वक वहाँ रह कर चातुर्मास बिताने लगे। इस चातुर्मास में, प्रभु ने उस जुलाहे की धर्म-शाला में रहते हुए, मास मास क्षमण की अभिग्रह-पूर्वक तपस्या करने का निश्चय किया। और, तदनुसार उन्हों ने ध्यानस्थ रह कर तपस्या शुरू की।

प्रकरण—चौदहवां

भगवान् और गोशाला

उन दिनों, मंखली नामक चित्रपट दिखाने वाला एक व्यक्ति, अपनी स्त्री भद्रा को अपने साथ लेकर, गाँव गाँव में चित्र-पट दिखाता हुआ, शरवण नामक एक गांव में जा निकला। उस गाँव में बहल नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उस की अपनी एक गोशाला थी। उस गोशाला में वह मंखली जा कर अपनी स्त्री के साथ ठहरा। उस समय, उस की स्त्री भद्रा गर्भवती थी। यहाँ उस के व्यवसाय के भली प्रकार चल निकलने से गर्भ के दिन उस के यहीं पूरे हो गये। भद्रा ने एक बालक को प्रसव किया। उस बच्चे का जन्म एक गोशाला में होने के कारण, उस के माता-पिता ने उस का उस स्थान के ऊपर से "गोशाला" ही नाम रख दिया। समय पा कर बालक बड़ा हुआ। उस ने अपनी बपौती का धन्धा और कला भी भली भांति सीख ली। गोशाला चुस्त, और बड़े ही विचित्र स्वभाव का था। उस के माता-पिता और उस के बीच प्रायः अनबन रहा करती थी। इसलिए वह अपने माता-पिता से, उन के बुढ़ापे में, प्रायः अलग हो गया था। अपनी बपौती की कला से अपनी आजीविका को चलाता हुआ, एक दिन, गांव गांव में फिरते-फिराते वह राजगृह में निकल आया। राजगृह में आ कर वह वहीं ठहरा, जहां भगवान् विराजे हुए थे। भगवान् की तपस्या का एक मास पूरा हुआ। दूसरे दिन, पारणा करने के लिए, निरवद्य आहार-पानी की खोज में प्रभु निकले। भिक्षा के लिए फिरते हुए वे वहां पहुंचे, जहां विजय सेठ का घर था। विजय सेठ ने, बड़ी ही श्रद्धा और सत्कार के साथ, प्रभु को अनैमितिक

और निरवद्य भोजन-पानी बहराया। उसी समय देवताओं ने, कनक, रत्न, आदि पांच द्रव्यों की, उस के घर के ऊपर विपुल वर्षा की। यह समाचार बिजली की भांति गांव में फैल गया। गोशाला ने भी इस वृत्तान्त को सुना। उसी समय, वह वीर भगवान् को ढूंढ़ता ढूंढ़ता विजय सेठ के घर पहुंचा। उस ने वहां कानों सुनी हुई बात की सचाई आंखों देखी। तब तो उस ने सोचा, कि "यह भिक्षुक साधारण भिक्षुकों के समान ऐसा वैसा नहीं है। यह कोई बड़ा ही पहुंचा हुआ महापुरुष जान पड़ता है। जब इसे केवल एक बार भोजन देनेवाले के घर पर, सोना और मणि, माणिक, आदि बहु मूल्य रत्नों की ऐसी घनी वर्षा हो सकती है; तब जो रात-दिन इन की सेवा में संलग्न रहता होगा, उस के भाग्य की तो फिर बात ही क्या पूछना है! अगर अपन भी इन के शिष्य हो जावें, तो कभी न कभी अपने भी भाग्य अवश्य खुल जावेंगे। महापुरुषों की सेवा कभी व्यर्थ नहीं जाती। ऐसे लोग हमेशा महा वृक्षों के समान हुआ करते हैं। जैसे वे वृक्ष छाया और फल दोनों देते हैं, वैसे ही इन की सेवा से भी, मनुष्य को आश्रय और सम्पत्ति दोनों मुंहमांगी मिलती है। यदि दैववशात् सम्पत्ति कभी न भी मिले, तो भी आश्रय तो, इनका कभी कहीं नहीं जाता।" ऐसा मन में ठान कर, वह गोशाला प्रभु के सम्मुख आया। और हाथ जोड़ कर वह उन से कहने लगा, "भगवन्! आप जैसे उत्तम महापुरुषों के कार्य, संसार के साधारण पुरुषों से सदा ही भिन्न होते हैं। वे कभी अपने मुंह से अपनी बड़ाई नहीं हांकते। परन्तु उन के कार्य उन की पहचान अवश्य करवा देते हैं। वे आप तो साधारण से बने रहते हैं; और भीख मांग कर, जैसा भी रूखा सूखा समय पर उन्हें मिल जाता है, उसी से अपना गुज़ारा करते हैं; परन्तु जिन के ऊपर एक बार भी वे प्रसन्न हो जाते हैं; वे सब प्रकार से मालामाल और निहाल हो जाते हैं। उन्हें ऐहिक सुख तो मिलता ही है; परन्तु साथ में, आत्मिक सुख भी किसी क़दर उन्हें कम प्राप्त नहीं होता। भगवन्! आप और मैं, कई दिनों से दोनों एक ही स्थान में ठहरे हुए हैं। परन्तु आज तक आप के गुणों को मुझ अभागे ने नहीं जाना था। आज के उदार और साधु कार्य के कारण, मैं आप के स्वर्गीय गुणों का एकांश में अनुमान कर पाया हूं। आप के उन्हीं अलौकिक गुणों पर रीझ कर, मैं चाहता हूं, कि आप का शिष्य और शरणागत बनूं। क्या, आप मुझे अपना शिष्य बना लेने की कृपा करेंगे? मैं अपनी सेवाओं के द्वारा, आप को सब भांति से प्रसन्न रखने का, सदा सर्वदा प्रयत्न करता रहूँगा।"

प्रभुने, ज्यों के त्यों मौनावलम्बी बने रह कर, आदि से अन्त तक, उस की सारी बातें और अन्तिम मनसूबे को सुन लिया। बदले में, भगवान् ने न तो 'हां' ही उसे कहा और न ना ही। क्योंकि, जैसे दाई के आगे पेट नहीं छिप सकता; उसी तरह, भगवान् ने अपने तेजोबल से, उस के स्वार्थ-सने मनसूबे को उस के कहने के पहले ही जान लिया था। परन्तु इतने पर भी, गोशाला, उसी दिन से, अपने को उन का शिष्य समझने लगा।

अब आज से गोशाला की आजीविका की दिशा पलटी। वह भगवान् में मन ही मन गुरुभक्ति रखता हुआ, भिक्षा के अन्न से अपना गुज़ारा करने लगा। अपनी बपौती की कला को उसी दिन से उस ने छोड़ दी। और, दिन-रात वह प्रभु के साथ रहने लगा। यों, करते करते, प्रभु का दूसरा मास क्षमण भी पूरा हुआ। दूसरे दिन, सदा के नियमानुसार, उन्हों ने आनन्द नामक गृहस्थ के यहां जा कर वहां से अनैमित्तिक और निरवद्य आहार पानी ग्रहण किया। इसी तरह, तीसरे मास-क्षमण के पूरा होजाने पर, सुदर्शन नामक एक सद्गृहस्थ के घर भगवान् ने भिक्षा ली। इन दोनों घरों पर भी, पूर्ववत् पंच द्रव्यों की, वर्षा देवताओं ने की।

यों करते करते, चौथे मास-क्षमण का दिन भी पास आ पहुँचा। कार्तिक शुक्ल पौर्णिमा का दिन था। गोशाला ने भगवान् को मन से जो भी अपना गुरु मान लिया था; तब भी उस के मन में, भगवान् की समय असमय, परीक्षा लेने के भाव, स्थान बनाये बैठे थे। उस दिन, मन ही मन उस ने सोचा, "संसार, इन तपस्वी को बड़ा ही ज्ञानी और दूरदर्शी कहता, सुनता और अनुभव करता है। परन्तु मुझे तो, अभी तक इन के ज्ञान और दूरदर्शिता को आज़माइश करने का कोई मौका हाथ नहीं लगा है। आज वार्षिक महोत्सव का समय है। ऐसे समय, अगर मैं भी अपने मन की मुराद पूरी कर लूँ, तो उस में हानि ही कौनसी है? इस तपस्वी की परीक्षा का ऐसा मौका, फिर हाथ आना अभी तो कठिन है। अतः अच्छा हो, कि समय के अनुसार फबती हुई कोई बात आज मैं इन से पूछूं, जिस से इन के ज्ञान की परीक्षा भी हो जायगी और इन्हें कुछ बुरा भी जान न पड़ेगा।" ऐसा विचार कर, उस ने भगवान् से पूछा, "स्वामी आज घर घर में वार्षिक महोत्सव बड़े ही धूम-धाम से मनाया जायगा। सचमुच में आज का समय बड़ा ही आनन्दकारी है। ऐसे समय में मुझे भिक्षा में क्या क्या

मिलेगा ?" भगवान् ने इस बात का उत्तर देते हुए कहा, "गोशाला ! आज महोत्सव तो ज़रूर है । संसारी जीवों के लिए यह आनन्दकारी समय भी हो सकता है । परन्तु साधुओं के लिए तो, सभी दिन एक सरीखे हैं ! उन्हें यहाँ के मंगल और अमंगल-दर्शनों से वास्ता ही कौनसा है ? सूखा रूखा जो भी समय पर उन्हें मिल जाय; उन्हें तो सदा उसी पर सन्तोष प्रकट करते हुए अपने आत्मानन्द में प्रतिपल तल्लीन रहना चाहिए ? और, जगत् का हित चिन्तन करते रहना, उन के लिए तो, यही अमर और आनन्दकारक व्यापार रह जाना चाहिए । गोशाला ! फिर भी तेरे आग्रह से मैं कहता हूं, कि आज खाने के लिए तुझे कोई सड़ा-गला भोजन मिलना चाहिए । गोशाला ने भगवान् के कथन के प्रति ज़रा उपेक्षा प्रकट की । और फिर, वह भिक्षा के लिए चल पड़ा । चलती बार, उस ने उत्तम भोजन को ग्रहण करने की प्रतिज्ञा की थी । उत्तम भोजन तो बहुत दूर रहा, उस दिन, सुबह से शाम तक, घर घर भटकते हुए भी, उस बेचारे को किसी ने भिक्षा न दी ! अन्त में मन में जब वह हार मान चुका, भटकते भटकते जब वह लाचार हो उठा; शाम के समय, तब एक गृहस्थ ने उसे पुकार कर, वही सड़ा-गला और बुसा भोजन उसे दिया । गोशाला, घूमते-घामते काफ़ी थक चुका था । उसने उसी भोजन को प्रसन्न हो कर ग्रहण कर लिया । और, क्षुधातुर होने से, बिना किसी प्रकार की अरुचि उस के प्रति दिखाये, उसे वह खा भी वहीं गया । भगवान् के कथन का अक्षर अक्षर यों सत्य होता हुआ देख और अनुभव कर, उसे मन ही मन, अपने द्वारा उन के प्रति परीक्षा के स्वरूप में किये गये व्यवहार के लिए, बड़ा पछतावा भी हुआ । अन्त में, उस ने सोचा कि आकाश में विहार करनेवाला, रात्रि के समय अन्धकार को नाश करनेवाला, तारागणों के बीच में घूमनेवाला चन्द्रमा भी, होनी के वश हो कर राहु से ग्रसा जाता है । इस से सिद्ध हुआ, कि जो होनी होती है, वह हो कर ही के रहती है। उसे कोई भी मिटा नहीं सकता । नियतिवाद के इस सिद्धान्त को सभी जगह और समय पर लागू होता हुआ देख कर उसने आत्म-सन्तोष धारण किया । और प्रभु के पास आया ।

चौथे मास-क्षमण की पूर्ति हो जाने पर, जब गोशाला भिक्षा के लिए बस्ती में गया हुआ था, भगवान् ने वहाँ से विहार कर दिया । वे उस शाला से विहार कर के, पास ही के कोल्लाक नामक एक सन्निवेश में पधारे । उस दिन, अगहन

कृष्ण १ थी। उन दिनों कोल्लाक में बहुल नाम का एक ब्राह्मण रहता था। भगवान् को उधर आते देख, उस ने अपने भाग्य को सराहा और उन से अहार-पानी ग्रहण करने की प्रार्थना की। प्रभु ने उस के घर, अनैमित्तिक और निरवद्य आहार-पानी किया। भगवान् को उस के घर जाते जान, मुहल्ले के लोगों ने उसे बड़ा भाग्यशाली माना। देवताओं ने भी उस के घर पर, भगवान् के भोजन ग्रहण कर के लौटते समय, पाँच दिव्य द्रव्यों की विपुल वर्षा की। इस से तो वे लोग और भी चकित हुए।

उधर गोशाला भिक्षा ले कर और खा-पी कर उसी जुलाहे की शाला में वापस आया। परंतु वहाँ भगवान् को न देख कर, वह बड़ा ही घबरा उठा। कल से, अपनी परीक्षा में जब भगवान् को पूरा पूरा उतरा वह देख चुका था, तब से तो भगवान् के वचनों पर उस की विशेष श्रद्धा हो गयी थी। अब वह उन का सच्चा और पूरा पूरा शिष्य बन जाना चाहता था। बपौती की कला का त्याग तो उस ने पहले ही से कर दिया था। आज उस ने अपने पास के भंडोपकरण अर्थात् सामान आदि का भी सर्वथैव त्याग कर दिया। सन्तों की संगति में रहने के कारण, आज उसे संसार परित्याग की बात सूझी। उसी समय उस ने अपना मुंडन करवाया। और, भगवान् का पता लगाते लगाते कोल्लाक सन्निवेश में वह आया। वहाँ के लोग उन्हीं तपस्वीराज महावीर की अनेक प्रकार से तारीफ़ कर रहे थे। इस वातावरण से उस ने यह तो जान लिया, कि भगवान् यहाँ आये ज़रूर हैं। तब तो इधर उधर पूछते पाछते, वह कुछ ही देर के बाद, भगवान् के समीप भी पहुँच गया। उन्हें देख कर वह बोला, "प्रभु! आप ने मुझ से बिना ही कुछ कहे-सुने यहाँ विहार कर दिया? अब मैं आप का साथ छोड़ कर, कभी भी कहीं न जाऊँगा। आप चाहे मानें, या न मानें, मैं तो संसार की सम्पूर्ण आशाओं का एकान्त परित्याग कर, आप के चरणों की शरण लेता हूँ। आप का शिष्यत्व ग्रहण करता हूँ। आज से आप मेरे धर्माचार्य हुए; और मैं आप का एक क्षुद्र शिष्य। इस प्रकार गोशाला भगवान् का शिष्य बन गया। प्रभु ने वहाँ से विहार कर दिया। वे अब स्वर्ण-खल्ल में पधारते हुए, ब्राह्मण-गाँव की भूमि को अपने चरणों से पावन करने के लिए पधारे।

पधारते पधारते भगवान् ब्राह्मण गांव में पहुंचे। यह गांव दो मुख्य मुहल्लों में बंटा हुआ था। उन में से एक भाग नन्द नामक उस के अधिपति के अधिकार में था

दूसरे भाग पर उपनन्द का शासन था, जो नन्द का भाई था। भगवान् नन्द के घर की ओर आहार पानी लेने को गये। यह घर ज़रा छोटा और ग़रीब घराने का था। गोशाला का मन, उपनन्द के बड़े घर को देख कर ललचाया। इस से उस ने वहीं जा कर भोजन लेना चाहा था। भगवान् ने इस में कोई भी आपत्ति उपस्थित नहीं की। क्यों कि, उन की निगाहों में, छोटे-बड़े का कोई भेद-भाव ही नहीं रहा था। वे तो केवल अनैमित्तिक और निरवद्य भोजन ही को ग्रहण करने वाले थे। विपरीत इस के गोशाला अभी तक अपनी इन्द्रियों और मन पर विजय नहीं प्राप्त कर सका था। वह तो प्रथमतः निदान की भावनाओं को साथ लेकर ही, भगवान् की शरण में आया था और उस ने उन के शिष्यत्व को स्वीकार किया था। तब इन्द्रियों और मन पर विजय प्राप्त किये बिना, भेदभाव की भावनाओं का हृदय में बना रहना, बिलकुल स्वाभाविक ही था। गोशाला उपनन्द के घर आया। उधर भगवान् भी नन्द के घर पहुँच चुके। नन्द ने उत्तम भावों के साथ भगवान् को आहार-पानी बहराया। उधर, गोशाला को अपने घर, आहार-पानी के लिए आया देख, उपनन्द ने अपनी दासी के हाथ, उसे बासी चांवल देना चाहा। बासी चांवलों को देख कर गोशाला ने त्यौरी बदली। वह उपनन्द का तिरस्कार करता हुआ, नाना प्रकार के अप-शब्दों का उपयोग उस के लिए करने लगा। गोशाला के इस दुर्व्यवहार से उपनन्द भी बिगड़ा। उस ने क्रोधित हो कर, अपनी दासी से उस अन्न (बासी चांवलों) को उस के सिर पर फेंक मारने को कहा। दासी ने अपने स्वामी की आज्ञा का पालन किया। और उन बासी चांवलों को उस ने गोशाला के सिर पर बिखेर दिया। तब तो गोशाला क्रोध के मारे आग बगूला हो उठा। साधु वेषधारी गोशाला के लिए इस प्रकार क्रोध करना, बिलकुल अहितकर और अनुचित कार्य था। परन्तु अभी तक, वह सच्चा साधु बना ही कहां था, जो उसे इस बात की कोई चिन्ता होती। उस के आन्तरिक और बाह्य व्यवहारों में, काम, क्रोध, आदि विकारों की अभी खासी धूम थी। इतना ही कर के गोशाला शान्त न हो गया। वह क्रोध के आवेश में आ कर बोला, "यदि मैं एक महान् तपोधनी गुरु जी का शिष्य होऊं, तो अभी अभी उपनन्द का यह मकान, मेरे सामने ही सामने, जलबल कर राख हो जावे।" प्रभु के, तपोधनी गुरुजी के नाम का उस ने दुरुपयोग किया। उस के मुंह से, इन दुराशीष सूचक शब्दों के बाहर निकलते ही व्यन्तरों ने उपनंद का घर उसी समय जला

दिया। और, कुछ ही काल में वह जल-बल कर ख़ाक हो गया।"शक्तिः परेषां परि-पीडनाय" के न्याय से,गोशाला ने अपनी जगत्-हितकारक,निर्बलों(शरीर-बल, या मन-बल, या नीति-बल या किसी भी प्रकार के बल से रहित) की संरक्षा कर के उन्हें ऊपर उठाने वाली, साधु-शक्ति का बड़ा ही अनुचित उपयोग किया। भगवान् वहां से विहार कर गये। और विचरते विचरते वे चम्पापुरी की बस्ती में पधारे। तब चातुर्मास करीब निकट आ पहुंचा था। भगवान् से वहां के लोगों ने यह चातुर्मास वहीं मनाने की, भक्ति भाव और बड़ी नम्रता से, कई बार प्रार्थना की। यह उन का तीसरा चातुर्मास था। लोगों की उस प्रार्थना को स्वीकार कर, प्रभु ने उस चातुर्मास को वहीं मनाने की स्वीकृति दी। इस चातुर्मास में प्रभु ने दो दो मास-क्षमण करने का निश्चय किया। अपने निश्चय के अनुसार, प्रभु ने तीसरा चातुर्मास व्यतीत करना शुरू किया। भगवान् की इस कड़ी तपस्या को देख देख कर, लोगों को बड़ा अचरज और आनन्द होता था। उन की जीवन बिताने की यह प्रणाली, किसी किसी को तो रूला तक देती थी। भगवान् के साथ अपने शरीर के रहन सहन की तुलना करते हुए, अपने जीवन के प्रति उन्हें बड़ी घृणा आने लगती। यों चातुर्मास के पूरा हो जाने पर, प्रभु ने कोल्लाक नामक बस्ती की ओर विहार कर दिया।

इस बार प्रभु कोल्लाक में पधार कर वहां एक निर्जन स्थान में ध्यानस्थ हो रहे। यहां से प्रभु विहार कर पत्रकाल नामक गांव की ओर पधारे। फिर वहां से विहार कर कुमार नामक सन्निवेश की ओर पधारे। वहां एक बाग था। जिस का नाम चम्पक उद्यान था। वहां पर प्रभु ध्यानस्थ हो कर रहे। गोशाला प्रभु के साथ ही था। यहां कुपन नाम का एक कुम्भकार था; जो बड़ा ही लक्ष्मी का लाल था। परन्तु जो पुरुष लक्ष्मीवान् होते हैं, प्रायः उन में, उन की सम्पत्ति की अधिक या कम मात्रा के हिसाब से अनेक दोष आ जाते हैं पर कई धनिक सज्जन भी परले दर्ज़े के होते हैं। आदर्श धनिक वही है, जिस का धन संसारी प्राणियों के अनेक प्रकार के आश्रय पहुंचाने में लगता रहता है। उस धन से कहीं रोगियों के लिए औषधालय खुलते हैं, तो कहीं अज्ञान रूपी अन्धकार मिटाने के लिए तरह तरह की शिक्षण-संस्थाओं की योजना होती है। कहीं देश, समाज, और जाति के अभ्युत्थान में, वह आधार-स्तम्भ बन कर आगे आता है, तो कहीं वही धन, देश और जाति के अनाथों अबलाओं, और अपंग

तथा अपाहिजों के भरण-पोषण का विधाता होता है। कहीं अकाल पीड़ितों व व दुर्दैव से सताए गये प्राणियों को सुखी करता है, तो कहीं वही धन कई प्रकार की संस्थाओं में जा कर गाय, भैंस आदि मूक और अबोध पशुओं का प्राण रक्षक होता है। अतः धनिकों को अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग कर के, इस नश्वर संसार में यश-रूपी शरीर द्वारा, चिरकाल तक जीते रहने का प्रयत्न करना चाहिए। अस्तु।

उस कुपन कुम्हार को शराब पीने का बड़ा भारी शौक़ था। इस मद्यपान के व्यसन में वह इतना अधिक फँसा हुआ था, कि उसे पीछे जाते जाते तो, अपने पराये का ज़रा भी कोई भान नहीं रहने लगा था। उस का शरीर मन एवं भौतिक सम्पत्ति, सब, के सब इस नाशकारी व्यसन के कारण, धीरे धीरे, फूटे हुए घड़े में से झरते रहने वाले पानी के समान, छीज रहे थे, ह्रास को प्राप्त होते जा रहे थे। उसे इस बात की जानकारी होते हुए भी, वह अपनी शराब की लत के कारण लाचार था। उसी कुम्हार की एक धर्म-शाला में, उन दिनों, एक महापुरुष और भी आ कर विराजे हुए थे। उन का नाम चन्द्राचार्य मुनि था। वे भगवान् पार्श्वनाथ के सन्तानिक शिष्य थे। वे बहु-श्रुत होने के कारण बड़े ज्ञानवान् थे। उन्हों ने उस समय, अपने गच्छ के पूज्यपद, आचार्यत्व की बागडोर अपने शिष्य वर्द्धनमुनि के हाथों सौंप दी थी; और वे आप जिनकल्प का अति ही कठिन व्रत-पालन करने में लगे हुए थे। कर्मों की निर्जरा करने के अर्थ, वे नित-प्रति समाधिस्थ रहा करते थे। एक दिन, बस्ती की ओर भिक्षा के निमित्त जाते हुए, गोशाला की इन रंगीन वस्त्रधारी साधुओं से अचानक भेंट हो गयी। उसी समय गोशाला ने, अपने स्वभाव के अनुसार, उन से उन का अपना परिचय पूछा। उन्हों ने अपने आप को भगवान् पार्श्वनाथ के निर्ग्रन्थ-निग्गण्ठ शिष्यों में से बतलाया। गोशाला उन की ओर देख कर हंसने लगा। उस ने उन से बड़ी ही रुखाई से कहा, "अजी! क्यों गपशप लगाते हो! रंगीन वस्त्रों में निर्ग्रन्थ का ऐसा नखरा? रहने दो! रहने दो!! पापी पेट की पालना करने के ये सब साधन हैं! अपनी उदर पूर्णा करने के लिए, भगवान् के अनमोल पावन नाम और उपदेशों को, कौड़ियों के मोल इधर उधर बेचते फिरते हो! क्यों, मारे मारे फिरते हो? तुम हमारे महा तपस्वी गुरु महाराज की भांति, क्यों नहीं तप और ध्यान की आराधना करते?" इस पर, परस्पर कुछ वाद-विवाद

बढ़ गया। यहां तक, कि क्रोध के आवेश में आ कर गोशाला ने तो उन्हें श्राप तक दे मारा। वह उन से चिल्ला कर कहने लगा, "ऐ नामधारी साधुओ! मेरे साथ किये हुए व्यवहार का तुम खूब ही अच्छा मज़ा चखो! जाओ, तुम्हारा उपाश्रय इसी समय जल-बल कर भस्म हो जाय!" बदले में वे साधु बोले, "गोशाला! साधु को क्रोध, लोभ, मोह, आदि से सदा अलग रहना चाहिए। जान पड़ता है, अभी तक तेरा मन साधु-वृत्ति से कोसों दूर है। तब जा हम भी तुझे कहते हैं, कि तेरी इस दुराशीष का हम और हमारे उपाश्रय, दोनों में से किसी पर भी कुछ नहीं हो सकता। साधु का वेष धारण कर के व्यर्थ ही में तू कर्मों का भागी क्यों बनता है? अपने मन और भाषा समिति को गंदली क्यों करता है? सचमुच में उन साधुओं तथा उन के उपाश्रय पर, गोशाला की गंदली वाणी का कोई असर नहीं पड़ा। तब तो वह बड़ा ही शरमाया। और, वहां से मुंह बन्द कर चलता ही बना। जल्दी जल्दी क़दम रखते हुए वह भगवान् के पास आया। आज की आकस्मिक घटना का सारा हाल, उस ने भगवान् को अथ से इति तक कह सुनाया। उस समय सिद्धार्थ देव प्रभु की सेवा में था। गोशाला की ये अमानुषिक हरकतें उस देव को अनुचित मालूम हुई। तब वह देव उस से बोला, "गोशाला! तू अभी तक भी शील, सन्तोष और सदाचार से काम निकालना नहीं जान पाया। तू साधु बन कर के भी अपनी वाणी का संयम आज तक न कर सका। साधु वेषधारी पुरुष के लिए ये बातें कलंक की हैं। फिर, तेरे उन दुर्वचनों से उन का बिगाड़ ही क्यों और कैसे हो पाता? वे भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य सम्प्रदाय के साधु हैं। मनुष्य को चाहिए, कि वह प्राणी-मात्र पर दया रक्खे; सब को दान, मान और सम्मान तथा मधुर वचनों से सदा प्रसन्न रक्खे; यहाँ तक कि वह अपने शत्रुओं तक को भी प्रसन्न रखने का प्रयत्न करे। तुझे जो वाणी तेरे कर्मों की ओर से मिली है, यह किसी का अहित-चिन्तन करने और दिल दुखाने के लिए, तुझे नहीं मिली है। अगर इतने पर भी तू ऐसा करने से बाज़ नहीं आता, तो तेरी ये हरकतें कुदरत के क़ानून को तोड़नेवाली हैं। तू देखता नहीं है? प्रकृति के कार्यों को ज़रा देख और उन पर विचार कर। शरीर में एक ज़बान और दो कान हैं। अतः वे बोले कम और सुने बहुत अधिक। अतः आगे से वाणी का संयम करना, तू भली प्रकार सीख!

अब भगवान् कुमार गांव से विहार कर चोराक ग्राम में पधारे। वहाँ के गुप्तचर लोग उस समय कुछ चोरों का पता लगाने और उन्हें पकड़ लाने के लिए, निकले हुए थे। भगवान् और गोशाला का भेंटा उन लोगों से हो गया। उन्हों ने इन्हीं को साधु-वेषधारी चोर समझा; और पकड़ लिया। पकड़ कर वे उन्हें गाँव में लाये। अपने अधिकारी के आगे ला कर उन्हें उन सिपाहियों ने खड़ा किया। अधिकारी ने भी इन्हीं को चोर समझा। तब तो, उस के हुक्म से उन सिपाहियों ने उन के हाथ-पैरों को पहले तो खूब ही जकड़ कर बाँध दिया। और, पीछे उन्हें बिना सीढ़ियों के एक कूएँ में निर्दयता के साथ ढकेल दिया। इस बात का असर भगवान् पर तो रंच-मात्र भी नहीं पड़ा। परन्तु गोशाला ने इसे बड़ा ही कड़ा दंड समझा। और, चिल्लाकर रोने लगा। वह अपने भाग्य को कोसने लगा। परन्तु भगवान् वैसे ही पूर्ववत् देखते रहे। सच है, वास्तविक महा पुरुषों का यही लक्षण है। वे भूल कर भी कभी किसी को नीची दृष्टि से नहीं देखते। वे सुख और दुःख दोनों अवस्थाओं में समान रहते हैं। उन्हों ने गोशाला को समझाया, "गोशाला! विपत्तियों को तू विपत्तियाँ न समझ। ये तो सचमुच में कुदरत की देनगियाँ हैं। जिस तरह बिना बादलों के बिजली का स्वच्छन्द प्रकाश कभी हो ही नहीं सकता; ठीक उसी तरह, विपत्तियों के बिना मनुष्य के गुणों का भी पूरा पूरा प्रकाश ही कभी नहीं हो पाता!" अहा! जीवन में क्या ही चमक और सुन्दरता लानेवाली बात भगवान् ने कह दी है।

" The life of a man is a journey; a journey that must be travelled; however had the Roads or the accomodation " —goldsmith. महाशय गोल्डस्मिथ के इस कथन में भी वही भाव भरे हुए हैं। अस्तु।

फिर, कुछ ही देर के पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ के शासन की सोमा और जयन्ति नाम की दो साध्वियाँ अपनी अन्य साध्वियों के साथ उधर से हो कर निकलीं। आसपास के लोगों के द्वारा उन्हों ने इस घटना को जाना। वे तब वहाँ आयीं, जहाँ वह कूंआ था। वहाँ आ कर, उन्हों ने बड़ी देर तक टकटकी लगा कर देखा। अन्दर गिराये हुए दोनों साधुओं में से, उस घोरातिघोर विपत्तिकाल के समय में भी, उन्हों ने, एक के चेहरे पर, एक अपूर्व शांति और हास्य की सुन्दर झलक देखी। इतना ही नहीं, वे, बीच बीच में, दूसरे साधु के कराहने पर, उसे बड़ी ही

गम्भीरता और बिना किसी प्रकार का दुःख प्रकट किये, उसे सान्त्वना देते हुए भी, उन्हें नज़र आये। उस समय, उन के सान्त्वना के प्रत्येक शब्द शब्द से, एक अमृत-सम और अलौकिक तेज की धारा सी निकल रही थी। इन सब बातों को देख और सुन कर, (१) जैन-शास्त्रों के अनुसार; (२) मुनि-समागम के दीर्घ-कालीन अनुभव; (३) तत्कालीन लोक-परिस्थिति; और, (४) उस प्रशांत प्रसन्नचित्त, धीर, वीर, गम्भीर, तथा अपूर्व तेजस्वी महापुरुष की बात-चीत से, उन साध्वियों ने, भगवान् के बारे में, अनुमान किया, कि "हो न हो, ये कोई हैं बड़े ही महापुरुष। ये कोई ऐसे वैसे साधु तो नहीं है। और, यह भी क्यों न अनुमान कर लिया जाय, कि ये महापुरुष कदाचित् अन्तिम तीर्थंकर ही हों! इस में किसी से कुछ पूछने की भी कोई आवश्यकता नहीं। मरणासन्न विराधिकाल में भी, इन के चेहरे की अपूर्व गम्भीरता, प्रसन्नता, निर्भीकता, कर्म के कठोरतम फलों को चुकाने की उत्सुकता, शरीर की कमनीय कान्तता और असाधारण तेज, ये सब के सब एक ही स्थान, में इकट्ठे हो कर बतला रहे हैं; नहीं! नहीं! घोषित कर रहे हैं, कि ये महा पुरुष ही अन्तिम तीर्थंकर हैं।"

वहां के उस दृष्य को देखने से यह विचार उन के मन में, उठते ही, वे साध्वियां, वहां के अधिकारी के पास गयीं। उन्हों ने उस से कहा, "भाई! तुम्हारे सिपाहियों और तुम ने बड़ी भूल की है। तुम ने सिद्धार्थ राजा के प्राण प्रिय पुत्र और अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर को, एक दूसरे साधु के साथ में पकड़ कर, आज अपने सिपाहियों के द्वारा, अमुक कूंए में, हाथ-पैर बांध कर फिंकवा दिया है। तुम उन्हें शीघ्र ही उस में से बाहर निकलवाने का प्रबन्ध-करो। अन्यथा, तुम्हारे जीवन का भावी मंगल, अब तुम को छोड़ कर शायद जाना चाहता है।" साध्वियों के इस कथन को सुनते ही वह अधिकारी घबरा उठा। अपने सिपाहियों की अदूरदर्शिता और मूर्खता-पूर्ण काम की उसने घोर निन्दा की। साथ ही, उस ने अपने सिपाहियों के काम और वचन पर विश्वास रख लेने और कुछ विचार न करने के कारण, अपने आप को भी सैकड़ों तरह से अन्दर ही अन्दर कोसा। फिर, वह शीघ्र ही अपने सिपाहियों को ले कर वहां आया, जहां वह कूंआ था। वहां आकर उस ने भगवान् को पहचाना। तब तो वह बड़ा ही लज्जित हुआ और बार बार पछतावा करने लगा। अपने अपराध के लिए उस ने बार बार भगवान् से क्षमा-प्रार्थना की। फिर, सिपा-

हियों को कड़े से कड़े दंड देने की बात उस ने भगवान् के सामने कही। उस ने न्याय और कर्तव्य पालन ही को धर्म समझा और बताया। एक अधिकारी की हैसियत से उस ने कहा, " ममता के कीचड़ में फंस कर मुझे अधर्म कभी नहीं करना चाहिए। न्याय से आंखें मूंद लेना मेरा काम कभी न होना चाहिए। सिपाहियों का काम था, कि वे अपने मामले की पूरी छान-बीन करते। किसी चलते हुए भले आदमी, और वह भी आप सरीखे महापुरुष के साथ अनुचित व्यवहार करना कोई कम अपराध नहीं है। अब मुझे उसी कार्य को करना चाहिए, जो मेरा कर्तव्य मुझे सुझा रहा है। मुझे जो अधिकार मिला है, उस का दुरुपयोग कभी न होना चाहिए। कर्तव्य--पालन के विकट समय में, मोह के दलदल में फंस जाना और न्याय का गला घोंटना, एक जिम्मेदार अधिकारी पुरुष का कभी काम न होना चाहिए। " उस के इस मर्मभेदी कथन को सुन कर पास में खड़े हुए सिपाहियों की आत्मा कांपने लगी। वे गिड़गिड़ाने लगे। परम दयालु भगवान्, उन के इस कष्ट को सहन ही कब कर सकते थे? उन्हों ने उसी समय उस अधिकारी से उन्हें क्षमा देने के लिए कहा। इस के बाद, भगवान् ने अधिकारी और सिपाहियों, दोनों को क्षमा प्रदान की और वे वहां से आगे की ओर विहार कर गये।

यों, उपसर्गों पर उपसर्ग प्रसन्न-चित्त से सहते हुए और विचरण करते हुए भगवान् पृष्ट-चम्पा नामकी एक नगरी में पधारे। उन दिनों, चातुर्मास भी समीप आ लगा था। लोगों की प्रार्थना पर, भगवान् ने अपने इस चौथे चातुर्मास को उसी नगरी में बिताना स्वीकार किया। पहले के तीन चातुर्मासों की अपेक्षा इस चातुर्मास में, भगवान् ने अपनी तपस्या में, और भी अधिक कड़ाई करने की बात ठानी। तदनुसार, उन्हों ने इस बार चार मास-क्षमण (अर्थात् लगातार चार मास के उपवास) की कठोर तपस्या, की। इस प्रकार तप-तेज से जीवन-धारण करने और अलौकिक शान्ति प्राप्त करने का पाठ अपनी करणी के द्वारा, भगवान् ने यहां के लोगों को प्रत्यक्ष बता, यहां से विहार कर दिया। गोशाला भी भगवान् के साथ ही साथ चला।

पृष्ट-चम्पा नगरी से विहार कर भगवान् कृत-मंगल नाम की बस्ती में पधारे। यों कहा जाय, कि वह गांव पाखंडी लोगों का एक अखाड़ा था, तो भी कोई

अत्युक्ति नहीं है। फिर, गांव के प्रधान पाखंडियों का एक मुहल्ला अलग भी वहां बसा हुआ था। उसी मुहल्ले के बीचों बीच एक मन्दिर था। उन के कुल-देवता की मूर्त्ति उस में रक्खी हुई थी। भगवान् इसी देवालय के एक कोने में जा कर वहाँ ध्यानस्थ हो रहे। आप के कायोत्सर्ग कर के ध्यान लगाये हुए, वहाँ खड़े रहने पर, आप दूरवाले आदमी को ऐसे जान पड़ते थे, मानो, उस देवालय का आप एक खम्भा ही हों। वह समय भी हेमन्त के अन्त और शिशिर के प्रारम्भ का था। शीत बड़ी ही कड़ाके की पड़ती थी। लोग कितने ही मोटे मोटे और गरम कपड़े पहने रहने पर भी ठिठुरे जाते थे। किसी किसी जलाशय का पानी जम कर के, हिम भी यदा-कदा बन जाता था।

एक दिन की बात है, जब कि आधी रात का समय बीत चुका था। शरीर और हृदय को कंपादेनेवाली ठंढी बयार बह रही थी। उस मन्दिर की मूर्त्ति को अपना कुल-देवता माननेवाले लोग अपने कुटुम्ब-परिवार और नाती-गोती लोगों के साथ वहाँ आये। सब ने मिल-जुल कर, तब अपने कुल-देवता को प्रसन्न करने के मिस, बोतल-वासिनी-देवी का सोलह-आना सत्कार किया। सब ने मिल जुल कर, एक दूसरे को अपनी पूरी शक्ति के साथ, आव-भगत करते-कराते शराब पीया और पिलाया। पीछे वेही लोग, स्त्री और पुरुष साथ में, अपनी अपनी जोड़ी ढूँढ़ कर, और शराब के नशे में सिर से पैर तक छक कर, गायन के रूप में अंट-संट बकते हुए, ज़ोर ज़ोर से नाचने लगे। मन्दिरों का महत्त्व इन के हृदयों में कितना ऊँचा और आदर्श रूप में था, उसे तो, इन की करणी से पाठकों ने थोड़ा बहुत समझ ही लिया होगा। वह उन का काम इतना बेहूदा था, कि जिसे देख कर, कदाचित् शर्म और हया को भी शर्म और अचरज जान पड़ता। कभी कभी वे ज़मीन पर, नाचते नाचते गिर भी पड़ते। तब तो उन की दशा बड़ी ही करुणा-भरी जान पड़ती। नशे में चूर होने के कारण नाचनेवाले लोग अपने आप को संभाल नहीं सकते थे। और, जो गिर पड़े थे, वे तो होश-हवाश को पहले ही शराब के हाथों सौंप चुके थे। तब पाठक उस छोटे से मन्दिर में, उस बड़े भारी जन-समुदाय की मन-मानी और घर जानी गर्दी के बीच, उस ज़मीन पर गिर पड़नेवाले शराबी की शोचनीय दशा का, एक चित्र अपनी आँखों के सामने खींचे! उन लोगों की इन सारी हरकतों को अपनी आँखों से देख और कानों से सुन कर, गोशाला के मन में उस समय, घृणा, भय, करुणा

हँसी, क्रोध और अचरज के भाव पैदा हो आये। बड़ी देर तक वह अपने मन को मार कर के बैठ रहा। अन्त में, उस से न रहा गया। और, वह खिलखिला के हंस पड़ा। शराबियों ने उसे अपना भारी अपमान समझा। और, उसे पहले तो खूब ही औंधे-सौंधे हाथों लिया; और पीछे, हाथ पकड़ कर उसे मन्दिर के बाहर निकाल पटका। गोशाला ने उसे अपने किये का प्रतिफल समझा। और, कुछ देर तक चुप चाप अपने अंगों को सिकोड़ कर बाहर पड़ा रहा। जब वह बाहर पड़े पड़े खूब ही थर्राने लगा और अपने दांतों से जाड़े की भयंकरता के कारण कटाकट बजाने लगा, तब तो उन में से कुछेक लोगों का हृदय करुणा से तनिक पसीजा। उन्हों ने अन्य लोगों से कह सुन कर गोशाला को एक बार अन्दर ले लिया। ऐसे पूरे तीन बार तक, उस ने किसी न किसी नये प्रकार से, उन लोगों का अपमान कर के उन के मन को दुखाने की कुचेष्टा की। और, वह तीनों बार बाहर घसीट कर डाल दिया गया और तीनों बार फिर अन्दर भी ले लिया गया। परन्तु वह अपनी इस चाल को यों सीधेपन से छोड़नेवाला ही कब का था? सच है, "हिता हित विवेक से शून्य नासमझ मनुष्य को समझा कर सुपथ पर लाना बहुत आसान काम है। उचित और अनुचित बात का ज्ञान रखनेवाले ज्ञानवान् मानव को राज़ी करना तो और भी आसान बात है। परन्तु जो आदमी अल्पज्ञ है; अपने पास थोड़े से ज्ञान को रख कर के ही, जो अपने आप को सर्वे-सर्वा समझने की झूठी धृष्टता करता है, प्रायः उसे तो स्वयं प्रकृति भी सीधे रास्ते पर एकाएक नहीं ला सकती। पानी से आग को बुझाया जा सकता है; छाते से धूप को रोक सकते हैं; तेज अंकुश के द्वारा श्रेष्ट और बलवान् हाथी को भी वश में किया जा सकता है, डंडे के जोर से दुष्ट बैल और गधे को क़ाबू में करना भी एक आसान सी बात है; तरह तरह के रोग भी नाना प्रकार की चिकित्साओं से दूर किये जा सकते हैं; और विविध प्रकार के मंत्रों से विष भी उतारा जा सकता है; परन्तु अल्पज्ञ ढोंगी पुरुषों को समझा कर सुपथ पर लाना, शास्त्रों की शक्ति के भी बाहर की बात है।" अस्तु।

चौथी बार फिर उस ने वही शरारत की। इस पर कुछ लोगों ने उसे कठिन से कठिन किसी शारीरिक दंड के देने की बात ठानी और वे उतारू भी हो गये। परंतु कुछ विचारवान् लोगों ने उन्हें ऐसा करने से यह कह कर रोक दिया, कि "भाई! तुम किस को दंड देना चाहते हो? इस में कुछ मनुष्यत्व हो, तब तो

तुम्हारे दंड का इस के और तुम्हारे लिए कुछ मूल्य भी है। यह तो बेचारा अपनी आदत से लाचार है। अतः दया का पात्र है! इस पर क्रोध करना तो, मानो, जीते-जागते अपने आप को जलती हुई चिता में डालना है!" तब उन लोगों ने उसे मन्दिर के एक कोने में पटक रक्खा। यों, नाच-रंग मनाते हुए, भोर होने के थोड़ा ही पहले, वे लोग सब के सब अपने अपने घरों की ओर चले गये। गोशाला ने भगवान् के सम्मुख, फिर अपनी फ़रियाद पेश की। भगवान् ने उसे इस बार फरमाया कि तू क्षमाशील बन।

प्रभु वहाँ से विहार कर हरिद्रु नामक एक गाँव के बाहर, हरिद्रु नामक एक वृक्ष के नीचे आ कर ठहरे। और, खड़े हो कर ध्यानस्थ हो गये। थोड़ी देर में, उसी मार्ग से हो कर एक सार्थवाही (बड़ा भारी व्यापारी) श्रावस्ती को जा रहा था। हरिद्रु गाँव के निकट पहुँचते पहुँचते उसे शाम पड़ चुकी थी। तब तो वह भी उसी वृक्ष के नीचे, एक बाजू में ठहर गया, जहाँ भगवान् खड़े खड़े ध्यान लगा रहे थे। उस ने सोचा, "ये दोनों साधु मेरे लिए रात-भर बिना दामों के चौकीदारों का काम बजावेंगे। और, मैं सुख-पूर्वक निश्चिन्त हो कर सो रहूँगा। ठंढ के दिन थे। और, स्थान भी जंगल का था। आग अपने पास में जला कर, थरथराते हुए किसी तरह रात उस ने वहाँ बड़ी ही मुश्किल से काटी। प्रातः काल में सूर्योदय के होते ही, आग को बिना बुझाये, वह तो वहाँ से श्रावस्ती की ओर चल पड़ा; और आग फैलते फैलते प्रभु के पैरों के पास जा लगी। मानों, वह आग भी उस तप और तेज से युक्त महापुरुष के चरणों को चूम कर, अपने को कृतकृत्य करना चाहती थी। ध्यानमग्न प्रभु ने उसे आगे बढ़ते हुए ज़रा भी न हटका। वे तो ज्यों के त्यों ध्यान-मग्न हो कर, एक अचल और निर्जीव पदार्थ की भांति, प्रसन्न वदन से खड़े रहे। वे न तो तिल-मात्र ही इधर उधर हटे; और न ध्यान ही किसी प्रकार उन का भंग होने पाया। प्रभु का ध्यान पूर्ण हुआ। गोशाला ने प्रभु के पैरों को आगी से जला देखा। और, उन्हें अपने पैरों की ओर देखने को कहा। प्रभु ने उत्तर में गोशाला से कहा, "हे गोशाला! इस से, मुझे कोई हर्ष और शोक हो तो भी क्यों? यह तो कृत कर्मों का भोग है। प्रसन्नता-पूर्वक उसे भोगना ही चाहिए। अगर इस बार मैं ने इन्हें न भोग लिया, तो ये अपने ब्याज समेत प्रति दिन बढ़ते ही जायँगे। अतः बिना किसी हिचकिचाहट के मुझे आज (इस जीवन में) इन का खाता पूरा

कर देना चाहिए।" गोशाला ने उस समय प्रभु के चेहरे पर, एक अपूर्व गम्भीरता, अलौकिक शांति और दमकते हुए तेज की आभा को देख, उस ने मन ही मन प्रभु की सहनशीलता और कर्म-मीमांसा को कई बार सराहा। प्रभु की ऐसी रहनि को देख कर, वह भी उसी प्रकार अपने जीवन को बनाने की भावना, अपने मन में करने लगा। इस के पश्चात् प्रभु ने यहाँ से विहार कर दिया।

गोशाला का प्रभु से पृथकत्व

रास्ते में, इस बार, प्रभु लांगल, चोराक, आदि कई स्थलों की भूमि को स्पर्श करते हुए, कलम्बुक नामक एक गांव की ओर प्रस्थान कर रहे थे। अभी प्रभु रास्ते ही में थे, कि इतने ही में, कलम्बुक के अधिपति मेघ और कालहस्ती, इन दो भाइयों में से एक (कालहस्ती) भाई, कुछ सैनिकों को अपने साथ लिये हुए इधर से निकला। उन लोगों को, गोशाला सहित प्रभु सामने मिले। कालहस्ती ने उन्हें साधु वेषधारी चोर समझा। तब तो चट उस ने अपने सैनिकों को उन्हें, उस के पास, पकड़ लाने की आज्ञा दी। सैनिकों ने वैसा ही किया। कालहस्ती उन्हें अपने साथ पकड़े हुए अपने भाई मेघ के पास लाया। यह वही मेघ था, जो किसी दिन भगवान् के पिता के यहां एक सेवक के रूप में रह चुका था। उस ने उसी काल भगवान् को पहचान लिया; और उन्हें बन्धन-मुक्त कर, सैकड़ों तरह से क्षमा-याचना की। प्रभु ने उन लोगों को क्षमा-प्रदान की। प्रभु ने तब वहां से आगे की ओर जाने के लिए विहार किया। गोशाला, जो भी प्रभु के समझाने-बुझाने पर, इन नाना प्रकार के कष्टों को सहन करता जाता था; तब भी अन्दर ही अन्दर, वह इन प्राण-नाशक यातनाओं से अब उकता ज़रूर गया था। वह इन यातनाओं से अब परित्राण चाहता था। और, कोई उचित मार्ग ढूंढ़ रहा था। उस की इस आन्तरिक इच्छा के अनुसार, उसे एक दिन वह मार्ग भी मिला। तब पाठक पूछेंगे, कि क्या उस को मोक्ष की प्राप्ति हो गयी? और, वह भी क्या प्रभु से पहले? नहीं, नहीं! पाठको! मोक्ष एक बड़ा ही बहुमूल्य पदार्थ है। बहुमूल्य भी ऐसा, जिसका कि हर एक व्यक्ति आसानी से मोल नहीं चुका सकता। वह ऐसे-वैसे जन-

साधारण को, रास्ते चलते हुए को कभी नहीं मिलती। उस के लिए उतनी ही कड़ी क़ीमत चुकानी पड़ती है। कभी कभी तो जन्म जन्मान्तरों तक प्राणों की बाज़ी भी उस को हथियाने के लिए लगा देनी पड़ती है। तब आप पूछेंगे, कि फिर गोशाला को मिला कौनसा मार्ग? पाठको! "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।" जैसी उस की भावना थी, वैसा ही उसे फल मिला। वह संसार के दुःखों, क्लेशों और यहां की यातनाओं को भोग कर उन से पीछा छुड़ाने का पक्षपाती नहीं था। वह, तो इन से भाग कर, अपने आप को इन के भयंकर आक्रमण से बचाना चाहता था। उस के मन की मुराद पूरी हुई। उसे प्रभु से विलग हो कर भाग जाने का मार्ग एक दिन मिला। प्रभु के साथ विहार करते करते, रास्ते में, एक दिन, उस ने दो मार्ग देखे। उसी स्थान और समय पर वह प्रभु से बोला, " भगवन्! अब तो इन विविध प्रकार की असह्य यातनाओं से मैं कंठ तक घबरा उठा हूँ। मैं बहुत चाहता हूं, कि आप का साथ कभी न छोड़ूं। परन्तु आप के साथ में रहने पर, कितनी ही बार मैं ने गालियां खायीं; नाना भांति का अपमान सहा; और पिटा, वह तो योंहीं गया। मैं इस प्रकार की भांति भांति की वेदनाओं को अब अधिक काल तक नहीं सहन कर सकता। अतः अब मैं आप से विलग होकर अपने भाग्य का स्वयमेव निपटारा करना चाहता हूं।" यों कह कर, वह प्रभु से विदा मांगते हुए, भगवान् के विपरीत दूसरे मार्ग से जुदा हो गया। प्रिय पाठको! प्रभु से विलग हो जाने पर गोशाला की कैसी दुर्गति हुई होगी? जिस पुरुष को महापुरुषों के चरणों की जगत् को शांति, क्षमा, सहनशीलता, कर्म-मीमांसा और अहिंसा का पाठ पढ़ाने वाले महापुरुषों के पाद-पद्मों की, छत्र-छाया में रहते हुए भी भांति भांति के उपसर्ग सहने पड़े। वहां भी वह उन के आक्रमण से न बच सका। उस का, सुख की खोज में, उपसर्गों से मुक्ति पाने के मनसूबे में, अन्य संसारी जन की शरण में जाना, कितनी मूर्खता है? वह कितना अभागा है? कर्म-मीमांसा के विषय में कुदरत के क़ानून से वह कहां तक अनजान है? ज़रा इस पर, एक क्षण के लिए आप विचार कीजिये। और तब आप निष्कर्ष निकालिये, कि प्रभु से विलग हो जाने पर, इस भूलभुलैयादार संसार की तंग गलियों में, कहां कहां और कैसे कैसे भयंकर कष्ट उस ने उठाये होंगे! उन का भी अनुमान अपने विवेक के बल आप कुछ कीजिये।

पाठकों की आँखों में तत्कालीन भगवान्.

परन्तु पाठको ! इस से आप यह अनुमान न करने लग जाइयेगा, कि "गोशाला की भांति तब क्या प्रभु भी उपसर्गों से अपना पीछा छुड़ाना चाहते थे ?" नहीं ! कदापि नहीं ! प्रभु का तो उद्देश ही कुछ निराला था। वे अपने समय के, और संसार के भावी विवेक-शील प्राणियों को, या विवेक-बुद्धि से काम लेने की इच्छा रखनेवाले व्यक्तियों को, मोक्ष-धर्म की कठिनाइयाँ, खोल खोल कर समझा देना चाहते थे। उपसर्गों की कसौटी पर बार बार कसे जाने के कारण, वे पूरे सौ टंची सोने के रूप में सिद्ध हो चुके थे। वे प्राणी मात्र के प्रति क्षमा का उपयोग करते थे। किसी के भी प्रति, द्वेष-भाव तो उन के मन में कभी था ही नहीं। वे आत्मावलम्बी, और आत्मविश्वासी बन कर, कर्मों के बड़े से बड़े खाते को उसी अपने जीवन में चुका देना चाहते थे। इस काम में तनिक भी किसी की सहायता कभी न चाहते थे। उन का आदेश था, कि जिस प्रकार, शरीर की पूर्ण नीरोगता के लिए, कटु ओषधियों का सेवन सर्वथा आवश्यक और उपादेय है; ठीक उसी प्रकार, मोक्ष के राज-मार्ग में आरूढ़ होने के लिए, शारीरिक उपसर्गों की भी संसार में पूरी पूरी आवश्यकता है।

पाठको ! अध्यापक लोगों की चटशालाओं को तो आपने अवश्य देखा ही होगा। उन में जा कर, जब संसार के साधारण जीवन को चलाने के, नमक, तेल, लकड़ीवाले ज्ञान को प्राप्त करने में भी, तरह तरह के शारीरिक दंडों को सहना पड़ता है; तब एक, दो, दश नहीं ! वरन् अनन्त ज्ञान को प्राप्त करने में, यदि भगवान् को संसार में नाना भांति के शारीरिक उपसर्ग, परिषह और क्लेश भोगना पड़े, तो इस में अचरज, दुख, करुणा, और क्लेश की बात ही कौनसी है ? हम कह आये हैं, कि जो वस्तु जितनी ही अधिक महत्त्वपूर्ण होती है, उस की उतनी ही ऊँची क़ीमत भी ख़रीददार को अवश्य चुकानी पड़ती है। जिस प्रकार, सोने के गुणों का विकास, बार बार अग्नि पर चढ़ाने से होता है; उसी प्रकार, प्रत्येक सांसारिक आत्मा भी, कष्टों के महासागर को पार कर के ही, परम विकासमयी बन सकती है।

भगवान् महावीर ने एक नहीं, दो नहीं, दश नहीं, न मालूम कितनी और कैसी कैसी भयानक आपत्तियां इस प्रकार सही होंगी? कितने परिषह और कितने उपसर्गों का हंसते हंसते स्वागत उन्हों ने इस तरह किया होगा? परन्तु कभी भूल कर भी वे अपने कर्तव्य, धर्म, जीवन के आदर्श उद्देश, और धीरज के विकटतम मार्गों से विचलित न हुए। विचलित भी क्यों होते? पहले एक साधारण क्षत्रिय राजकुमार होने की अवस्था में भी जब वे धीर, वीर, और गम्भीर बने रहते थे, तब अब तो वे एक बड़े ही असाधारण साम्राज्य के स्वामी और शाहंशाह थे। फिर डरते ही क्यों और किस से? सद्-असद् का विचार करने वाली उन की बुद्धि ही, अब उन के साम्राज्य के महा मन्त्री के पद पर थी। अटल धैर्य ही उन की त्रिलोकों को विजय करने वाली निर्भीक सेना थी। संकल्प–विकल्पों से रहित शांति ही उन का स्थायी और सदा भरा-पूरा रहनेवाला भंडार था। चारों ओर अटल रूप से और समानता से फैला हुआ, जो उन का आत्म प्रभाव था, वही वैराग्य, उन का साम्राज्य था। कहने का भाव यह है, कि वे अपने समय के अपूर्व महा पुरुष थे। और, अपने संयम के बल से सब प्रकार से बलवान् होने के कारण, किसी बात की कोई वासना भी उन्हें न रही थी। इसलिए वे शाहंशाहों के भी शाहंशाह थे। पाठको! आप यह तो जानते ही हैं, कि प्रायः प्रजा राजा से डरा करती है। और, राजा को भी अपने शत्रुओं का कुछ न कुछ डर सदा सर्वदा बना ही रहता है। परन्तु हमारे प्रभु का संयम और वैराग्य-रूपी साम्राज्य ही एक ऐसा साम्राज्य था जिस में चराचर–मात्र के लिए एकसी समता को पूर्ण स्थान प्राप्त था। वे किसी को भी अपने अनुकूल और प्रतिकूल कभी नहीं जानते, या मानते या अनुभव करते थे। जिस प्रकार वृक्ष, अपने को जल से सींचने वाले तथा उन्हें काटनेवाले दोनों ही के साथ, उन्हें अपने फल, फूल, छाया, आदि दे कर, सदा समान भाव रखते हैं, उसी प्रकार वीर प्रभु ने उन के साथ उपकार करने वाले और अपकार करने वाले, दोनों ही के साथ एक-सा प्रेम-भाव और कल्याण का बर्ताव किया था। उन्हों ने अपने आदर्श तप और त्याग के द्वारा संसार को पद पद पर बताया, कि अनन्त आत्मिक सुख की प्राप्ति के निमित्त जिस शरीर को कठोर से कठोर तप और संयम-शीलता, आदि का दंड देना चाहिए, न मालूम क्यों फिर मनुष्य रात-दिन उस की सेवा में और नाज–नखरे में लगे रहते हैं? शकर की चाहना करनेवाले

के पास यदि गन्ना हो, तो वह कभी उस की पूजा नहीं करता। वह तो उसे पेर-कर, और आग पर कई बार चढ़ा कर ही उस से शकर की प्राप्ति कर सकता है। उसी प्रकार शरीर को तप से तपा कर के ही, निज सत्य स्वरूप की प्राप्ति,, उस के द्वारा की जा सकती है। भगवान् ने अपने त्याग के द्वारा संसार को यह सुन्दर पाठ पढ़ाया था, कि धन की कोई विशेष जातियां पृथ्वी में नहीं हैं। जिसे जो प्यारा है, उस के लिए वही धन है। अज्ञानी, स्वार्थी, लोभी और सत्य-मार्ग से भूले-भटके पुरुषों के विचार में, जैसे यहां की विशेष विशेष वस्तुएं ही धन मानी गयी हैं; ठीक उसी प्रकार, लोक-कल्याण कारक, देहाभिमान शून्य महा पुरुषों के लिए, सब देश, सम्पूर्ण काल, और सम्पूर्ण प्राणियों का सर्वत्र सुलभ 'त्याग' ही सर्व श्रेष्ठ और स्थायी धन है। उन्हों ने अपने ऐहिक जीवन की दैनिक कार्यावली से जगत् को बताया, कि निर्वाण-पद की प्राप्ति के लिए संयम की, आवश्यकता है। और, उस संयम के लिए कठोर तप वाञ्छनीय है। पाठक कदाचित् आप यहां पूछेंगे, कि सांसारिक नाना प्रकार के भोग और ऐश्वर्यवाले, दिखने में अति ही सुन्दर सुखों को छोड़ कर, आत्म-स्वरूप या निर्वाण पद के परोक्ष सुख की ओर हमारा मन कैसे और क्यों जाने लगेगा ? इस पर, उन के क्यों का जवाब तो यों है, कि उधर गये बिना आज तक किसी का निस्तार नहीं हुआ। और तो और उधर गये बिना ऐहिक सुख-साधन भी प्राप्त नहीं होते। यदि प्राप्त भी पूर्व जन्मों के कर्मों से कभी हो जाते हैं, तो उन का विलसना नहीं बन सकता। वे उलटे दुखप्रद और भार-रूप दिख पड़ते हैं। फिर, उन के 'कैसे' के लिए हम उन्हें कहेंगे, कि उच्च भावनाओं से, वे इस राज-मार्ग पर चलने के लिए सामर्थ्य और सद्रुचि प्राप्त कर सकेंगे। अस्तु।

प्रभु का पांचवां चातुर्मास

गोशाला के विलग हो जाने पर, प्रभु ने किसी भी प्रकार का कोई भी हर्ष-शोक न मानते हुए, वहाँ से आगे की ओर क़दम बढ़ाये वे तब भद्दिलपुर की बस्ती में पधारे। पाँचवाँ चातुर्मास आपने यहीं किया। इस बार भी आप ने चार मास-क्षमण की कठोर तपस्या की। चातुर्मास के पूरा हो जाने पर, प्रभुने

धूप और छाया, सरल मार्ग और बीहड़ मार्ग, उपसर्ग की अवस्था और अनुपसर्ग की दशा, प्रशंसक और निन्दक, सभी के प्रति समान भावों को अपने हृदय में रखते हुए, वहाँ से विहार किया। जाते समय लोगों ने प्रभु के साथ बड़े ही श्रद्धा और सत्कार का व्यवहार किया।

शालिशीर्ष में भगवान् और व्यन्तरी का उपसर्ग

प्रभु विचरण करते करते तब शालिशीर्ष नामक गाँव में आ कर, एक बगीचे में ठहरे। शीत-काल की जवानी का समय बीत रहा था। थोड़ी देर के बाद ही प्रभु वहाँ ध्यानस्थ हो गये। इस बाग़ में एक व्यन्तरी का निवास था। कहा जाता है, कि भगवान् जब त्रिपृष्ट वासुदेव के भव में थे, तब वही व्यन्तरी उन की स्त्री थी। उस समय उस का विजयवती नाम था। किसी कारणवश उस भव में त्रिपृष्ट के द्वारा उसे कई प्रकार के कष्ट पहुँचे थे। पराधीनता में होने के कारण सारे कष्टों को उस ने सहा भी था। आज वह अपने उसी भव का, व्याज समेत बदला चुका लेने के लिए, भगवान् के पास पहुँची है। भगवान् तो स्वयं चल कर ही, इसी ख़ातिर उस के घर आये हैं। कर्मों का व्यापार और व्यवहार कैसा विचित्र और कितनी कड़ाई का है? अब उस व्यन्तरी ने कई प्रकार के उपसर्गों का प्रयोग भगवान् के खुले अंग पर करना शुरू किया। हम कह चुके हैं, कि हेमन्त की कड़ाके की ठंढ तो, अपना तांडव नृत्य उस समय संसार को दिखा ही रही थी। इस पर भी, उस व्यन्तरी ने उस बग़ीचे के आसपास अपनी माया से, हिमके समान ठंढी बयार, आधी रात के समय चलाना और भी प्रारम्भ कर दिया। उस से भी प्रभु को विचलित होते जब उस ने न देखा, तब तो हिम के समान गार पानी के बूंदों की टपाटप वर्षा उस ने प्रभु के शरीर पर की। यों, एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा, कई प्रकार के परिषह उस ने भगवान् को पहुंचाये। परन्तु प्रातःकाल हो जाने पर भी, उस ने भगवान् को ज्यों के त्यों प्रसन्न वदन से ध्यान-मग्न देखा। यह देख कर, उस के मन में क्रोध, भय, और अचरज कई प्रकार के भाव, एक ही साथ पैदा हुए। अन्त में, उस ने उन्हें एक बड़े

ही महापुरुष और पहुँचे हुए तपोधनी व्यक्ति मान कर, वह उन के सामने आ कर प्रकट हुई। प्रभु के सम्मुख आते ही, उस के सारे मानसिक विकार, जो उन के प्रति थे, एक दम प्रेम और करुणा में परिणत हो गये। तब तो वह बड़ी ही लजायी। उस ने प्रभु के सामने अपने असत् व्यवहारों पर पश्चात्ताप प्रकट किया और उन से उन के लिए क्षमा चाही। प्रभु ने उसे क्षमा प्रदान की। फिर, वह व्यन्तरी वहीं की वहीं आंखों से ओझल हो गयी।



प्रकरण—पन्द्रहवां

गोशाला का पुनरागमन और छठा चातुर्मास

भगवान् ने उस व्यन्तरी के अदृश्य हो जाने के कुछ ही समय के बाद, शालिशीर्ष गांव से विहार कर दिया। वे तब भद्रिकापुरी में पधारे। यहां आते आते वर्षाकाल प्रायः निकट आ लगा था। इतने में गोशाला भी इधर उधर से घूमता घामता और भांति भांति के कष्टों तथा असह्य अपमानों को सहता हुआ, प्रभु की फ़िराक में भद्रिकापुरी में आ पहुँचा। जब तक मनुष्य पकान्न खाता हुआ अपने जीवन को बिताता रहता है, उसे पकान्न के वास्तविक स्वाद और गुणों का कभी पता नहीं चलता। परन्तु जब वह उन्हें छोड़ देता है; या भाग्य से वे उस के हाथ से छूट जाते हैं; और उस समय नाना प्रकार के कड़वे, कसैले, सूखे रूखे भोजनों से उस का पाला पड़ता है, तब उसे उन पकानों का स्वाद और गुण भली भांति जान पड़ता है। गोशाला के लिए भी यही बात कही जा सकती है। जब तक, पहली बार, वह भगवान् के साथ में था, उस के हृदय में, उस के पूर्व कृत अशुभ कर्मों के कारण, भगवान् के गुणों को पहचानने की शक्ति का प्रायः अभाव ही सा रहा था। अब उस ने महसूस किया, संसार में जगह जगह ठोकरें खा कर जाना, कि यदि उस की आत्मा में किसी प्रकार का कोई विकास हो सकता था, तो वह केवल प्रभु की शरण में रहने ही से हो सकता था। सच्ची भावना के अनुसार साधन भी मिल ही जाते हैं। प्रभु के पास

आ कर गोशाला ने अपने अपराधों के लिए क्षमा चाही। परम कृपालु प्रभु ने उसे फिर भी अपना लिया। प्रभु के ऐसे करुणापूर्ण स्वभाव को प्रत्यक्ष देख कर, आज उस ने जाना संसार में रह कर कदाचित् ही किसी की सच्ची तृप्ति हुई हो। यदि संसार में रह कर ही वह किसी को मिल गयी होती, तो आज जगत् का रंग ही कुछ और होता। सच्ची तृप्ति का विषय तो केवल लोक कल्याण कारक महापुरुषों का समागम है, या आत्म-स्वरूप का निरन्तर चिन्तवन है। परन्तु पहले की सहायता के बिना, दूसरे की प्राप्ति तो बिलकुल ही असम्भव है। इन्हीं को पाकर, जीव सदा के लिए निशोक हो सकता है। और, जन्म जन्मान्तरों के आवागमन से पूरा पूरा छूट जाता है। पहले प्रभु के श्री मुख से कई बार कहने पर भी उसे सूझ न पड़ा था। परन्तु आज उसे ज्ञात हुआ, कि दुःख ही मनुष्यत्व के विकास का सच्चा और एकान्त साधन है। वह दुःख ही है, जिस में मनुष्य का जीवन पूर्ण रूप से खिल उठता है। जैसे कि सोने का रंग उसे बार बार कठिन से कठिन आँच में रखने से ही, विशेष चमकीला बनता जाता है।

वर्षा काल के पास आ लगने से, प्रभु ने छठे चातुर्मास का इसी भद्रिका पुरी में निर्गमन किया। वहां रह कर प्रभु ने नाना भांति के अभिग्रहों को धारण किया था। चातुर्मास के व्यतीत हो जाने पर, प्रभु ने यहां से मगध-प्रान्त की ओर विहार किया।

आलम्भिका में प्रभु का सातवां चातुर्मास.

भगवान् ने भद्रिकापुरी से विचरण कर के मगध प्रान्त की भूमि में चरण रक्खे। लगातार आठ मास कई स्थानों में प्रभु, यहां विचरे। इस अवधि में उन पर किसी भी प्रकार का कोई भी उपसर्ग नहीं हुआ। आलम्भिका नगरी में पहुंचते पहुंचते, वर्षा-काल भी निकट ही आगया था। आप वहीं बिराज गये। यों, सातवां चातुर्मास आप का यहां पर हुआ। अभिग्रह और ध्यान ये तो सदा से आप के साथी थे। इस चातुर्मास में प्रभु ने एक एक मास का अभिग्रह, मौन के साथ, धारण किया था। यहां जिस किसी भी आसन से वे एक बार खड़े रह गये होते, उसी अवस्था में खड़े खड़े, उन के कई रात दिन, निर्विघ्न रूप से बीत जाते थे। एक दिन यह चातुर्मास भी पूर्ण हुआ। प्रभु ने यहां से विहार किया।

आठवां चातुर्मास और व्यन्तरी का उपद्रव

आलम्भिका से विहार करने पर प्रभु ने कई छोटी बड़ी बस्तियों की भूमि को अपने पावन चरणों से स्पर्शा। अन्त में वे, बहुशाली नामक एक गांव में पहुंचे। उस के निकट ही शालीवन नामका एक उपवन था। उस उपवन को एकान्त, शान्त और ध्यान के उपयुक्त देख कर, आप ने उसी में जाकर एक वृक्ष के नीचे अभिग्रह धारण कर के और ध्यान-मग्न हो कर के आप वहां खड़े हो गये। गोशाला, प्रभु से कुछ दूरी पर चुपचाप बैठ रहा। उसी वृक्ष पर शालामी नाम की एक व्यन्तरी रहती थी। भगवान् का उन के किसी भव में, उस के किसी भव के साथ वैर रहा होगा। व्यन्तरी को अपना बदला लेने का यह समय उपयुक्त सूझा। उस ने तत्काल ही, मौका पा कर, प्रभु के शरीर पर नाना प्रकार के उपसर्गों का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। जब वह अपने एक प्रयोग में अपने को असफल होते देखती, चट दूसरे प्रयोग को काम में लाती। यों, अनेकों प्रकार की असहनीय बाधाएँ उस ने भगवान् को दीं। परन्तु भगवान् ने सम भावों से सभी का स्वागत किया। और उस के ऋणानुबन्धन से वे मुक्त हुए। उन्हों ने सोचा, लिया हुआ ऋण आगे पीछे कभी न कभी तो चुकाना पड़ता ही है! लिये हुए कर्ज़ को बिना ब्याज समेत, चुकाये, कोई बड़े से बड़ा व्यक्ति साहूकार बनने का दावा कभी नहीं कर सकता। दर्शनी हुंडी कभी अटकायी नहीं जाती। यदि किसी साहूकार ने उसे कभी अटकाने की ज़रा भी कोशिश की; या उस का पैसा चुकाने में ज़रा भी आनाकानी उस ने की; बस, उस समय न तो उस हुंडी का मोल ही कोई रह पाता है; और न उस साहूकार की कोई साख (credit) ही संसार में रह जाती है। यह समझ कर, भगवान् ने भी अपने पूर्व भव के किये हुए कर्मों का कर्ज़ा—बदला, तत्काल दिल खोल कर चुकाया। मानो, उन्हों ने उस व्यन्तरी का आह्वान कर उसे कहा हो, "व्यन्तरी! तू अपना हिसाब भी आज पाई पाई का चुकाले। जब तक तू मुझे अपने ऋण से मुक्त न कर देगी, मेरी मुक्ति मेरे नज़दीक भी न फटकेगी। तेरा यह उपसर्ग मुक्ति के राज-मार्ग में मेरा बड़ा भारी सम्बल है। मुझे किंचित् मात्र

भी तुझ से द्वेष नहीं है ।" भगवान् के शान्ति, क्षमा, सहनशीलता, अपूर्व धैर्य और संयम, आदि सद्गुणों के सामने अन्त में उस पाप-मार्ग में प्रवृत्त व्यन्तरी ने हार मानी। उसे अपनी शक्ति पर बड़ा भारी गर्व था। अपने को पराजित होती हुई देख, उसे अपनी शक्ति पर घृणा हुई। वह तत्काल ही भगवान् के निकट आ कर, क्षमा-याचना उन से करने लगी। और, वहां से लोप हो गयी।

गोशाला भी साथ साथ में थोड़ा बहुत उपसर्ग सहता रहा। पर इस बार इन उपसर्गों को, वह कुछ प्रेम के साथ सहन करता था। पहले के समान द्वेष का भाव उन के प्रति अब उस के मन में प्रायः नहीं रहा था। इस बार उस की धारणा हो चली थी, कि इन उपसर्गों के सहन में ही, अपने गुणों के विकास की वास्तविकता का निवास है।

भगवान् ने यहाँ से तब विहार किया। राजगृह के निकट पहुँचते पहुँचते, वर्षा काल निकट आ पहुँचा था। भगवान् ने अपने आठवें चातुर्मास को राजगृह ही में मनाना निश्चय किया। और, वे वहीं विराज गये। वे यहाँ अभिग्रह—पूर्वक चार महीने की तपस्या धारण कर के और ध्यानस्थ हो कर के रहे। यहाँ उन्हें किसी भी प्रकार का कोई उपसर्ग सहन न करना पड़ा। सम्पूर्ण वर्षाकाल बड़ी ही शांति से बीता। चातुर्मास के पूरा हो जाने पर, प्रभु ने वहाँ से विहार कर दिया। गाँव के बाहर आ कर, आहार-पानी उन्हों ने लिया। प्रभु ने और अधिक काल तक इस प्रान्त में रहना अभी ज़रा भी ठीक न समझा। वे मन ही मन कहने लगे, "यहाँ आव-भगति का ज़ोर बहुत ही अधिक है। वर्तमान् के लिए, यह इस प्रकार की आव-भगति, मेरे मुक्ति के पथ में बड़ी ही घातक है। अभी मुझे अपने कई कर्मों का हिसाब निपटाना है। यहाँ रहने से नियत अवधि में उन का भुगतान कर सकना बिलकुल असाध्य जान पड़ता है। इस से तो यह बहुत ही अच्छा हो, कि किसी अनार्य या अज्ञातप्रदेश में चल कर, अपने कर्मों का भुगतान शीघ्र से शीघ्र किया जाय। वहीं पर, मैं अपने उन मित्रों को पा सकता हूँ, जिन्हों ने समय समय पर—जन्म जन्मान्तरों में—कर्मों का कर्ज़ा मुझे दिया था। उन्हीं का कर्ज़ा मुझे अभी तक साल रहा है, और मुक्ति के मिलने से मुझे दूर रख रहा है।" यह सोच कर, प्रभु ने वहाँ से ऐसे ही किसी अज्ञात प्रदेश में जाना निश्चय कर लिया। तब उन्हों ने वहाँ से विहार किया।

नौवां चातुर्मास और प्राणनाशक उपसर्ग.

अपने निश्चय के अनुसार विचरण करते करते, प्रभु अब उस अनार्य देश में पहुँचे, जहाँ के लोग मन, वचन, और कर्म से घोर हिंसक थे। ताड़ना, मारना, और भांति भांति के कष्ट देना उन की दिनचर्या थी। इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने में, इस प्रकार के नीच कर्मों के द्वारा अपनी जीविका को चलाने में, उन्हें रंचमात्र भी हिचकिचाहट नहीं होती थी।

पाठको ! देखा, वैराग्य का तंग मार्ग ! तुम लोगों के आज के विचारों में और प्रभु की विचार-धारा में किस आकाश—पाताल का अन्तर है ! कहाँ तो, तुम लोग सब प्रकार की शक्तियों से हीन-दीन हो कर के भी, संसार के क्षण-भंगुर सुखों की खोज में, पद पद पर अनर्थ से भी अनर्थ का काम कर बैठते हो ! यहाँ के ज़रा ज़रा से सुख और प्रभुता के लिए, संसार में चारों ओर कितनी मारामारी ज़ोरों से आज मच रही है ! तुम पाप या धर्म, न्याय या अन्याय, छल या निश्छलता, साधुता या असाधुता, अत्याचार या सदाचार, विश्वास या विश्वासघात, सुजनता या दुर्जनता, भद्रता या अभद्रता, मनुष्यता या पाशविकता, मूढ़ता या विद्वत्ता, किसी भी प्रकार से, आज अपनी क्षणिक वासनाओं की पूर्त्ति में, सुबह से ले कर रात में सोने तक, मग्न हो रहे हो। तुम्हें अपने मनुष्यत्व का ज़रा भी भान नहीं है ! दोषदर्शकों को आज तुम अपने, वास्तविक मित्र मानने के बदले, शत्रु मान बैठे हो ! मान कर के ही नहीं रह जाते हो ! उन के साथ क्रूर शत्रुता का प्रत्यक्ष व्यवहार भी आज कर रहे हो ! अपने अन्तरात्मा की आवाज़ को अपने पैरों तले रौंद कर, अपने बलभर उन का सर्वस्व नाश करने में बिना किसी हिचकिचाहट के आज जुट जाते हो ! जब तुमारे, साधारण दोष—दर्शकों ही के प्रति, उन के बदले को चुकाने के लिए ऐसा कड़ा व्यवहार तुम्हारी ओर से होता है, तब तुम्हारे शरीर को उपसर्ग आदि देनेवाले के प्रति की जानेवाली कठोरता का तो पूछना ही क्या है ! तुम्हारे ऐसे कर्मों की निर्जरा का ज़रा भी ध्यान तुम कभी नहीं करते ! तुम्हारी प्रत्येक धार्मिक क्रिया आज निदान-फल की इच्छा के आधार पर उठती है ! कहाँ तक कहें, चारों कोनों

से आज तुम चौपट्ट हो रहे हो; तुम दया के नाम पर होनेवाले कई प्रकार के ढोंग आज करने में रत हो; परन्तु दुख तो इस बात का होता है, कि अपनी आत्मा के प्रति भी तुम्हें कोई दया कभी नहीं आती ! आज मानव-रक्त से वसुन्धरा की प्यास बुझायी जाने लगी है; और उस के पवित्र क्षेत्रों को मानुषी अस्थियों के चूर्ण से उपजाऊ बनाने में मनुष्य रत देखे जाते हैं ! आज एक राष्ट्र का गौरव दूसरे राष्ट्र के सत्यानाश में समझा जाने लगा है! कैसी विषम समस्या तुम लोगों ने आज अपने कर्मों से यहाँ ला दिखायी है !

एक ओर, तो स्वार्थी मनुष्यों की यह दशा है। और, दूसरी ओर, वीर भगवान् अपने वर्तमान शरीर के कर्मों की निर्जरा करने के लिए, अपने कर्मों का खाता चुकता कर देने लेने के लिए, उपसर्ग देनेवाले या दोष-दर्शकों की खोज करते करते, स्वयं अनार्य देश में जा पहुँचे हैं ! उपसर्ग देनेवालों को वे अपना परम मित्र और हित-चिन्तक मानते हैं ! यह भगवान् जैसे धीर, वीर, गम्भीर और महापुरुषों ही का काम है । तुम भी प्रयत्न-पूर्वक सतत अभ्यास के द्वारा भगवान् के उस मार्ग का अवलम्बन, अगर चाहो तो कर सकते हो ! यह कोई बात नहीं है, कि केवल भगवान् ही उस रास्ते पर पहुँचे । और तुम नहीं पहुँच सकते । नहीं, नहीं ! वे भी एक साधारण मनुष्य से ही भगवान् बने थे । जैन धर्म का भी जगत् को यही सन्देश है, कि कोई भी हो, अपने कर्मों की निर्जरा करने पर, मनुष्य उच्च गति को प्राप्त कर लेता है । और, आगे बढ़ते बढ़ते एक न एक दिन भगवान् भी वह अवश्य बन सकता है। जिस प्रकार, एक राजा अपने प्रतिस्पर्द्धी को जीतने में सैनिकों की और एक चतुर सेनापति की सहायता चाहता है; ठीक उसी प्रकार अपने कर्म रूपी प्रतिस्पर्द्धी को जीत कर, निर्वाण-पद का सार्व-भौम-राज्य प्राप्त करने के लिए, श्रमण भगवान् महावीर, अपने शरीर को कठोर से कठोर उपसर्ग देने वाले वीर सैनिकों की खोज करते करते, आज अनार्य देश में पधार चुके हैं । हृदय की कैसी अनोखी सूझ ? मित्रता का कैसा अर्थ गाम्भीर्य ? हृदय की कितनी बड़ी विशालता ? कष्टों के सहन के प्रति कितना भारी और अपूर्व आन्तरिक अनुराग ? कर्मों की निर्जरा करने का कैसा निर्भीक और निर्दय साधन ? पाठको ! जब तक ये सभी बातें एक ही स्थान पर नहीं मिल जातीं, भगवत्-पद तब तक सदा दूर दूर ही भागता रहता है । आत्मा की मुक्ति के पहले, तुम्हें कर्मों के ऋणानुबंधन का निपटारा कर देना पड़ेगा !

क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि से मुक्त बनना पड़ेगा ! और, सब से अन्त में, संसार से मुक्त होने के लिए संयम को हृदय का हार बनाना पड़ेगा।

पाठको ! प्रभु ने जिस अनार्य देश (लाट देश) में पैर धरा है भू-प्रकृति के कारण, लोग भी क्रोधी और कर्कश तथा क्रूर स्वभाव के हैं। उन लोगों ने ज्योंहीं भगवान् को देखा, तो कौतूहलवश कोई उन पर डंडे बजाने लगे और कोई गालियों की गंदली बौछार करने लगे। कोई धूल फेंकने लगे; तो किसी ने कुत्ते ही दौड़ाना शुरू कर दिया। भगवान् ने इसे भी सहन कर लिया। कुत्ते तो, भगवान् के स्वभाव को हद से ज़्यादा सीधा समझ, बिना उन्हें काटे ही फिर गये। परन्तु कुत्तों से भी बदतर स्वभाव वाले मनुष्य अपनी मूर्खता-भरी आदतों से बाज़ न आये ! ऐसे ही क्रूर और अविवेकी मनुष्यों के मनों को, अपने आदर्श स्वभाव से सीधी राह पर लाने के लिए भगवान् वहां गये हुए थे। किसी खंडहर को ढूंढ़ ढांढ़ कर, जहां कहीं भी प्रभु जाते थे, वहीं से इधर उधर के पड़ौसियों द्वारा वे धक्का मार कर निकाल दिये जाते थे। इतना ही नहीं, कहीं वे थप्पड़ों की चुटीली मार से मारे जाते और कहीं उन्हें घूसों की मार का स्वागत सहना पड़ता ! नाना भांति के शारीरिक दंड देते समय, जब वे लोग भगवान् से उन का परिचय देने को पूछपाछ करते, और मौन या ध्यान के कारण, जब बदले में प्रभु के मुख से एक शब्द भी वे न सुनते, तब तो शारीरिक दंड में और भी अधिक कड़ाई वे लोग, प्रभु के साथ, व्यवहार में लाते। इतने पर भी, प्रभु को रोते या चिल्लाते या मन-मलीन करते भी वे न देखते, तब तो वे लोग उन्हें एक पक्का चोर समझ कर, उन के शरीर को बांध देते और कोड़ों की मार से उन्हें निर्दयता के साथ मारते ! तब भी प्रभु ज्यों के त्यों शान्त और प्रसन्न-वदन जान पड़ते थे। उन समस्त कष्टों को प्रेम-पूर्वक समभाव से वे सहन करते। कभी भी, उन उपसर्ग देने वालों के साथ, राग, द्वेष के भावों का ज़रा भी प्रदर्शन वे करते हुए नज़र न आते। कभी कोई खंडहर उन्हें मिल जाता, तो वे उसी में ठहर जाते, नहीं तो, किसी वृक्ष के नीचे ही खड़े खड़े या बैठे बैठे, नियत काल को काट देते। इस बीच, तपस्या की पूर्ति पर, जैसा भी बासी, सूखा, लूखा, सड़ा या गला भोजन भगवान् को मिल पाता, खा रहते। अथवा केवल आटा ही फांक लेते और पीछे ज्यों के त्यों खड़े होकर ध्यानस्थ हो रहते थे। इस पर भी विशेषता यह होती थी, कि उस भूमि के कड़ाके के शीतकाल में, खुले

मैदान के बीच नंगे बदन, वृक्षों की शीतल छाया और जलाशयों के पास खड़े हो कर और हाथों को पसार कर, भगवान् कायोत्सर्ग पूर्वक ध्यान-मग्न होते थे। उष्णकाल का ध्यान और भी विचित्रता लिये हुए होता था। वहाँ का भयंकर घाम और लू-भरी झंझा वायु के बीच, भगवान् तपे हुए पत्थर के शिला-खण्डों के ऊपर खड़े हो कर, एक या दो नहीं, वरन् कई दिनों को अखण्डित रूप से ध्यान लगाये बिता देते थे। यों, विचरण करते करते और अपरिमित कायिक तथा मानसिक कष्टों को प्रसन्न-चित्त से सहते सहते, प्रभु ने अपना नौवाँ चातुर्मास उसी लाट देश में बिता दिया। चातुर्मास निर्गमन करने पर प्रभु को जिन जिन उपसर्गों का सामना वहाँ करना पड़ा, उन का वर्णन कर हम अपने पाठकों को विशेष काल के लिए रुलाना और दुखित करना उचित नहीं समझते। परन्तु हाँ, उन्हें इतना अवश्य जान लेना चाहिए, कि वहाँ के उन उपसर्गों ने भगवान् के कर्मों की निर्जरा करने में, भगवान् को बड़ी भारी सहायता पहुँचायी थी। अतः उन सम्पूर्ण उपसर्ग और उपसर्ग पहुँचानेवाले प्राणियों के प्रति भगवान् ने हद से ज़्यादा अहसान माना। गोशाला ने भी भगवान् के साथ साथ सभी प्रकार के उपसर्गों को सभी स्थानों में सहा। चातुर्मास के पूर्ण हो जाने पर, प्रभु ने उस अनार्य देश से विहार किया।

गोशाला के द्वारा प्रभु की परीक्षा.

प्रभु लाट देश से विहार कर आर्य देश की ओर पधारे। पहले वे सिद्धार्थपुर के निकट हो कर निकले। तब वहाँ से कूर्म गाँव की ओर वे बढ़े। मार्ग में गोशाला तिल के एक पौधे को देख कर खड़ा रह गया। और प्रभु की परीक्षा के उद्देश्य से वह उन से पूछने लगा, "भगवन्! यह पौधा फलेगा, या नहीं?" और, इस पर जो ये सात फूल खिले हुए हैं, उन में के जीव मर जाने पर, वे फिर कहाँ जा कर जन्म ग्रहण करेंगे?" इस के उत्तर में प्रभु ने कहा, "गोशाला! यह तिल का पौधा फलेगा। और इस के ऊपर लगे हुए, फूलों के जीव यहाँ से मर कर, और इसी पेड़ के ऊपर तिलों की फली में जा कर, दानों में, जन्म प्राप्त करेंगे।" गोशाला के सन्देह और भ्रम-भरे चित्त को प्रभु के इस कथन पर विश्वास नहीं हुआ। विश्वास होता भी तो कैसे और क्यों? वह तो भगवान् के हृदय की परीक्षा लेने पर उतारू हो रहा था। उस ने भगवान् के उस कथन को झूठा करने के लिए, भगवान् को ज़रा अकेले अकेले आगे बढ़ जाने दिया। पीछे से उस ने उसी पौधे को जड़मूल से उखाड़ कर, किसी एक निर्धारित स्थान पर फेंक दिया। और तब, कदम बढ़ाते बढ़ाते वह प्रभु से आ मिला। प्रभु और गोशाला, अब कूर्म-गांव के निकट पहुँचे ही होंगे, कि उधर उसी पौधे के पास से एक गाय दौड़ती हुई निकली। उस का पैर (खुर) उस पौधे पर पड़ गया। भाग्य से वहां की ज़मीन भी कुछ गीली थी। इन सब साधनों के मिल जाने पर आढ़े टेढ़े किसी भी रूप में वह पौधा वहां फिर जम गया। खुर के ज़ोर से ज़मीन में बैठने के कारण, वहा एक गड्ढा भी उस पौधे के लिए अच्छा हो गया था आस पास का पानी सिमिट कर वहां कुछ आगया। कुछ ही मुरझाया हुआ पौधा, जल को, ज़मीन को और वायु तथा उपयुक्त गर्मी को पाकर, फिर पनप गया। समय पाकर उस के उन्हीं फूलों के जीव, तिलों की फली में तिल हुए।

कूर्म-गांव में प्रभु के द्वारा गोशाला का रक्षण

प्रभु वहां से विहार कर कूर्मगांव में पधारे। उसी गांव के एक उपवन में उन दिनों वैशायन नाम का एक तापस बेले बेले की तपस्या करता था। तपस्या के समय में, वह सूर्याभिमुख हो कर और अपने हाथों को पसार कर, ध्यान में स्थिर रहता था। उस के सिर पर जटा भी बहुत ही बढ़ गयी थी। अतः उस की जटा में जूँएँ भी बहुतायत से पड़ गयी थीं। वे यदा कदा ज़मीन पर आ कर गिरता रहतीं; और, ऋषि उन की रक्षा करने के निमित्त, उन्हें ज़मीन से उठा कर, ज्यों की त्यों पुनः अपनी जटा में रख देता था।

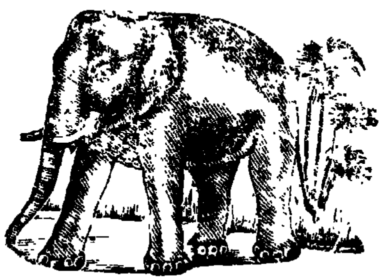
एक दिन गोशाला, कहीं से घूमते-घामते, उधर आ निकला। उस ने उस तपस्वी की अवस्था और उस क्रिया को देखा। इस पर उसे बड़ी ही घृणा पैदा हुई। तब उस ने उस तापस से कहा, "ऐ मुनि! क्या तू तपस्वी है? या जूंओं का खज़ाना है? तेरे समान जूंओं को सिर पर रख कर भी क्या कोई कभी तपस्वी बना है? व्यर्थ ही तपस्या की आराधना, और जीव-दया का ढोंग रच कर, लोगों को ठगने के लिए बैठा है! तपस्वी ने शांत भाव से उस के कटु बोलों को सहन कर लिया और बदले में एक अक्षर भी उसने उस से न कहा। तब तो गोशाला का हिम्मत और भी बढ़ी। उस ने लगातार पूरे तीन बार उस ऋषि से वैसे ही कड़वे वचन कहे। तापस अब अपने मन को अधिक काल तक संभाल न सका। उसे क्रोध आया; और, तत्काल ही उस ने गोशाला पर 'तेजोलेश्या' नामक एक तपोशक्ति का, भयंकर रूप से, प्रहार किया। गोशाला ने अग्नि की भयंकर ज्वालाओं को, जो बात की बात में उसे भस्म कर देने के इरादे से उस पर छोड़ी गई थीं, अपनी ओर प्रचण्ड वेग से आते हुए देखा। तब तो अपने प्राण-नाश के भय से वह अति ही भयभीत हुआ। और, गिरते पड़ते दौड़ कर वह भगवान् के पास आया। तथा चिल्ला कर आर्तनाद में उस ने भगवान् से कहा, "प्रभु! अपने दास और शिष्य को इस प्रचण्ड ज्वाला से शीघ्र ही बचाओ! नहीं, तो मैं अभी अभी भस्म हुआ जाता हूं। प्रभु ने अपने तपोबल से गोशाला मंखली पुत्र की "अणुकंपणट्ठयाए" दया के लिए शीतललेश्या का प्रयोग किया।

अर्थात् प्रभु के अपनी ठंढी निगाह से देखते ही तेजोलेश्या का ज़ोर उसी समय नष्ट हो गया। गोशाला के मन को शान्ति हुई। और, उस तापस को, अपनी तेजोलेश्या का अपमान होते देख, अपने तप-बल पर तरस आया। उसे अचरज भी हुआ। साथ ही, उसने उन महा-प्रभु के चरण-दर्शन की भावना भी अपने मन में की, जिन्हों ने उस के तपोतेज की प्रचण्ड शक्ति को, बात की बात में, यों मर्दित कर दी थी। वह चल कर तब तो उसी समय प्रभु के समीप आया। उन के चरण-दर्शन कर के, अपूर्व शान्ति प्राप्त उसने की। और बड़े ही नम्र भाव से भगवान् के सामने हाथ जोड़ कर बोला, "भगवन्! आप की इस दिव्य तपोशक्ति से मैं अभी तक बिलकुल अनजान था। इस के विपरीत मुझे अपने तप का भी बड़ा गर्व था। वह भी आज आप के चरण-दर्शन करने पर दूर हो गया। प्रभु के सामने, अनजान में जो अपराध मुझ से हो पड़ा है, आप अपने दयालु और कृपालु स्वभाव से उस के लिए मुझे क्षमा करें। वीर भगवान् ने उसे क्षमा-दान दिया। तब वह तापस अपने स्थान को वापस लौट पड़ा।

उस तापस के लौट जाने पर गोशाला ने प्रभु से पूछा, कि हे प्रभो! इस प्रकार की तेजोलेश्या कैसे प्राप्त होती है? उत्तर में प्रभु ने कहा, कि छः महीने तक बेले बेले की तपस्या करे। और जिस दिन पारणा हो उस दिन, दिन में एक बार सीझे हुए एक मुट्ठी भर उड़द खा कर चुल्लू भर उष्ण पानी पीता हो, और नित्य प्रति सूर्य के सम्मुख बाहें पसार आतापना लेता हो, उसे तेजो लेश्या उत्पन्न होती है।

फिर कूर्म-गांव से विहार कर, प्रभु सिद्धार्थपुर की ओर पधारे। मार्ग में उस तिल के पौधे के निकट वे पहुँचे ही थे, कि गोशाला ने उस के सम्बन्ध में प्रभु से यों कहा—"प्रभो! जब अपन इधर से पहले निकले थे। उस समय यहाँ एक तिल का पेड़ था। उस के फलित होने के सम्बन्ध में मैंने आप से पूछा था। तब आप ने कहा था, कि हाँ यह तिल का पेड़ अवश्य फले फूलेगा। और इस के फूल के जीव इसी तिल की फली में सात दाने होंगे। किन्तु भगवन्! न तो वह तिल का पेड़ यहाँ है। और न उस के फली में सात दाने ही। अंगुली के इशारे से उस स्थान में उस पौधे को बताया, जहाँ पर कि गोशाला ने, उस

की पहली जगह से उखाड़ कर उसे फेंक दिया था। गोशाला ने जा कर, उस के फल को चीरा। और, अन्दर उस के, उसे केवल सात ही तिल जमें मिले। इस घटना को देख कर, गोशाला को बड़ा भारी अचरज हुआ। तपोधनी बनने की भावना उस के हृदय में जागी। और पुनर्जन्म के प्रति विश्वास उस का बंधा।



तेजोलेश्या की प्राप्ति और उस का दुरुपयोग

गोशाला ने अब फिर प्रभु से अलग हो जाना चाहा। उस के मन ने अभी तक अपने अन्दर से कामनाओं के कूड़े-कचरे को पूरा पूरा बाहर निकाल कर नहीं फेंका था। और, किसी न किसी प्रकार की कामनाओं ने अन्त तक उस का साथ दिया। उस ने अपने आप को साधु कहलाकर के भी कभी न सोचा, कि कामनाओं के बीज, काम, लोभ के कारण ही मनुष्य का अपने मनुष्यत्व से सर्वथा पतन हो जाता है। कामनाओं का साथ करना, एक बड़ी भारी आत्म-वंचना है। कामनाएँ, मनुष्य को इतना अन्धा बना देती है, कि हम निज अन्तर के सत्य को भी कभी देख नहीं पाते! आत्मा के प्रति, सच पूछा जाय, तो यह घोर अन्याय है। इसी से मनुष्य के विवेक का नाश होता है। और, यही उस की आध्यात्मिक आत्महत्या का एक प्राथमिक साधन होता है। संसार की सभ्यता का सुन्दर शरीर भी इसी से कलङ्कित बना है। और, येही नाना भांति के पाप, प्रति-हिंसा, दण्डविधान और कारावासों की निर्दय नीति को बढ़ाता है। अस्तु। गोशाला के मन में, नाना भांति की सिद्धियों को प्राप्त करने की इच्छा थी। अतएव तेजोलेश्या की साधना तथा प्राप्ति के निमित्त, प्रभु का साथ उस ने इस बार भी त्याग दिया। और, वह श्रावस्ती नगरी में आया। वहाँ, एक कुम्हारी की बाड़ी में वह आ कर टिका। और, प्रभु के द्वारा बतलायी हुई साधना के अनुसार, तेजोलेश्या को प्राप्त करने के प्रयत्नों में वह जुट पड़ा। आराधना का समय निर्विघ्न पूरा हुआ। तेजोलेश्या भी उसे प्राप्त हुई। फिर, एक दिन, उसी गाँव में, उस ने अपनी प्राप्त-सिद्धि की परीक्षा भी कर लेनी चाही। कुम्हार की बाड़ी से वह उठा; और चला चला वह एक पनघट पर आ कर बैठ गया। वहाँ बैठ कर अपने मन में क्रोध उत्पन्न करने के साधनों को वह ढूँ ने लगा। इतने ही में एक दासी वहाँ पानी भरने के लिए आयी। उस के घड़े को एक कंकड़ के प्रहार से फोड़ देने को, क्रोध उत्पन्न करने का उस ने उत्तम साधन समझा। उस ने तब वैसा ही किया। उस के इस दुर्व्यवहार से वह दासी झल्लाई और गोशाला पर अटूट रूप से गालियों की बौछार करने लगी। बस, गोशाला ने क्रोध में आ कर अपनी तेजोलेश्या की शक्ति की परीक्षा उसी समय उस पर की। जिस से वह बेचारी दासी, उसी क्षण, वहीं की वहीं, जल बल कर राख की ढेर हो गयी। गोशाला भी वहाँ से चल दिया।

दशवाँ चातुर्मास और आनन्द गाथापति.

इधर भगवान् विहार करते करते वाणिज्य गाँव में पधारे। चातुर्मास का समय इतने में पास आ लगा था। तब दशवाँ चातुर्मास वहीं किया। वहाँ आनन्द नाम का एक गाथापति रहता था। वह केशी श्रमण का अनुयायी था। उस ने अपनी युवावस्था से ले कर सारे जीवन पर्यन्त बेले बेले की तपस्या की थी। तपस्या के समय, कड़ी से कड़ी धूप में भी, वह सदा सूर्याभिमुख हो कर खड़ा रहता था। इस कठोर तपस्या के कारण, उस के अवधि ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान की प्राप्ति उसे हो गयी थी। एक दिन मौक़ा पा कर, वह प्रभु के निकट आया। उन्हें प्रेम-पूर्वक वन्दना उस ने की। तब वह प्रभु से बोला, "भगवन्! आप धन्य हैं! आप ने आज लों जितने भी शारीरिक और मानसिक उपसर्गों को, धैर्य और प्रसन्नता-पूर्वक समभावों से सहन किया है, उन परिषहों को सहने के लिए, आज का कोई भी बलवान् और परम शान्तिमान् पुरुष भी, सामर्थ्यवान् नहीं है। आज तो संसार में आप के समान आप ही क्षमताशाली हो सकते हैं। उस पर भी विशेषता यह है, कि आप को अपने शरीर तथा प्राणों का रंच-मात्र भी मोह नहीं है।" इस प्रकार नम्रता से प्रभु के गुण-गान कर, आनन्द अपने स्थान पर वापस चला गया। चातुर्मास का समय पूर्ण हो जाने पर प्रभु ने भी वहाँ से विहार कर दिया। और विचरते विचरते यष्टिक नामक एक बस्ती में आप ने पदार्पण किया।



यष्टिक ग्राम में अनेकों अभिग्रह

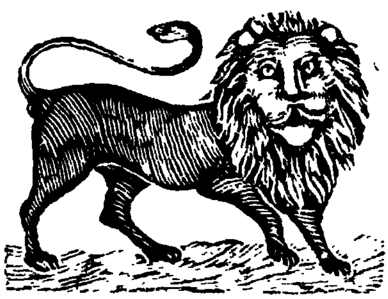
प्रभु ने यष्टिक ग्राम में आ कर सब से पहले 'भद्रा' नामक तप को धारण किया। इस तप में लगातार दो दिन तक आहार-पानी कुछ भी नहीं लिया जाता है। उस के अनुष्ठान में, प्रभु ने पहला दिन नीचे लिखे अनुसार बिताया। उस दिन प्रातः काल के समय से ले कर सूर्यास्त के समय तक, प्रभु पूर्वाभिमुख हो कर और उधर की किसी भी एक वस्तु विशेष पर दृष्टि को जमाते हुए, ध्यानस्थ हो कर खड़े रहे। और, सूर्यास्त से ले कर दूसरे दिन के प्रातः काल तक के समय को, उसी भांति ध्यान में स्थिर रहते हुए, दक्षिणाभिमुख हो कर उन्हों ने बिताया। दूसरे दिन, उसी प्रकार क्रमशः पश्चिम और उत्तर की ओर की किसी वस्तु विशेष को अपनी दृष्टि का केन्द्र बिन्दु मान कर, दिन और रात को क्रमशः बिताया। यों, भद्रा तप को निर्विघ्न समाप्त कर के, तीसरे दिन प्रभु ने आहार पानी भी न लिया; और महाभद्रा नामक तप को धारण कर लिया। इस तप में, लगातार चार दिन तक, किसी भी प्रकार का कोई भी आहार पानी कभी भी ग्रहण नहीं करते। इस में भी ऊपर ही की भांति, दिशाओं को बदलते हुए और रात-दिन सभी काल में ध्यानस्थ रह कर खड़े ही खड़े, प्रभु बिताते रहे। सातवें दिन भी भगवान् ने पारणा नहीं किया। और, 'सर्वतोभद्र' नामक तप को पुनः धारण कर लिया।

सर्वतोभद्र नामक तप में पूरे दश दिन तक निराहार और निर्जल रहना पड़ता है। प्रभु ने इन दशों दिनों को भी, खड़े ध्यान में स्थिर रह कर, समाप्त कर दिया। चारों दिशाएं चारों विदिशाएं और ऊर्ध्व तथा अधः, इस प्रकार दशों दिशाओं में से, एक एक दिशा की किसी वस्तु विशेष पर अपना ध्यान स्थिर किया। इस कठिन तपस्या के अन्त में प्रभु पारणा के लिए बस्ती में पधारे। फिरते फिरते वे एक गृहस्थ के घर पर पहुंचे। उस का नाम आनन्द था। उसी समय, उस गृहस्थ की एक दासी, जिस का नाम बहुला था, भोजन के पात्रों को साफ कर के उन्हें मलना चाहती थी। और, उस के ज़रा ही पहले उन्हीं बर्तनों को पोंछ-पांछ कर के, उन

में लगे हुए ठंढे और बुसे हुए चांवलों को निकाल कर, वह फेंकने ही में थी, कि इतने ही में, एक भिक्षुक के रूप में, अपने द्वार पर खड़े हुए भगवान् को उस ने देखा। वह उसी समय उन से बोली, "इन ठंढे और बुसे हुए चांवलों को मैं फेंक देना चाहती हूँ। अगर चाहें, तो आप इन्हें ले लें।" प्रभु ने बिना किसी भी प्रकार की ज़रा भी कोई अरुचि या उदासी के भाव दिखाये, प्रसन्न-चित्त से, उन्हें लेने के लिए दासी के सामने अपने हाथ पसार दिये। और, उस से ग्रहण कर, वहीं खड़े खड़े आहार किया। फिर प्रभु ने यष्टिक गांव से विहार कर दिया।

गोशाला को अष्टांग निमित्त की प्राप्ति

भगवान् पार्श्वनाथ के सन्तानिक कुछ शिष्य समुदाय एक दिन गोशाला से मिले। 'अष्टांग-निमित्त' के, अपने समय में वे प्रकाण्ड पण्डित थे। कुछ समय तक साथ साथ रहने पर, परस्पर प्रेम बढ़ गया। मौक़ा पाकर, गोशाला ने अष्टांग निमित्त का ज्ञान उन से प्राप्त कर लेना चाहा। एक दिन वैसी ही बात चीत उसने उन मुनियों से की। उन मुनियों ने पात्र जान कर वह ज्ञान उसे देना स्वीकार कर लिया। सीखना प्रारम्भ हुआ। और, कुछ ही दिनों में, अष्टांग-निमित्त का ज्ञान भी गोशाला ने प्राप्त कर लिया। अब उस के पास (१) तेजोलेश्या और (२) अष्टांग-निमित्त का ज्ञान, ये दो शक्तियां हो गयीं। अब क्या कहना था! उस ने अपने आप को 'जिनेश्वर' कहना और कहलाना शुरू कर दिया। और, उसी नाम से इधर उधर घूमना भी उस ने प्रारम्भ कर दिया।



गोशाला के द्वारा आजीविक सम्प्रदाय की स्थापना

गोशाला ने प्रभु से विलग हो कर अब दो प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त किया। इन सिद्धियों के बल, उसे अपने अविनश्वर नाम और कार्य क्षेत्र को बढ़ाने की बात सूझी। वह लोगों को आजीविक सिद्धान्त का उपदेश देने लगा। जन्म-मरण, हानि-लाभ, सुख-दुख, आदि बातों को वह उन्हें बता बता कर, उन के मनों को अपनी ओर मोड़ने लगा। तत्कालीन भोली भाली और दुखित जनता ने गोशाला के उपदेशों में कुछ बनावटी प्राण और शान्ति का अनुभव किया। उस समय, संसार की गतिविधि और असमता को देख देख कर, शास्त्र और मुनि की वाणी, तथा अनुभव के द्वारा, लोग जहां एक ओर चौवीसवें तीर्थंकर के संसार में आने की बाट जोह रहे थे, वहां दूसरी ओर गोशाला स्वयं अपने आप को, तत्कालीन तीर्थंकर सिद्ध करने के, अनेकों कपट-भरे साधनों का अवलम्बन कर रहा था। कभी अपनी सिद्धियों का प्रभाव दिखा कर, लोगों पर वह रौब गांठता; और कभी अपने इधर उधर के पिट्ठूओं की सहायता से अपने नाम को अधिकाधिक बढ़े हुए रूप में फैलाने की चेष्टा करता; तथा कभी अपने ज्योतिष के बल से, सोलह आना सत्य बातें जनता को बता कर, उन की अपने ऊपर श्रद्धा और प्रेम पैदा करवाने की युक्तियां वह रचता। इस की इन्हीं हरकतों से कई लोग तो चौवीसवां तीर्थंकर इसे मानने भी लग गये थे। इधर गोशाला तो अपने ऐहिक मनोरथों को सिद्ध करने में यों छटपटा सा रहा था, दूसरी ओर, भगवान् को अभी तक केवल ज्ञान की प्राप्ति न होने से, और पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति से पहले उपदेश देना उचित न समझने से वे मौनस्थ हो कर दुष्कर तपश्चर्या ही में लगे हुए थे। अभी तक जनता ने उन के अमर उपदेशों से लाभ नहीं उठा पाया था। ऐसी अवस्था में, "अन्धों में काना आदमी ही राजा कहलाता है," वाले सिद्धान्त से, गोशाला ही चौवीसवां तीर्थंकर कहलाने लग गया हो, तो कोई विशेष अचरज की बात नहीं है। परन्तु समय असमय लोग उस के प्रभुत्व की परीक्षा भी कभी कर बैठते थे। और, पूर्व काल के तीर्थंकरों की भांति, शास्त्र कथित

गुणों का जब वे उस में अभाव देखते; उस अलौकिक, असाधारण और मनोभिराम छवि का एकान्त अभाव जब वे उस के व्यवहार और बातों में पाते, तब उन्हें उस के तीर्थंकर होने में सन्देह भी कुछ कम नहीं होता था। परन्तु ऐसे शास्त्र-निष्णात और पहुँचे हुए परीक्षकों की प्रायः हर एक समय के अनुसार, उस समय भी कमी थी। अतः उन के उस विरोधी भाव और सन्देह के रहते हुए भी उस समय तक, बहु-जन समाज, क्षणिक काल के लिए, उस की मान्यता के पक्ष में हो गया था। और उन्हों ने अपने को उस का अनुयायी भी कहना प्रकट कर दिया था। यही कारण है, कि भगवान् महावीर के अनुयायियों से, एक बार, आजीविक समाज के लोगों की संख्या बढ़ भी गयी हो, तो भी यह कोई विशेषता और अचरज की बात नहीं कही जा सकती। परन्तु यह बात निर्विघ्न रूप से, बिना किसी भी प्रकार के बहस के उठाये, सब को मानना पड़ेगी, कि उस आजीविक समाज के लोगों की जीवन-व्यवस्था उस समय में भी बड़ी ही डांवांडोल और निर्मूल वृक्ष के पत्तों की भांति रही होगी। यही कारण है, कि आज जहां सैकड़ों और हज़ारो वर्षों के बीत जाने पर भी, भगवान् महावीर के अनुयायियों की संख्या, इस भारतवर्ष में ग्यारह लाख की आंकी जाती है, वहां आजीविक समाज का नाम मात्र का भी कोई अनुयायी नहीं है।

प्रकरण-सोलहवां

संगमदेव द्वारा प्रभु पर उपसर्गों की घन-घोर वर्षा

भगवान् उपसर्गों पर उपसर्गों को सहते हुए एक दिन पेढाखा नामक एक बस्ती के निकट पधारे। गाँव के बाहर का एक स्थान वहां उन्होंने अपने ध्यान के लिए चुन लिया। वहीं पर तब वे, अपनी दृष्टि को सामने के वृक्ष पर स्थिर कर के, ध्यानस्थ हो गये। उसी समय, देवराज इन्द्र, देवसभा में बैठे हुए भगवान् के संयम, तप और चरित्र-बल का विस्तार-पूर्वक गुण-गान कर रहे थे। तथा, बहु संख्यक देवता भी उसे सुन सुन कर, भगवान् के कार्यों के प्रति प्रसन्नता, प्रेम, श्रद्धा, सत्कार और अनेकों प्रकार की मंगल कामनाएँ प्रकट कर रहे थे। पाठको! भले और बुरे, सभी स्थानों में और सर्वत्र पाये जाते हैं। शरीर में जहां सुविचारों के वाहक और उन के केन्द्र-स्थान, मास्तिष्क की योजना है, वहाँ उसी शरीर में मल-वाहक मलेन्द्रिय की भी उसी प्रकार आवश्यकता के साथ योजना की गयी है। गुलाब के पेड़ में जहां उस के परम सुगन्धित, मनोरम और कोमलतम फूलों की रचना पायी जाती है, वहां, उन्हीं फूलों की सौरभ, सुन्दरता तथा कोमलता की रक्षा के मिस नुकीले और हाथों को आसानी से फोड़ देनेवाले कांटे भी होते हैं। देव-सभा की अवस्था भी इसी सिद्धान्त पर स्थिर थी। जहां बहुत से देवों को भगवान् के गुणानुवाद से प्रसन्नता और आनन्द हो रहा था, वहां कुछ देव उसी गुणानुवाद को सुन सुन कर, अपने मन में कुढ़ भी रहे थे। उन में भी, संगम नामक एक देव के मन में, ईर्ष्या की वह आगी, अकारण ही अधिकाधिक प्रचण्ड रूप धारण कर रही थी। वह

अपने मन में कह रहा था, कि "इन्द्र, देवराज है। तब भी वह एक साधारण योगी की, जो मनुष्य के रूप में है, खामख्वाह बड़ाई हांक रहा है! देवराज को अपनी देव-सभा का भी कोई भान नहीं है। यह तो इन की आज की नहीं, हमेशा ही की बात है। देव-सभा के बीच बैठ कर, रोज़ देवताओं का कुछ न कुछ अपमान, परोक्ष या अपरोक्ष रूप से इसी तरह किया करते हैं। परन्तु ऐसा करना इन्हें उचित तो नहीं है। अच्छा, अब मैं चलता हूँ। और, जितना भी जल्दी बन सकेगा, मैं उस तपस्वी के तप, संयम, शील, सदाचरण और चरित्र को नष्ट-भ्रष्ट कर के, देवराज के इस अनुचित कथन का खंडन करूँगा। जिस से भविष्यत् के लिए इन्हें भली नसीहत मिलेगा।" इस प्रकार के गंदले विचारों को वह देव अपने मन में रख कर, उसी समय वहां से उठ चला।

वह देवलोक से चल कर भगवान् के पास आया। आते ही उस ने प्रभु के शान्त, अचल, निष्काम और लोक-कल्याण कारक शरीर पर, घटाटोप धूल की बड़ी देर तक वर्षा की। उस से आसपास का सारा वातावरण रज-मिश्रित हो गया। आस-पास का कोई भी प्राणी प्रायः ऐसा न होगा, जो उस रज मिश्रित वहां की प्राण-वायु को अपने शरीर में खींच कर जीवित रह सका हो। भगवान् का भी सारा शरीर उस धूल से ढक गया। परन्तु शरीर की मोह-माया को उन्हों ने पहले ही से दूर पटक फेंका था। उन्हें उस से कुछ भी कष्ट का अनुभव नहीं हुआ। वे सुमेरु के समान पूर्ववत् अचल और प्रशान्त महासागर के समान एकान्त गम्भीरता को धारण कर के, बिना किसी भी प्रकार की शारीरिक या मानसिक हरकत के किये, जैसे के तैसे ही खड़े रहे। सच है, जब संसारी जीव यहां के क्षणिक और नाशमान् तथा नाम-मात्र के सुख के पीछे ही पागल से बने नज़र आते हैं; तब नित्य, अविनाशी और सचमुच के सुख-स्वरुप, सत्य पदार्थ निज आत्म-स्वरूप को पा कर, या पा लेने की धुन में लग कर, कोई कितना मतवाला बन सकता होगा? पाठको! हमारे वीर भगवान् ने भी उसी आत्म-ज्ञान की खोज में, अपने राजसी-वेष को, भिक्षु के रूप में बदला था! निज-स्वरूप को पहचान कर, उसी निर्वाण-पद की अनुपम प्राप्ति के अर्थ, इसी लिए उन्हों ने जगत् के समस्त दुःखों, कष्टों, क्लेशों और यातनाओं यहां की समस्त पीड़ाओं का भार, एक मन्त्र-मुग्ध व्यक्ति की भांति मतवाले बन कर, हंसते हंसते सहा था?

जब उस देव ने अपने इस रज-वर्षा के भीषण वार का, प्रभु के शरीर तथा मन पर,कुछ भी प्रभाव पड़ते न देखा तब तो वह और भी क्रुद्ध हुआ। इस बार उस ने अपनी माया के बल, भयंकर विषैली चींटियों को उत्पन्न किया। और उन से प्रभु को डंसवाया। प्रभु को तब भी उस ने निश्चल और निर्भीक तथा शान्त खड़े देखा।

तीसरी बार, विषैले सांप, बिच्छू, गोहरे, आदि आदि भयंकर जन्तुओं को उसने प्रभु के शरीर पर छोड़ा। उन जन्तुओं ने भी अपने मन की खूब ही निकाली। परन्तु जहां चण्डकौशिक सरीखे प्रचण्ड विषधर नाग से भी प्रभु का बाल बांका न हुआ था, तो फिर यह उपसर्ग तो उस की निर्दयता के आगे, था ही किस गिनती में? इस पर भी प्रभु ने अपनी धीरता का रंच मात्र भी साथ न छोड़ा। यही क्यों? ऐसे आततायी, अकारण वैरी और ईर्ष्यालु व्यक्ति के प्रति भी, प्रभु के मन में रत्ती-भर द्वेष पैदा न हुआ। द्वेष? नहीं, नहीं! द्वेष के भावों का भी उदय वहाँ न हो पाया। यों, एक के बाद दूसरे और दूसरे के पीछे तीसरे करते करते, पूरे छः महीने तक, उस संगम देव ने प्रभु के शरीर पर उपसर्गों की अतिवृष्टि की। उधर, प्रभु उस अवसर को, कर्मों की निर्जरा करने का बड़ा ही सुन्दर और सस्ता सौदा समझ कर, पूर्ण धीर, वीर और गम्भीर बने हुए टस से मस भी न होते थे। दूसरी ओर संगम अपनी सम्पूर्ण पाशविक शक्तियों का दिवाला निकाल कर, तन-छीन और मन मलीन होता जाता था।

पाठको! इस, आत्मिक और शारीरिक शक्तियों के, घनघोर संग्राम को आप ने अपने विचार की आँखों से, उस के वर्णन को पढ़ कर, देख लिया होगा। अगर ध्यान-पूर्वक देखने के पश्चात्, आप इस से नतीज़ा निकालेंगे, तो आप जान सकेंगे, कि—

(१) किसी पर दया न करना; बिना ही किसी कारण के लड़ाई—झगड़ा ठान बैठना; पर-धन, और परस्त्री पर मन चलाना; सन्तों तथा अपने—परायों की उन्नति पर कुढ़ना; ये दुष्टों के स्वाभाविक गुण हैं। फिर, जो दुष्टात्माएँ होती हैं, वे सदैव लज्जावानों को मूर्ख; व्रत, उपवास करनेवालों को मूर्ख; पवित्रता से रहनेवालों को धूर्त्त; शूर-वीरों को निर्दयी; मौन-धारण करके रहनेवालों को निर्दयी; मधुर—भाषियों को दीन; तेजस्वियों को अहंकारी; उत्तम वक्ताओं को

बकवादी; और शाँत तथा गम्भीर पुरुषों को असमर्थ कहती रहती हैं। कदाचित् ही कोई गुणी संसार का बच पाया हो, जिस को किसी न किसी प्रकार से दुष्ट लोगों ने कलंकित न किया हो।

और, (२) जगत् में जितने भी महावीर पुरुष-रत्न हुए और होते हैं, उन की वास्तविकता की परख, ऐसे ही कठिन, से कठिन उपसर्गों के समय और स्थान पर हुआ करती है। मनुष्य-जाति का गौरव और मृत्यु-लोक की जीवित मर्यादा, वे ही पुरुष-पुंगव इस वसुन्धरा में महावीर कहलाते हैं, जिन्हें अपने कर्मों की निर्जरा करने के मार्ग में, सिर और प्राणों का, तथा मान और शान का, तिल-भर भी कोई मोह नहीं होता; जिन के जीवन का, आत्म-स्वरूप को पहचानना और संसार को निरभिमानता के साथ उस का पाठ पढ़ाने का, यही पहला और अन्तिम एक ध्येय होता है; जो अपने भीषण से भीषण शत्रु तक को भी, गहरे से गहरे, तथा एक अनन्य मित्र की प्रेम-रस से लबालब भरी हुई आँखों में देखते हैं; और, जो समस्त दुर्गुणों, दुर्व्यवहारों, दुर्वचनों तथा अनीति व अत्याचारों को कायरों और कुपूतों के हथियार समझ कर, आत्मोन्नति के राज-मार्ग में, समस्त सद्गुणों, सद्व्यवहारों, हितकर तथा मिष्ठ वचनों, नीति और सदाचार ही को, अपना एकान्त अवलम्बन बनाता है।

उस ज़माने में, भगवान् वर्द्धमान् ही में, महावीर बनने और कहलाने के सम्पूर्ण उपर्युक्त गुण, थे। और, इसी कारण से, तत्कालीन जगत् ने जो 'महावीर' का सार्थक नाम उन्हें दिया था, वह उन्हीं को फब सकता था; और आज तक फबता है।

अगर वीर प्रभु की रंच-मात्र भी इच्छा रही होती, तो ये यहाँ के समस्त उपसर्ग, और परिषह तो, उन के तप-तेज के आगे, उसी क्षण छिन्न-भिन्न हो गये होते! या, उन के मनोबल के इशारे-मात्र को पा कर, स्वयं देवराज इन्द्र इन सारे उपसर्गों का नामावशेष कर देते! परन्तु उन्हों ने ऐसा कर के कुदरत के क़ानून को न तोड़ा। फिर, महापुरुषों की, इस में कोई शोभा भी तो नहीं होती! वे तो अपने नाश ही की नींव पर, अपने प्रति-पक्षी के उत्थान के महल का पाया चुनना चाहते हैं। अपने प्रति-पक्षी को तोड़ना—फोड़ना, या छिन्न-भिन्न करना, कभी उन्हों ने सीखा ही नहीं था। दूसरे, प्रभु को कर्म-मीमांसा का भी

सांगोपांग जीवित ज्ञान था। तब वे अपने पूर्व-कृत कर्मों का बदला चुकाये बिना, आगे बढ़ते तो भी कैसे ? वे तो दुख ही में आत्मा की तृप्ति समझ रहे थे। नाना भांति के दुःखों को सहन करते हुए, दुःखों के बीज को भस्मीभूत कर, एक अलौकिक सुख में प्रतिष्ठित होने ही में, आत्मा की पूर्णतम पूर्णता वे मान रहे थे।

पाठको ! संगम देव ने कैसे कैसे भयंकर कष्ट भगवान् को दिये ! परन्तु प्रभु ने सब को अचल धैर्य के साथ सहा। प्रभु ने उन सबों के मूल में अपने पूर्व-कृत कर्मों ही को कारण समझा था। और, इसीलिए देहासक्ति से वे विरक्त थे। फिर, जब देहासक्ति ही से वे विरक्त थे, तब सुख, दुख, आदि द्वन्द्व भावों से दूर रहना, यह तो बिलकुल स्वाभाविक ही होना चाहिए था। क्योंकि, देहासक्ति ही अन्य सब प्रकार की आसक्ति का मूल है। पाठको ! फिर, देहासक्तिवाला यथार्थ धीर भी नहीं हो सकता। और, पूर्ण धीर बने बिना, आज तक कोई भी मोक्ष या निर्वाण-पद का अधिकारी नहीं हुआ।

पाठको ! यही कारण है, कि धीर पुरुष कष्ट को कष्ट समझते ही नहीं। वे उन्हें क्षणिक और अस्थिर समझ कर, हँसते हँसते सह लेते हैं। परन्तु चंचल-चित्त अधीर पुरुष थोड़े ही से कष्ट में व्याकुल हो कर अपना जीवन बर्बाद कर देते हैं। जगत् का कठिन से कठिन कार्य भी धैर्यवान् के लिए सरल से सरल होता है; परन्तु अधीर किसी भी कार्य को यथार्थ रूप से कभी कर नहीं सकता। तभी तो धीर पुरुष आत्म–साम्राज्य के सुख को भोगने के अधिकारी बनते हैं; और, अधीर पराधीनता, आवागमन, दुख और द्वन्द्वों के गहरे गड्ढे में पड़े हुए सड़ते रहते हैं। फिर धीर, वीर होते हैं; परन्तु अधीर, कायर देखे जाते हैं। या, यूँ कहो, कि धीर पूरे और अधीर अधूरे होते हैं ! धीर शूर और अधीर चूरे होते हैं ! प्रारब्ध की गठरी सभी के साथ रहती है। परन्तु सच्चे धीर और त्यागी पुरुष ही सुख-दुख, आदि द्वन्द्वों में सम-रस रहते हुए, अपनी उस प्रारब्ध की गठरी का भार एक दिन पूरा पूरा उतार सकते हैं। परन्तु अधीर लोग उस भार को उतारने के बदले और भी बढ़ाते जाते हैं।

सच्चे धीर और पुरुषार्थी लोग, लोक–संग्रह के लिए, सुख दुख में चित्त की वृत्ति को सच्चे प्रकार से समान रख कर, निश्चय-पूर्वक समझते रहते हैं, कि इस दृष्यमान् जगत् में जिस ने भी शरीर धारण किया है, उसे सुख, दुख दोनों

का ही अनुभव करना होगा और अवश्य करना होगा। शरीर धारियों को केवल सुख ही सुख या केवल दुख ही दुख कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता। जब कुदरत का क़ानून ही इस नींव पर उठा हुआ है, तब फिर दुख में उद्विग्न औ सुख में फूल कर कुप्पा क्यों बन जाना चाहिए? कुदरत के नियमानुसार, सुख दुख तो शरीर के साथ ही संसार में आते हैं। प्रकृति के इस पेचीदा प्रश्न को जिस किसी ने भी, थोड़ा या बहुत समझने की कभी कोई कोशिश की है, वह तो संसार के अपने समस्त आश्रयों को, आज या कल, कभी भी छिटका कर, केवल धैर्य ही को अपना आश्रय और जीवन बनाता है। तब सच्चा सुख भी ऐसे ही महा पुरुषों की संसार में खोज करता रहता है। ऐसे ही पुरुषों के गले में, विश्व की व्यापक कीर्ति अपने विराट् हाथों के विराट् आयोजनों के साथ,जयमाला डालती है। संसार का प्रवाह, ऐसे ही सत्पुरुषों की संसार में पूजा करवाता है। और, ऐसे ही महावीर पुरुष यहां प्रातः स्मरणीय समझे और माने जाते हैं।

वे वन्दनीय महा पुरुष भली भांति जानते हैं, कि उन के अपने बहु-मूल्य गुण, उस धैर्य की तीक्ष्ण परीक्षा भी सुख की अपेक्षा दुख ही में अधिकतर हुआ करती है। दुखों की विकरालता को देख कर, अपने कर्तव्य, धर्म और कर्म के पथ से विचलित हो जाना, जो भी प्राणियों का एक स्वाभाविक स्वभाव होता है, तब भी पुरुषसिंह और धैर्यशाली पुरुष, ऐसे भीषण समय में अपने कर्म धर्म और कर्त्तव्य के मार्ग में और भी अधिक मुस्तैदी से चलने लगते हैं। इस बात को सभी कोई विचारवान् जानते, मानते और अनुभव करते हैं, कि यहां के बड़े से बड़े शक्तिमान् प्राणी से ले कर छोटे से छोटे प्राणी तक, कोई भी जीव आज तक सम्पूर्ण रूप से यहां के सुखों से सुख नहीं हुआ। दुख, क्लेश, कष्ट, थोड़े या बहुत बड़े परिमाण में, सभी को एक न एक दिन अवश्य देखने पड़े और पड़ते हैं। फिर भी मनुष्य यहां के दुखों के आगमन से व्याकुल होता रहता है, यह उस की आत्मिक कमज़ोरी नहीं तो, और क्या कहा जा सकता है? महा पुरुषों की कोई विशेष पहचान नहीं हुआ करती। उन के सिर पर न तो किसी राज-मुकुट का सेहरा ही कभी कोई बंधा रहता है, और न कोई सींग ही उन के सिर पर कभी होते हैं। वे भी ठीक हमारी ही तरह दो हाथ, दो पैर और साढ़े तीन हाथ के मनुष्य के आकार के जीव होते हैं। परन्तु उन में एक यही विशेषता होती है, कि नाना प्रकार के उपसर्गों, क्लेशों तथा परिषहों

के आ पड़ने पर भी, वे हमारी भांति अधीर कभी नहीं हो जाते। उन के अपने ऊपर सामयिक या असामयिक आ पड़नेवाले समस्त उपसर्गों को, वे केवल अपने प्रारब्ध कर्मों ही का फल समझते हैं। और, इसी कारण, बिना किसी भी प्रकार की प्रतिहिंसा की भावना के भी, वे उन सबों को हंसते हंसते अपने सिर माथे झेल लेते हैं! बस, इस अपने एक गुण से वे जगद्वन्द्य और हमेशा के लिए आदरणी समझे जाते हैं।

पाठको! भगवान् के समान ऐसे ही महावीर लोग अपनी आदर्श करणी के द्वारा जगत् को बताते हैं, कि अपनी अपनी करणी के अनुसार जो अवश्यम्भावी है, और जिस के लिए मर मिटने पर भी कभी कोई हेर-फेर नहीं हो सकता, तब उस को सहन करने के लिए चिन्ता ही कैसी? अतः धैर्य धारण करो। चित्त को स्थिर बना कर उन आनेवाली आपदाओं का सहर्ष स्वागत करो। और, इस प्रकार अपने कर्म—बन्धनों को काट कर, मुक्ति के प्रशस्त तथा प्रशान्त पथ की ओर बढ़े चलो। ऐसा करने ही से, तुम्हारी सारी विपत्तियों, आपदाओं और कर्म—बन्धनों का अन्त हो सकेगा। तुम यह सदा स्मरण रक्खो, कि धैर्य का फल, जब कभी भी चखो, एकदम मीठा ही मीठा होता है। यदि उपसर्गों की पीड़ा में पड़ कर प्रतिहिंसा की ज़रा भी किसी भावना के साथ में, तुम यहां से चले गये, तो निश्चय समझो, तुम्हें अपनी प्रति-हिंसा का बदला, एक न एक दिन फिर किसी गहरे रूप में चुकाना पड़ेगा। और, उस समय भी यदि तुम्हारी कहीं ऐसी ही दशा हुई, तो बिना किसी ज़बर्दस्त पुण्य फल के, तुम्हारे इन कर्मों का, आसानी के साथ, कभी अन्त ही न हो सकेगा। यों, तुम अपने भविष्य को भी अन्धकार पूर्ण बना दोगे। कायरता और क्रूरता से विपत्ति के बादल और भी गर्ज—तर्ज कर मंडराने लगते हैं। अधीर हो कर किसी ने भी विपत्ति के दल-दल को आज तक पार नहीं किया। अपनी असामयिक और अविचार-पूर्ण अधीरता से ही, वे उस विपत्तियों के दल दल में फंस कर, देव दुर्लभ अपने नर—जीवन का, बात की बात में, अन्त कर देते हैं। परन्तु जो सच्चे धैर्यवान् संयमशील, और जितेन्द्रिय पुरुष होते हैं, वे किनारे की ओर देखते हुए, उस दलदल की राई-रत्ती भी पर्वाह नहीं करते। वे अपने निश्चल और निर्भीक भावों से, "कार्यं साधयामि वा शरीरम् पातयामि" के तत्त्व को साथ ले कर, आगे की ओर बढ़ते ही चले जाते हैं। अचरज तो इस बात का होता है, कि वे केवल

अपनी इसी दृढता की भावना के बल, सब के देखते ही देखते, कठिनतम विपत्तियों के उस दलदल को पार कर के, हँसते हँसते किनारे पर आ खड़े होते हैं। उन के इस साहस, आत्म-बल और देहासक्ति की विरक्तता को देख कर, स्वयं क्लेशों की काया काँप उठती है! विपत्तियाँ, अपने ही शरीर में वीभत्सता का विनिन्दक व्यापार देख कर, अस्त-व्यस्त होती नज़र आती हैं! उपसर्गों का ऊधम अछता-पछता कर, अपने ही अपघात का मार्ग ढूँढने को दौड़ता है! और, परिषहों का सदा के लिए प्राणान्त होता दिख पड़ता है।

अतः पाठको! उठो! और, विपत्तियों के महासागर को पार करने के लिए धैर्यरूपी जहाज़ ही को एकमात्र अपना अमोघ अवलम्बन बनाओ। बिना इस जहाज़ पर चढ़े; आज लौं कोई भी कर्मों के फल-रूप विपत्तियों के महा-सागर को कभी पार नहीं कर पाया है। फिर, यह भी सदा स्मरण रक्खो, कि अपने पूर्व कृत कर्मों के अनुसार, जाति, आयु, गति अनुभाग आदि को साथ ले कर ही तो, इस शरीर की उत्पत्ति यहाँ आज हुई है। पूर्व-जन्म के जो कृत-कर्म हैं, वे तो रो कर, या हँस कर, किसी भी हालत में, भोगने ही पड़ेंगे और अवश्य भोगने पड़ेंगे। यहाँ, चीं-चपड़ करने से, थोड़े ही कोई काम निकला जाता है? चाहे जो करो; कर्म बिना अपनी अवधि और खाता को पूरा किये, कभी भी तुम्हारा पिंड छोड़ने के नहीं! दान, पुण्य, जप, तप, व्रत, आदि सभी कुछ करो! और अवश्य करो! परंतु अगर उन से उपसर्गों की शांति होती तुम न देख पाओ, तो अधीर कभी मत बनो। क्योंकि, कर्म की समाप्ति में ही तुम्हारे दान, पुण्य, व्रत और जप-तप कारण बन सकते हैं। बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। फिर, तुम्हें इस बात का भी तो कोई पता नहीं है, कि तुम्हारे उपसर्ग की शांति में, कौनसा तुम्हारा प्रयत्न कारण बनेगा। इसलिए सीधा सच्चा उपाय तो तुम्हारे लिए यही हो सकता है, कि तीर्थंकरों और महापुरुषों ने, जो भी शास्त्रीय उपाय और आराधनाएँ तुम्हें बतायी हैं, एक-मात्र उन्हीं को अपना आधार तुम उस समय बनाओ। साथ ही, त्याग, संयम और निश्चल धीरज को भी धारण किये रहो। बस, यही उपाय है, कि जिस से तुम व्याधियों के चक्कर से, बाल बाल बचे हुए निकल कर, अपने अन्तिम लक्ष्य, आत्म-तत्त्व को पहचान कर, स्व-स्वरूप को प्राप्त कर सकोगे। इस जगत् में कोई भी ऐसा शरीरधारी नहीं है, जिस ने विपत्तियों के कड़वे फलों का स्वाद कभी न

चाखा हो। थोड़ा या अधिक, सभी उन प्राप्त होनेवाले फलों के स्वाद से परिचित हैं। तब, हम ही अकेले अधीर क्यों बनें? कर्म तो भोगने ही से समाप्त हो सकेंगे। उस समय अविचार के कारण यदि हम अधीर हो उठते हैं, तो हम तो दुखी होते हैं; परन्तु हमारे आश्रित जन भी सारे घबरा उठते हैं। इसलिए अच्छा हो, कि हम ही धैर्य धारण कर के क्यों न उन्हें समझावें? जो होना होगा, सो होगा। चाहे हम उस समय कितने ही और कैसे ही सुरक्षित स्थान में क्यों न चले जायँ, वह होगा, और अवश्य होगा। बस, ज्ञानी और अज्ञानियों में यही तो अन्तर हुआ करता है। लोक-दृष्टि में बुढ़ापा, व्याधियाँ, उपसर्ग और मृत्यु ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही को होती हैं। परन्तु ज्ञानी उन्हें अपने पूर्व-कृत कर्मों का अवश्यम्भावी फल समझ कर, धैर्य और एकान्त धैर्य के साथ सहन करता है। परन्तु विपरीत इस के, अज्ञानी पुरुष विकल हो कर, विपत्तियों और उपसर्गों के आक्रमणों को और भी बढ़ा लेता है। तभी तो कहा गया है, कि:-

ज्ञानी काटे ज्ञान ते; अज्ञानी काटे रोय।
मौत, बुढ़ापा, आपदा; सब काहू को होय॥

प्यारे पाठको! इसलिए धैर्य का अवलम्बन छोड़ कर, दीन, हीन, और परमुखापेक्षी बनते हुए, और भी अधिक दुखी मत बनो। संसार में परमुखापेक्षी बनना, दूसरे के सामने जा कर गिड़गिड़ाना, पराये से किसी भी प्रकार की कोई आशा रखना, इस से बढ़ कर और कौनसा कष्ट हृदय को सालनेवाला यहाँ हो सकता है।

फिर, निज कृत कर्मों के भोगों के बिना भोगे ही नाश, और बिना किये हुए कर्मों के भोगों के अनायास ही आगमन की बातें और विचार करना, निरी भूल है। क्योंकि, ऐसा विपरीत कर्म, विपाक के नियन्त्रण में, या कर्म सत्तात्मक राज्य में एक पल-भर भी कभी टिक नहीं सकता। कृत-कर्मों के भोगों को भोगने के अनादि-सिद्ध नियम को भंग करने की शक्ति ईश्वर, देव, मनुष्य, आदि किसी में भी नहीं है। विश्व की व्यापक व्यवस्था हमें कभी नहीं बतलाती, कि भूत या वर्तमान् के किसी भी क्षण में, किसी भी बन्धे कर्म के हमारे द्वारा ही, हुए बिना कष्टों की कड़ी बौछार हमारे पर होने लग जाती हो। प्रभु, संगम देव के द्वारा उन के ऊपर किये जानेवाले उपसर्गों की सारी बातें अन्दर ही अन्दर

जानते थे। इसी से न तो उसे अपने ऊपर उपसर्गों की घनघोर वर्षा करते ही उन्होंने रोका; और न अपने तपबल का अवर्णनीय प्रभाव ही उसे उन्होंने कुछ दिखाया। अतः महा प्रभु तो केवल यही जानते रहे, कि संगम में क्या दोष? वह तो नियति के हाथ का हथियार-मात्र है। लोगों की मोहमयी दृष्टि में, चाहे भले ही, संगम के द्वारा महावीर के शरीर को कष्ट पहुंचता रहा हो, महावीर की दिव्य दृष्टि में तो, वह उन्हें केवल-ज्ञान के और भी अधिक पास ले जा कर रख देने वाला सिद्ध हुआ। यदि क्रूर-कर्मा संगम के साथ, हमारे प्रभु भी वैसा ही क्रूर व्यवहार करते और मानो उसे वे हरा भी देते, तो भी प्रकृति की व्यवस्था पर, उस का कैसा भयानक परिणाम गिरता! फल जिसका यह होता, कि संगम की बनिस्बत भी कोई न कोई दूसरी बलवान् शक्ति को प्रभु का सामना करने के लिए यहां आना पड़ता। और, यह पारस्परिक धींगा धींगी तब तक यहाँ मची ही रहती, जब तक कि प्रकृति में समता के भावों की पुनः संस्थापना न हो जाती। और, जब तक कर्म-सत्ता का ऐकान्तिक अभाव न हो जाता, तब तक के लिए महा प्रभु को केवल ज्ञान से दूर ही रहना पड़ता।

जिस समय वीर प्रभु, संगम देव के उपसर्गों से सताये जा रहे थे, इन्द्र को उस घटना का सारा हाल भली भाँति मालूम हो गया था। और, प्रभु की आन्तरिक इच्छा यदि होती, तो इन्द्र वहाँ पहुँच कर, उन्हें (उपसर्गों को) बात की बात में हटा भी सकता था। इन्द्र का दिल भी उस समय बड़ा ही दुखा। इस का कारण, प्रभु में उस की प्रगाढ़ श्रद्धा का होना था। परन्तु भगवान् की इच्छा के प्रतिकूल चल कर, वह एक पत्ता भी हिलाना नहीं चाहता था। उस को, कर्म-मीमांसा में, प्रभु के स्वात्मावलम्बी विचारों का पता, बहुत पहले ही से था। अतः वह यह भी जानता था, कि उस के द्वारा प्रभु को उपसर्गों से बचाने का प्रयत्न और प्रयास करना, उन को उन के केवल-ज्ञान के प्राप्त होने में विलम्ब का कारण बन कर, अन्तराय पटकनेवाला सिद्ध हुआ होता। और यह बात भावी को भी अब मंजूर नहीं थी। भगवान् के साथ, इधर उधर के उपसर्गों को होता देख, स्वयं भावी को भी लज्जा और दुख अब हो रहा था। उसका हृदय अब प्रायः उन के लिए पूरा पूरा पिघल चुका था। एक चतुर सुनार; जिस प्रकार सोने को धधकती हुई अग्नि में डाल कर, उस की उज्ज्वलता को और

भी बढ़ा देता है, उसी प्रकार भावी भी भगवान् को बार बार की अग्नि-परीक्षा में डाल डाल कर और उन के अन्तर की सूक्ष्मातिसूक्ष्म कालिमा तक को मिटा कर उन की उज्ज्वलता को और भी अधिक से अधिक रूप से चमका देना चाहती थी। क्योंकि, उन के द्वारा उसे तो जगत् भर के कल्याण का सीधे से सीधे कोई मार्ग, निकट भविष्यत् ही में तैयार करवाना था। अस्तु।

अब संगम के उपसर्गों में मनुष्य-प्रकृति की बारीकियों के दो चार नमूने भी देख चलिये। सब से पहले उस ने भगवान् को शारीरिक वेदना देना शुरू की थी। इस प्रयोग में जैसे जैसे वह विफलता के अधिकाधिक निकट पहुँचता गया, वैसे ही वैसे वह अपनी प्रकृति, प्रयत्न और प्रयोगों को भीषण रूप देता चला गया था। मानुषिक विरोध की भावना, कल्पना-शक्ति और स्वभाव, आदि आदि प्रति-पक्षी के नाश में, जिस जिस अधम नीति का अवलम्बन कर सकते हैं, उस उस अग्नि-परीक्षा के साधन-स्थान पर संगम के द्वारा उस समय प्रभु को ले जा कर खड़ा किया गया था। परन्तु अन्त तक अभी, उस की एक सी हार ही रही। तब तो वह घबराया और झुंझलाया भी। उस की अपनी ओर से किये जाने वाले शारीरिक प्रयोगों में, तब उस ने एक बड़ा ही बोझिल लोहे का गोला प्रभु पर दे पटका। परन्तु " इहां कुम्हर-बतिया कोउ नाहीं, जो तर्जनि देखत डरि जाहीं, " वाली बात, इस बार भी देखने को उसे मिली। उस के शारीरिक उपसर्गों की कला का अन्त हुआ। इस प्रयत्न में जो भी वह पच थाका था; और उस के क्रोध, कल्पना–शक्ति, अचरज तथा हिम्मत का भी प्रायः अन्त सा हो चुका था; तथापि, था वह आशावादी। उस ने इस ओर से मुड़ कर, मानुषिक उपसर्गों का प्रयोग प्रभु पर करना प्रारम्भ किया। उस की इस नीतिमत्ता, से भली भांति जाना जा सकता है, कि वह पुरुष की प्रकृति को पहचानने में बड़ा ही सिद्धहस्त था। कहाँ जा कर, यहाँ के बलवान् से बलवान्, अपरिमित वीर्यवान्, संयम और शांति के स्रोत, और बड़े बड़े हिम्मत–बहादुर पुरुष भी कदरा जाते हैं, एक ओर, बड़े बड़े बर्बर सिंहों का झुंड तक, जिस महावीर पुरुष की असाधारण शक्ति के सामने बकरियों का समुदाय बन कर खड़ा रह सकता है, उसी महान् पराक्रमशाली पुरुष की वही जबर्दस्त शक्ति, दूसरी ओर, कहाँ जा कर, मोम से भी अधिक मुलाम बन सकती है; मनुष्य की इस कमज़ोरी का, जान पड़ता है, संगम ने बड़ी ही बारीकी से मनन किया था।

और, अपने उस ज्ञान का, बड़े ही योग्य समय में, प्रभु के शरीर पर उस ने समुचित प्रयोग भी किया।

इस बार के उस के प्रयोग, जो भी मनुष्य-शरीर के बिलकुल अनुकूल थे; तथापि, थे भीतर ही भीतर की मार से मार के ठौर कर देने वाले। "विषरस भरा कनक घट जैसे" की बात को सिद्ध करने वाले थे। उस ने चारों ओर से निर्बल हो कर, इस बार प्रभु पर, काम-वासना के प्रखरतम प्रयोगों का भयंकर, वार किया। उस ने अपनी माया फैलायी। जिस से प्रथम तो भगवान् के आसपास के प्रदेश में चारों तरफ सुखदायिनी वसन्त ऋतु की रचना हो गयी। अर्थात प्रकृति में, उस समय प्रभु के पास तरह तरह के, मन को चंचल कर देने वाले साधन आ जुटे। कहीं तो कोकिलाएँ पंचम स्वर में तान तान कर आलाप करती हुई, कामदेव की उस स्थली में आ पहुंचने का ढिंढोरा पीटने लगीं; और कहीं, सौरभवान् कुसुम-कलिकाएँ मुस्कुराती हुई अपने स्वामी का स्वागत करने में लगी दिखायी दीं। फिर इस प्रकार के नाना भांति के कामोत्तेजक द्रव्यों से वह वनस्थली उस समय परिपूरित हो गयी थी। एक ओर, यों जहां उस संगम ने, वसन्त को वहां ला दिखाया था; उसी संगम ने दूसरी ओर, वही, काम-कलाओं में पारंगत, रूप-लावण्य में अति ही बढ़ी चढ़ी, और नवोढ़ा, कामिनियों को भी, बड़ी से बड़ी तादाद में ला कर उपस्थित कर दी थीं।

वसन्त के समागम में, चंचल और बड़ी बड़ी आंखों वाली, यौवन के अभिमान से भरी पूरी, और अपने क्षीण उदर-भाग पर त्रिवली से सुशोभित, व रूप-मद की रूरी युवतियां, भगवान् के पास आ आ कर, अनेक भांति की काम क्रीड़ाओं का प्राण-नाशक जाल सा वहां बिछाने लगीं। उन्हों ने अपनी शक्ति भर काम-कला को वहां बिखेर कर, प्रभु के मन को मोहित कर लेने का अनवरत परिश्रम उस समय किया। भांति भांति के हाव-भाव दिखाये। कटाक्ष चलाये। मन को डिगाने वाले अपने अंगों को उन्हों ने प्रभु के सामने किया। कभी अपने शरीर पर के वस्त्रों को ढीला किया। और, कभी अपने सुकोमल लम्बे, पतले और चमकीले तथा भ्रमर के रंग को भी लजाने वाले केशपाशों को खोला, बिखेरा और सजाया। कोकिल-वयनी उन नारियों ने संगीत के कई सुमधुर और समयानुकूल रागों को आलापा। किसी मनचली युवती ने गाढ़ आलिंगन कर के प्रभु के दिल में काम वासना को जागृत करने की चेष्टा की। तरह तरह

के परम रमणीय नाच वहां होने लगे । वे चन्द्रानना ललनाएँ तब गलबहियां डाल कर प्रभु के मन को निज ओर खींचने का प्रयत्न करने लगीं । कोई उन्हें मधुर मधुर बातों से फुसलाने में रत हुई ! कोई पान लगाने में निरत हुई; तो, कोई पानदान और पीकदान लेने दौड़ी । फिर, कोई हार और मालाएँ गूँथनें में लगीं; तो कोई परम सुगन्धित पदार्थों का छिड़काव प्रभु पर करने लगीं । और, कहीं कोमलतम तथा सौरभान्वित कुसुम कलिकाओं से शैयाओं को सजाया जाने लगा । परन्तु परिणाम इन सब का टांय टांय फिस !

महा प्रभु के अविचल वैराग्य, आदर्श संयम, असाधारण तपोबल, उत्तम भावना, और आत्मकल्याण के साथ साथ, लोक-कल्याण के निश्चल व्रत को धारण किये हुए मन पर, बाढ़ के समान प्रबल वेग से आनेवाले इन उपर्युक्त सम्पूर्ण उपसर्गों का लेश-मात्र भी प्रभाव न पड़ा । तब तो उन उपसर्ग और उन के नाना भांति का साजों का मन मलीन हुआ । साथ ही, उस महा पुरुष की लोकोत्तर तपोशक्ति और मनोबल के प्रति, उन के मन में अपरिमित आदर और भक्ति पैदा हुई । उन्हों ने मन ही मन कहा, " धन्य ! युवक पुरुषसिंह, धन्य ? अनुपम सुन्दरी और सब प्रकार के साज-बाजों से भरीपूरी, यौवन मद से छकी हुई, देवबालाओं और मौत को, अपने सामने खडी हुइ देख कर के भी, जो महावीर पुरुष-रत्न अपने निश्चय के पथ से तिल-भर भी नहीं डिगा; बाल भर भी इधर से उधर नहीं खिसका; वह सचमुच में मही का महावीर है ! पुरुष जाति का जीता-जागता अभिमान है ! मुक्ति का आधार-स्तम्भ है ! और, सन्तों का सम्बल तथा मनुष्य रूप में महान् देवता है ! जो सम्पूर्ण जगत्-जाल को तिनके के समान तुच्छ और नगण्य समझता है, वही सच्चा विजितेन्द्रि है ! वीर है । और, शूरमा है जान पड़ता है, अवश्य इसी महा पुरुष के हाथों, जगत् में कल्याण की पुनः संस्थापना होनेवाली है ! " यों, नाना भांति की भावनाओं को करती हुई, वे देवबालाएँ, मन ही मन, उन्हें वन्दना कर, वहां से अपना सा मुंह ले कर अपने स्थान को वापस चली गयीं ।

पाठको ! काम, क्रोध, मद और लोभ आदि अनेक प्रकार के शत्रु आत्मा को सदा परास्त करने के प्रयत्न में लगे रहते हैं । इन में से 'काम' की गिनती प्रथम स्थान पर की गयी है । शास्त्रकारों ने इसी 'काम' को 'विषयाग्नि' का जीता जागता स्वरूप माना है । सचमुच में, 'विषयाग्नि' ही क्यों, इस की ज्वाला

विष और धधकती हुई अग्नि से भी भयानक है। यहाँ, इस के प्रभाव से, बड़ों में बड़ों से लेकर छोटों में छोटों तक, कदाचित् ही कोई महा भागा पुरुष-सिंह या प्राणी बच पाया हो। संसार में इस काम के प्रभाव से अत्यन्त अधःपतन मनुष्यों का होता है। काम की वृत्ति यदि बहिर्मुखी हुई, अर्थात् संसारी भोग्य पदार्थों की ओर इस की वृत्ती रही, तो यही 'काम' सचमुच में हमारे बड़े से बड़े अनर्थ और अधः पतन का कारण बन सकता है।

पाठको ! अभी तक उस संगम देव की ओर से लगायी हुई सम्पूर्ण शक्ति का भगवान् के आगे भारी अपमान हुआ। परन्तु तब तक भी उस की डाह की प्रवृत्ति का अन्त नहीं हो पाया। उस ने अपनी दैविक विकट से विकट शक्ति को, एक साधारण मानुषी शक्ति के सामने हारी हुई और अपमानित देख कर, बार बार उस की निन्दा की। वह बीसों बार आत्म-धिक्कार का शिकार बना। वह सोचने लगा, कि "स्वर्ग में जा कर, अब मैं मुँह ही कैसे दिखा सकूंगा ? वहाँ से तो, मैं अपने साथ, दर्प और दम्भ को, लाया था ! मानुषिक और दैविक शक्तियों के संग्राम में, उन का तो अन्त अब हो चुका ! अब तो बेशर्मी, निराशा, और नामर्दी ही को यहाँ से ले कर, देव-लोक में मैं पहुँचूंगा ! पूरे छः मास, मुझे इस के शरीर पर दमन का चक्र चलाते हुए बीत गये। परन्तु यह कितने गजब का मनुष्य है, इस के कान पर तो जूँ भी न रेंगी ! मेरी दमनकारी शक्ति इस का एक बाल तक बाँका न कर सकी ! अच्छा, अब की बार इसे और देखता हूँ ! इस बार, इस को अपने आसन से अवश्य मैं चलित करूँगा ! यों विचार कर, संगम ने देवता होते हुए भी दानवता का नंगा नाच दिखाने में, उस समय जरा भी कोई कमी न की। वह फिर दुःशील बना। प्रभु को नये नये उपसर्ग वह देने लगा।

उस के पहले के उपसर्गों के समय, भगवान् ने छः माही तप की आराधना कर रक्खी थी। इधर तो आज उन की छः माही तपश्चर्या की पूर्ति हुई। और, इधर संगम ने उन के लिए नये उपसर्गों की योजना कर दी। प्रभु पारणा करने के हेतु गोकुल ग्राम में पधारे। उस समय जहां जहां भी प्रभु गये, सभी स्थानों के अदूषित आहार पानी को, संगम ने अपनी माया से दूषित कर देने की घृणित चेष्टा की। प्रभु ने जान भी लिया, कि यह सभी व्यापार संगम का है। परन्तु फिर भी वे उस के प्रति राग द्वेष के भावों से बिलकुल ही विलग रहे। जब

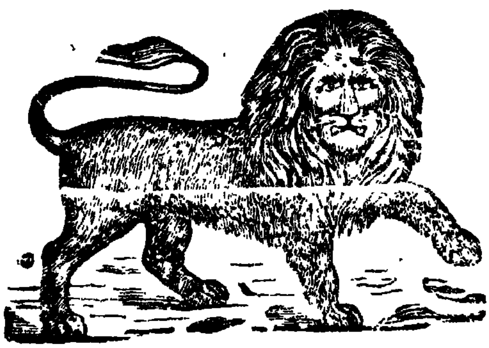
संगम ने देखा कि "आहार पानी के अभाव में, इस के मन में कोई राग-द्वेष का भाव जागृत नहीं हुआ। यह अपनी कठोर प्रतिज्ञा से विचलित नहीं हुआ,। इस के मन पर अब तक भी उदासीनता और ग्लानि के भावों की छाया तक न पड़ी। तब उसे जान पड़ा कि वह वीर तो पहले ही के समान निर्द्वन्द्व, निर्निमेष और निश्चल है। अपनी प्रतिज्ञा के मार्ग से विचलित हो जाना, यह तो अभी बड़े दूर की बात है! अभी इस प्रकार की भावना तक की भी कोई झाई, इस के दिव्य और भव्य चेहरे पर दिख नहीं पड़ती! अब तक संगम की सारी दैविक शक्तियों का प्रहार प्रभु पर, उस के द्वारा हो चुका था। अब उसे प्रभु की तप के द्वारा प्राप्त की हुई, अलौकिक शक्ति का पता लगा। वह तब तो कुछ

भी। घबराहट और अचरज की क्रियाएँ भी, उस के दिल में होने लगीं। उस का सारा गर्व और उत्साह, लाज और निराशा में बदल गया। इन्द्र के द्वारा, उस वीरभागा पुरुष के प्रति कहे हुए वचनों में, अब उस का पूरा पूरा विश्वास बंधा। यही नहीं, इन्द्र के द्वारा की हुई प्रशंसा से भी अधिक गुण प्रभु में पाये। उस ने महा प्रभु को अब मनुष्य के शरीर में जगत् की एक महान् शक्ति समझा। अन्त में, सब प्रकार से वीर, धीर, और गम्भीर, तथा अपने ध्रुव निश्चय से प्रभ को अडग देख, वह प्रभु के चरणों पर अपने कृत अपराधों की सुध उन्हें दिलाता हुआ, गिर पड़ा। क्षमा-याचना उस ने उन से की। प्रभु ने उसे अपना परम हितैषी जान कर क्षमा प्रदान की तब संगम ने प्रभु की नाना भांति से स्तुति की; और अपने स्थान को प्रस्थान किया। उधर संगम के स्वर्ग में जाने के पश्चात् इन्द्र महाराज बहुत ही रुष्ट हुए और उस देव-सभा में कहा, कि प्रभु दूसरों की सहायता नहीं स्वीकारते हैं; इसी से मैं चुप बैठा रहा। नहीं तो इस की क्या मजाल थी जो इस कदर छःछः महीने तक प्रभु को महान् उपसर्ग देता। खैर, मैं इसे अब तिरस्कार की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा कह कर उस देव को उसी समय देव-सभा से बाहर निकाल दिया।

भगवन्! आप की मुनि-वृत्ति का ध्येय कितना ऊँचा था? आप, कठिन से कठिन विपत्ति के बादलों के उमड़ पड़ने पर भी, कभी उद्विग्न नहीं हुए। जगत् के ऊँचे से ऊँचे सुख में आप स्पृहा-रहित बने रहे। राग, भय और क्रोध तो कभी भूल कर भी आप की मुनि-वृत्ति के पास हो कर नहीं निकले थे। सभी प्रकार की

अवस्थाओं में आप की बुद्धि निश्चल और स्थिर रहती। भगवन्! आप ने इस कृतघ्न संसार के सम्मुख, सभी प्रकार के ऊँचे से ऊँचे और सर्वत्र सुलभ आदर्श रक्खे थे।

संगम के हार मान कर चले जाने पर, भगवान् दुबारा उसी गोकुल ग्राम में आहार-पानी के लिए पधारे। वत्स नाम की एक गोपिका के घर से उन्हों ने प्रासुक निरवद्य आहार-पानी ग्रहण किया। इस प्रकार, यहां अनेकों प्रकार के, बड़े बड़े तपस्वियों, तेजधारियों और शूरों तथा वीरों के मन को भी बात की बात में डिगा देने वाले, उपसर्गों और परिषहों को सह कर और अपने निश्चल सत्य से उन्हें हरा कर प्रभु ने वहां से विहार कर दिया।



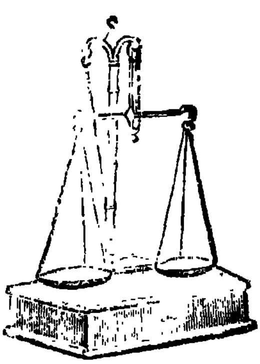
वैशाली में ग्यारहवां चातुर्मास

प्रभु ने पेढाणा से विहार कर, आलम्भिका, श्वेताम्बरी, श्रावस्ती, कौशाम्बी, वाराणसी, राजगृह और मिथिला, आदि विशाल बस्तियों की भूमि को अपने पद-सरोज से पवित्र किया। तत्पश्चात्, आप वैशाली में पधारे। प्रभु ने चौमासी तप को धारण करते हुए, ग्यारहवां चातुर्मास यहीं पर समाप्त किया। इस बस्ती में जिनदत्त नाम का एक बड़ा ही श्रद्धालु धार्मिक श्रावक रहता था। समय और भाग्य के फेर से उस की सम्पत्ति का उन दिनों सर्वनाश हो चुका था। अतः लोग उसे 'जीर्ण-श्रेष्ठि' भी कह कर पुकारा करते थे। एक दिन वह उस उद्यान में गया, जहां प्रभु कायोत्सर्ग को धारण किये हुए और तप में लीन हुए खड़े थे। उस ने प्रभु को देखते ही, उन के तपतेज और शारीरिक चिह्नों से, तथा शरीर से टपकते हुए उन के दिव्य-नूर से पहचाना, कि हो न हो येही अन्तिम तीर्थंकर वीर प्रभु हैं। उन के दर्शन कर के उस का हृदय प्रसन्नता से खिल उठा। वहीं आने पर उस का पुराना मानसिक शोक एकदम न जाने कहां बिला गया। तब तो बड़ी ही श्रद्धा और भक्ति से साथ उस ने प्रभु को नमन किया। अन्त में, कुछ तो उन के ध्यान की स्थिति से और कुछ आस-पास के लोगों से पूछ कर, उस ने प्रभु को उपवासे जाना। उस ने उपवास की समाप्ति पर अपने घर पर ही पारणा हो ऐसा विचार किया। अपनी इसी सद्भावना को फली-फूली बनाने के लिए, वह लगातार पूरे चार मास तक, प्रभु के पास दर्शनार्थ आता जाता भी रहा। अन्त में, एक दिन प्रभु की तपस्या पूरी हुई। यह जान कर, भगवान् को अपने घर से आहार-पानी बहराने के लिए, बड़ी ही सद्भावना और उत्सुकता से, प्रभु के घर पर आने की प्रतीक्षा में आंखें गड़ा कर, बैठा रहा। परन्तु भाग्य ने उस का प्रत्यक्ष रूप से साथ न दिया। प्रभु उस के घर पर न आते हुए, वहाँ के एक नये नगर-सेठ के यहाँ, जिसका नाम पूर्ण-भद्र था, पधार गये। जिनदत्त को यह देख और सुन कर, जो भी पूर्ण-भद्र के प्रति ईर्ष्या तो न उपजी; तथापि अपने भाग्य पर उसे तरस अवश्य आया। पर मन मसोस कर बैठे रहा। प्रभु जब पूर्ण-भद्र के घर पहुँचे तो

उस ने प्रभु का कोई भी मान सम्मान नहीं किया। तेजोनिधान वीर प्रभु, जो भी यहाँ के और परलोक के कहीं के भी किसी भी प्रकार के मान के भूखे नहीं थे; तो भी दर्शकों को यह उस की मगरूरी देख देख कर बड़ा ही बुरा लग रहा था। पूर्ण-भद्र ने भगवान् को अपने द्वार पर आया देख कर, अपनी एक दासी से कहा, "जा, उस साधु को कुछ खाने पीने को लादे।" तदनुसार, वह दासी काठ के एक पात्र में उबाले हुए उड़द ले आयी। और, वे उस ने प्रभु को बहरा दिये उस समय देवताओं ने आकाश में देव-दुन्दुभी बजाई। पांच दिव्यों की वृष्टि की। अहो दानं! अहो दानं! की गगन-भेदी आवाज़ से देवताओं ने दशों दिशाओं में-दान-की महिमा प्रसारित की। अड़ौसी पड़ोसी पूर्ण-भद्र के भाग्य की निन्दा और सराहना दोनों कर रहे थे। निन्दा तो उन्हों ने इसलिए की, कि देखो, ऐसे महा पुरुष को भी, जो स्वयं चल कर उस के घर पर आये हैं, न तो कुछ उत्तम और पर्याप्त भोजन ही उस ने बहराया; और न कुछ मान सम्मान ही प्रभु का उस ने किया। "और, प्रशंसा इसलिए की, कि" पूर्ण-भद्र है बड़ा ही भाग्यशाली; जिस के घर पर भगवान् स्वयं ही आ गये। तथा, जो भी कुछ रूखा-सूखा उन्हें वहाँ से मिला, पूर्ण सन्तोष के साथ ग्रहण कर, वहाँ से वे चल दिये। उन्होंने इस सेठ की असत् दृष्टि और धन के मदमातेपन पर ज़रा भी कोई विचार नहीं किया।" पाठको! वीर भगवान् जैसे महान् पुरुषार्थी पुरुषों को संसार के इन इधर-उधर के झगड़ों से वास्ता ही क्या है? वे तो जो भी कुछ करते हुए यहाँ नज़र आते हैं, वे केवल स्व-पर कल्याण के लिए ही करते हैं। अस्तु। प्रभु को अपने घर पर पारणा कराने की उत्सुकता में, चार महीने के लम्बे समय से चित्त लगाये रहनेवाले, जिनदत्त ने अपने मनोरथ को अस-फल देखा। उस की सारी आशाएँ निराशा में बदल गयी। वह अपने कमज़ोर नसीब की निन्दा और पूर्ण-भद्र के पूर्व-कृत्यों की प्रशंसा करने लगा।

प्रभु तो पारणा कर के वहाँ से पदार्पण कर गये। और, उस के कुछ ही समय के पश्चात्, वहाँ के राजा तथा कुछ उस के साथियों ने, पार्श्वनाथ भग-वान् के एक विशिष्ट ज्ञानवान् मुनि की, जो उस समय उसी फुलवाड़ी में विराजे हुए थे, जा कर सेवा-भक्ति की। राजाने कहा "भगवन्! मेरी राजधानी में पूर्ण-भद्र सेठ महान् भाग्यशाली और पुण्यात्मा पुरुष है। जिस के कि घर भगवान्

महावीर ने पारणा किया है। वह धन्य है। ऐसा भाग्यशाली और कौन हो सकता है? उत्तर में अतिशय ज्ञानी मुनि ने कहा कि।" राजन्! यह प्रश्न तुम्हारा बड़ा ही अच्छा है; और भावना-शुद्धि की इच्छा रखने वाले भावुक संसारी जनों के लिए, भावी कल्याण का मार्ग-प्रदर्शक है। अच्छा, सुनो! प्रत्यक्ष में, पूर्ण-भद्र जो भी अधिक भाग्यशाली और पुण्यात्मा संसार को दिख पड़ता है; परन्तु है तो सच-मुच में जिनदत्त ही उस से अधिक भाग्यशाली और पुण्यात्मा। क्योंकि, उस ने तो अपनी प्रेम सनी सद्भावनाओं के द्वारा, बहुत पहले ही प्रभु को पारणा करवा दिया है। जिस का परिणाम यह हुआ है, कि इस भव के पश्चात्, वह अच्युत-देव भव का पूर्ण अधिकारी बन चुका है। इसी से एक ओर जहाँ उस का यश संसार में बढ़ेगा; वहाँ दूसरी ओर' आवगमन से भी उस का समय आने पर, इस ओर लगने से, छुटकारा हो सकेगा। इस के विपरीत, पूर्ण-भद्र के भाव शुद्ध नहीं हैं। और यों, भाव-संशुद्धि के अभाव में, प्रभु के इस पारणे का जो भी फल उसे मिल पाया है, वह केवल इसी लोक का है।" यह कथन सुन कर, राजा ने जिनदत्त की सद्भावना और उस के छिपे हुए भाग्य की, मन ही मन, बड़ी प्रशंसा की। और, तब अपने साथियों को ले कर वह अपने स्थान पर वापिस चला गया। पाठको! पहचाना, प्रेम सहित सद्भावना के सुमधुर फल को? अतः जो भी धार्मिक क्रियाएँ हों उन में सद्भावना की विशेष आवश्यकता है।



भगवान् के चरण शरण में चमरेन्द्र

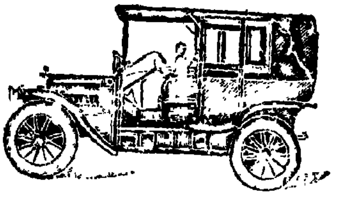
प्रभु वैशाली नगरी से विहार करते हुए और बेले बेले पारणा करते करते, अब सुसुमारपुर में पधारे। वहां अशोक वन-प्रदेश में एक अशोक के वृक्ष के नीचे वे बिराजे। पहले आपने वहां एक शिला-खंड के ऊपर तीन दिन की तपश्चर्या की। तदनन्तर सामने की किसी वस्तु पर अपनी दृष्टि स्थिर की; और कायोत्सर्ग कर के खड़े खड़े वे ध्यान मग्न हो गये।

उन दिनों चमरचंचा का राज्य-सिंहासन बिना इन्द्र के हो रहा था। उधर, पूर्ण नामक एक तपस्वी को तपस्या करते करते लगभग बारह वर्ष बीत चुके थे, अपनी तपस्या का अन्तिम एक मास अनशन व्रत में उस ने निकाला था। इस के पश्चात वहां से आयु पूर्ण कर के वह चमरचंचा की राज्यगादी का हक़दार हो कर चमरेंद्र के स्थान में पैदा हुआ। उस ने अपने ज्ञान-बल से सौधर्मेन्द्र को प्रथम स्वर्ग की वैभव को भोगते देखा। यह जान कर उस के मन में बड़ी ही तीव्र ईर्ष्या जागी। वह मन ही मन कहने लगा, " मेरी मौजूदगी में यह कौन है, जिसे अपने प्राणों का तो मोह नहीं है; परन्तु यहां से ऊपर के लोक की दैविक विशाल सम्पत्ति को भोगने की धृष्टता कर रहा है ? हो न हो उसे अभी अभी चल कर, उसकी करणी का ज़रा करारा मज़ा चखाऊँ। " उसी समय अपने अनुयायी देव को उसने अपने निकट बुला कर पूछताछ की। उस देव से उसे पता लगा, कि सौधर्म स्वर्ग में शक्रेन्द्र अपनी दैविक विशाल सम्पत्ति को भोग रहे हैं। यह बात ज्योंहीं उस ने सुनी, त्योंही उसकी त्यौरियां चढ़ गईं। वह कहने लगा, कि "क्या, शक्रेन्द्र मुझ चमरेन्द्र से भी बढ़ा चढ़ा है ? मैं अभी अभी जा कर उसे देखता हूँ। यों कह सुन कर वह वहाँ से उठा; और आयुधशाला में आया। वहाँ से 'परिघ' को उठाया। वहाँ से उत्साह और साहस में भर कर, चलते चलते प्रथम वह भगवान् महावीर के दर्शन को आया। और, तब वहाँ उन की शरणागति को ग्रहण कर, और विशाल वैक्रय रूप धारण कर अपने प्रति-पक्षी के ऊपर चढ़ाई करने को दौड़ पड़ा। रास्ते में वह सिंहनाद करता जाता था ! बीच बीच में, भुजाओं को वह घुमाता; फटकारता; और मूँछों पर ताव देता हुआ, तथा, अपने

रास्ते में पड़नेवाले छोटे बड़े देवों को बड़ा ही त्रास दिखाता हुआ, सौधर्म स्वर्ग में जा कर यों बोला, "शक्रेन्द्र कहाँ गया है? उस के आत्म-रक्षक देव लोग कौन कौन हैं? और भी जिन का बल उसे हो, वे सब के सब कहाँ हैं?" शक्रेन्द्र महाराज को अपने ज्ञान-बल के द्वारा सारी बात का तत्काल ही पता लग गया। शक्रेन्द्र एकदम बिना किसी भी प्रकार का आगा-पीछा सोचे हुए, क्रोध के आवेश में आकर, वज्र को अपने हाथ में लिये हुए, सिंहासन से उठे, कुछ ही आगे बढ़ कर चमरेन्द्र को उस ने अपने सम्मुख देखा। उसे देखते ही, उस की ओर, उस ने अपने वज्र को, जाज्वल्यमान ज्वाला पैदा करते हुए, यह कह कर, कि "चमरेन्द्र! ले, सँभाल अपने प्राणों को!" फेंक मारा। वज्राग्नि के साथ वज्र को, फुफकारते हुए सैंकड़ों नागों की भांति, अपनी ओर आते देख, उस की काया काँप उठी। वह प्राण बचाने के मोह में पड़ कर इधर उधर भागने लगा। परन्तु किसी ओर से भी उस को आश्रय नहीं मिला। तब तो प्राणों को ले कर वह वहाँ से भागा। और, चला चला वहाँ आया, जहाँ भगवान् महावीर ध्यान-मग्न हो कर तपस्या में लगे हुए थे। वहाँ आते ही लपक कर, त्राहि त्राहि चिल्लाता हुआ, भगवान् के चरणों में अपने शरीर को खूब ही छोटा कर वह गिर पड़ा।

अवधि ज्ञान के द्वारा शक्रेन्द्र को पता लगा, कि चमरेन्द्र भगवान् के शरण में जा पहुँचा है। शक्रेन्द्र तब तो यह समझ कर, कि कहीं इस वज्र से भगवान् के ध्यान में कोई विघ्न खड़ा न हो जाय, घबराया और शीघ्र ही प्रभु के पास आ पहुंचा। इतने में वज्र भी प्रभु के पास आ पहुंचा था। अभी सिर्फ चार अंगुल का अन्तर प्रभु के शरीर और वज्र के बीच में रह गया था, कि इतने ही में शक्रेन्द्र ने लपक कर वज्र को वहीं रोक लिया। उस दौड़ादौड़ी में वायु का एक वेग वहां बह गया। और, उस से प्रभु के सिर के बाल कुछ कुछ हिल गये। शक्रेन्द्र को यह बात जान पड़ी। उस ने सारी घटना अथ से इति तक संक्षेप में प्रभु को कह सुनायी। तब अपनी इस घटना के द्वारा, प्रभु का जो अपराध हुआ था, उस के लिए उस ने बार बार प्रभु से क्षमा-याचना की। और, वहां से एक अलग दिशा में, प्रभु के पास से कुछ दूरी पर जा कर, अपने आवेश को शक्रेन्द्र महाराज ने निकाल दिया। फिर शक्रेन्द्र प्रभु के पास आया। इस बार चमरेन्द्र से वह बोला, "चमरेन्द्र! आज प्रभु ही की शरणागति लेने से तेरे प्राण बच पाये। जा, प्रभु ही के कारण

मैं भी तुझे छोड़े देता हूँ। अब मेरी ओर से तू निर्भीक बन। परन्तु आगे बिना विचारे कोई भी काम अपनी शक्ति से परे का तू न करना।" उसे यों समझा बुझा कर, और प्रभु के चरण-कमलों की वन्दना कर, शक्रेन्द्र अपने स्थान की ओर लौट पड़े। अब चमरेन्द्र उठा। उस ने बड़ी ही विनय-शीलता के साथ प्रभु के पाद-पद्मों को स्पर्श किया। तब वह प्रभु से बोला, "भगवन्! आप ही के चरणों की शरण ने मेरे प्राणों को आज बचाया। प्रभो! सच है, अविचार-पूर्वक कही हुई बात और अविवेक-पूर्वक किया हुआ काम, ये ही भय, आपत्ति और नाश के बीज होते हैं। मेरे कारण, प्रभो! आप के ध्यान में विघ्न पड़ा। आप कृपासिन्धु हैं! क्षमा कीजिये।" इतना कह कर चमरेन्द्र भी अपने स्थान की ओर रवाना हुआ। इस के कुछ ही काल के बाद प्रभु ने भी वहाँ से विहार कर दिया।



प्रकरण सत्रहवाँ

कौशाम्बी में प्रभु के द्वारा भीषण अभिग्रह-धारण

सुमारपुर से विहार कर, प्रभु भोगपुर, नन्दी, मेढक, आदि बस्तियों में होते हुए, पौष मास की कृष्ण प्रतिपदा को, कौशाम्बी में पधारे। उस समय राजा शतानीक वहाँ राज करता था। रानी का नाम मृगावती था। यह राजा चेटक की कन्या थी। कौशाम्बी के राजा का मन्त्री उन दिनों सुगुप्त था। जिस की स्त्री का नाम नन्दा था।

इसी कौशाम्बी में धनावह नाम का एक सेठ रहता था, जो बड़ा ही धार्मिक, दयालु और परोपकार-प्रिय था। इस सेठ की स्त्री का नाम मूला था। यह मूला कलह-कारिणी और ईर्ष्यालु स्वभाववाली थी।

प्रभु ने कौशाम्बी में पहुँच कर, इस बार बड़ा ही कड़ा अभिग्रह धारण किया। वह यों था—

इस बार के अभिग्रह में तेरह बातों का समावेश था। जैसे, (१) आहार-पानी किसी राज-कन्या के हाथ से ग्रहण करना। (२) वह राज-कन्या बेची हुई होनी चाहिए। (३) पैरों में बेड़ियाँ उस के पड़ी हों। (४) हथकड़ियाँ भी हाथों में उस के हों। (५) सिर उस का मूँडा हुआ हो। (६) काँछड़ा लगा हुआ हो। (७) जो तीन दिन की तपश्चर्या से युक्त हो। (८) जिस के हाथों, आहार में उड़द के बाकले मिलेंगे। (९) वे बाकले भी, बहराते समय, एक सूप में भरे हुए होना चाहिए। (१०) वह राज-कन्या उस सूप को ले कर,

घर की देहली पर बैठी हुई, उस समय, होनी चाहिए। (११) उस का एक पैर देहली के भीतर हो। (१२) दूसरा पैर बाहर हो। और (१३) जिस की आँखों से आँसू भी उस समय टपाटप गिर रहे होंगे।

पाठको! कहिये, आप के अनुभव से अभिग्रह की कड़ाई का कुछ अन्दाज़ हो पाया, या नहीं? और भी देखिये! ऊपर की ये सब बातें एक ही स्थान पर और एक ही समय में, तथा एक ही व्यक्ति में मिलनी चाहिए। व्यक्ति भी कौनसा? राज-घराने का। और, वह भी बेचा हुआ तथा कारावास का दंड भोगा हुआ! धन्य प्रभु! पाठको! यहीं न ठहर रहिये। आगे बढ़िये। अगर ऐसा सारा साज एक ही स्थान, एक ही समय और एक ही व्यक्ति में कभी न मिल पाया, तो? 'तो' क्या? पूरे छः मास तक आहार-पानी का एकान्त बहिष्कार! पूरा पूरा निषेध (Boycott) धन्य प्रभु! ऐसे अभिग्रह का अभिप्राय, आप जैसे महावीर पुरुषसिंह ही धारण कर सकते हैं।

इस प्रकार अभिग्रह को धारण कर, कौशाम्बी की बस्ती में प्रभु गोचरी के लिए निकले। परन्तु आप की उपर्युक्त प्रतिज्ञाओं के अनुसार, कहीं से भी आहार पानी नहीं मिला। यों, एक दिन, दो दिन, पांच दिन, दश दिन, बीत गये। प्रभु गोचरी के लिए निकलते। प्रतिज्ञाओं के अनुसार, आहार पानी की असुविधाओं को एक जगह देखते; दूसरी जगह जाते। वहां भी वैसी ही असुविधा देख कर लौट पड़ते। यों, प्रति-दिन कुछ नियत स्थानों में, गोचरी के अर्थ प्रभु पधारते; और, बिना कुछ आहार-पानी लिये ही वहां से वे लौट पड़ते। भगवान् के अभिग्रह की यह चर्चा सारी बस्ती में फैल गयी। वे समय असमय उस अभिग्रह को जानने का प्रयत्न भी भरपूर करने में लगे। परन्तु भगवान् के बिना पता उन्हें बतावे भी तो कौन और कैसे? बस्ती के राजा, मन्त्री, बड़े बड़े ज्योतिषियों ने भी उस अभिग्रह को ढूंढ़ निकालने की कोशिश जारी की। परन्तु अन्त में, सभी जा कर थक रहे। अभी तक प्रभु को पारणा किये बिना, पूरे चार मास निकल चुके थे। तब भी अभिग्रह सफल नहीं हो पाया था।

पाठको! हमारे भगवान् को पारणा करने में अभी लगभग पौने दो मास से भी कुछ ऊपर का समय और लगेगा। इस बीच में अपन विचार करें, कि उन की ये सम्पूर्ण प्रतिज्ञाएँ कहां, कैसे और किस के द्वारा पूरी हुई। इस चक्रवत् परि-

वर्त्तनशील संसार में सभी के सब दिन एक से कभी नहीं जाते। प्राणियों की अवस्था-रूपी रथ के सुख और दुख दो पहिये हैं। इस से यह तो निश्चय हो गया, कि बिना पहियों के रथ का परिचालन हो ही नहीं सकता। चम्पापुरी के राजा और उस के राज-परिवार पर भी उन दिनों यही घटना घटी। वह कैसे घटी, सो संक्षेप में सुनिये।

चम्पावती के महाराजा दधिवाहन थे। उन की पति-परायणा स्त्री का नाम धारिणी था, और एक बड़ी ही शीलवती कन्या, जिस का नाम वसुमति था, उन्हें थी। यह वसुमति पूर्व जन्म में तप, संयम द्वारा पुण्य उपार्जन करनेवाली आत्मा रही होगी। यह बात उस के आज के शरीर, उस के लक्षण और क्रियाओं से प्रत्यक्ष दिख पड़ती थी। इस जन्म में वह अपने घनघाती कर्मों का क्षय कर के, मोक्ष की प्राप्ति के लिए यहां आयी थी। वह बालकपन ही से पूर्ण सदाचारिणी और धर्म के लिए प्राणों की बाजी लड़ा देनेवाली थी। वह यौवन को प्राप्त कर, संसार में बड़ी ही प्रसिद्ध हो गयी थी। इस के कई कारण थे। एक तो, रूप में वह अति ही रूपी थी। दूसरे, यौवन की कला उस के शरीर पर खेल रही थी। तीसरे, उत्तम माता-पिता के रक्त और उस के पूर्व-जन्म के संस्कारों ने उसे अपने समय की बड़ी ही अनुपम शीलवती बनाया था। चौथे, वह एक प्रसिद्ध राजकन्या हो कर के भी दुखी-दर्दी की सेवा में यथा-शक्ति सदा रत रहती थी। और, पांचवें, उस के अन्तर-प्रदेश की जन्म जन्मान्तरों की ज्ञान-ज्योति ने उस की रूप-माधुरी और प्रधान गुणों को और भी चमका दिया था।

वसुमति जैसी रूप-सुन्दरी अपने ज़माने की थी; जैसी लोक-प्रिय वह बन चुकी थी। उसी कदर आपत्तियों का पहाड़ भी अचानक एक दिन उस पर और उस के कुटुम्ब पर टूट पड़ा। परन्तु वह सती अपने आदर्श चरित्र के लिए, जगत् में, जैन धर्म के साथ ही साथ जीवित सदा रहेगी। उस भीषण विपद् काल में भी वह अपने आदर्श चरित्र से च्युत न हुई। तभी तो कहते हैं, कि सदा किसी के भी दिन यहां एक समान नहीं रहते। यहां सदा न तो कोई सुखी ही रह सकता है और न कोई दुखी ही। इस परिवर्तनशील जगत् में सुख और दुख गाड़ी के पहिये की भांति चक्कर सदा काटते ही रहते हैं। समय के साथ मनुष्यों की अवस्थाएँ बदलती हैं। इन सब बातों को सोच समझ कर धीर

पुरुष घोर से घोर विपद् काल में भी कभी घबरा नहीं उठते। " धिरास्तरन्ति विपदम् न तु दीनचित्तः। "

वसुमति के पिता दधिवाहन और कौशाम्बी के नृपति शतानीक में, किसी कारण उन दिनों कुछ ठन गयी। इस पर शतानीक बिगड़ कर, उस से युद्ध करने पर उतारू हो गया। उस ने सेना को बटोरा। और, अवसर पा कर धीरे से चम्पानगरी पर दल, बल के साथ चढ़ाई कर दी। राजधानी शत्रु-सेना से घिर गयी। दधिवाहन ने अपनी प्राण-प्यारी प्रजा की रक्षा में अपने सर्वस्व को होम दिया। परन्तु शत्रु के अचानक छापे से राजधानी के घिर जाने के कारण, बाहरी सहायता उसे तनिक भी न मिल सकी। अतः अन्त में हार ही उस के पल्ले में रही। और, उसे नगर छोड़ कर भाग जाना पड़ा। शतानीक ने राजधानी में प्रवेश कर, लूट मचादी। उस लूट में एक सुभट ने दधिवाहन की परम पति-प्राणा स्त्री धारिणी और परम शीलवती उस की कन्या वसुमति को अपने साथ लेकर वहां से वह चल पड़ा। सच है, विपत्तियाँ कभी भी अकेली नहीं आया करती हैं। तभी तो किसी ने कहा है, " Misfortunes Never come singly. " इसी नियम से घाव में बार बार चोट लगती है। अन्न न होने पर भूख बढ़ जाती है। आपदाओं में शत्रुओं की बाढ़ आजाती है। परन्तु इन सब का ज़ोर केवल कर्मों के प्रतिकूल होने ही से, चल सकता है।

वह सुभट उन दोनों मां–बेटी को अपने साथ ले चला। मार्ग में चलते चलते उस की, महारानी के रूप सौन्दर्य को देख कर उस के प्रति, नीयत बिगड़ी। और उस से उस ने प्रीतिदान माँगा। परन्तु उस वीर-रमणी और पति-भक्ता स्त्री ने उस का बड़ी ही बुरी तरह से तिरस्कार कर दिया। अपने सतीत्व और शील की रक्षा के निमित्त उस ने उस कामान्ध सुभटको अनेकों प्रकार से समझाया। परन्तु "कामातुराणां न भयं न लज्जा। " वह समझने ही क्यों लगा? उस ने महाराणी की ओर बुरी नीयत से हाथ बढ़ाया। महाराणी ने अपनी लाज और धर्म का, उस पापी के हाथ, बचना असम्भव देख, तत्काल ही अनशन व्रत धारण कर अपघात कर के प्राणों को छोड़ दिया। धन्य माता! आप ही सरीखी देवियों से किसी जाति और देश का सिर सदा ऊँचा रहा है। आप ने, " चाहे बड़े बड़े पर्वत की ऊँची ऊँची चोटियों से गिरे हुए पत्थरों के द्वारा शरीर चकना चूर भले ही

हो जाय; तीक्ष्ण दांतों वाले सांपों के मुंह में हाथ भले ही दे दिया जाय; अग्नि में शरीर भले ही फेंक कर जला दिया जावे; परन्तु शील का भंग पतिव्रता स्त्रियां कभी नहीं होने देतीं;" इस सिद्धान्त को अपने शरीर पर सोलह-आना निभा दिया। सतियों की यह रीति सदा से चली आयी है। उन्हें अपने शील-व्रत के संरक्षण के आगे, अपने प्राण और परलोक का जरा भी कोई मोह नहीं होता। महारानी के द्वारा उस के अपघात को देख कर, सुभट ने सिर पीटा और वसुमति मातृ-हीन हो कर बिलबिलाने लगी। उस करुण रुदन ने सुभट की कठोर छाती को भी पिघला दिया। तब तो उस ने वसुमति को 'पुत्री' और 'बहिन' का सा बर्ताव उस के साथ करने का आश्वासन और अभिवचन दिया। वसुमति ने भी भावी को समझ कर और विचार के द्वारा शोक का परित्याग कर, सुभट का साथ पकड़ा। सुभट ने उसी समय महारानी धारिणी के मृत शरीर पर से आभूषणों को उतार कर, उसे नीचा गिरा दिया। और, वसुमति को साथ ले कर अपने घर की ओर रथ को बढ़ा चला।

रूप-मद से अति ही रूरी कन्या के साथ सुभट को घर में आया जान कर, उस की स्त्री ने खूब ही उसे आड़ा-टेढ़ा लिया। "प्रथम ग्रासे मक्षिकापातः" की बात देख कर, सुभट ने वसुमति के साथ किये हुए सारे अभिवचनों और उसे दिये आश्वासनों की बातों को एकदम भुला दिया। उसी क्षण वह उसे अपने साथ ले कर बाज़ार में बेचने को चला। बाज़ार में आ कर सैकड़ों मनुष्यों के बीच उस ने उस का मोल-तोल किया। और, अन्त में, पांच सौ स्वर्ण मुद्राओं के बदले, उसे एक वेश्या के हाथ वह बेच चला। "कर्मणो गहना गतिः।"

वसुमति के दुःखों का अब तो ज़रा भी ओर-छोर न रहा। परन्तु धैर्य का उस समय भी उस ने साथ न छोड़ा। धैर्य ने भी उसे अपनी सँगातिन समझा। हमें भी स्मरण रखना चाहिए, कि जो पुरुषसिंह मान-अपमान, सुख-दुःख और निन्दा-स्तुति किसी की भी कुछ पर्वाह नहीं करते; केवल कार्य-साधन ही से अपना सीधा सम्बन्ध बनाये रखते हैं; और, जो अपने शरीर को बलि-वेदी पर चढ़ा कर के भी कार्य को सिद्ध करना चाहते हैं, सचमुच में धैर्य उसी पुरुष-रत्न को अपना सँगाती संसार में चुना करता है। धैर्य का ऐसा साथ देनेवाला पुरुष ही, फिर चाहे धन, यश, सुख, इत्यादि कुछ भी उस के पास न हो; और चाहे

जितनी हानि से मुठभेड़ उसे करनी पड़े; परन्तु वह अपनी प्रतिज्ञा पर आरूढ़ रहते हुए सदा सर्वदा उत्साह-पूर्वक महान् उद्योग में लगा ही रहता है। अस्तु। वसुमति ने सोचा, "विपत्ति तो मनुष्य-मात्र पर आती है। परन्तु जो धैर्य को कभी नहीं छोड़ता, दुःखों के दुस्तर महासागर को भी वही सुगमता से पार कर सकता है।" यों, पिता के राज्य को गया उस ने देखा। उस की माता ने उस के सामने आत्महत्या की, वह भी उस ने सह लिया। दुष्ट दुर्मति सुभट के हाथ बाजार में आना पड़ा, वह भी छाती पर पत्थर रख कर उस ने सहा। परन्तु अब इस बार उस का धैर्य डगमगाया। उसे कंपकंपी छूट गयी। वह कहने लगी, "हाय! इस अधम कोटि की और अधम पेशेवाली वारनारि के यहां मेरे शील और धर्म की रक्षा अब कैसे हो सकेगी? ऐसा कह नवकार मंत्र के द्वारा प्रभु से प्रार्थना करने लगी, कि "हे प्रभो! हे अशरण शरण! दीनानाथ! मुझ असहाय को आप ही शरण हैं।

परन्तु यह जगत् सदा ही से वीर और परोपकारियों को समय असमय पैदा करता आया है। ऐसे ही पुरुष-वीरों और अदृश्य शक्ति विशेषों के द्वारा, समय असमय, यहाँ अबल और अनाथ, निर्बल और निर्जन, तथा सब प्रकार से हारे हुए और हताशों की अकारण और निःस्वार्थ सेवा होती रहती है। उन की आपदाओं का अन्त होता रहता है। इन पुरुष-वीरों और अदृश्य शक्ति विशेषों के आगे, अपबल, तपबल, बाहुबल और दामों का बल कभी आँख उठा कर भी देख नहीं सकता। पाठको! वसुमति के शील और धर्म की रक्षा भी वारांगना के हाथ पड़ कर होना जो भी उसे तथा जगत् को असम्भव दिख पड़ता था, तब भी उस के घर पहुँचने के पहले ही पहल हो सकती थी। और, हुआ भी ऐसा ही। ज्योंही, वारांगना के घर की नरक-यातना का ख़याल कर के वसुमति भूमि पर गिरी ही थी, कि उतने ही में शीलरक्षक देवों ने बन्दर का रूप धारण कर के वेश्या के सुन्दर शरीर को नोंच डाला। इस घटना से वेश्या ने विचारा, "वसुमति अभी यहीं पर है। मेरे घर की ओर मुड़ी तक नहीं, तब भी मेरी ऐसी दुर्दशा हो चुकी है। न जाने, इस के मेरे घर पर पहुँच जाने पर तो, मेरी क्या दशा होगी, कौन कह सकता है!" वेश्या ने यह विचार कर वसुमति को वापस उस सुभट को सौंप दी और अपना धन ले कर, अपने भाग्य को कोसती हुई घर को चली।

सुभट ने एक बार फिर भी अपने मन की निकाली। अब वह उसे बेचने के लिए एक दूसरे बाज़ार में लाया। वहाँ धनावह नाम के एक बड़े भारी सदय-हृदय सेठ के हाथों, पूरे दाम ले कर, उसे उस ने दुबारा बेच दी। उस समय वसुमति के शरीर और ख़ास कर उस के चेहरे पर से शोक और संताप-भरी अपूर्व शांति की धारा बह रही थी। धनावह उस के प्रवाह में कूद पड़ा। कूदते ही, उस के मन में संयम, संतोष और सहनशीलता के भावों का अचानक उदय हो गया। मौक़ा पा कर करुणा ने भी उस के हृदय को लथेड़ दिया। उसी क्षण वह वसुमति से बोला, "पुत्री! मेरे साथ चल और निर्भय बन! मेरे घर में धर्म का भली भांति पालन होता है। साधु–साध्वियों की सेवा-सत्कार भी यथा शक्ति होती ही रहती है। तू अपनी इच्छा के अनुसार, वहाँ चल कर, धर्म-कर्म को निभा! निश्चय रख, तेरे साथ वहाँ, धर्म-पुत्री का सोलह–आना बर्ताव होगा। अतः शोक, सन्ताप और चित्त की चिन्ता को बिलकुल दूर कर! और, उठ, मेरे साथ हो ले।" धनावह के वात्सल्य-भरे शब्दों ने वसुमति के निष्प्राण शरीर में जीवन भर दिया। उस ने अपने मन ही मन में धनावह के वात्सल्य-भाव की भरपूर प्रशंसा की और उस की तथा उस के सम्पूर्ण परिवार की भावी कल्याण–कामना को अपने साथ लिये हुए, वह धनावह के साथ हो ली।

धनावह, वसुमति के साथ घर पहुँचा। उस ने अपनी भार्या को, उस के साथ, पुत्री के समान श्रेष्ठतम व्यवहार करने कराने की बात कही। इतना ही नहीं, उस के अनुपम शील और संतोष के साथ, उस की रूप-माधुरी को देख कर, उस का वसुमति के बदले 'चन्दन-बाला' नाम रक्खा। इतना कह, धनावह तो अपने व्यवसाय में लग पड़ा। उस की स्त्री मूला ने उस के सामने तो हाँ, हाँ, कह दिया। परंतु अपनी पति की पीठ फिरते ही, काम वह उस से घरभर की दासी का लेने लगी। उस के दिल में, चन्दनबाला के अपूर्व रूप-सौन्दर्य के प्रति, बड़ी ही डाह भरी हुई थी। दूसरी ओर, धनावह का उस पर बड़ा ही आदर्श वात्सल्यभाव था। धनावह और चन्दनबाला के, पिता-पुत्री के इस निष्कलंक प्रेम को मूला अधिक समय तक देख न सकी। वह रात-दिन किसी न किसी ऐसे उपाय को ढूँढ़ने में लगी। जिस से वे कलंकित साबित कर दिये जाँय। वह हमेशा मन में सोचती रहती थी, कि "मेरा पति इस के अनुपम सौन्दर्य पर लट्टू हो कर ही इसे ख़रीद कर लाया है। संसार की आँखों में भला बना रहने के लिए ही वह इसे 'पुत्री' कहा करता है। परन्तु

अन्दर से है दाल में कुछ काला।" तभी तो किसी ने सच ही कहा है, कि "Beanty is a witch, against whose Charms faith Metteth into blood" अर्थात् खूबसूरती ही वह जादूगरनी है, जिस के जादू से ईमान का खून हो जाता है।

पाठको! स्त्रियों का दिल अकसर ऐसा शंकाशील रहता है। बात कुछ और ही थी। और, मूला समझ कुछ और ही बैठी थी। धनावह सेठ धार्मिक संस्कार-वान् और धर्म शास्त्र का ज्ञाता था। और, चन्दनबाला एक उत्कृष्ट श्राविका। यहां इन दोनों की यह धार्मिक मनोवृत्ति ही पारस्परिक सत्प्रेम का मूल थी। चन्दनबाला सदैव पितृभाव से धनावह के साथ बर्ताव करती और बदले में वह सेठ भी उसे अपनी धर्म-पुत्री मानता था यही कारण था, कि उस ने चन्दन-बाला को शान्त और पवित्र जीवन बिताते हुए धर्माराधना करने के लिए यथेष्ठ सुविधा कर रक्खी थी। परन्तु चन्दनबाला के अशुभ कर्मों का अभी भी उदय था। उसे और भी कई प्रकार की मुसीबतें अपने जीवन में उठानी थीं।

एक दिन मूला घर से बाहर थी। सेठ उसी समय घर आये। चन्दनबाला स्नान कर अपने शिर के खुले केशों को सुखा रही थी। उसी समय सेठजी ने अपने पैर साफ करने के लिए चन्दनबाला से पानी मांगा। चन्दनबाला ने कहा " पिताजी! आप यहीं पधार जाइये। पैर को मैं ही धो देती हूं। सेठजी चन्दनबाला के पास गये। वह पैर धोने लगी। उस के केश खुले थे, बार बार आंखों पर आते थे। इस से वह पैरों को साफ नहीं देख सकती थी। केशों को दूर हटाने के लिए सिर हिलाया सेठजी उस के प्रयोजन को ताड़ गये, उन्होंने सरलभाव से उस के केशों को अपने हाथों से थांभ लिया। इतने ही में मूला ने ढ़हली (घर की) में पैर रक्खा। उस ने उन दोनों के पिता-पुत्री के प्रेम को खूब ही समझ लिया। अब तो उस का सन्देह और भी बढ़ गया। वह सोचने लगी, " सेठ का मन युवती के सौन्दर्य पर रीता है। मैं बूढ़ी भी हो गयी हूं। जान पड़ता है, सेठ मेरे प्राण का प्यासा बन कर, अब इस के हाथ अपने प्रेम को पत्नी के रूप में देना चाहता है। परन्तु मेरे शरीर में प्राणों के रहते, मैं ऐसा कभी होने न दूंगी।" तब उस ने इन सारी भावी आपदाओं की जड़ चन्दनबाला को समझ कर, उसे ही मटियामेट कर देना चाहा।

एक दिन मूला को ऐसा ही मौका मिल गया। उस दिन सेठ पूरे दिन-भर घर पर न आया था। यह जान कर, उस ने एक नाई को बुलाया। मूला ने इस समय महापुरुषों के इस कथन को, कि "सुन्दरी युवती का मनोहर केश-पाश विचार-शक्ति के पैरों की बेड़ियां और अक्ल की चिड़िया का फन्दा है," सोलह आना सच माना। उस ने उसी समय उस नाई से कह कर, चन्दनबाला के सौन्दर्य के भूषण रूप सिर के सम्पूर्ण बालों को, अस्तुरे से बिलकुल ही साफ़ करवा दिया। पीछे उस ने उसे जकड़ कर हथकड़ी तथा बेड़ियों से बांध दिया और अपने बड़े भारी भौंयरे के भीतर ही भीतर की एक कोठड़ी में उसे रखवा कर पीहर चली गई। परन्तु जिस चन्दनबाला ने आज तक अनेकों विपदाओं का साहस-पूर्वक सामना किया था, उसी ने यह भी सह लिया। उसे ज़रा भी दुःख नहीं हुआ। उस समय भी उस की हृत्तन्त्री के तारों से यह झनकार निकल रही थी—' विपत्ति खेद किस बात का ? और सम्पत्ति के आने पर खुशी काहे की ? जब कर्मों ही की गति मेरी ऐसी है, तब होनहार, जो होगी, हो कर ही रहेगी।

पाठको ! हम ऊपर कह आये हैं, कि चन्दनबाला (वसुमति) अपने घन-घाती कर्मों का नाश कर के, इसी भव में मोक्ष को प्राप्त करने के लिए यहाँ आयी थी। इसी लिए तो, इस एकान्त स्थान और समय का भी सदुपयोग करने को, 'नवकार' मन्त्र का जप वह वहाँ करने लग गयी। महज्जन घोर विपद् के आ पड़ने पर भी, अपने आरम्भ किये हुए काम को कभी छोड़ नहीं बैठते। परन्तु उसी विपत्ति काल में, साधारण संसारी जन रो रो कर, अपने लोक और परलोक को बिगाड़ देते हैं।

कार्य से फुर्सत पा कर धनावह घर पर आया। परन्तु वहाँ चन्दनबाला को वह देख न पाया। उस ने किसी दासी से उस के बारे में पूछताछ की। उस से 'कहीं यहीं होगी,' का उत्तर उसे मिला। सेठ ने भी यह समझ कर, कि 'कहीं बाहर गयी होगी, अभी आजायगी,' यों, एक एक कर के चन्दनबाला को ला-पता हुए पूरे तीन दिन निकल गये। तब सेठ बड़ा ही घबराया।

इस पर सेठ को हार्दिक विषाद होने लगा। उस की खोज करने में भी उस ने कोई कमी नहीं की। परन्तु " जागता हुआ कभी बोलता नहीं; सोते हुए को पुकारने पर वह दो चार आवाज़ में जरूर उठ ही बैठता है," वाली

मसल घटी। तब तो सेठ ने 'चन्दनबाला' का मुख फिर से न देख लेने तक 'अनशन' रखने का कठोर व्रत ग्रहण कर लिया। सेठ को शोकतुर और कड़ी प्रतिज्ञा के वश होता देख-सुन कर, एक पड़ौसिन सेठ के पास आ कर बोली, "सेठ जी! चन्दनबाला परम सदाचारिणी और एक आदर्श कुल की कन्या है। जिस दिन से तुम्हारे घर में उस ने पैर रक्खा था, ठीक उसी दिन से तुम्हारी पत्नी के मन में उस के प्रति द्वेष की प्रचण्ड आग भड़क रही थी। उस आग में उस ने उस को भूँज मारा। अब तक कदाचित् ही वह बची होगी। तुम ने पुरुषार्थी और प्रयत्न-शील होते हुए भी, शोक-मग्न हो कर, हाथ पर हाथ रख बैठ रहना उचित समझा। अब शायद ही तुम उसे देख पाओ। परन्तु उठो! अब भी समय है। प्रयत्न करो। जगत् को ढूंढ़ मारने से क्या नतीजा निकला? पहले अपने घर ही को झाड़ो-बुहारो।" पड़ोसिन के इन शब्दों ने सेठ की नस नस में बिजली फूंक दी। उसे क्रोध तो अपनी स्त्री पर हद से ज्यादा आया। परन्तु उसे असामयिक और अप्रधान काम जान कर छिटका दिया। उस ने उठ कर, उसी चण निज घर का कोना कोना देखना-भालना शुरू कर दिया। और, अन्त में ढूंढ़ता ढूंढ़ता उस कोठरी में पहुँचा, जहां चन्दनबाल सिर-मुडाये बंधन से जकड़े हुए, और देहाभिमान को विसारे हुए, विगत तीन दिनों से भूखी-प्यासी, पंच परमेष्ठी नमस्कार-रूप नवकार मंत्र का तल्लीनता से जाप करती हुई पड़ी थी। वह चन्दनबाला की ऐसी शोचनीय दशा को देख कर बड़ा ही दुखित हुआ। वह उसी चण उसे शुद्ध वायु में लाया। फिर, उसे उस ने सचेत कर के, उस की इस दुःखद दशा का कारण और करण के बारे में पूछताछ की। परन्तु चन्दनबाला के प्राण कंठ-गत हो रहे थे। उस से बोला न गया। केवल हाथ के संकेत द्वारा कर्मों की गति की ओर इशारा किया। धन्य देवी! नारी-जाति की शोभा और मर्यादा तुम्हारे ही सरीखी धीरा और सदाचारिणी नारियां होती हैं।

तब धनावह उसे ले कर किसी तरह भोजनालय के निकट पहुँचा। और वहां खड़ी हुई एक बुढ़िया दासी से उस ने चन्दनबाला तथा अपने लिए कुछ खाने को लाने के लिए कहा। दासी ने 'केवल उस समय उड़द की बाकलियां' होने की सूचना सेठ को दी। और, आज्ञा मिलने पर ले आने को कहा। धनावह ने 'ठीक' कह कर वही मंगा लिया। परन्तु आज तेले का पारणा उस बा-

ला को था। पारणा करने के पहले, किसी मुनि के, उधर, उस समय आ निकलने की मन ही मन भावना उस ने की। पाठको! 'यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी' अर्थात् जिसकी जैसी भावना होती है वैसी ही उस को सिद्धि होती है। तत्काल वीर भगवान् उधर भिक्षार्थ आ निकले। इस के पहले वे उसी कौशाम्बी के मंत्री की पत्नी 'नन्दा' और महारानी 'मृगावती' के यहां भिक्षार्थ हो आये थे। परन्तु उन के अभिग्रह की भीषण प्रतिज्ञा के अनुसार वे वहां से वापस फिर गये थे। यहां भी अभिग्रह की तेरह उपर्युक्त प्रतिज्ञाओं में से बारह की पूर्ति हो रही थी, परन्तु एक बात यहां भी नहीं मिली थी। प्रभु तब यहां से वापस जानेवाले थे। अपने घर आये अतिथि को, नहीं नहीं, वीर भगवान् परम संयमी, अपार तेजोनिधान और अपूर्व तपोबली अतिथि को बिना आहार पानी ग्रहण किये, वापस जाते देख, चन्दनबाला की छाती भर आयी। उस की आंखों से छल छल कर के पानी की धारा बह निकली। बस, कमी भी तो इसी बात की थी। प्रभु ने अपने अभिग्रह की सम्पूर्ण प्रतिज्ञाओं को अक्षरशः पूरी हुई जान, चन्दबाला के हाथों, सेठ धनावह के घर, आहार पानी लिया। यह देख कर, चन्दनबाला का हृदय हर्ष से खिल उठा। आकाश मंडल में बजती हुई दुन्दुभी ने उस के हर्ष को और भी बढ़ा दिया। उसी समय देवों ने उस धनावह के घरपर पंच दिव्य द्रव्यों की वर्षा की। तब तो धनावह के घर नाना भांति के उत्सव और मंगल मनाये जाने लगे। कौशाम्बी का राजा, राजमन्त्री, अपने अपने परिवारों के साथ, सेठ धनावह के घर आये। उन लोगों ने चन्दनबाला और उस के कारण, सेठ धनावह के भाग्य की, भूरि भूरि प्रशंसा की। उन सब ने भगवान् को बार बार सप्रेम और भक्ति के साथ नमन किया। पाठको! आज पांच दिन कम पूरे छः मास भगवान् को अभिग्रह धारण किये हो गये थे। भगवान् ने पारणा कर वहां से विहार कर दिया। राजा शतानीक, मन्त्री, आदि के साथ अपने घर आया। चन्दनबाला अपने अन्तिम ध्येय को न भूल गयी थी। भगवान् को केवल ज्ञान प्राप्त होते ही, उस ने भी दीक्षा ग्रहण करली। और, जीवन का शेष समय, आत्मानुसन्धान के विचार और मनन करने में, साध्वी हो कर, बिताया।

चम्पा नगरी में भगवान् का बारहवां चातुर्मास

भगवान् कौशाम्बी से विहार कर सुमंगल गाँव, वैशाली, समंसत्क्षेत्र, पालक गाँव, आदि मार्ग की छोटी बड़ी बस्तियों में पधारते हुए, चम्पा नगरी में आ विराजे। इस समय तक वर्षा निकट आ लगी थी। आप वहाँ के अग्निहोत्री ब्राह्मणों की धर्मशाला में इस बार ठहरे। बारहवां चातुर्मास आप ने इस बार यहीं किया। इस बार भी पूरे चारों मास की तपस्या आप ने धारण की थी। वर्षा के बीत जाने पर, प्रभु ने यहाँ से पारणा कर विहार कर दिया। चले चले तब आप ने भूभंक और मेढ़क गाँव की भूमि को स्पर्श करते हुए पणमानी गाँव में पदार्पण किया।

षरामानी गाँव में भगवान् को अन्तिम उपसर्ग और कर्म सत्ता की मीमांसा।

पाठको! भगवान् ने आगे हो हो कर, अपने पूर्व जन्म-जन्मान्तरों के, सम्पूर्ण कर्मों का खाता आज तक प्रायः अदा कर दिया था। इस बस्ती में कर्मों का बदला और चुकाना रह गया था। उसे भी चूकता देने के लिए आप स्वयं चल कर यहाँ पधारे। आप के जीव ने, अपने वासुदेववाले पूर्व भव में, जिस शैया-पालक के कानों में गरमा-गरम पिघला हुआ शीशा, उस के एक साधारण से अपराध करने पर, उँडेलवा दिया था, उसी कर्म का बदला भगवान् को यहाँ चुकाना था। वह शैया-पालक भी इस बार इस बस्ती में एक ग्वाला बन कर जन्मा था। अपनी उदारता से, उस जन्मजन्मान्तरों के बदले को चुकाने के लिए, इसी बस्ती के निकटवर्ती किसी वन-प्रदेश में एक वृक्ष के नीचे आ कर ध्यानस्थ हो रहे। इतने ही में वह ग्वाला भी यहाँ आया। दोनों के कर्मों की मुठभेड़ का समय आ उपस्थित हो गया। एक, अपने उपकार का बदला लेने में स्वयं चल कर वहाँ आया था। तो दूसरा, अपने साथ किए हुये कर्म की मन खोल कर कसक निकालने के लिए घर से चला था।

भगवान् ने अपने त्रिपृष्ट वासुदेववाले भव में, राज-मद में आ कर, एक अति ही साधारण अपराध के बदले, जो अपने आश्रित जन के कानों में उकलता हुआ शीशा उँडेलवाने का कर्म किया था, उसी का निपटारा आज होने था। ग्वाला भगवान् को देखते ही क्रोध में भर आया। उस ने प्रभु के दोनों कानों में, किसी वृक्ष विशेष की दो छोटी कीलें काट छांट कर, ठोक दीं। साथ ही, यह बात किसी को जान भी न पड़; इस के लिए उस ने उन कीलों के ऊपर निकले हुए भागों को काट-छांट कर बिलकुल बेमालूम भी कर दिया। प्रभु के शरीर को जो भी इस समय असह्य वेदना हुई, तब भी वे पूर्ववत् स्थिर और शांत भाव ही से रहे। उन्हों ने सोचा, कि इस जगत् में प्रत्येक कार्य का मूल कोई न कोई कारण अवश्य हुआ करता है। इस सिद्धान्त से, ग्वाले के द्वारा

दिये हुए उपसर्ग के मूल में भी, भगवान् ने अपने ही किसी कर्म का फल देखा। फिर, जो जैसा बोता है, अवश्य वैसा उसे काटना ही पड़ता है। भगवान् ने अपने पूर्व त्रिपृष्ट के भव में, जिन क्रूर मनोभावों के वश में हो कर, असाता-वेदनीय कर्मों के बन्धन का बीज अपने लिए बोया था, उन की मूल में कदाचित् नीचे के तत्त्व रहे होंगे।

(१) सब से प्रथम बात तो, राज-पद का मद।

(२) राज-पद के मद में मनुष्य को मनुष्य न समझने का अविवेक।

(३) पुनर्जन्म और कर्म-मीमांसा की ओर से एकदम घोर ग़फ़लत।

(४) अपने उपभोग की सामग्री को पराये के उपभोग में आते हुए देख और जान कर, स्वार्थान्धता के कारण उत्पन्न हुई ईर्ष्यात्मक भावना।

और, (५) अपनी उपभोग की सामग्री पर दूसरे के द्वारा असामयिक और अचानक आक्रमण होते देख कर, उस की आयु, अवस्था, (स्थिति) और अपराध का बिना पूरा पूरा विचार किये ही, स्वच्छन्दता की नीति के अनुसार, क्रोध के आवेश में आ कर की हुई दण्ड की योजना।

मनुष्य को अपने राज-पद का मद कदापि न होना चाहिए। क्योंकि, राजा शब्द का अर्थ ही बतला रहा है, कि जो मन, वचन, कर्म और काया में सब प्रकार से शोभता हुआ है, सचमुच में वही राजा हो सकता है, और वही राज-पद पर शोभित हो सकता है। राजा को न्यायशील बनना चाहिए। न्याय की रक्षा और मर्यादा के लिए उसे सब कुछ सहन करना चाहिए। और अधिक क्या, उसे उस की रक्षा तथा मर्यादा के लिए अपने प्राणों तक की कोई पर्वाह न होनी चाहिए। उसे धर्म की भावना को कभी भूल न जाना चाहिए। लोक-मत का निरादर भी उस के द्वारा कभी नहीं किया जाना चाहिए। न्याय और कर्तव्य-पालन उस का मुख्य धर्म होना चाहिए। उसे मोह और ममता में पड़ कर के भी अधर्म से सदा अलग रहना चाहिए। राजा का कर्तव्य जो उसे बतलावे, वही उस का कार्य होना चाहिए। पथ भी उस का वही उत्तम है, जिसे उस का कर्तव्य प्रदर्शित करता रहे। फिर, वह प्रकृति के क़ानून का रक्षक भी समझा जाता है। अतः संसार में (अपने आधीन के संसार में) उसे सदा सर्वदा शांति, समता, शक्ति और संरक्षण के साधनों को

उपस्थित करते रहना चाहिए। उसे अपने द्वारा की हुई लोक-सेवा और संरक्षण की शक्ति से उस के अपने तथा परायों के असाता-वेदनीय कर्मों के निमित्त कारण उत्पन्न न होने देना चाहिए। समाज उसे सब प्रकार से योग्य और अनुभवी समझ कर के ही 'राजा' कहता और चुनता है, तब उसे भी समाज को सब प्रकार से संरक्षित रखने और पूर्ण सदाचारी बनाने में, जी-जान से जुट जाना चाहिए। फिर, राजा लोगों को यह भी कभी न भुलाना चाहिए, कि जब से वे अपराधियों को उन के कृत अपराधों के लिए तरह तरह के पाशविक दण्डों से दंडित करने लगे हैं, तभी से संसार में क़ायदे-क़ानूनों और अपराध तथा अपराधियों की संख्या, बरसाती नदी की बाढ़ की भांति बढ़ने लगी है। अपराध का प्रतिशोध अमानुषिक दंड से देना, मानों अपराधी को अपराध करने के लिए उत्तेजित करना है। उस के हृदय से सदाचार और अन्य सद्गुणों की जड़ को खोद निकालना है। अस्तु। प्रत्येक शासन-छत्रधारियों का परम कर्तव्य है, कि वे मनुष्य को मनुष्य ही समझ कर के दण्ड-विधानों को बनाने में अनुचित उपयोग करना न सीखें। अन्यथा, जहाँ वे दुराचारों की जड़ को खोदने का आयोजन कर रहे हैं, वहाँ दुराचार और पाप खूब ही फलते-फूलते नज़र आवेंगे। अस्तु।

प्रकृत घटना से यह स्पष्ट हो जाता है कि असहाय, निर्धन, और निर्बल मनुष्य को सताने पर, संसार में कितने भीषण अनर्थों और अत्याचारों का बिछौना बिछ जाता है, इस बात को आत्म का समदर्शी पुरुष ही पूरा पूरा जान सकते हैं। वैर की भावना, अपने छोटे से रूप से बढ़ कर, कालान्तर में किस प्रकार चहुं ओर पसर जाती है, इस बात को जगत् के महत् पुरुषों ही ने भली भांति समझा है। और, इसी कारण, उस से बाल बाल बचे रहने की सूचना भी समय समय पर उन्हों ने हमें दी है। इतिहास हमारे इस कथन की सचाई को सिद्ध करते हैं।

वासुदेव के मन में, अपने शैयापाल को कठोर दंड देते समय, कदाचित् यह भावना ज़रूर उठी होगी, कि " मैं अपनी प्रजा का एक-मात्र सर्वेसर्वा अधिपति हूँ। मैं चाहूं, उन्हें तारूं; मैं चाहूं उन्हें मारूं। मेरे कार्य में हस्तक्षेप करने का, संसार की किसी भी शक्ति को, कभी भी कोई अधिकार नहीं है। सम्भव है, इस प्रकार की अहंकार सनी भावना का उदय, जैसा कि उस के तत्कालीन कार्य से

जान पड़ता है, उस के हृदय में जरूर उस समय हुआ होगा। इसी अधम भावना के फेर में पड़ कर, वह अपने ऊंचे पद के गुण, धर्म और कर्म को बिलकुल ही भूल गया। यही हो कर न रहा। उस ने उस समय पुनर्जन्म और कर्म-फल की कठोर मीमांसा का विचार भी अपने हृदय से भुला दिया था। सच है, "छिद्रेष्वऽनर्था बहुली भवन्ति।" यही कारण था उन्हें अपने इस भव में उस का पूरा पूरा बद-ला चुका देना पड़ा था।

ग्वाले के द्वारा दिये हुए उस उपसर्ग को भी भगवान् ने समभावों से सहन कर लिया। इस तरह पूरे पूरे बारह वर्ष की लम्बी अवधि में लोक-दृष्टि से, भगवान् महावीर ने अनेकों प्रकार के असह्य कष्टों को सहन किया। परन्तु उन के वे कष्ट उन्हें उन के मिलनेवाले विशाल आत्मिक सुख के सामने एक पासंग के बराबर भी न थे। क्योंकि, संयमी को जो अनन्त सुख मिलता है, उस के सामने यहां के शारी-रिक कष्ट अत्यन्त तुच्छ, हेय और नगण्य होते हैं। परन्तु उसे अपनी इस वास्तविक सुख की स्थिति को प्राप्त करने के लिए, असाधारण धैर्य धारण किये रहना चाहिए। इस के बाद वह ग्वाला अपने रास्ते गया और प्रभु अपने पथ पर लगे।

भगवान् के साथ 'खाक' नामक वैद्य की सहानुभूति.

वे वहां से विचरण कर, पड़ौस की एक वस्ती में पधारे। जहां 'खाक' नाम का एक वैद्य रहता था। उस ने प्रभु की मुखाकृति को देख कर, उन्हें किसी प्रकार की शारीरिक पीड़ा से पीड़ित समझा। तत्काल उस ने उन के शरीर को टटोला। उसी समय उस ने प्रभु के कानों में ठूंसे हुए लकड़ी के कीलों को देखा। उसका हृदय उस वीभत्सकांड को देख कर कांप उठा! दौड़े दौड़े, उसी क्षण उसने सिद्धार्थ नामक एक सेठ को वहां बुलाया। और, उस की सहायता से उसने भगवान् के कानों में से उन कीलों को बाहर निकाल फेंका।

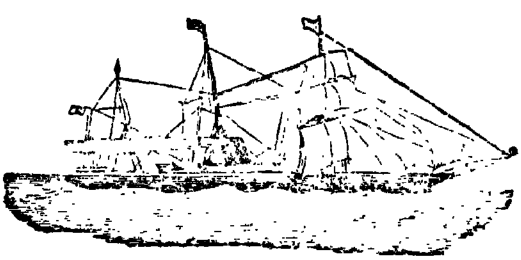


भव-तापों पर भगवान् की एकान्तिक विजय

पाठको ! इस परिवर्तन-शील जगत् में सभी का एक न एक दिन अवश्य अन्त होता है। भगवान् के असाता-वेदनीय तथा चारों घनघाती,कर्मों का अन्त हुआ। अपने दीक्षा-धारण के समय से ले कर, आज तक उन्होंने अनेकों प्रकार के असह्य कष्टों को हँसते हँसते सहा। परन्तु उन के वे दुख, लौकिक दृष्टि ही में दुखरूप थे। प्रभु ने उन्हें कभी भी दुख-रूप में न देखा। उन की अपनी निगाह में वे सभी सुख-रूप थे। "The voice of sorrow is the cry of fulfilment" वे उन्हें अमरत्व की ओर और सान्त से अनन्त की ओर लेजानेवाले थे। उन्होंने उन्हें मानव-जीवन की कसौटी समझा था। उन्हों ने उन दुःखों को अपने विवेक-बल से अपना सहायक और संरक्षक माना था। समय असमय, उन के प्रति वे अपनी आंतरिक कृतज्ञता प्रकट करते थे। उन्हों ने अपने अनुपम धैर्य, त्याग और संयम-शक्ति से बताया,कि सुख से मनुष्य जहां संसार को अपना कर नरकगामी बनता है, या जन्म-मरणों के चक्कर में पड़ता है; वहां,दुख उस संसार से अलग कर, उसे अपने परमात्मपद का अनुभव और उस की प्राप्ति कराने में, एक सच्चे मित्र का साथ देता है। दुख आत्मानुशीलन के सुदृढ़ और अभेद्य द्वार की कुंजी है। दुख, विवेक की जननी और सुबुद्धि का साथी है। वह जीवन को सार्थक करने वाला पारस मणि है। वह दुख ही है,जो अपनी धधकती हुई आंच में तपा कर, मनुष्य को सौ टंची सोना बना देता है। उसे पूजनीय और विमल बना कर सीधी राह पर चलाता है। और अन्त में, वह उस मनुष्य को यथार्थ महात्मा तथा भगवान् बना देता है। इसी के कारण, आत्मानुभव करने की चाट चित्त को लगती है। सन्तों का समागम भी यह कराता है। और, कर्म रूप मलविक्षेप को धो कर, अक्षय परमात्म-प्रकाश से हृदय को प्रज्वलित कर देनेवाला भी यह दुख ही है। जीव जिस की खोज में जन्म-जन्मान्तरों से भटकता रहता है, उसे उस अपने सत्य रूप की प्राप्ति भी यही दुख करवाता है। एक दिन, दुख अपने प्रचण्ड ताप में भव-कर्मों की ऐसी आहुति दे देता है, कि तब स्वयं उस का ही कहीं नामोनिशान नहीं रह जाता। जीव ऐसी स्थिति में कर्म-जाल से सदा

के लिए मुक्त बन कर, नित्यानन्द और प्रकाश स्वरूप जीवन को प्राप्त कर लेता है। जहाँ किसी भी प्रकार का वियोग, शोक, दुख, अन्धकार और आतप का कहीं नाम तक नहीं पाया जाता। शास्त्रकार जीव की इसी अवस्था को मुक्ति या निर्वाण पद की प्राप्ति कहते हैं।

पाठको! प्रभु के शरीर पर इस ग्वाले का यह अन्तिम उपसर्ग था। इस के आगे कोई भी उपसर्ग या परिषह उन्हें सहन न करना पड़ा। प्रभु ने दीक्षा-काल से लेकर आज लौं, कर्मराज की अतुलित बल-शालिनी सेना के साथ, बड़ी ही कुशलता से युद्ध किया। प्रति-पक्षी की ओर से आक्रमण भी बड़े ही बांके होते रहे। परन्तु पशु-बल की पहुँच हो ही कितनी लम्बी सकती है? विजय ने अन्त में भगवान् ही को वरा। प्रति-पक्षियों पर भगवान् की ओर से तनिक भी वार न किया गया; तब भी प्रति-पक्षियों के पैर उखड़ गये; उन्होंने मुँह की बड़े ही ज़ोरों से खायी। श्रमण भगवान् महावीर का यह दिव्य चरित्र मूक भाव से हमारे सामने एक उच्चतम आदर्श रखता है और वह यही कि हम भी अपने आत्मिक-बल को बढ़ा के कष्टों को अपनावें, और अनन्त अव्याबाध आत्मिक सुख को प्राप्त कर के कृतार्थ बनें।



दीक्षित अवस्था में वीर प्रभु की तपस्या का ब्यौरा

मध्यम अपापानगरी से विहार करते हुए प्रभु ऋजुबालिका नदी के किनारे जृंभक गांव के पास पधारे। वीर प्रभु ने इस काल में कुल चौदह प्रकार के मुख्य तप किये। तपस्या का समय और पारणे के दिन मिला कर कुल बारह वर्ष, छः मास और चौदह दिवस बीते। जिस में से केवल ग्यारह मास और उन्नीस दिन पारणा किया। अर्थात् इन तीन सौ उनचास दिन में, केवल तीन सौ उनचास बार यदा कदा पारणा किया। अवशेष चार हजार, एक सौ, पैंसठ दिनों का लम्बा समय कठोर तपश्चर्या में नीचे के अनुसार बीताः—

अनुक्रम संख्या	तप का नाम	तप संख्या	दिनों की संख्या	पारणे की संख्या
१	पूर्ण छःमासी तप	१	१८०	१
२	पांच दिन न्यून छः-मासी तप	१	१७५	१
३	चातुर्मासिक तप	६	१०८०	६
४	त्रैमासिक तप	२	१८०	२
५	ढाईमासिक तप	२	१५०	२
६	द्विमासिक तप	६	३६०	६
७	ड्योढ़मासिक तप	२	९०	२
८	मासिक तप	१२	३६०	१२
९	अर्द्ध मासिक तप	७२	१०८०	७२
१०	अट्ठम तप	१२	३६	१२
११	छट्ठ-तप	२२९	४५८	२२९
१२	भद्र तप	१	२	०
१३	महाभद्र तप	१	४	०
१४	सर्वतोभद्र तप	१	१०	१
		कुल योगफल	४१६५	३४९

द्वितीय खण्ड

प्रकरण—पहला

भगवान् महावीर को केवल-ज्ञान की प्राप्ति

प्रभुने इस भांति घोर तपस्या की। मानसिक, वाचिक और कायिक योगों का खूब ही निरोध किया। ध्यान-पूर्वक रहे। इतना सब कुछ करने के बाद, सच्ची सफलता ने उन्हें ढूँढ़ पाया। तब, वैशाख शुक्ल १० के दिन, जृम्भक नामक गाँव के बाहर, ऋजुबालिका नदी के उत्तर तट पर, शामक नामा एक गृहस्थ के खेत में, एक शाल वृक्ष के नीचे, भगवान् गोदुहासन लगाये, बेले की तपस्यायुक्त, ध्यान में विराजमान थे। उस समय धूप बड़े ही कड़ाके से संसार को तपा रही थी। लू बड़ी ही भयंकर रूप से बह रही थी। प्राणियों का शरीर, लता, बेलि, वृक्ष, आदि सब झुलसे जा रहे थे। ऐसे समय में भी भगवान् तपोयुक्त हो कर, ध्यान लगाये, आकाश के चंदोवे के नीचे वैसे के वैसे विराजमान रहे। यों वे रात-दिन अपनी मंज़िले मक़सूद को पार कर के, केवल-ज्ञान के अमर राज्य में प्रवेश पाने के लिए, प्रयत्नशील थे। उसी दशमी की रात को, केवल दो घड़ी के लिए द्रव्य नींद की झपक उन्हें लग गयी। उसी झपक में भगवान् ने दश स्वप्न देखे। वे स्वप्न, और उन का फल नीचे दिया जाता है। स्वप्न-शास्त्र के सिद्धान्तों से वे सब के सब स्वप्न, शीघ्र

ही फलनेवाले थे । जब मनुष्य अपने उच्चगुण, धर्म और कर्मों के द्वारा, प्रकृति पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है, उस समय, उस के भावी जीवन के कार्य-क्रम की, इसी प्रकार, प्रकृति के द्वारा, हर समय उसे पूर्व सूचना मिला करती है। तब प्रकृति प्रति पल उस की आँखों के इशारों को देखती रहती है। उस समय प्रकृति का कोई भी बड़े से बड़ा प्रलोभन, उस पुरुषसिंह को उस के अभीष्ट पथ से पतित नहीं कर सकता।



भगवान् के दस स्वप्न और उनका फल

स्वप्न	फल
१-एक विशाल काय और विकराल पिशाच को पराजित करना।	१-निकट भविष्यत् ही में, भगवान्, सब से प्रथम, मोहनीय कर्म का समूल नाश करेंगे।
२-श्वेत पंखों से युक्त पुंस्कोकिल नामक पक्षी का दिख पड़ना।	२-शीघ्र ही भगवान् शुक्ल ध्यान के अन्तिम पायों (समुच्छिन्नक्रिय,व्युपरत क्रिया निवृत्ति) पर पहुँचेंगे।
३-रंग-बिरंगे पंखवाले पुंस्कोकिल नामक पक्षी तीसरे स्वप्न में दिख पड़े।	३-विविध-अर्थों के बताने वाली देशना का भगवान् के द्वारा जगत् को दिया जाना, इस का फल था।
४-रत्न-जटित बड़ी दो मालाओं को भगवान् ने देखा।	४-इस से आगे चल कर निकट ही में भगवान् के द्वारा,(१) गृहस्थ-धर्म और (२) साधु धर्म, इन दो धर्मों की प्ररूपणा जगत् में होगी।
५-पांचवें में श्वेत गायों का एक समूह दिख पड़ा।	५-यह स्वप्न, भगवान् के द्वारा, निकट ही में, साधु--साध्वी और श्रावक श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना का सूचक था।
६-छठे स्वप्न में एक पद्मसरोवर भगवान् ने देखा। जो चारों ओर से पुष्पाच्छादित था।	६-इस के फल में भगवान्, चार प्रकार के देवों अर्थात् भुवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवों का स्वरूप, जगत् को समझावेंगे।
७-सातवें स्वप्न के अनुसार, भगवान् ने अपनी भुजाओं के बल, एक महा-सागर को, तैर कर पार कर लिया।	७-निकट भविष्यत् ही में, भगवान् इस जगत् महासागर में, अपनी जीवन-यात्रा की समाप्ति कर लेंगे; और निर्वाण-पद को प्राप्त हो जावेंगे।
८-जाज्वल्यमान सूर्य को देखा।	८-थोड़े ही काल में भगवान् केवल ज्ञान से युक्त हो कर, जगत् में विचरण करेंगे।

९—वैडूर्य रत्नों के समान अपनी अँतड़ियों से एक मानुषोत्तर पर्वत को परिवेष्टन करते हुए नौवें स्वप्न में भगवान् ने अपने आप को देखा।

९--यह निकट के काल ही में, उन के अपने अमर यश की, दिगन्त व्यापी बनने की, राज घोषणा थी।

और, १०--इस स्वप्न में भगवान् ने अपने आप को, मेरु पर्वत के शिखर पर, सिंहासन पर बैठे देखा।

और १०--इस का फल कुछ ही काल के पश्चात्,समवशरण में आसीन हो कर धर्म की देशना करना था।

पाठको! यों एक दिन पूर्व-जन्मों के कर्मों के द्वारा भगवान् की कठोरतम परीक्षा और तपश्चर्या पूरी हुई। चारों घनघाती कर्मों का भी साँगोपाँग क्षय हो चुका। तब उन्हें केवल-ज्ञान की प्राप्ति का शुभ अवसर हाथ आया। जब इतनी कठिनतम और असह्य आँच को उन्हों ने बिना मुँह से 'उफ्' किये सहन कर लिया, तब उन के शरीर में ज्ञान-स्वर्ण, कुन्दन के रूप में, अपनी पूर्ण दीप्ति को ले कर चमकने लगा।

पाठको! इस देव-दुर्लभ नर-जन्म में सब से अधिक इच्छित और सच्चे सुख की, प्राप्ति करानेवाली कोई वस्तु हो सकती है, तो वह एक ज्ञान ही है। आत्मा और परमात्मा की जानकारी करानेवाला ज्ञान ही है। इसी एक आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर, सम्पूर्ण प्रकार के विषयों का परित्याग किया जा सकता है। भव-रोगों का नामोनिशान मिटाया जा सकता है। तब किसी भी वस्तु की आकांक्षा नहीं रह जाती। इसी ज्ञान की अनिर्वचनीय अवस्था में विचरण करते रहनेवाला महापुरुष सम्पूर्ण पृथ्वी को अपनी निर्मल और कोमल शैया समझता है। एक यही अवस्था है, जिस में मनुष्य अपने लिए किसी के सामने दीनता कभी नहीं दिखाता। इसी अवस्था में मनुष्य सदा आत्मानन्द ही में मग्न रहता है। जब तक मनुष्य आत्मानुशीलन करना नहीं जान पाता, तभी तक संसारी विषय भोगों का वह शिकार बना रहता है। परंतु ज्ञान का अनुभव उसे होते ही, वह सम्पूर्ण लोकों के राजसी वैभवों को तुच्छ और हेय समझने लग जाता है। ज्ञान ही में अपरिमित शक्ति का स्थायी निवास है। इसी में प्रतिभा का प्रभुत्व

है। ज्ञान में प्रकाश और ईश्वरत्व है। या यूँ कहो, कि ज्ञान ही भगवन्त का स्वरूप है। इसी के बल प्राणी अभय बनते हैं। ज्ञान-सम्पन्न महापुरुषों के शरीर को चाहे फाँसी पर लटकादो; चाहे धधकती हुई अग्नि में जला डालो; चाहे शिकंजे में कस कर ईख की भांति पैल डालो; और, चाहे उन की अँगुलियाँ, किसी पदार्थ के संयोग से, मोमबत्ती की भांति जलादो; वे कभी उफ् तक न करेंगे; वे कभी रक्षा की अपेक्षा नहीं करेंगे; रोना-पीटना, सिर धुनना उन के लिए असम्भव हो जाता है। वे इन कामों को अपनी स्थिति और मर्यादा के विरुद्ध समझते हैं। वे विकसित वदन शूली पर चढ़ जाते हैं; हँसते हँसते मृत्यु का स्वागत करते हैं। क्योंकि, आत्मा के अमरपन और अजरपन का सन्देश उन्हें मिल चुका है। आत्मार्थी पुरुष ऐसे अवसरों पर शरीर से ममत्व एकदम छोड़ देते हैं। वे समझते हैं, कि उन के शरीर का कार्य, बस हो गया। जिस उद्देश्य को ले कर वे यहाँ आये थे, वह पूर्ण हो चुकता है। वे तब समझते हैं, मृत्यु उन्हें इस शरीर के बन्धन से छुड़ा कर, कोई विशेष कार्य, कोई जबर्दस्त कार्य, उन से लेना चाहती है। और उस के लिए उन्हीं को उस ने योग्य और आदर्श समझा है। ज्ञान सत्य-रूप है और सत्य ही ज्ञान है। यह कभी दब नहीं सकता; और न कभी दबाया ही जा सकता है। ज्ञान शिव है; सुंदर है; और अमर है। इस के अनुष्ठान से, किसी भी जाति एवं राष्ट्र का अमर एवं स्थायी निर्माण हो सकता है। वह लौकिक नहीं; किन्तु अलौकिक ज्ञान ही है, जिस का पता पा जाने पर निश्चल निश्चिन्तता आ जाती है। इस को पा कर, अन्यान्य लाभ, कोई लाभ ही नहीं माना-गिना जाता। आत्म-तत्त्व का अनुसन्धान करनेवाले साधक महापुरुष लोग, इसी परम ज्ञान के लिए, जीवन-भर ब्रह्मचर्य में अचल-प्रतिष्ठ हो कर रहते हैं। उसी मनुष्य का मानव-देह धारण करना सफल है, जिस ने इस परम ज्योतियों की भी ज्योति, ज्ञान के द्वारा अपने सत्स्वरूप को पहचान लिया है। ज्ञान में किसी प्रकार का कोई बदला नहीं होता। ज्ञान का सर्वोत्कृष्ट पुरस्कार यदि कोई हो सकता है, तो वह ज्ञान ही है। इसी से सम्पूर्ण भव-रोगों तथा अशांति का ऐकान्तिक अंत होता है। दुख और रोग, जितने भी चराचर में व्याप्त हैं, सब का बीज भय, राग और द्वेष हैं। सद्-ज्ञान के बल मनुष्य जब यह जान लेता है, कि वह कभी मर ही नहीं सकता है; तब फिर उसे मौत का भय भी रहने ही क्यों लगा? ज्ञान के द्वारा जब प्राणी को अपनी पूर्णता का पता लग जाता है, तब उसे इधर उधर की इच्छाओं से कोई वास्ता

ही नहीं रह पाता; वरन् सदा के लिए उन का साथ भी उन से छूट जाता है। चित्त की ध्रुव निश्चलता ही से ऐसे परम सुन्दर पारलौकिक या ईश्वरीय ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है।

पाठको! ज्ञान के अभाव में, जगत् अज्ञान के तिमिराच्छन्न सागर में गोते लगाता हुआ भटक रहा है। यह ज्ञान का अभाव ही है, जिस से जगह जगह जगत् में आज दुख, तृष्णा, गुलामी, आदि के भयंकर दृश्य दिखलायी पड़ रहे हैं। ज्ञान के गुम हो जाने के कारण ही मनुष्य, मनुष्य पर, जुल्म और बरज़ोरी करता है। चारों ओर भयंकर जीवन-कलह का भीषण नाच हो रहा है। अज्ञान मनुष्य- जाति का परम शत्रु है। ज्ञान ही एक मात्र मनुष्य का इह-लोक और परलोक में, सच्चा मित्र और चिरसंगी है। अस्तु। वीर भगवान् ने केवल ज्ञान को प्राप्त किया। संसार ने, अब अपने भव-रोगों के नाश हो जाने की भावना की। और, उस की आशा में आनन्द मनाया।

उसी समय देवता प्रभु के सम्मुख आ आ कर, उन्हें वन्दना करने लगे और उन की गुणावली का गगन भेदी नाद से कीर्तन करने लगे। प्रभु का पहला उपदेश उन देवों ही ने सुना। फिर प्रभु वहाँ से विहार कर अपापा नगरी पधारे। वहाँ देवों ने मिल कर उस समय एक समवशरण की रचना की। उस की कुछ विशेषताएँ यों थीं:-

(१) उस व्याख्यान मंडप में सभी जातियों, सभी वर्णों के व्यक्ति, पारस्परिक भेद-भावनाओं को भुला कर, एक साथ, उपदेश सुनने के लिए, आ कर बैठे थे।

(२) प्रभु के आत्म-ज्ञान का दिव्य प्रकाश मनुष्यों तक ही सीमित न रहा। वह पशुवृत्ति को भी पारलौकिक सुखमा का सु-स्वाद चखाने पहुँचा। हिंसक पशुओं ने अपनी क्रूर वृत्ति को अपने हृदय से निकाल फेंका। प्रेम-भरी भावनाओं से, आत्म-कल्याण की इच्छा में, शेर और बकरी, दोनों एक ही घाट पानी पीने की सुन्दर कामना को ले कर, वैर की भावना को समूल भुलाते हुए, प्रभु की शरण में, व्याख्यान-मंडप की ओर आँखे गड़ाये और कान लगाये चल पड़े। यह और कुछ नहीं, प्रभु की जगत् के प्रति श्रेष्ठतम करुणा की कमनीय प्रवृत्ति का फल मात्र था।

(३) व्याख्यान-मंडप में जो भी आकर बैठे, सभी के हृदय एक सी दया क्षमा, शान्ति, करुणा और समता के सुन्दर भावों से लबालब भर गये। सभी ने असीम आनन्द का अनुभव किया।

(४) भगवान् की दिव्य आत्मा का चारों ओर अनुपम तेज छाया हुआ था, जिस तेज के आगे, संसार का सभी तेज नीरस और हत-वीर्य जान पड़ता था। यही कारण था, व्याख्यान मण्डप के जन-समाज से, तथा प्रत्येक प्रकार के प्राणियों से ठसाठस भरा रहने पर भी, अपूर्व शान्ति वहाँ छायी हुई थी।

(५) प्रभु के व्याख्यान की भाषा तत्कालीन प्रचलित लोकभाषा (अर्द्ध-मागधी भाषा) थी, जो श्रोताओं के हृदय-तल में प्रवेश कर, सभी को पीयूष-धारा का पान करवा रही थी। अपनी प्राप्त ज्ञान-शक्ति के अनुसार, सभी जीव उस अमर उपदेश से अपने अन्तर्प्रदेश के मल-विक्षेप को धो रहे थे। और यों वे सब के सब एक अदृश्य आनन्द की ओर प्रबल वेग से बहे जा रहे थे। हमारे इस कथन की सचाई में, वहाँ की एकान्त नीरवता, श्रोताओं की भगवान् के मुख-मण्डल की ओर टकटकी, और उन के चेहरों की अपूर्व गम्भीरता, आदि साक्षी का काम दे सकेंगे।

(६) व्याख्यान-मण्डल की रचना इतनी विचित्र थी, कि उस के अन्दर किसी भी स्थान पर बैठा हुआ, कोई भी व्यक्ति प्रभु के प्रसन्न मुख-मंडल को, बिना किसी कठिनाई के देख सकता था।

इन के अतिरिक्त, भगवान् के व्याख्यान की (उपदेशामृत पान कराने की) जो शैली थी, उस के गुप्त रहस्यों का प्रकटी-करण आगे चल यथा-स्थान किया जायगा। यहाँ तो प्रसंगवश केवल व्याख्यान-मण्डल की मोटी मोटी बातों का उल्लेख-मात्र कर दिया गया है।

भगवान् के द्वारा उपदेश प्रदान

भगवान् ने केवल ज्ञान प्राप्त कर के, अब उस दिव्य सत्य का सन्देश जगत् को देना चाहा, जिस की प्राप्ति में, उन्हों ने असह्य और कठोरतम कष्टों तथा वेदनाओं को पूरे बारह वर्ष की लम्बी अवधि तक सहा था। भगवान् ने इतने घोरातिघोर क्लेशों को सहन करने के पश्चात् भी, कुछ काल तक शान्ति से बैठ कर जीवन बिताना उचित नहीं समझा। उन्होंने लोक-कल्याण के लिए, समय के अनुसार, अपने कार्य-क्रम को बदलने ही में, सच्ची विश्रान्ति का उन्होंने अनुभव किया। धन्य प्रभु! आप के बिना हम भूले—भटके संसारी जनों को विश्रान्ति के इस वास्तविक मर्म को भी तो कौन समझाता!

सच है, जितने भी महा पुरुष जगत् में समय, समय हुए, होते हैं और होंगे; सभी अपनी समस्त शक्ति को, शारीरिक, मानसिक, और आत्मिक सामर्थ्य को, अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु को, अपने सांसारिक धन-वैभव ही को नहीं, वरन् अपने आत्म-स्वरूप के विशालतम वैभव तक को, अपने समस्त कुटुम्ब-परिवार को, स्वयं अपने प्राणों को, जगत् के हितार्थ पायी हुई धरोहर-मात्र समझते हैं। वे परोपकार करते हैं; परन्तु किसी पुरस्कार प्राप्ति के विचार से नहीं; किसी अपने निज के स्वार्थ-पूर्ति के लिए भी नहीं। संसार उन्हें भला कहे, या बुरा। लौकिक दृष्टि उन्हें सफल मानें, या विफल। वे तो एक ही बात जानते हैं। वह बात होती है, उन के अपने निर्धारित मार्ग पर, अविचल धीरता और गम्भीरता पूर्वक चलते रहने की। संसार की बड़ी से बड़ी माया या ममता, या दुनिया की कोई भी मूल्यवान् और मोहक प्रलोभन उन्हें कभी खरीद नहीं सकता। किसी भी प्रकार के कष्ट से वे विचलित होना तो समझते ही नहीं हैं। उन के जीवन की पहली और अन्तिम श्वास के बीच तक का सम्पूर्ण कार्य और उन का जीवन परार्यों के लाभ और कल्याण के लिए होता है। वे परोपकार को आत्मोपकार मानते हैं।

प्रत्येक महापुरुष के सामने कोई न कोई विशेष कार्य होता है। वह अपने समय की समस्याओं को सुगमता से हल करता है और जनता की सुख शान्ति

को बढ़ाता है। उस के दीर्घ काल के बाद आनेवाली, उस के देश की, तथा अन्य देशों की मानव-सन्तति भी, यदि चाहें तो, अपनी अपनी प्रस्तुत कठिनाइयों में, उस के परम पवित्र और साहसपूर्ण कार्यों या आदर्श वाक्यों से देश तथा काल के अनुसार यथोचित लाभ उठा सकती है। इस प्रकार, एक महापुरुष अपने जन्म तथा रहन-सहन, आदि की दृष्टि से, एक देशीय होते हुए भी थोड़ा बहुत प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति और प्रत्येक समय के लिए होता है। वह अपने समय में था; वर्तमान में है; और भविष्य में रहेगा। वह अमर है। उन के कार्य और चरित्र अमर हैं। मनुष्य-जीवन को अपने इष्ट ध्येय की ओर ले जाने वाले हैं। उस महापुरुष की कोई सन्तान या प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी न होने की दशा में भी, वह स्वयं भूतकाल की शृंखला को भविष्य काल के साथ जोड़ने वाला है। वह जगत् के लिए प्रत्येक काल में दिव्य प्रकाश-स्तम्भ का काम देता रहेगा।

कैवल्य प्राप्त हो जाने पर, भगवान् ने जगत् के जीवों को दुखित देख कर, अपना अमृत-मय उपदेश देना आरम्भ किया। कोई भी दुखी-दर्दी, अज्ञानी या अशान्तचित्त पुरुष होता, बिना किसी प्रकार की रोक-टोक के, प्रभु के उपदेश का उचित लाभ वह ले सकता था। वहां रंग-भेद, जाति, वर्ण, आश्रम, धर्म, पुरुष या स्त्री, किसी भी बात का कोई विचार और परहेज़ न था। प्रभु की शरण सब के लिए सुखदायिनी थी। उन का हृदय सभी प्रकार के दुखी जीवों के लिए एक-सा व्याकुल था। सत्य का संशोधक किन्तु छटपटाता हुआ कोई भी प्राणी, उन के धार्मिक झंडे के नीचे जा कर, आनन्द-पूर्वक अपनी अभीष्ट सिद्धि को संप्राप्त कर सकता था।

भगवान् की ऐसी अकारण करुणा, भूत-दया और आत्मा के अमर-धन, सत्य के वितरण करने की चर्चा को देख, सुन और अनुभव कर, जन समुदाय उन की शरण को प्राप्त कर कर के अपने जीवन को 'सत्यं शिवम् सुन्दरं' के अलौकिक प्रकाश से प्रकाशित करने को दौड़ पड़ा। उस आगन्तुक जन-समुदाय में सत्य के संशोधक रहते थे; मोक्ष-मार्ग के जिज्ञासु लोग होते थे; मोह और ममता के भीषण ताप में तचे हुए प्राणियों का आवागमन होता था; और होते थे वे नर-नारी, जो सभ्यता की डींग मारनेवाले समाज के अंग होकर भी अछूत

और असहाय समझे जाते थे। भव-भय विनाशक भगवान् ने सभी के रोगों को यथारूप परखा। और,अलग अलग अनुमानों के साथ,अपने सत्यपने अमर-उपदेश का पान उन्हें कराया। सभी ने आत्मिक शांति का लाभ पाया। और चिरकाल के लिए सुखी बने। उन्हों ने अपने आदर्श उदाहरण से जनसमुदाय को समझाया और बतलाया,कि सब को हृदय से लगाओ। किसी से घृणा मत करो। घृणा मानव-चरित्र के लिए घुन है। एक बार भी जिस के हृदय में यह घुस पाया, उस का इसने सर्वस्व नाश कर डाला! विरोध और युद्ध, चाहे किसी धर्म के अंग कभी भले ही बन सके हों; परंतु घृणा और द्वेष भूल कर भी नहीं। सांसारिक और आत्मिक सभी उन्नतियों के लिए यह एकदम त्याज्य है। आत्मोन्नति के विशालतम महल की नींव सर्वत्र और सब काल में निर्भ्रान्त प्रेम पर ही लगायी जाती है। अतः समझो और व्यवहार में लाओ, कि घृणित वह नहीं है, जिस के साथ घृणा की जाती है। जो घृणा की नज़रों से देखा जाता है। परन्तु घृणित तो वह है, जो घृणा करता है। क्योंकि, उस का हृदय घृणा से घृणित है, वह घृणा के वशीभूत हो कर औरों के साथ अमानुषिक व्यवहार करता है; और संसार में दुख, क्लेश और अशान्ति की बाढ़ ले आता है। तथा, दूसरों में इन बातों का प्रचार करता है। कोढ़ी और अपाहज सभी के हृदय-मन्दिर में उसी दिव्य ज्योति का प्रकाश है, जिस से यह सारा जगत् प्रकाशमान हो रहा है। यही नहीं, जो हमारे और तुम्हारे तथा बड़े से बड़े धर्मात्मा और दुराचारी से भी दुराचारी सभी के अन्तःकरणों में एकसा प्रकाश करती है। चेतन आत्मा तो ऊँच-नीच, स्पर्श्य-अस्पर्श्य, कोढ़ी-अपाहज, और स्वस्थ–अस्वस्थ सभी में वर्तमान है।

भगवान् ने अपनी वाणी और करणी के द्वारा दिखाया, कि किसी के अस्तित्व को न मिटाओ। जो धर्म किसी भी प्रकार की अस्वाभाविक विषमता को आश्रय देता है, उस से दुनिया का कोई भला कभी नहीं हो सकता। अतः किसी को गिराने की, अधःपतित करने की, भावना कभी हृदय में मत रक्खो। तुम से जितनी भी हो सके, परायों की सहायता करो। अगर यह भी तुम नहीं कर सकते हो, तो कम से कम परिस्थिति का निरीक्षण करते जाओ। कभी किसी को सताओ मत। उठाओ; और केवल उठाओ!

दूसरे, जो मनुष्य जिस किसी भी भावना को धारण किये हुए हैं, चाहे वह बुरी से बुरी ही फिर क्यों न हो, अपनी आत्मा के प्रकाश द्वारा उन को वहीं से ऊपर उठाने की, उन्नत बनाने की कोशिश करो।

यों, भगवान् ने अपने उपदेशों के द्वारा धर्म की व्यापकता का दिग्दर्शन लोगों को कराया। उन ने उसी धर्म को धर्म कहा और माना, जो सभी प्राणियों को प्राण-प्रिय लगे। फिर चाहे वे दार्शनिक हों, या भक्त हों; पतित हों, या पावन हों; अथवा रंक हों या राव हों।

सर्वज्ञ भगवान् ने, शरण में आनेवाले सभी प्रकार के व्यक्तियों को सत्य का सत्स्वरूप बतलाया; उन का एक ही उद्देश्य था, कि दुनिया के घर-घर और दर-दर, सभी जगहों में सत्य का शुभ सन्देश पहुँचे। भव-ताप से तपित सभी जन सत्य की सुशीतल छाया में आ कर परमानंद का सदा के लिए उपभोग करे। कलह और क्लेश, दुख और दर्द, वैर और विरोध का दुनिया से निर्वासन हो। अवनि तल पर अहिंसा का अखण्ड शासन कायम हो। दया का दौरा प्राणी–मात्र के दिल में जारी हो। घर घर में परोपकार की प्रतिष्ठा हो। सात्विक प्रेम का पूर्ण पसारा हो। और अन्त में, इन सब साधनों के द्वारा, लोग एक-मात्र आत्म ज्योति के सुन्दर दर्शन कर, मुक्ति के राज-मार्ग की ओर बढ़ते चलें।

भगवान् के इस सत्य सन्देश का तत्कालीन मानव समाज पर बड़ा ही गहरा असर पड़ा। लोगों ने अपने अन्तर्प्रदेश को टटोला। उस की बुराइयों को झाड़ा–बुहारा।

बुरा जो देखन मैं चला; बुरा न दीखा कोय।
जो दिल खोजा आपना; मुझ सा बुरा न कोय॥

वाली बात का अनुभव लोगों को हुआ। भगवान् भी जगत् में समता भावों की संस्थापना के लिए केवल इतना ही चाहते थे। बस, इतना होते ही, मनुष्य, मनुष्य के प्रति जो राग और द्वेष की भावनाएँ थीं, मिटने लगीं। अमानुषिक अत्याचारों का विद्युत प्रवाह के वेग से लोप होने लगा। यज्ञों के नाम पर, जिन मूक, अबोध और निरपराध, तथा केवल घास पर रह कर, अपने जीवन के प्रारम्भ दिन से मरणोत्तर अवस्था तक मनुष्य के काम में आनेवाले, पशुओं के

रक्त से पृथ्वी को रक्त-रंजित बनाया जाता था, एकदम रुक गया। जाति-भेद-गत हीन रूढ़ियों का प्रायः अन्त हुआ। वर्णाश्रम धर्म ने ठंढी साँस ली। समतावाद का चारों ओर सुन्दर शासन प्रसरित हुआ। शांति का स्वागत घर घर होने लगा। लोभ और लालच का गला कटा। कामना की काया पलटी। लोगों की बहिर्मुखी वृत्ति की दिशा में परिवर्तन हुआ। वह अन्तर्मुखी बनी। स्वार्थ की संकुचित व्यक्तिगत सीमा का क्षेत्र व्यापक बना। जगत् में त्याग और तपस्या की प्रतिष्ठा बढ़ी। लोगों ने एक नयी और चमत्कार पूर्ण, किन्तु साथ ही साथ सात्विक भावनाओं को ले कर एक नवीन युग में पदार्पण किया।

भगवान् की वाणी में प्राणी-मात्र के प्रति प्यार था। प्रत्येक के प्रति आत्म-स्वरूप की भावना थी। उन्हों ने धर्म के नाम से होनेवाले अनेक जघन्य व्यापारों का समूल नाश किया। उन्हों ने लोगों के अन्तस्तल को टटोलनेवाले अपने सात्विक भाव और सुबोध तथा मधुर व सत्यसनी भाषा से लोगों के हृदयों को अनायास ही खरीद लिया। भगवान् की वाणी ने उन की प्रत्येक शंका का सुगमता और गम्भीरता से समाधान किया। भगवान् के भावुक भक्तों में से जिस किसी ने भी उन्हे समझने की चेष्टा की, वह एक अदृश्य मस्ती से मतवाला बन गया। उस के सांसारिक स्नेह और ममता के कठोर से कठोर, सभी बन्धन खुल गये। यहाँ के अर्थ, रूप, यौवन, यश, आदि सभी का मोह उस से छूट गया! जिन दुख, दारिद्र, रोग, शोक और तापों के आने पर, वह एक दिन तरह तरह के पश्चात्ताप करता था, उस की काया काँप उठती थी, आज उन्हीं के स्वागत की तैयारियों में वह लगा। उस ने उन्हें अपने पूर्व कृत कर्मों के घर की आती हुई सौगात-देनगी के रूप में देखा। और, कर्मों के जाल को काटने की शुद्ध नीयत से, उन्हें, उसने सिर झुकाकर ग्रहण किया। जिस लाभ या हानि का चिन्तन-मात्र एक दिन उस के नींद और भोजन को हवा कर देता था; जिस अर्थ या अनर्थ की आशंका से उस की आँखें डबडबा जाती थीं; जिस हेय या उपादेय वस्तु की प्राप्ति या अप्राप्ति में उस का हृदय हर्ष और विषाद का क्रीड़ास्थल बन जाता था; जिस जन्म और मृत्यु का भय उसे अचेतन अवस्था में ला देता था! और, जिस विच्छेद में घोर व्याकुलता तथा मिलन में सुखाभास की प्रतीति होती थी; वही पुरुष, आज प्रभु की अमर वाणी का रसास्वादन कर के, सभी में समता का सुन्दर दर्शन कर रहा था। इन सभी को, प्रकृति की लीलाभूमि इस जगत्

में, पूर्व कर्मों का व्यापार—मात्र वह समझने लगता था। धन्य प्रभु! तभी तो कहते हैं, "भाग्योदयेन बहु जन्म समर्जितेन सत्संगमत्र लभते पुरुषो यदा वै।" अनेक जन्मों के भाग्योदय के होने पर ही सत्संगति मिलती है।

पाठको! जो भी सर्वज्ञ भगवान् के तीर्थंकर-पद का एकमात्र उद्देश्य जगत् की विषमता को दूर कर के समता के मार्गों का प्रसार करना था; संसार के जीवों को भव जाल में से निकाल उत्कृष्ट कल्याण का उन्हें पथ-प्रदर्शन करना था; तथापि, भगवान् ने अहंकार के वशवर्ती हो कर न तो कभी किसी पर किसी प्रकार का अनुचित प्रभाव ही डाला; और, न उन्हों ने कभी किसी को अपने धार्मिक झंडे के नीचे ही आने के लिए फुसलाया। वे तो एकमात्र सत्य के उपदेष्टा थे। जिस किसी को भी, सत्य वस्तु को प्राप्त कर के निज जीवन को ऊर्ध्व गति में ले जाने की आन्तरिक उत्कट अभिलाषा होती, वह कहीं से भी भगवान् के पास चला आता और उन के अमर सन्देशों से अपनी आत्मा की, जन्म जन्मान्तरों की, प्यास को बुझाता। उन के उपदेश का अक्षर अक्षर शान्तता, रोचकता, सत्य, अहिंसा और विश्व मैत्री की घोषणा को जग-जाहिर कर रहा था और, आज भी कर रहा है। उन की उपदेश प्रणाली, प्राणी-मात्र को अपने कर्म बन्धन को काटने के लिए सम्बल प्रदान करने वाली थी। जिस किसी ने एक बार भी भगवान् की वाणी को शुद्ध अन्तः करण पूर्वक श्रवण करने का सुअवसर पाया, वह फिर उन का हुए बिना न रहा। जिन अशुद्ध अन्तः करण वालों ने भी उसे सुना, उन्हों ने अपने अन्तर्तम को निर्मल प्रकाश से, धोने की चेष्टा की। कहने का आशय यह है, कि कैसी ही शत्रुता की भावना रख कर, कोई उन के पास क्यों न आया होता, उस के दिल को प्रभु की प्रसाद-पूर्ण वाणी से उसे अपूर्व शान्ति मिलती। वह वाणी उस के हृदय-प्रदेश के पाप तापों को झाड़ बुहार कर, समय पर बाहर निकाल ही पटकती। यदि कोई उन के उपदेश को न मान कर उन के प्रति अनास्था दिखाता, तो उस के प्रति भी भगवान् की वही प्रेम-पूर्ण सम-भावना रहती, जैसी कि उन के उपदेश को मान कर, उस के अनुसार अपने जीवन को बनाने वाले के प्रति होती।

गौशाला के शिष्यों की संख्या से भी भगवान् के शिष्यों की संख्या किसी दिन कम रही थी। इस से यह बात तो निर्विवाद रूप से सिद्ध है, कि भगवान् को अपनी ज़मात को बढ़ाने का भूल कर भी चाव नहीं था। उन के उपदेश

और धर्म का सिद्धान्त स्थायी क्रान्ति करना था। वह क्रान्ति भी संसार में एक विचित्र ही प्रकार की क्रान्ति थी। जिस क्रान्ति का उद्देश्य जगत् की धांधली को बढ़ाना नहीं था; किन्तु, साम्यवाद के सिद्धान्तों पर आत्मिक उन्नति की ओर ले जाना था। इसी अहिंसात्मक और सहस्रों वर्षों की गाढ़ निद्रा को तोड़ देने वाली क्रान्ति की बानगी, सन् १९३० ई० के कुछ महीनों में, भारत ने जगत् को दिखायी है। भगवन्! आप की इस अहिंसात्मक क्रान्ति में सचमुच में अलौकिक आत्म-बल है। इस के दुर्बल से दुर्बल उपासक के आगे, समस्त राजनैतिक बल केवल खाकसार है। जिस दिन यह क्रान्ति अपने पूर्ण यौवन काल में रही होगी, उस दिन मनुष्यों के मन कितने परिष्कृत और प्रबल रहे होंगे, उस दिन किस प्रकार की शान्ति, सुख और समता का निवास भारत में रहा होगा, आज हम हत-भागों से अनुमान भी उस का नहीं किया जाता। परन्तु हां, यह हम जान अवश्य गये हैं, कि आप की उस धार्मिक अहिंसात्मक क्रान्ति की नस नस में, रग रग में, अलौकिक आत्म-बल था। और, यदि हम सब प्रकार से हीन और दीन आज के भारतवासी, अपने गत दिनों को, अपने प्राचीन सुख-सने विशालतम वैभव को, और अपनी धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक और नैतिक, शान्तवातावरणवाली समता तथा स्वतन्त्रता को, आज पुनः इस जड़वाद की उन्नति के जमाने में लौटा लेना चाहते हैं, तो आप ही की उस क्रान्ति को एक-मात्र हमें अपना अवलम्बन बना लेना पड़ेगा।

पाठको! हमारे भगवान् का आदर्श सिद्धान्त मनुष्यों को क्षणिक आवेश में बहा लेजाना नहीं था। वे परिणाम-दर्शी थे। उन की धार्मिक भावना में लोक-कल्याण का विशालतम मंडल खड़ा किया जानेवाला था। जिस की कि नींव सत्य और केवल सत्य, विशुद्ध प्रेम, निःस्वार्थ भावना, और अहिंसा के सुदृढ़ पायों पर उठायी जानेवाली थी।

भगवान् ने अपने सिद्धान्तों को जनता के निकट ठोस से ठोस रूप में पहुँचाने के लिए, जितना भी हो सका, कम से कम पात्र पुरुषों को अपना अनुयायी बनाया। जो भी उन के अनुयायियों की यह संख्या, महात्मा 'बुद्ध' और "गौशाला" के शिष्य-समाज की अपेक्षा कम थी; तथापि थी यह संख्या भगवान् के आदर्श प्रति-निधियों की, जिन ने उन के तत्त्व को अथ से इति तक समझा था। जिन के अन्दर लोक-कल्याण की कामना की अग्नि, भगवान् के

समान ही, अपनी प्रचण्डता से भड़क रही थी। जो भगवान् के सिद्धान्तों के पीछे जीना और मरना जानते थे। जिन्हों ने काया और कामनाओं से, लोभ और लाभों से, माया और ममता से, और वैर तथा विरोध के व्यापारों से सभी प्रकार अपने मन और तन को खींच लिया था। और, जिन्हों ने भगवान् की वाणी तथा उन के भव्य भावों को, केवल अपने वचनों तक रख कर ही उन का अन्त नहीं कर दिया था। किन्तु उन्हें अपने दैनिक व्यवहारों में उतार कर, उन्हों ने उन्हें संजीदा बना दिया था। ऐसे ही शिष्य समुदाय के हाथों पड़ कर, जैन-धर्म, आज तक जीवित और जागृत है। अन्यथा, वह भी गौशाला के आजीविक सम्प्रदाय, तथा महात्मा बुद्ध के बौद्ध-धर्म की भाँति भारत वर्ष से, नहीं नहीं दुनियां के पृष्ट से, कभी का लोप हो गया होता। ऐसे ही भगवान् के प्रतिनिधियों के हाथ, इस जैन धर्म जीवन की बागडोर जा पड़ने से, आज तक की, कई एक से एक भीषण, विपत्तियों का सामना यह करता रहा। और, उन से अपनी ही नहीं, वरन् अपने अनुयायियों की भी बाल बाल रक्षा इस ने आज लों की। तथा, भविष्यत् में भी इसी भाँति करेगा।

प्रकरण-दूसरा

भगवान् के ग्यारह गणधर और उन का पूर्वेतिहास

पाठको ! एक बार भगवान् का समवशरण 'अपापा' नामक नगरी के बाहर के भाग में हुआ था। जिस दिन, उस समवशरण में हज़ारों आबाल वृद्ध नर नारी, भगवान् का उपदेश सुन कर अपने अन्तर का विकार धोने के लिए, सरपट चाल से आ रहे थे, उसी समय, उस बस्ती के सोमिल नामक एक ब्राह्मण के घर एक बड़ा भारी यज्ञ हो रहा था। उस का आमन्त्रण पहुँचने से, गोवर नामक बस्ती के निवासी गौतम गोत्रीय वसुभूति के तीनों पुत्र भी उस यज्ञ-शाला में आये हुए थे। उन के नाम क्रमशः इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति थे। वे अपने समय के विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ गिने जाते थे। उन में से प्रत्येक के साथ उस समय पांच पांच सौ उन के छात्र-गण भी वहां आये हुए थे। इतने ही में कोल्लाक गांव से धेनुमित्र के पुत्र व्यक्त और धाम्मिल के पुत्र सुधर्म नामक प्रकाण्ड पण्डित लोग भी वहां आ पहुँचे थे। उन के साथ भी, दोनों के मिला कर, एक हज़ार छात्र थे। इसी प्रकार, मौर्यगाँव से मंडित और मौर्य नामा प्रसिद्ध पंडित लोग पधारे हुए थे। ये लोग भी अपने साथ साढ़े तीन सौ साढ़े तीन सौ छात्रों को लाये थे। ऐसे ही, विमलापुरी से अकंपित, कौशला नगरी से अचल-भ्रात, तुंगीक गाँव से तैतर्य (मैतार्य) और राज-गृह से प्रभास नामक उद्भट पंडित लोग, तीन तीन सौ शिष्य समुदाय को ले कर, सोमिल के यज्ञ में भाग लेने के लिए आये थे।

यों, वे ग्यारहों पंडित, जो भी अपने समय के बड़े ही दिग्गज विद्वान् थे; अपने समय की समस्त धार्मिक क्रियाओं पर अपना सर्वांगीण हक रखते थे; तब भी इन के हृदय में कोई न कोई संशय बना ही रहता था। एक ओर ज्ञान और दूसरी ओर संशय, ये दोनों बातें एक ही साथ मेल नहीं खातीं; एक ही साथ कभी टिक नहीं सकतीं। क्योंकि, ज्ञान स्वयं प्रकाश स्वरूप है। इस से मानना पड़ेगा, कि वे अपने आप को जो भी प्रगाढ़ पंडित जगत् में प्रसिद्ध करते रहे हों, तथापि उन का ज्ञान एकांगी था। परन्तु जनता में वे इतनी अधिक प्रसिद्धि पा चुके थे, कि अपने संशयों का निवारण करना तक उन के लिए उन के अपने मान में बट्टा लगने की बात समझी जाने लगी थी। फिर, अपने पांडित्य का गर्व भी किसी क़दर उन्हें कम नहीं था। इन्हीं बातों के कारण, वे अपना संशय किसी पर प्रकट न करते हुए सदा ही शंकाशील बने रहते थे। समय असमय वे आत्म-धिक्कार के शिकार भी बनते। परन्तु जगत् के मिथ्या मान का मोह उन्हें इस प्रकार दबोचे बैठा था, कि उन्हें अपने सत्स्वरूप तक की पहचान नहीं थी। यों, एक नहीं, दो नहीं, ग्यारहों के ग्यारहों पंडितों के मनों में एक एक बड़ा ही ज़बर्दस्त संशय घुसा हुआ था। इन्द्रभूति के मन में 'जीव है या नहीं ?' यह संशय था, तो अग्निभूति 'कर्म कोई पदार्थ है वा नहीं ?' ही के चक्कर में फँस रहे थे। वायुभूति को 'यह शरीर ही जीव है या जीव कोई पृथक् पदार्थ है ?' का चक्कर पड़ रहा था। व्यक्त को 'जगत् कोई वास्तविक पदार्थ है या शून्य ही' इस प्रकार की शंका थी। सुधर्म का मन, जीव के जन्म जन्मांतरों के रूपों में, समता और विषमता की उधेड़ बुन मचा रहा था। मंडित 'मुक्ति और बंध है या नहीं ? इसी प्रश्न को हल करने में दिन-रात विचार करते रहते थे। मौर्य, देवों ही के अस्तित्व में शंका-शील था। अकंपित का 'नरक गति सचमुच है या नहीं ?'' यह संदेह सता रहा था। इसी प्रकार अचलभ्रात पुण्य-पाप के उलझन में, मैतार्य परलोक के अस्तित्व में एवं आत्मा के स्वतंत्र के अस्तित्व में; और प्रभास मुक्ति की विद्यमानता में चिंताशील बने रहते थे। परन्तु कोई भी किसी से अपने अपने संशयों को बुहार कर निकलवा पटकने की रत्ती-भर भी कोशिश नहीं करता था। क्योंकि, उन में से प्रत्येक व्यक्ति यह समझ रहा था, कि अपनी शंकाओं का समाधान औरों से करवाना, आगे हो कर अपने ही मुँह अपनी न्यूनता को दर्शाना है। पाठको !

इस प्रकार वे शंकाशील दिग्गज पंडित लोग वहां आये हुए थे। सिवाय उन के, दिशा विदिशाओं से और भी पंडित गण उस यज्ञ में भाग लेने के लिए वहां बुलाये गये थे। यज्ञ बड़ा भारी था। इस से लोग भी चारों ओर से खूब ही उमड़े थे। इस को देख कर, यज्ञ के यजमान और यज्ञ करानेवाले ऋषियों के मन में अभिमान का अंकुर पैदा हो जाना एक स्वाभाविक सी बात थी।

एक ओर, सोमिल के घर यज्ञ की यह धूम थी। दूसरी ओर, भगवान् महावीर के समवशरण की ओर देव विमानों की दौड़-धूप मची हुई थी। उन में बैठ बैठ कर, देवता अपने भिन्न भिन्न स्वर्गों से, भगवान् का उपदेश सुनने के लिए वहां आरहे थे। दूर से इस दृश्य को इन्द्रभूति आदि विद्वानों ने देखा। और पहले पहल उन्हों ने यह भी समझा, कि "वे देवता हमारी ही ओर आ रहे हैं। हम ने मन्त्रों के द्वारा इन का आह्वान किया है। हमारे मन्त्रों में सचमुच बड़ी ही अनुपम शक्ति है। हमारे पांडित्य को भी धन्य है! जिस पर देवता लोग भी मुग्ध हो कर, दौड़े चले आ रहे हैं।" परन्तु थोड़ी ही देर में उन पंडितों की वह विचार धारा कुंठित हो गयी। उन की सारी आशा पर पानी फिर गया। देवता दर असल उन की ओर नहीं आ रहे थे। आकाश—मार्ग से आते हुए उन्हें यही जान पड़ रहा था, कि वे उन की यज्ञशाला में आ रहे थे। किन्तु, वे तो भगवान् की सेवा में समवशरण की ओर जा रहे थे। देवताओं को उधर जाते हुए भी, उन पंडितों के संशयात्मक मन में तरह तरह के संदेह बने ही रहे। उन्हों ने सोचा, "शायद ये भूल कर इधर जारहे होंगे। ओह! देवता हो कर के भी ये इस भांति की भूलें करते हैं? या, कदाचित् अपने विमानों को छोड़ने के लिए ये उधर गये हों।" अन्त में पूछताछ करने पर उन्हें पता लगा, कि वे उन के यज्ञ में शामिल होने को नहीं आये थे; वरन् यहां कोई एक 'सर्वज्ञ महावीर' ठहरे हुए हैं, उन के समवशरण में, उन का धर्मोपदेश सुनने के लिए, वे इस लोक में आये हुए थे।

इस पर इन्द्रभूति बड़ा ही बिगड़ा। उस ने ज्योंहीं 'सर्वज्ञ' का शब्द सुना, उस का माथा ठनका। वह क्रोध के आवेश में आ कर बोलने लगा, "धिक्कार है, इन देवों के देवत्व को! जैसे मरुभूमि के लोग आम्र वृक्ष को छोड़ कर, करीर की पूजा करते हैं; उसी प्रकार, ये देव भी मुझ सरीखे प्रकाण्ड पंडित के आमन्त्रण को छोड़ कर, पाखंड की पूजा करने के लिए, किसी पाखंडी, की शरण में जा रहे हैं। और वह भी बिना बुलाये! हाँ, मनुष्य हो कर कोई ऐसी

भूल करता, तो वह अवश्यमेव क्षमा का पात्र हो सकता था; परंतु ये देव हो कर, दम्भ में यों फँस गये। इस से जान पड़ता है, कि वह 'सर्वज्ञ' नामधारी कोई ऐसा वैसा पुरुष नहीं होना चाहिए। वह अपने समय का बड़ा ही धूर्त, दम्भाचारी और फ़रेबियों से भरापूरा होना चाहिए। मेरे सम्मुख इस जगती-तल में आज कोई दूसरा सर्वज्ञ? यह बात तो मैं ने आज नयी ही सुन पायी है! अच्छा है, चल कर उस की दाम्भिकता को देखना चाहिए। और हो सके, तो सब की उपस्थिति में उस के पाखण्ड की पोल खोलनी चाहिए।" यों कह कर, उस ने, इधर उधर बैठे हुए अपने शिष्य-वर्ग को पुकारा और उन्हें भगवान् के समवशरण की ओर चल पड़ने को तैयार होने के लिए कहा। वह अपने शिष्यों के साथ चट पट तैयार हुआ। और, उसी समय, भगवान् महावीर के समवशरण की ओर अपने सब शिष्यों को साथ ले कर चल पड़ा। चलते चलते रास्ते ही में उसे सामने से आते हुए लोग मिले। वे लोग भगवान् की वंदना कर के अपने अपने घरों को जा रहे थे। इन्द्रभूति ने उतावला बन कर, उन के एक समूह से पूछा, "क्यों जी! यहां कोई एक 'सर्वज्ञ' आया हुआ है, उस को तुम ने देखा? और, यदि देखा है, तो तुम्हें उस की सर्वज्ञता के विषय में क्या क्या बातें जान पड़ीं? क्या, वह काम से भी सर्वज्ञ है? या केवल नाम ही का सर्वज्ञ?" लोगों के उस समुदाय ने एक स्वर से कहा, "पंडित जी! हाथ कंगन को आरसी की क्या ज़रूरत है? स्वयं जा कर अनुभव क्यों नहीं करते? उन के दर्शन करते ही दैहिक तापों का अन्त हो जाता है। ज्योंहीं समवशरण में प्रवेश किया जाता है, समस्त बुरे विचारों का दुर्दान्त व्यापार, एकदम रुक जाता है। और, जैसे ही श्रोताओं ने उन की अमर वाणी का दिव्यसन्देश सुन पाया, कि उन के समस्त संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। अतः आप हमारे कहने से ही, वहां जा कर उन के चरण-दर्शन एक बार अवश्य करो। इस सुन्दर अवसर को हाथ से कभी न जाने दो।" इन्द्रभूति को तब तो और भी क्रोध का आवेश आया। उस जन समुदाय की बातें सुन कर, वह दिल ही दिल में ख़ाक हो गया। उन की उन बातों ने उस के जले जलाये दिल पर नमक छिड़कने का काम किया। वह मन ही मन में कहने लगा, "जान पड़ता है, यह तो कोई बड़ा ही इन्द्रजाली, फ़रेबी और पाखंडी पुरुष है। जिस के चक्कर में मनुष्य फंसे, सो तो फंसे; पर देवता तक हैं! मेरा कर्तव्य है, कि जितना भी जल्दी बने, चल कर उस के पाखंड का भंडा

फोड़ करूं। अगर उसे उस की करणी का मज़ा तत्काल ही नहीं पहुंचाया जायगा, तो उस के पाखण्डमय विचारों, कंटीली झाड़ियों की भांति, जगत् में शीघ्र ही पनप कर अपना पैर-पसारा कर बैठेंगे। जिस के फल-स्वरूप, धार्मिक जगत् में भीषण हाहाकार मच जावेगा।

तब चले चले इन्द्रभूति भगवान् के समवशरण के निकट पहुँचे। वहां पहुँचते ही ज्योंही उन्हों ने उन के अद्भुत रचना-सौंदर्य को देखा, उसी काल, उन के मन में, जो उन की यज्ञ-शाला की रचना का बड़ा ही अभिमान था, गल गया। साथ ही उन की रचना पर कुछ अचरज भी उन्हें हुआ। फिर वे उस के अंदर पैठे। और, उस के मध्य-भाग में, जहां भगवान् शांत तथा सुस्थिर हो कर बैठे हुए थे, वहां गया। इन्द्रभूति ने अपने शिष्य समुदाय के साथ वहां पहुँच कर, जो भी अपने अभिमान के कारण, भगवान् के साथ सत्कार तथा विनम्रता का सुलूक न किया, तथापि सर्वज्ञ भगवान् ने, उस के नाम और गोत्रीय शब्दों में सम्बोधित कर कहा। इस पर उन का अचरज और भी बढ़ गया। वे कहने लगे, कि "मैं ने तो इन्हें अपना नाम तथा गोत्रादि बताया भी नहीं। फिर इन्होंने जान कैसे लिया ?" पाठको ! कदाग्रही पुरुषों का स्वभाव ही ऐसा होता है, कि वे जगत् में किसी को भी अपनी बराबरी का नहीं मानते। वे सब कुछ देखते हुए भी, अपने ही विचारों पर डटे रहते हैं। परन्तु ऐसे लोग संसार के सामने मूर्ख तथा मृतकों के समान होते हैं। जैसे कहा है— "The foolish and the dead alone never change their opinion."—LOWELL.

अर्थात् केवल मूर्ख और मृतक पुरुष ही अपनी राय को कभी नहीं बदलते। इस का एक ही कारण है, कि मूर्ख अपने आप को बुद्धिमान् समझते हैं। परंतु महाकवि शेक्सपियर के कथनानुसार, जो मूर्ख होते हैं, वेही अपने तईं बुद्धिमान् समझते हैं। और जो बुद्धिमान् होते हैं, वे अपने तईं मूर्ख मानते हैं। "The fool doth think he is wise but the wise man knows himself to be a fool"—As you like it.

इन्द्रभूति को, भगवान् के द्वारा, उन का नाम तथा गोत्र सुन कर पहले कुछ अचरज हो आया था। परंतु पीछे उन्हों ने सोचा, कि "इस में अचरज की बात ही कौनसी है ? जब मैं समवशरण में प्रवेश करने लगा था, तब किसी ने मेरा परिचय इन्हें दे दिया होगा। क्योंकि, वर्तमान् में मेरे प्रकाण्ड पांडित्य की चारों

दिशाओं में खासी धूम मची हुई है। अतः मेरे नाम तथा गोत्र को तो बच्चा बच्चा भी जानता होगा! इन की सर्वज्ञता को तो मैं तब मानूं, जब मेरे मनोगत भावों को, मेरे द्वारा प्रकट करने के पहले ही, ये अक्षरशः पूरे पूरे बता दें।

इस प्रकार की भावना उन के मन में आतेही भगवान् ने उन से कहा "पण्डितराज! 'जीव है या नहीं ?' इस प्रश्न को हल करने में, वेदों की साधक और बाधक ऋचाओं को पढ़ कर, आप का मन संशयशील बन रहा है। हे विद्वान्! वेद-वाक्यों को आप भली भांति समझे नहीं हैं! आप अभी तक ऋचाओं का अर्थ भली भांति समझ नहीं पाये हैं। और कुछ नहीं! अच्छा, अब चिन्ता को चित्त से दूर निकाल फेंकिये और उन्हीं ऋचाओं का वास्तविक अर्थ समझ कर, अपना सन्देह दूर कीजिये।"

पाठको! इस के बाद भगवान् ने वेद की उन समस्त ऋचाओं को उन के सामने रक्खा। जिन के कारण उन का मन संशयान्दोलित हो रहा था। और, उन की विस्तार-पूर्वक व्याख्या भी उसी समय सब के सम्मुख भगवान् ने कर दिखायी।

भगवान् बोले, "हे इन्द्र-भूति! जो जानता है, देखता है, वही जीव है। शरीर तो वस्त्रादि की तरह केवल उपभोग्य वस्तु है। जैसे, दूध में घी; तिलों में तेल; काष्ट में अग्नि; पुष्प में सुगन्ध; और चन्द्रकान्त-मणि में जैसे अमृत रहता है; ठीक उसी प्रकार इस शरीर में आत्मा का निवास है। यह शरीर से पृथक् भी रहती है। जो ज्ञान-रूपी दिव्य चक्षुओं से देखने वाले केवल ज्ञानी पुरुष हैं, वे भली भांति जानते हैं, कि यह जीव प्रत्यक्ष है।

तुम समझते हो, कि "घट पट आदि पदार्थों की भांति यह जीव इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने में तो आता ही नहीं, फिर, इस की सत्ता हो ही कैसे सकती है?" मगर "हे इन्द्रभूति! आत्मा अमूर्त्तिमान् होने से इन्द्रियों से अगोचर रहती है। परन्तु इन्द्रियों से अगोचर होने ही से किसी के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि केवल-ज्ञानी आत्मा को प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं। इस के अतिरिक्त छद्मस्थ लोग भी अनुमान प्रमाण के द्वारा जाने

सकते हैं। सुख दुःखादि की इच्छा-अनिच्छा से आत्मा के अस्तित्व का अनुमान होता है। क्योंकि, इच्छा और अनिच्छा का आदि स्रोत आत्मा ही है। जितने भी कार्य होते हैं, उन के कारण अवश्य कहीं न कहीं होते हैं। इस को समझने के लिए एक घट का उदाहरण लिया जाय। घट जैसे कार्य है; और उस का कारण मिट्टी का पिंड है। इस से मिट्टी का अस्तित्व सिद्ध होता है। संसार के प्रत्येक कार्य में, कारण और कार्य का यह अविनाभाव सम्बन्ध, अवश्य रहता है। कारण के बिना कार्य कभी बन ही नहीं सकता। इसी तरह, आत्मा कारण है। और, सुख, दुःखादि उस के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष कार्य हैं। उस के इन सुख, दुःखादि कार्यों से, आत्मा का सहज ही अनुमान हो जाता है।

द्रव्यनय की अपेक्षा से, आत्मा विनाश और उत्पत्ति से रहित है। आत्मा की न तो कभी कहीं उत्पत्ति ही होती है; और न कभी उस का विनाश ही हो सकता है। पर्याय-नय की अपेक्षा से, तो आत्मा अनित्य है। क्योंकि उस की पर्यायों (अवस्थाओं) में निरन्तर परिवर्त्तन होता रहता है। इस के अतिरिक्त पूर्व किये हुए कार्यों, तथा अन्यों के द्वारा कराये हुए कृत्यों का उसे स्मरण होता है। इस से आत्मा नित्य भी है, और पर्याय कर के अनित्य भी है।

इतना ही नहीं। हे इन्द्रभूति! अन्यान्य अनुमानों के द्वारा भी आत्मा की सिद्धि होती है। जैसे—देह तथा इन्द्रियों का, जो अधिष्ठाता और भोक्ता है, वही जीव है। यह तो सभी जानते हैं, कि जिस का भोक्ता नहीं है, वह भोग्य भी नहीं हो सकता। शरीर आदिक जब भोग्य पदार्थ हैं, तो इन का कोई न कोई भोक्ता भी अवश्य होना ही चाहिए।

फिर, हे विद्वन्! तुम्हें जो जीव विषयक संशय हुआ है, इस से भी तुम्हारे शरीर में जीव का होना निर्धारित हो जाता है। क्योंकि, इस अवसर पर से कोई पूछ सकता है, कि तुम्हारे अन्दर जो यह संशय उत्पन्न हुआ है, वह सचमुच में किसे हुआ है? क्योंकि, जहां जहां संशय उत्पन्न होता है, वहां वहां संशय करने वाले का होना आवश्यकीय है। अतः यदि आत्मा कोई स्वतंत्र अस्तित्व रखने वाला माना जाय तभी उसे संशय का होना सम्भव हो सकता है। इस से जाना गया, कि अनुमान प्रमाण के द्वारा भी आत्मा की सिद्धि होती है। फिर, जिस तरह तुम्हारे शरीर में आत्मा का अस्तित्व पाया है, वैसे ही दूसरे दूसरे प्राणियों

के शरीरों में भी आत्मा का होना मानना चाहिए। सुख, दुःख, जीवन, मरण, लाभ, हानि, भला, बुरा, शीत, उष्ण, आदि की जानकारी सब को होती है। इन का कम या अधिक रूप में जान पड़ना यह बात दूसरे कारणों पर निर्भर है। यह आत्मा नामकर्म के द्वारा प्राप्त छोटे या बड़े शरीर में रहती है तो उतने ही परिमाण वाली हो जाती है। इस का मूल कारण, यह है, कि आत्मा के प्रदेशों में संकुचित या विस्तृत होने के धर्म हैं। जैसे दीपक को यदि छोटी सी कोठरी में रख दिया जाय तो उस का प्रकाश उतने में ही समा जाता है। और यदि विशाल भवन में रख दिया जाय तो वही प्रकाश विस्तृत हो कर उस में व्याप्त हो जाता है। बस यही बात आत्मा के विषय में है। यही आत्मा देव को प्राप्त हो सकती है और कभी तिर्यंच भव में चक्कर भी काटती है। चर्म-चक्षुवाले इस की शक्ति का पूरा पता कभी पा नहीं सकते। इसी से यह आत्मा अचिन्त्य शक्तिमान्, कही जाती है।

पाठको! भगवान् के इस उपर्युक्त कथन को श्रवण कर, इन्द्रभूति ने दांतों तले अंगुली दबायी। वे दंग हो कर चुपचाप सब कुछ सुनते रहे। उन के पांडित्य का सारा मद विचूर्णित हो गया। जिस सन्देह के सिन्धु में वे वर्षों से गोते लगा रहे थे, उस में से, बात की बात में वे भगवान् के सदुपदेशों से बच कर किनारे पर आ लगे। अब भगवान् महावीर की सर्वज्ञता में उन्हें ज़रा भी कोई भ्रम नहीं रहा। तत्पश्चात् भगवान् महावीर ने गौतमजी को इस प्रकार शिक्षा दी।

१–हे गौतम! जैसे समय पा कर वृक्ष के पत्ते पीले पड़ जाते हैं; फिर वे पक कर गिर जाते हैं। उसी प्रकार मनुष्यों का जीवन है। अतः हे गौतम! धर्म का पालन करने में एक क्षण मात्र को भी व्यर्थ मत गवाँओ।

२– जैसे घास के अग्रभाग पर तरल ओस की बूँद थोड़े ही समय तक टिक सकती है। ऐसे ही मानव शरीर धारियों का जीवन है। अतः हे गौतम! जरा से समय के लिए भी गाफिल मत रहो।

३– जिसे शस्त्र, विष, आदि उपक्रम भी बाधा नहीं पहुँचा सकते, ऐसा नोपक्रमी आयुष्य भी थोड़ा होता है। और शस्त्र, विष, आदि से जिसे बाधा

पहुँच सके ऐसा सोपक्रमी जीवन भी थोड़ा ही है। उस में भी ज्वर, खांसी, आदि अनेक व्याधियों का विघ्न भरा पड़ा होता है। ऐसा समझ कर हे गौतम! पूर्व किये हुए कर्मों को दूर करने में क्षण भर समय का भी दुरुपयोग न करो।

४–जीवों को एकेन्द्रिय आदि योनियों में इधर उधर जन्मते मरते हुए बहुत काल गया। परंतु दुर्लभ मनुष्य जन्म नहीं मिला। क्योंकि मनुष्य जन्म के प्राप्त होने में जो रोड़ा अटकाते हैं ऐसे कर्मों का विपाक नाश करने में महान् कठिनाइयाँ हैं। अतः हे गौतम! मानव देह पा कर पल भर का भी प्रमाद कभी मत कर।

५– यह जीव पृथ्वी काय [Body of tbe living beings of the earth] में जन्म-मरण को धारण करता हुआ उत्कृष्ट असंख्य काल अर्थात् असंख्य सर्पिणी उत्सर्पिणी काल तक को बिताता रहता है। अतः हे मानव-देह-धारी गौतम! तुझे एक क्षण मात्र की भी ग़फ़लत करना उचित नहीं है।

६–इसी तरह यह आत्मा जल, अग्नि तथा हवा में असंख्य काल तक जन्म मरण को धारण करती रहती है। इसी लिए तो कहा जाता है कि मानव जन्म मिलना महान् कठिन है। अतएव हे गौतम! तुझे धर्म का पालन करने में तनिक भी गाफ़िल न रहना चाहिए।

७–यह आत्मा वनस्पतिकाय में अपने कृत कर्मों द्वारा जन्म मरण करती है, तो उत्कृष्ट अनंत काल तक उसी में गोता लगाया करती है। और इसी से उस आत्मा को मानव शरीर मिलना कठिन हो जाता है। इस लिए हे गौतम! पल भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

८–जब आत्मा दो इंन्द्रियवाली योनियों में जाकर जन्म धारण करती है तो काल गणना की जहां तक संख्या बताई जाती है वहां तक अर्थात् संख्याता काल तक उसी योनि में जन्ममरण को धारण करती रहती है। अतः हे गौतम! क्षण मात्र का भी प्रमाद न कर।

९–जब यह आत्मा तीन इन्द्रिय तथा चार इन्द्रियवाली योनि में जाती है तो संख्याता काल तक उन्हीं योनियों में जन्म मरणको धारण करती रहती है। अतः हे गौतम! धर्म की वृद्धि करने में एक पल भर का भी कभी प्रमाद न कर।

१०–यह आत्मा पंचेन्द्रियवाली तिर्यंच की योनियों में जब जाती है, तब यह अधिक से अधिक सात आठ भव तक उसी योनि में निवास करती है। अतः हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद कभी मत कर।

११–जब यह आत्मा देव अथवा नारकीय भवों में जन्म लेती है तो वहाँ सिर्फ एक एक जन्म तक यह रहती है। अतएव हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

१२– इस प्रकार पृथ्वी, जल; अग्नि, वायु, आदि एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय वाली तिर्यंच योनियों में एवं देव तथा नरक में संख्याता और अनंत काल तक अपने शुभाशुभ कर्मों के कारण यह जीव भटकता फिरता है। इसी से कहा गया है, कि इस आत्मा को मनुष्य भव मिलना महान् कठिन है। इसलिए हे मानव–देह-धारी गौतम ! अपनी आत्माको उत्तम अवस्था में पहुंचाने के लिए तनिक समय मात्र का भी प्रमाद कभी मत कर।

१३–यदि इस जीव को मनुष्य जन्म मिल भी गया तो आर्य देश में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त होना महान् दुर्लभ है। क्योंकि बहुत से नाम मात्र के मनुष्य पर्वतों की कन्दराओं में रह कर चोरी वगैरह करके अपना जीवन बिताते हैं। ऐसे नाम मात्र की मनुष्यों की कोटि में और म्लेच्छ जाति में जहां कि घोर हिंसा के कारण जीव कभी ऊंचा नहीं उठता ऐसी जाति और देश में जीव ने मनुष्य देह पा भी ली तो किस काम की इसलिए हे आर्य देश में जन्म लेने वाले गौतम ! एक पल भर का भी प्रमाद मत कर।

१४–मानव-देह, आर्य देश में भी पा गया। परन्तु सम्पूर्ण इन्द्रियों की शक्ति सहित मानव देह मिलना महान् कठिन है। क्योंकि बहुत से ऐसे मनुष्य देखने में आते हैं, कि जिनकी इन्द्रियां विकल हैं। जो कानों से बधिर हैं। जो आंखों से अंधे और हाथ पावों से अपङ्ग हैं। इसलिए हे सशक्त इन्द्रियों वाले गौतम ! चौदहवां गुणस्थान प्राप्त करने में कभी आलस मत कर।

१५–भावार्थः-हे गौतम ! पांचों इन्द्रियों की सम्पूर्णता वाले को आर्य देश में मनुष्य जन्म मिल गया तो अच्छे शास्त्र का श्रवण मिलना और भी कठिन है। क्योंकि बहुत से मनुष्य जो इह लौकिक सुखों को ही धर्म का रूप

देने वाले हैं कुतीर्थी रूप हैं। नाम मात्र के गुरु कहलाते हैं। उन की उपासना करने वाले हैं। इसलिए हे उत्तम शास्त्र श्रोता गौतम! कर्मों का नाश करने में तनिक भी ढील मत कर।

१६–सच्छास्त्र का श्रवण भी हो जाय तो भी उस पर श्रद्धा होना महान् कठिन है। क्योंकि बहुत से ऐसे भी मनुष्य हैं। जो सच्छास्त्र श्रवण करके भी मिथ्यात्व का बड़े ही जोरों के साथ सेवन करते हैं। अतः हे श्रद्धावान् गौतम! सिद्धावस्था को प्राप्त करने में आलस्य कभी मत कर।

१७–प्रधान धर्म पर श्रद्धा होने पर भी उस के अनुसार चलना और भी कठिन है। धर्म को सत्य कहने वाले वाचाल तो बहुत लोग मिलेंगे पर उसके अनुसार अपना जीवन बिताने वाले बहुत ही थोड़े देखे जावेंगे। क्योंकि इस संसार के काम भोगों से मोहित हो कर अनेकों प्राणी अपना अमूल्य समय अपने हाथों खो रहे हैं। इसलिए श्रद्धा पूर्वक क्रिया करने वाले हे गौतम! कर्मों का नाश करने में एक क्षण मात्र का भी प्रमाद मत कर।

१८–आये दिन तेरी वृद्धावस्था निकट आती जा रही है। बाल सफेद होते जा रहे हैं। और कान, नाक, आँख जीभ, शरीर हाथ पैर आदि की शक्ति भी पहले की अपेक्षा न्यून होती जा रही है। अतः हे गौतम! समय को अमूल्य समझ कर धर्म का पालन करने में क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

२०–यह मानव शरीर उद्वेग, गाँठ, गूमड़ा, वमन, विरेचन और प्राण घातक-रोगों का घर है और अन्त में बल हीन हो कर मृत्यु को भी प्राप्त हो जाता है। अतः मानव-शरीर को ऐसे रोगों का घर समझ कर हे गौतम! मुक्ति को पाने में विलम्ब मत कर।

२१–शरद ऋतु का चन्द्र विकासी कमल जैसे पानी को अपने से पृथक् कर देता है। उसी तरह तू अपने मोह को दूर करने में समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

२२–तूने धन और स्त्री को त्याग कर साधु वृति को धारण करने की मन में इच्छा करली है, तो उन त्यागे हुए विषैले पदार्थों

का पुनः सेवन करने की इच्छा मत कर। प्रत्युत त्याग-वृत्ति को दृढ़ करने में एक समय मात्र का भी प्रमाद कभी मत कर।

२३–संकुचित अतथ्य पथ को छोड़ कर तूने विशाल तथ्य मार्ग को प्राप्त कर लिया है। और उस के अनुसार तू उसी विशाल मार्ग का पथिक भी बन चुका है। अतः इसी मार्ग से अपने निजी स्थान पर पहुंचने के लिए हे गौतम! तू एक समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

२४–जैसे एक दुर्बल आदमी बोझा उठा कर विकट मार्ग में चले जाने पर महान् पश्चात्ताप करता है। ऐसे ही अल्पज्ञों के द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तों को ग्रहण कर संसारी जीव कुपंथ के पथिक होंगे। वे चौरासी की चक्र फेरी में जा पड़ेंगे। और वहां वे महान् कष्ट उठावेंगे। अतः पश्चात्ताप करने का मौका न आवे ऐसा कार्य करने में हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२५–अपने आप को संसार रूप महान् समुद्र के पार गया हुआ समझ कर फिर किनारे पर ही क्यों रुक रहा है। परले पार होने के लिए अर्थात् मुक्ति में जाने के लिए शीघ्रता कर। ऐसा करने में हे गौतम! तू क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

२६–गौतम! सिद्ध पद पाने में जो शुभ अध्यवसाय रूप क्षपकश्रेणी सहायक भूत है, उसे पा कर एवं उत्तरोत्तर उसे बढ़ाकर, भय एवं उपद्रव रहित अटल सुखों का जो स्थान है, वहीं तुझे जाना है। अतः हे गौतम! धर्म आराधना करने में पल मात्र की भी ढील मत कर। इसी प्रकार भगवान् की उक्त शिक्षाएँ। प्रत्येक मानव-देह- धारी को अपने लिए भी समझनी चाहिए। और धर्म की आराधना करने में पल भर का भी प्रमाद कभी न करना चाहिए।

उपरोक्त शिक्षा से गौतम जी को वैराग्य हो आया। उसी समय, उन ने भगवान् को बड़ी ही नम्रता पूर्वक नमन किया। उस के पश्चात् उन की शरण उन्होंने गही। और, दीक्षित होने की अपनी अभिलाषा उन के सम्मुख प्रकट की। प्रभु ने उन्हें दीक्षा का योग्य अधिकारी समझा। तब उन्हें दीक्षा दे दी। सचमुच में इन्द्रभूति विद्याशूर और सत्यान्वेषक थे। 'to err is human,' के नाते हो सकता है, वे कहीं किसी पेचीदा प्रश्न की घाटी में अटक रहे हों; फंस रहे हों। प्रत्यक्ष क्षेत्र के सच्चे शूरमाओं का यही लक्षण होता है। बक़ायदा

अपनी हार हो जाने पर, वे अपने विजयी का यथार्थ सत्कार करते हैं। विजयी भी उसे नीची निगाह से देखने के बदले, अपने हृदय का हार बनाता है। उस सयम का दृश्य देखते ही बनता है। उस समय का दोनों का सम्मिलन बड़ा ही आह्लादकारक और रोम-हर्षण करने वाला होता है। जगत् के इतिहास में ऐसे कई उज्ज्वल उदाहरण मिलते हैं।

गौतम इन्द्रभूति गये तो प्रभु के पास, प्रतिपक्षी बन कर और अभिमान में भर कर थे। परन्तु हो उसका बिलकुल ही उलटा गया। हां यह कहा जा सकता है, कि वे आसन्न भव्य थे। और, जब वह उन्हें प्रभु की शरण में मिल गयी, तो बिना किसी प्रकार का हठ दिखाये, ग्रहण भी तत्काल उन्हों ने उसे कर लिया। सच्ची विद्वत्ता और मनुष्यता की पहचान भी तो यही है। सत्य जहां कहीं से मिले, बिना किसी प्रकार की आनाकानी किये वहीं से उसे ले लेना चाहिए। परन्तु हां अभी ऐसे सत्यान्वेषक मिलते बहुत कम हैं। अकसर यहां चारों ओर हठाग्रही लोगों ही का हाट भरा पड़ा है। वे उस सत्य को तो ग्रहण नहीं करते, जो नहीं करते। परन्तु वे अपने कदाग्रह और कोरे अभिमान के आवेश में आ कर, उलटा उसे असत्य बनाने के सैकड़ों प्रकार के छल-कपट भी रचते रहते हैं। और अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को वे उसी में बरबाद कर देते हैं। यदि उन की उसी शक्ति का, आत्मोन्नति की ओर सदुपयोग होता रहे, तो न जाने उस से उन का खुद का और जगत् का कितना ठोस उपकार हो। कुछ भी हो। उन का यह काम है मनुष्यत्व से गिरा हुआ। इन्द्रभूति एक ओर, जहां उद्भट विद्वान् थे; वहां दूसरी ओर, वे सत्य के पूरे प्रेमी थे। सच्चाई के रास्ते में अपनी भूल को समझ कर या स्वीकार कर, किसी प्रकार का हटाग्रह वे कभी नहीं दिखाते थे। पर सत्य का पूरा पुरा पता बिना पाये, कदापि किसी के सामने वे नहीं झुकते।

इन्द्रभूति की दीक्षा की यह खबर, बिजली के प्रबल वेग से, बात की बात में सारी बस्ती में फैल गयी। यज्ञशाला में बैठे हुए अग्निभूति के कानों में भी, अपने भाई के दीक्षित हो जाने की यह बात पड़ी! इस से वह एक दम चौंक उठे। वे तब बोले, " अरे-रे! मेरे दिग्गज भाई जैसे असाधारण व्यक्ति का एक साधारण वैरागी के वाक्-जाल में फँस जाना, यह तो बड़े ही गजब की

हो गयी ! सर्वज्ञ कहलानेवाला वह व्यक्ति, अपने समय का, सब से बड़ा फ़रेबी और मायावी होना चाहिए। अब मुझे स्वयं ही, उस के सामने जा कर, उस दाम्भिक सर्वज्ञता का भण्डाफोड़ करना चाहिए। और, अपने ज्येष्ठ-भ्राता को, जैसे तैसे, समझा बुझा कर, अपने घर लौटा ले आना चाहिए। मैं तो उसे सर्वज्ञ तभी मान सकूंगा, जब कि मेरे बिना कहे सुने, मेरे हृद्-गत भावों को ज्यों का त्यों वह प्रकट कर दे।" मन ही मन इस प्रकार सोच करके, वे बड़े ही द्रुत वेग से अपने शिष्यों को साथ ले समवशरण की ओर चले। और, कुछ ही देर के पश्चात् वे भगवान् के पास पहुँच गये। समवशरण में पैर रखते ही, प्रभु ने उन के नाम से सम्बोधित करते हुए उन से कहा, "अग्निभूति! 'कर्मों का अस्तित्व है या नहीं ? यदि हो भी, तो अमूर्त्तिमान् जीव को ये मूर्त्तिमान् कर्म किस भांति उपघात पहुँचा सकते हैं ?' तथा, इन का जीव से सम्बन्ध ही कैसे हो सकता है ? इन प्रश्नों की उलझन में तुम उलझे हो"।

प्रभु के इन वाक्यों को सुन कर, अग्निभूति अवाक् हो रहे। उन के मुँह से एक बोल भी न निकल पाया था, कि इतने ही में प्रभु उन के प्रश्नों को हल करते हुए उन से बोले, "हे अग्निभूति ! केवल ज्ञानियों को तो ये कर्म प्रत्यक्ष रूप से जानने में आते हैं। और, छद्मस्थों को अनुमान से कर्मों का अस्तित्व समझ में आ सकता है। यदि तुम्हारे कथनानुसार, पाप, पुण्य, आदि कर्म नहीं हैं, तो फिर क्यों, एक ही समय में एक व्यक्ति राज-सिंहासन पर बैठ कर, नाना प्रकार के सुखोपभोग करता हुआ दिख पड़ता है, और, एक दूसरा व्यक्ति टुकड़ों से भी मुहताज हो कर, दर दर मारा मारा फिरता है। हे देवानुप्रिय यह और कुछ नहीं। यह सब कर्मों ही की विषमता और विभिन्नताओं का प्रत्यक्ष फल है। दूसरी ओर, एक पुरुष ऐसा देखने को मिलता है, जो बड़ा ही ऋद्धि-सिद्धि सम्पन्न और हज़ारों को जो सहायता पहुँचानेवाला होता है। वहीं, दूसरा एक मनुष्य ऐसा भी देखने में आता है, जिसे भिक्षा मांगने पर भी भर-पेट भोजन नहीं मिलता। समय, स्थान, परिस्थिति और गुणादि एक ही से अनुकूल होने पर भी, एक व्यापारी को अथक रूप से घाटा होता है; पर दूसरे को उसी व्यापार में असीम लाभ होता देखा जाता है। कोई एक ही समय और एक ही घर में नीरोग तथा सशक्त होता है; परन्तु दूसरा उसी कुटुम्ब का एक व्यक्ति आधि-व्याधियों से पीड़ित और जर्जरित होता है। देश

में एक ओर, बुद्धिमान् तथा कलावान् लोगों की मंडली देखने में आती है; तो दूसरी ओर, उसी देश में मूर्ख और कला-हीन पुरुषों का समाज भी पाया जाता है। इन सभी प्रकार की विषमताओं का मूल, कर्म ही है। बिना कारण के कहीं भी कार्य का अस्तित्व नहीं पाया जाता। बस, शुभ कर्मों का परिणाम शुभ और अशुभ कर्मों का फल दुःख क्लेश, और दरिद्रता, आदि हैं।

अब तुम्हारी एक ही बात और रह गयी, कि 'अमूर्तिमन्त आत्मा के साथ मूर्त्तिमान् कर्मों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है?' इस का भी उत्तर तुम सुन लो। उदाहरण के लिए आकाश और एक घट को लो। इन में आकाश अरूपी हो कर भी, घट के सम्बन्ध से घटाकाश और वही मठ के सम्बन्ध से मठाकाश के नाम से, जगत् में प्रसिद्ध है। परन्तु इस से आकाश में अनित्यता या मूर्त्तता नहीं आजाती। वह तो घट और मठ के प्रथम भी वहां था; घट और मठ की विद्यमानता में भी है; और उन के वहां न रहने पर भी आकाश वहीं का वहीं रहेगा। चलना-फिरना यह सब काम घट और मठों ही में हो सकते हैं। आकाश में नहीं। आकाश तो सर्व व्यापक है और अपनी सूक्ष्मता के कारण, उन में ओत-प्रोत रहता है। ठीक इसी भाँति, अरूपी आत्मा का सम्बन्ध, रूपी कर्मों के साथ होता है। फिर, ओषधि एवं मादक द्रव्यों के सेवन से अरूपी आत्मा जब बेभान हो जाती है, तब यही आत्मा का उपघात कहलाता है। यह बात सभी को प्रत्यक्ष है। परन्तु ब्राह्मी आदि ओषधियों के सेवन से बुद्धि की निर्मलता प्रत्यक्ष देखने में आती है। इस से अनुग्रह भी होता है। किन्तु सचमुच में पूछा जाय, विवेक की आँखों से, अन्तर्दृष्टि करके देखा जाय तो आत्मा दोनों अवस्थाओं में निर्लेप ही है। वेद के जिस वाक्य पर से तुम्हारे मन में संशय उत्पन्न हुआ है, वह यह है "पुरुष एवेदं ऽग्निं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। इत्यादि"

हे विद्वान्! तुम ने भ्रम में पड़ कर इस पद का यों अर्थ लगाया है–"जो अतीत काल में हो गया है और, जो आगामी काल में, होनेवाला है, वह सर्व 'पुरुष अर्थात् आत्मा' ही है। उस में 'एवकार' कर्म, ईश्वर, आदि के निषेध के लिए है। ऽग्निं वाक्यालंकार के लिए केवल है।" परन्तु इस अर्थ से जो मनुष्य, देव, तिर्यंच, पर्वत, पृथ्वी, आदि आदि जितने भी पदार्थ हैं, वे सब

के सब आत्मा ही ठहरते हैं। और तब उससे कर्म निषेध भी स्पष्ट ही है। किन्तु हे अग्निभूति! यह अर्थ यथार्थ में भूल से भरा हुआ है। क्योंकि, यह वेद-वाक्य तो पुरुष की स्तुति-सूचक मात्र है। वेदों में तीन प्रकार के वाक्य आते हैं। उन में से कितनेक वाक्य तो 'विधि-वाक्य' कहलाते हैं। जैसे, "अग्नि-होत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" स्वर्ग की कामना रखनेवालों को अग्नि-होत्रादि करने चाहिए। कितनेक वाक्य, फिर, अनुवाद सूचकमात्र हैं। जैसे कि बारह मास का संवत्सर या साल होता है। और अन्तिम वा तीसरी तरह के कितनेक वाक्य केवल स्तुति रूप होते हैं। उदाहरण के लिए उपर्युक्त तुम्हारे सन्देह ही का वाक्य ले लिया जाय। वह सिर्फ विष्णु की महिमा को बताने वाला मात्र है। किन्तु अन्य वस्तुओं का अभाव नहीं कहा गया है। नहीं तो, "पुण्य पुण्येन कर्मणा, पापं पापेन कर्मणा, "इत्यादि वेद-वाक्य निरर्थक हो जाते।

हे अग्निभूति! ये कर्म सब के सब मूर्त्तिमान् हैं, ऐसा तुम मानो। अगर तुम कर्म को मूर्त्तिमान् न मानोगे, तो आकाशादिक की तरह उस से आत्मा का अनुग्रह तथा उपघात [सुख-दुःखादि द्वन्द्व भाव] न हो सकेगा। अन्यान्य कर्मों के साथ भी आत्मा का अनादि काल से सम्बन्ध चला आता है, ऐसा भी तुम मानो। यदि इसे आदि मान लिया जाय, तो मुक्त जीवों का भी कर्म के साथ सम्बन्ध मानना पड़ेगा। फिर, आदि सम्बन्ध मानने से, संसारी जीव को पहले कर्म-रहित अवस्था में मानना पड़ेगा। और आगे चल कर, वही फिर किसी काल में कर्म-सहित हुआ। अगर इस प्रकार माना जाय, तो मुक्त-जीव भी कर्म-रहित होने के पश्चात्, पुनः किसी समय में कर्मवान् हो जाने चाहिए और यदि ऐसा होने लगा, तो मुक्त जीव अमुक्त हो जावेंगे। अतः इस प्रकार मानना अप्रासंगिक और अनुचित है। प्रवाह को ले कर जीव तथा कार्य का सम्बन्ध अनादि काल से है। ऐसा तुम निश्चय समझो। यहां कदाचित् तुम शंका उपस्थित करो, कि जब जीव और कर्म का अनादि-सम्बन्ध है, तब फिर उस का वियोग कैसे हो सकता है? क्योंकि, जो अनादि होता है, अनन्त भी होना ही चाहिए। इस प्रकार की तुम्हारी शंका का समाधान यों किया जा सकता है, कि जैसे सुवर्ण और पाषाण का सम्बन्ध खदान के अन्दर अनादि काल से चला आ रहा है, तथापि, उसे रासायनिक प्रयोगों के द्वारा अग्नि के

संसर्ग से पाषाण से अलग कर दिया जाता है। उसी प्रकार जीव को भी, ध्यान के द्वारा प्रज्वलित की हुई ज्ञानाग्नि में भली भांति तपा कर, अनादि काल के सम्बन्ध वाले कर्मों से, उस का समुचित रूप से पृथक्‌-करण किया जा सकता है। इस में सन्देह के लिए लेशमात्र भी स्थान नहीं है। इस प्रकार, जब जीव अपने विशुद्ध स्वरूप को एक बार प्राप्त कर लेता है, तो फिर वह मुक्त बन जाता है। और, तब किसी भी प्रकार के कर्म-बन्धन, उसे अपने आघात और प्रत्याघातों से, अमुक्त नहीं बना सकते।

और भी, हे आयुष्यमान्! तुम्हारे कहने से या समझ के अनुसार, यदि कर्मों का बिलकुल ही अभाव मान लिया जाय, तो फिर धर्माधर्म, दान-अदान, तप-अनुष्ठान, सुख-दुःख, स्वर्ग–नरक, आदि का जगत् से एकान्तिक अभाव हो जायगा। अतः अपने मन में से अब तुम 'कर्म है या नहीं?' इस संशय को अवश्यमेव दूर निकाल कर फेंक दो और कर्मों की सत्ता में विश्वास करो। शुभाशुभ कर्मों का कर्ता तथा भोक्ता, जीव ही है। स्वयं किये हुए कर्मों का अनुभव जीव स्वयमेव ही करता है। और, यही कारण है, कि उस का शुभाशुभ विपाक भी वह स्वयं ही भोगता है।

अग्निभूति! जिस प्रकार तुम्हारे मन का संशय मैं ने जान लिया है, उसी भांति ज्ञानावरणीय आठों प्रकार के कर्मों को भी मैं प्रत्यक्ष देखता हूँ। अतः तुम कर्म के अस्तित्व को स्वीकार करलो। जीव तथा कर्म, आदि कोई भी वस्तु मुझ से अदृश्य नहीं है। अतः कर्म की स्थिरता को तुम निश्चयात्मक रूप से मानो।"

इस प्रकार, अग्निभूति के दिल के अन्दर रहे हुए संशय को, बिना उन के कहे ही भगवान् ने जान कर, उन को निर्मूल कर दिया। यह देख कर अग्निभूति का मन बड़ा ही चकित और आनन्दित हो गया। उन्हों ने उसी काल, अपने अभिमान का सर्वांश में अन्त कर डाला। उसी समय, उन्हें प्रतिबोध हो जाने के कारण, अपने पांच सौ शिष्यों सहित दीक्षित होने के लिए, उन्हों ने भगवान् से बड़ी नम्रता के साथ निवेदन किया। प्रभु नें अपनी कृपा का लम्बा हाथ उन के सिर–माथे रक्खा। और, योग्य अधिकारी समझ कर उन्हें उन के शिष्यों के समेत दीक्षित कर लिये।

अपने दोनों ज्येष्ठ भ्राताओं को दीक्षित हुआ सुन कर, वायुभूति ने विचार किया, कि "जिस महावीर पुरुष रत्न के सामने, मेरे दोनों उद्भट विद्वान् भ्राता जैसे व्यक्ति भी, अपने पांडित्य का अभिमान जब न रख सके, जब उन दोनों को भी उन्होंने जीत लिया, तब वे निश्चय-पूर्वक ही सर्वज्ञ होने चाहिए। उन की विद्वत्ता और विवेक, सचमुच में असाधारण होना चाहिए। अतः ऐसे भगवन्त के पास जा कर, मैं भी क्यों न अपने संशय को दूर करूं ? संशय के नाश होते ही, मेरे अभिमान के आवरण का भी अन्त हो जायगा। और ज्योंही अभिमान का नाश हुआ, कि सद्-असद्-विवेक बुद्धि की मुझे भली भांति प्राप्ति हो सकेगी। जिसके द्वारा मैं अपने जीवन का भावी कल्याण कर सकूंगा।"

उपर्युक्त विचार दिल में उठते ही वायुभूति ने अपने पांच सौ शिष्यों को साथ में लिया। और, उसी क्षण भगवन्त की शरण में वे चल पड़े। वे समवशरण में आये। उन के वहां आते ही, भगवान् ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा, "हे वायुभूति ! तुम्हारे मन में जीव और शरीर सम्बन्धी प्रश्न है। 'तज्जीव', 'तच्छरीर', इस प्रकार का संशय तुम्हारा सतत पीछा किये रहता है। जिसके कारण, चिन्ता रात-दिन तुम्हें जलाती रहती है। अच्छा, जरा ध्यान दे कर सुनो। तुम्हारा संशय अभी दूर हो जायगा। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ग्रहण न होने के कारण, जीव, शरीर से भिन्न मालूम नहीं पड़ता है। अतः जल में बुद्बुदों की भांति, वह जीव शरीर में से उत्पन्न हो कर शरीर में ही लय को भी प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार का, जो तुम्हारा आशय है, वह एकांगी और अनुचित है। वास्तविक नहीं है। सारे प्राणियों को वह जीव कथंचित् प्रत्यक्ष है, क्योंकि, उस में इच्छा, आदि गुणों के रहने से, वह जीव स्वसंविद् है। कहने का भाव यह है, कि प्राणियों को स्वयं अनुभव होता है। वह जीव, देह और इन्द्रियों से भिन्न है। इन्द्रियों की शक्तियां जब नष्ट हो जाती हैं, और जब वे अपना कार्य नहीं कर सकती, तब वह इन्द्रियों को याद करता है। और, कहता है, कि "मेरी फला फला इन्द्रियां अपना कार्य करने में असमर्थ हैं। वे मरणान्त दशा को प्राप्त हो चुकी हैं इस प्रकार का वह स्वयं ऊहापोह करता है। इस से प्रत्यक्षतः प्रकट होता है, कि 'मेरा शरीर', 'मेरी इन्द्रियां', 'मेरा मन' आदि बातों को कहने तथा माननेवाला जीव, इस शरीर से कोई भिन्न पदार्थ है।

'सत्येन लभस्तपसा ह्येष ब्रह्मचर्येण नित्यं ज्योतिर्मयोहि शुद्धोऽयं पश्यान्ति धीरायतयः संयतात्मनाम्।' इत्यादि इस प्रकार की श्रुति में कही हुई ऋचा का वास्तविक अर्थ नीचे के अनुसार है।

यह ज्योति स्वरूप शुद्ध आत्मा, सत्य, तप, और ब्रह्मचर्य से जानने में आती है। उक्त पदों से, आत्मा पंचभूतादि से पृथक् है, ऐसी स्पष्ट प्रतीति होती है। अतः तुम्हारा संशय अयथार्थ और असंगत है।

बिना वायुभूति के ज़रा भी अपना मुंह खोले भगवान् ने उन का नाम, धाम आदि तो बताया ही; परन्तु साथ ही उन के मानसिक भ्रम और संशयों को भी समूल रूप से खोद बहाया। यह देख, सुन और अनुभव कर वायुभूति का हृदय हर्ष के मारे बांसों उछलने लगा। भगवान् के उपदेश से उन के अन्तर का विकार सारा धुल गया। जिस से उन्हें सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति हुई। उसी समय, उन के मन में, संसार और उन के भोग-विलासों के प्रति विरक्ति पैदा हो उठी। तब अपने दोनों ज्येष्ठ भ्राताओं की भांति उन्हों ने भी अपने दीक्षित होने की भगवान् से प्रार्थना की। और, अपने पांच सौ शिष्यों समेत, भगवान् के द्वारा दीक्षा उन्हों ने प्राप्त की। यों, वे तीनों भ्राता भगवान् के पट्ट शिष्य और उन सिद्धान्तों का प्रचार करने वाले बन गये। इस बात को सुन कर, उन के अन्य साथी आठ विद्वानों के मन में भी, भगवान् के द्वारा, अपनी अपनी शंकाओं का समाधान करने की इच्छा हुई। तब वे भी क्रम क्रम से प्रभु के पास आये। प्रभु ने उन के भी बिना कुछ पूछे ही, उन की सारी शंकाओं का समाधान समुचित रूप से कर दिया। जिस का अन्तिम फल भी वही हुआ, जो कि ऊपर के तीनों विद्वानों का हुआ। अर्थात् उन आठों अन्य विद्वानों ने भी, अपने शिष्यों के साथ, प्रभु का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। यही नहीं, इन लोगों ने तो अपने घरवालों को भी दीक्षित बना दिया। धन्य! महा पुरुषों के उदार कार्यों, उन की बातों, और उन के शरीर की प्रत्येक प्रकार की हरकतों की छाप, उन के सामने तथा उन की शरण में जानेवाले पुरुषों के हृदय पर ऐसी ही अमिट रूप से पड़ती है। और, जिस का परिणाम भी आत्म-कल्याण के रूप में बड़ा ही सुन्दर तथा चिरस्थायी होता है। महा पुरुष सचमुच में बोध-रूप होते हैं। जिनके चरण-कमलों का वन्दन और सेवा अनुराग-पूर्वक करते रहने से, निश्चय ही कुछ काल में, भव-रोगों के अति दुर्गम

दलदल में फंसा हुआ प्राणी, अवश्य ही सब प्रकार से नीरोग हो सकता है। और, आत्म-बोध को प्राप्त कर के अनन्त सुख को भोगनेवाला बन जाता है।

पाठको! उन आठों पंडितों में से प्रत्येक के मन में कौन कौन सी शंकाए थीं, और उन का समाधान प्रभु ने किस सुन्दरता और सरलता के साथ किया उस का भी संक्षिप्त स्वरूप यहां बता दिया जाता है।

चौथा पंडित व्यक्त नामका था। वास्तव में पृथ्वी, आदि पांच तत्व रूप जगत्-है या नहीं।' उसे यह संशय था। वह समझे बैठा था, कि इन की जो प्रतीति होती है, वह संभवतः भ्रम से है; जल में हिलते-डुलते चन्द्रवत् है। भगवान ने व्यक्त की इस उपर्युक्त समझ को भ्रमभरी बताया। उन्हों ने कहा, "देवानुप्रिय व्यक्त! वेद-वाक्यों के यथार्थ संगति-सूचक अर्थ को तुम समझ नहीं सके हो। और, इस अर्थ-वैपरीत्य के कारण ही तुम्हारे मन में यह भ्रम भ्रमरहा है।

जिस वेद-वाक्य का अर्थ अयथार्थ समझने से तुम्हें शंका हो रही है, वह "येन स्वप्नोपमं वै सकलं इत्येष प्रत्यविध रंजसा विज्ञेय," यह है। इस का अर्थ आप यों लगाते हैं, कि "वास्तव में पृथ्वी, आदि तत्व केवल स्वप्न सदृश हैं; निरं मिथ्या है। पंच भूतों का सर्वथा अभाव है। और, "पृथ्वी देवता, आपो देवता," इत्यादि पदों से भूतों का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार पृथ्वी आदि के अस्तित्व और नास्तित्व-दोनों के साधक वाक्य वेद में पढ़ने से तुम्हें शंका हो रही है। लेकिन "स्वप्नोपमं वै सकलं", इत्यादि पदों से तो, केवल कनक और कामिनी आदि के संयोग ही की अनित्यता सिद्ध होती है। पंच महा भूतों का निषेध सिद्ध नहीं होता। यदि थोड़ी देर के लिए सर्व-शून्यता का पक्ष मान भी लिया जाय, तो आगे चल कर उस से जगत् का सारा गाड़ा अटक जाता है। ऐसा मान लेने से, जगत् में जो स्वप्न, जागृति गन्धर्वपूर, नगर, आदि के भेद प्रकट हैं, वे किसी प्रकार घटाये नहीं जा सकते। अतः हे विद्वद्वर व्यक्त! पंच भूतों के अभाव का सिद्धान्त, जो तुम्हारे दिल और दिमाग में वर्षों से चक्कर काट रहा है, वह ठहर जाता है। अर्थात् जगत् में पंच भूत है, यह तुम निश्चय-पूर्वक मानो।" व्यक्त पण्डितजी ने भी बिना किसी प्रकार की हिच-किचाहट के भगवान् के भावों का सत्कार किया। तत्पश्चात् वे भी उस समव-

शरण में अपने आनेवाले विद्वानों की भाँति, स-शिष्य समुदाय के भगवान् के शिष्य बन गये।

फिर, पांचवें पंडित सुधर्माजी के मन में, यह जीव जैसा इस भव में है, वैसा ही पर-भव में भी होता है या नहीं ? कारण के अनुरूप ही कार्य हुआ करता है। उदाहरणार्थ-शालि-प्रमुख बीज से उसी जाति के धान्य की उत्पत्ति होती है। दूसरे की कभी नहीं।' इत्यादि बात की शंका भरी हुई थी। इस पर भी प्रभु ने यही कहा, कि हे सुधर्मा ! तुम्हारी यह शंका निर्मूल है। तुम भी अपने साथी पूर्व पंडितों की भाँति वेद की ऋचाओं का वास्तविक अर्थ समझ नहीं पाये हो। ',पुरुषो वै पुरुषत्वमस्तुते, पराव पशुत्वम्।" इत्यादि वेद-पदों से तो भवान्तर का सादृश्य सिद्ध होता है। परन्तु "शृगालो वै एष जायते यः सपुरीषो दह्यते।" इत्यादि पद भवान्तर की असदृशताके सूचक हैं। इन्हीं परस्पर विरोधी श्रुति-वाक्यों से तुम्हारा मन संशयान्दोलित हो रहा है। हे सुधर्मा ! इन पदों का वास्तविक अर्थ यों है। तुम उसे ध्यान दे कर सुनो।

प्रथम वाक्य का यह अर्थ निकलता है, कि मार्दव आदि गुणों से युक्त पुरुष, पुनः मनुष्य का आयुष्य बांध कर, मनुष्यत्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार का अर्थ-निरूपण इस पद से होता है। किन्तु मनुष्य मनुष्य ही होता है, ऐसा निश्चय इस से नहीं होता। यह सिद्धान्त-संगत भी नहीं है। फल-फूलों में नाना भाँति के जन्तुओं की उत्पत्ति होती है; गोबर से बिच्छू भी पैदा होते हैं; और दो जुड़ी हुई चट्टानों के चारों ओर से बन्द परतों के अन्दर भी कभी छोटे बड़े जीवों की उत्पत्ति देखी जाती है। अतः तुम्हारी यह युक्ति भवान्तर के लिए ठीक ठीक नहीं बैठती। एक मनुष्य, सरलता मृदुता आदि गुणों से युक्त होने पर, मृत्यु के पश्चात् पुनः मनुष्य भव को प्राप्त हो सकता है। परन्तु वही मनुष्य, जो छल, छन्द, कपट, आदि आदि दुराचारों से रचापचा रहता है, वह आगामी भव सम्बन्धी पशु का आयुष्य बांध कर, अवश्यमेव पशु-जाति में उत्पन्न होता है। अतः जीव की पृथक् पृथक् गति में भावी उत्पत्ति उस के कर्म के आधीन रहती है। और, उस से ही प्राणियों की नाना प्रकार की विभिन्नता इस जगती तल में दिख पड़ती है। कारण के अनुरूप ही कार्य होना चाहिए, प्रकृति में कोई ऐसा एकान्त नियम नहीं है।" क्योंकि तेजस्वी अग्नि से विपरीत स्वरूप वाला धुँआ पैदा होता है, स्वभाव से शीतल जल के

द्वारा उष्ण विद्युत की उत्पत्ति होती है। प्रभु के इस प्रकार के समाधान से उन के मन का सारा सन्देह दूर हो गया। तब तो उन्होंने भी अपने पांच सौ शिष्यों समेत, उसी काल में प्रभु के शरण हो कर दीक्षा अंगीकार कर ली।

छठे पंडित मौर्यपुत्रजी थे। देवों के अस्तित्व में इन का मन अस्थिर था। उन के प्रभु की शरण में जाते ही, बिना उन के पूछे प्रभु ने स्वयं उन से कहा, "मौर्यपुत्र! 'देवताओं का होना और न होना,' यह संशय तुम्हारे हृदय में घुस कर बैठा हैं। परन्तु तुम्हारा संशय निर्मूल है! हाथ कंगन को आरसी क्या?" इस न्याय से देखो, तुम्हारे सम्मुख ही इन्द्रादि देवता यहां समवशरण में आये हुए बैठे हैं। शेष काल में, संगीत आदि में व्यग्र रहने से और नर-लोक की दुस्सह गन्ध से ये यहां नहीं आया जाया करते। परन्तु उस काल में यहां न आने जाने से, इन का अभाव समझ बैठना ठीक नहीं। ये देव अरिहंतादि के जन्म, उन के अभिषेक, आदि आदि अनेक अवसरों पर इस पृथ्वी पर आते हैं। और भी विशेष धार्मिक प्रसंगों पर ये यहां आया करते हैं," मौर्यपुत्र का, प्रभु के कथनोपकथन इत्यादि से पूरा पूरा मनस्तोष हो गया। उसी काल, उन्हों ने प्रभु की शरण गही। और, अपने सब के सब, साढ़े तीनसौ शिष्यों के साथ दीक्षा धारण कर ली।

सातवें पंडित अकंपितजी की बारी अब भगवान् के शरण में आने की आयी। वह अपने शिष्यों को ले कर समवशरण में भगवान् के दर्शनार्थ आये। ये, नारकीय जीवों के न दिख पड़ने के कारण, उन का बिलकुल ही अभाव मानते थे। प्रभु ने आते ही उन्हें नारकीय जीवों के अस्तित्व की शंका की बात कही। उन के तीन सौ ही शिष्य और वे इस बात को, बिना उस के पूछे ही सुन कर दंग रह गये। बात यहीं समाप्त न हुई। प्रभु आगे बढ़े। वे उन से बोले, "देवानुप्रिय अकंपित! नारकीय जीवों के अस्तित्व का अविश्वास तुम्हारे हृदय में पैदा ही कैसे हुआ? क्या, तुम इस जगत् में नहीं देखते, कि यहां जो नाना भांति के जीव तथा उन के सुख, दुःखादि देखने में आते हैं, यह क्या और क्यों है? क्या, यह विपरीतता जीवों के भले बुरे कर्मों का फल नहीं है? यदि तुम यह बात समझ गये हो, और इस पर से, मेरे ऊपर के कथन को तुम मान लेते हो, तो तुम्हारी शंका फिर टिक ही नहीं सकती। तब तुम्हें यह अवश्य मान लेना होगा, कि जो पापाचरण करते हैं, वे जीव अवश्यमेव नरक में जाकर

पैदा होते हैं। नारकीय जीव, जो तुम्हें प्रत्यक्ष में दिख नहीं पड़ते, इस का एक ही कारण है, कि वे अत्यन्त पराधीन हैं। और, इसीलिए वे यहां तुम्हारे सम्मुख आ नहीं सकते। यह तो हुई नरक के दुखित और पराधीन जीवों की बात। परन्तु मनुष्य भी अपनी मानुषी शक्तियों से, सदेह वहां जाने के लिए असमर्थ है। परन्तु हां, बुद्धि-शक्ति के द्वारा, वह चाहे तो, उस का सदुपयोग कर के ज्ञान की उच्चतम अवस्था को प्राप्त कर सकता है। और तब, अपने उस ज्ञान के द्वारा, वह वहां की सम्पूर्ण घटनाओं को, अनुभव गम्य कर सकता है। वह चाहे, तो उन्हें (नारकीय जीवों को) प्रत्यक्ष देख भी सकता है। परन्तु याद रखना चाहिए, कि अवधि ज्ञान आदि के धारक ही इस प्रकार की सामर्थ्य रख सकते हैं। अन्य संसारी जीवों के लिए यह असंभव है। अतः नारकीय जीव प्रत्यक्ष में उपलब्ध न होने पर भी, युक्ति-गम्य अवश्य हैं। " भगवान् के ऐसे अनेक सरल और संदेह-नाशक वचन सुन कर, अकंपितजी हर्ष के मारे कम्पित हो गये। उन्हों ने भी तब प्रभु की शरण में जा कर, अपने पूर्व साथियों की तरह दीक्षा अंगीकार करली।

जीव को बन्ध, निर्जरा और मोक्ष है या नहीं ? मंडितजी नामक आठवें पंडित के मन में यही शंका चक्कर काट रही थी। जब अकंपितजी को भी प्रभु का शिष्य होते उन्हों ने जान लिया, तब अपने साढ़े तीन सौ शिष्यों समेत अपनी शंका को साथ में ले कर, समवशरण में प्रभु के निकट आये। वहां जाते ही श्रद्धा-पूर्वक भगवान् को इन लोगों ने प्रणाम किया और तब उन के पड़ौस ही में वहां बैठ गये। प्रभु ने उन के आते ही उन की शंका का प्रकाशन कर दिया। इस से मंडितजी को कोई अचरज नहीं हुआ। क्योंकि, प्रभु की सर्वज्ञता के विषय में वह अभी तक यथेष्ट प्रत्यक्ष प्रमाण देख तथा सुन चुके थे। परन्तु हां उन के शिष्यों का हृदय अवश्य खिल उठा। भगवान् बोले, "मंडित-जी ! आत्मा, बन्ध तथा मोक्षवन्त है, यह बात प्रमाणों से सिद्ध है। मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद कषाय, और योग, कर्म-बन्ध के मुख्य हेतु हैं। इन के सेवन से जीव नाना भांति के कर्म-बन्ध करते हैं। उन कर्म-बन्धनों से जीव, जैसे कोई एक रस्सी के साथ बंधा हुआ हो, ठीक उसी भांति, नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवता, इन चारों प्रकार की गतियों में इन चारों जाति की अगणित योनियों में परिभ्रमण करता हुआ, परम दारुण दुःख का अनुभव करता है। ज्ञान, दर्शन

चारित्र आदि का आराधन ही कर्म–निर्जरा–वियोग का हेतु है। इन्हीं के द्वारा कर्म–बन्धन की गाढ़तम डोरी आसानी से टूट सकती है। अन्यथा, जीव लाख लाख उपाय कर के सिर पटके, कुछ नहीं हो पाता। बिना कर्म-पाश के कटे मुक्ति का मिलन कभी नहीं हो पाता। कर्मों की सर्वथा निर्जरा होने की अवस्था का नाम ही 'मोक्ष' है। इसी मोक्ष को प्राप्त कर के सम्पूर्ण रूप से सुखी बन जाता है। जो भी जीव और कर्मों का पारस्परिक सम्बन्ध अनादि–सिद्ध है; तथापि, जैसे, अग्नि में गलाने से सुवर्ण और पाषाण अलग अलग हो जाते हैं, ठीक उसी तरह, ज्ञान, दर्शन, आदिक की आराधना करने से जीव और कर्मों का वियोग हो जाना भी अनुभव–सिद्ध और निश्चित है। भगवान् के इस उपदेश से मंडितजी की भीतरी आंखें खुल गयीं। उन का सारा संशय, कपूर की भांति, उन के हृदय से उड़ गया। अन्त में, अपने शिष्यों समेत उन्हों ने भी प्रव्रज्या अंगीकार कर ली।

अब नौवें पंडित अचल भ्राताजी भी, अपनी शिष्य मंडली को लेकर, पुण्य और पाप के अस्तित्व में सन्देह को साथ में लिये हुए, प्रभु के निकट आये। उन के वहां जा कर बैठते ही, प्रभु ने उन की शंका उन से कह सुनायी भगवान् तब उन से बोले, हे देवानुप्रिय! जब तुम पुण्य और पाप का प्रत्यक्ष फल इस पृथ्वी में देखते हो, सुनते हो, और अनुभव करते हो, तथा व्यवहार से भी इस की प्रसिद्धि तुम्हे जान पड़ती है, तब तुम्हे यह निराधार शंका ही कैसे हुई? पंडितजी तुमने तत्त्व की तह तक पहुंचने का पूरा पूरा प्रयत्न नहीं किया। इस दुनियां में दीर्घायु, आरोग्य, रूप-सौन्दर्य, धन वैभव, बल और विवेक, मान सम्मान, तथा उच्च कुल में जन्म और इन सब से भी अधिक महत्त्व-पूर्ण बात तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति, ये सब के सब पुण्य ही के तो प्रत्यक्ष फल हैं। और, इस से विपरीत, अल्पायुष्य, अस्वस्थता, कुरूप, निर्धनता, क्लेश, कलह, व्याधियाँ, और नीच कुल में उत्पत्ति, इत्यादि पाप के कारण से प्राणियों को प्राप्त होते हैं। इस प्रत्यक्ष भेदाभेद के हेतुओं का एकाग्रता-पूर्वक मनन करने से, तुम्हारी शंका का अपने आप ही समाधान हो जाता है। यदि पुण्य और पाप जैसा कुछ भी यहां न होता, तो जगत् के दृश्यमान् पदार्थों में, जो नाना भांति की असमानता का दर्शन हो रहा है, वह कदापि नहीं होता। इतना ही नहीं।

प्रकृति के व्यापार में बड़ी भारी हलचल भी मच गयी होती। क्योंकि, उस समय, लोगों के हृदयों में, पाप तथा पुण्य के फलों का कोई भय न रहने से सबल निबलों को चलते हुए सताते रहते। उस दिन, सभी लोग समानता का दावा करने जाते; परन्तु समानता का कहीं कोई बीज तक यहां पाया न जाता। फिर आज भी तो, जिस समान कोटि की अवस्था को समाज में देखा जाता है, उस से भी प्रत्यक्ष जाना जा सकता है, कि वास्तव में वह समानता नहीं है। इस से पूरा पूरा विश्वास रक्खो, कि पाप और पुण्य ये दोनों तत्त्व इस जगत् में हैं; और आगे भी रहेंगे।" भगवान् की इस पवित्र और सरल वाणी को श्रवण कर अचलभ्राता के अन्तर का असमंजस बिलकुल दूर हो गया। प्रभु का उन्हों ने बड़ा उपकार माना। और, तीन सौ शिष्यों समेत चारित्र को अंगीकार उसी समय कर लिया। पाठको ! अन्तर-ज्योति का प्रकाश कितना दिव्य होता है ? उस की आभा कहां तक प्रवेश कर सकती है ! उस से अज्ञानान्धकार का नाश किस प्रकार जल्दी से जल्दी हो सकता है ! संशय-विहंगम उस से कैसे और कहां भगा दिया जा सकता है ! आप ने यह सब जान लिया।

अब मैतार्य नाम के दशवें पंडितजी ने अपने शिष्यों समेत भगवान् की शरणागति लेना ठाना। ये अभी तक 'पुनर्जन्म' या 'पुनर्भव' ही के झमेले में फँस रहे थे। समझ रहे थे, कि "चिदात्म-रूप जीव का स्वरूप सर्व भूतों का एक सन्देह रूप है। इन भूतों का अभाव होते ही जीव का भी अभाव हो जाता है। इस कारण से परलोक या पुनर्भव हो ही कैसे सकता है ?" वे प्रभु के पास सद्भावना को ले कर आये। समवशरण में प्रवेश कर, प्रभु को उन्हों ने अपने शिष्य समेत नमन किया और बैठे। जब कुछ देर बैठे बैठे उन्हें हो गयी, प्रभु ने उन की ओर देख कर, उन के मन का सन्देह अक्षरशः उन्हें कह सुनाया। फिर, प्रभु के पूछने पर, कि "कहो, मैतार्यजी ! तुम्हारे मन में यही उपर्युक्त सन्देह है, या नहीं ?" इस पर, बिलकुल विगर्वित-भाव से उन्होंने भगवान् के कथन को स्वीकार किया। तब दयालु भगवान् ने उन्हें और अधिक समय के लिए बैठा न रख कर, उसी समय उनकी उस शंका का समाधान कर दिखाया। उस का भाव यों था। "देवानुप्रिय मैतार्य ! तुम्हारे जैसे उद्भट पंडित को यह भ्रम हुआ ही कैसे ? जीव की स्थिति तो सर्व भूतों से भिन्न ही है। क्यों कि, पंच भूतों के एकत्र हो जाने पर भी, उन में से चैतन्य आत्मा की,

कोई उत्पत्ति नहीं कर सकता। या उन के एकीकरण हो जाने पर चैतन्य तत्व की उत्पत्ति स्वयं भी नहीं हो सकती। क्योंकि, 'चेतना लक्षणो जीवः' यह जीव का लक्षण है। अतः वह पंच महा भूतों से भिन्न है। वह चेतना लक्षणवाला ऐसा जीव अपनी आयुष्य के पूर्ण हो जाने पर, शरीर से भिन्न होकर, परलोक में चला जाता है। यही नहीं, कितनेक जीवों को तो, जाति-स्मरण, वगैरह कारणों से अपने पूर्व भवों का स्मरण हो जाता है। तुम्हारे कथन के अनुसार, यदि पुनर्भव को न माना जावे, तो जो शुभाशुभ कर्म करते हैं, उन का फल कौन भोगेगा? यह तो हुई एक बात। दूसरी बात यह भी हो सकती है, कि जब पर भव ही को न माना जायगा, तो शुभाशुभ कर्मों को भोगने वाले जीवों का अस्तित्व भी उसी के साथ लोप हो जायगा। तब भले कर्मों का आचरण करना चाहिए; और बुरे कर्मों को त्याग देना चाहिए;' इस प्रकार की धारणा और, विचारणा का भी एकदम अभाव ही होगा। और, प्रत्येक जीव स्वच्छन्द-शील बन कर, अपने मन की तरंगों के अनुसार, वर्त्तन करता हुआ नज़र आवेगा। किन्तु जगत् में शुभाशुभ कर्मों का फल तो अवश्यमेव भोगना ही पड़ता है, ऐसा स्पष्ट है। अगर ऐसा नहीं होता, तो क्यों, एक ही माता-पिता की दो सन्तानों में से कभी एक तो राज-महलों में पलती हुई, और दूसरी अन्न के दानों से मुँहताज़ बन कर, जगत् में दिखायी देती? फिर, हमें अभी जो भी कुछ भुगतना पड़ रहा है, वह सब का सब इसी एक भव के कृत कर्मों ही का शुभाशुभ परिणाम-मात्र है, सो यह बात भी ठीक नहीं। इस से तुम्हें मानना पड़ेगा, कि पुनर्भव है और, परलोक भी है। प्रभु के ऐसा कहते ही, मैतार्य उन के चरणों पर प्रेम के साथ गिर पड़े। प्रभु ने भी उन्हें उन के शिष्यों के साथ, अपना शिष्य बनाया।

यह देख और सुन, अन्त में ग्यारहवें पंडितजी ने भी, जिन का नाम प्रभास था, न रहा गया। उन्हों ने भी अपने साथियों की भाँति भगवान् के सम्मुख जा कर अपनी शंका को निर्मूल कर देना चाहा। तब उन्होंने भी तीन सौ ही शिष्यों को साथ में लिया और समवशरण की ओर प्रयाण किया। इन्हें निर्वाण या मोक्ष के सम्बन्ध में शंका थी। इन का मन इस बात पर जमता ही नहीं था, कि मोक्ष है। कभी वे उस की सम्भावना को सिद्ध करते और कभी उस के अभाव को बताते। यों वे स्वयं ही पशोपेच में पड़े हुए थे। प्रभु के पास जाकर

वन्दना करने पर वे बैठ गये। प्रभु ने उन्हें भी उन के दिलकी बात, बिना ही उन की ओर से पूछे, आप कह सुनायी। फिर, उन्हों ने उन्हें वेद की वह ऋचा कही जिस से उन्हें यह शंका हो रही थी। वह यों थी-"जरामर्यं वा यदग्नि होत्रं।"

इस पद से मोक्ष का अभाव जान पड़ता है। क्योंकि, 'जरामर्यं' अर्थात् नित्य करना। इस से, अग्निहोत्र के नित्य करने का प्रतिपादन किया। परन्तु वह अग्निहोत्र की क्रिया मोक्ष का कारण नहीं हो सकती। क्योंकि, उस के द्वारा, कितने ही जीवों का जहां वध होता है, वहां कितनों ही का अपकार भी होता है। फिर, मोक्ष साधन के लिए, इस प्रकार के अनुष्ठान का विधान भी नहीं किया गया है। अतः इस से तो यही सिद्ध होता है, यही प्रतीत होता है, कि मोक्ष कुछ है ही नहीं। फिर, "द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये" इस पद से दो ब्रह्म को जानने की बात भी साथ ही साथ कही जाती है। अर्थात् एक पर और दूसरा अपर। इस पद से मोक्ष की भली भांति प्रतीति हो जाती है। इस प्रकार का असमंजस तुम्हारे मन में घुसा बैठा है। तुम इसी चक्कर में पड़े हुए हो कि इन दोनों में से कौन सी बात सत्य मानी जानी चाहिए? पण्डित-प्रवर प्रभास! वेदों के कथन को तुम ने भली भाँति समझा नहीं है। मैं कहूं वैसे ऋचा के अनुसार उन पदों का अर्थ लगाओ, तो तुम्हारी शंका अभी निर्मूल हुई जाती है। यहां 'वा' शब्द का अर्थ 'अपि' करो। तब तुम्हारे अर्थ की संगति भली प्रकार बैठ जावेगी। और तब यह समझो, कि जिस को स्वर्गादि प्राप्त करने की कामना हो, उस को जावजीव अग्निहोत्र का अनुष्ठान करना चाहिए। और, जिसे निर्वाण-पद को प्राप्त करने की अभिलाषा हो, उसे अग्निहोत्रादि साधनों को छोड़-छाड़ कर, निर्वाण-साधन की क्रियाओं को अंगीकार करना चाहिए। यह ऋचा का अर्थ है परन्तु 'नियम से अग्नि-होत्र करना' तुम जो यह अर्थ करते हो, यहां यह अर्थ ठीक ठीक नहीं बैठता। परन्तु और जिससे निर्वाण- साधन की क्रिया का समय भी बताया गया है। कर्मों का क्षय हो जाना, यही मोक्ष का स्वरूप है। वेदों की सहायता से तथा जीवों की अवस्था की विचित्रता, दोनों से यह बात सिद्ध होती है, कि कर्मों का अस्तित्व है। सम्यक् ज्ञान-दर्शन, और चारित्र आराधन से कर्मों का क्षय होता है। इस से जो अतिशय ज्ञानवाले पुरुष होते हैं, उन्हें तो मोक्ष प्रत्यक्ष में दिख पड़ता है। सम्यक् ज्ञान तथा संयम को यथोचित पूर्ण रूप से प्राप्त कर लेना, यही मोक्ष की साधना के उपाय बतलाये गये हैं। फिर,

वह उपाय भी, इस नर–भव ही में सिद्ध हो सकता है, अथवा सिद्ध किया जा सकता है। क्योंकि, मनुष्य-गति में ही वह सिद्ध हो सकता है। जो धर्मशील अर्थात् धर्म का प्रति पालन करनेवाले मुनि-जन होते हैं, वे, ऐ प्रज्ञावान् प्रभास! निश्चय समझ, सब प्रकार के दुःख तथा द्वन्द्व भावों से रहित होते हैं। वेही महापुरुष परमार्थ तत्व को, एक चिद्रूप के समान मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं।"

प्रभु के इस प्रकार के सदुपदेश को सुन कर, प्रभास पंडित के मन का सारा संशय पलायमान् हो गया। उन्हों ने अपने भाग्य की बड़ी ही सराहना की। तब उन्होंने दीक्षित होने के लिए प्रभु से प्रार्थना की। प्रभु ने अन्य विद्वान् लोगों की भाँति उन्हें भी दीक्षा दी। उन के सब के सब शिष्यों ने भी भगवान् की शरणागति को प्राप्त किया। प्रभास पण्डितजी उस दिन लगभग सोलह वर्ष ही के थे। तब भी वे अपने समय के प्रकाण्ड पंडितों में से एक थे। उन्होंने यों बाल्यावस्था से ही गृहस्थ-वास का परित्याग किया; और, सर्व-विरति को धारण किया था। तब लगातार आठ वर्ष तक छद्मस्थ–पर्याय में वे विचरण करते रहे। और, अन्त में इसी अवस्था में रहते हुए निर्बाध केवल–ज्ञान को उन्हों ने प्राप्त किया।

पाठको! इस प्रकार आर्य कुलोत्पन्न, महाप्राप्त संवेग को प्राप्त किये हुए, और विश्व के विषय में धुरन्धर पांडित्य को रखनेवाले, ग्यारह के ग्यारहों अपने समय के प्रकाण्ड पंडित लोग, वीर प्रभु की शरणागति को प्राप्त कर, उन के मुख्य शिष्य अर्थात् गणधर बने। वीर प्रभु की वीर वाणी संसार के भूले भटके पथिकों को अमर आत्मिक बल देती रहे। जिससे संसार के दुख दर्दों का अन्त हो। समानता के भावों का सर्वत्र प्रचार हो। सोये हुए दिल जागरुक बनें और उन में समय के अनुकूल संयम की शक्ति का सतत संचार हो। घर घर में दया तथा अहिंसा के प्रति सच्ची आस्था रखने की भावनाओं का विकास हो। दया और अहिंसा केवल शब्दों ही में न रह कर, यथार्थ में संसार इन को अपने आचरण में लाना सीखे। तप के महत्त्व को संसार समझे। सत्यता का सर्वत्र समादर हो। और, परलोक–साधन की उच्च साधना की प्राप्ति होती रहे।

प्रकरण-तीसरा

प्रभु की शरण में चन्दनबाला का आगमन और दीक्षा ग्रहण.

जब भगवान् को केवल ज्ञान प्राप्त हो गया और उन्हों ने अपापापुरी में इस प्रकार देशना दी, कि जिस के तप-तेज तथा आत्मिक शक्ति के आगे, इन्द्रभूति, अग्निभूति, आदि प्रकाण्ड पंडितों ने भी अपनी हार मानी; हार ही नहीं, उन्हों ने अपने सम्पूर्ण साथियों तथा शिष्यों के साथ चारित्र को भी ग्रहण कर लिया, तब उन्हीं भगवान् के अगाध आत्मिक बल का सन्देश, दिशा वि दिशाओं में फैलते फैलते, कौशाम्बी भी जा पहुंचा। चन्दनबाला को भी इस बात की खबर मिली। उसे, उसी समय, अपनी पूर्व प्रतिज्ञा का स्मरण हो आया, कि प्रभु को केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर वह दीक्षा लेगी। तब तो वह वहां से चल कर प्रभु के पास आयी। और, उसे दीक्षित कर लेने का आग्रह किया। प्रभु ने उस के अन्तर की आवाज़ को पहचाना। और उसे दीक्षा का सच्चा पात्र पाया। उस के साथ ही साथ, अन्य महिलाओं ने भी दीक्षित होने का अपना भाव प्रदर्शित किया। प्रभु ने उन्हें भी दीक्षा-ग्रहण करने की अधिकारिणी जाना। तब चन्दनबाला के साथ प्रभु ने उन सभी को दीक्षित किया। इन में से चन्दनबाला को सभी साध्वियों का मुखिया-पद दिया गया।

उस समय, और भी अनेकों नर-नारियों ने श्रावक तथा श्राविकाओं का व्रत धारण किया। उसी समय, प्रभु ने इन्द्रभूति, आदि ग्यारहों पट्ट-शिष्यों को 'गणधर' की सम्माननीय पदवी से विभूषित किया। उसी समय, साधु, साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना की। इस के पश्चात्, प्रभु के द्वारा सब के सब गणधर उत्पाद, व्यय, और ध्रुव, इस त्रिपदी के ज्ञान से प्रतिबोधित किये गये। जिस के आधार पर, आगे चल कर, इन्हीं गणधरों ने 'द्वादशांगी' की रचना की।

मेघकुमार की दीक्षा.

प्रभु ने तब वहां से विहार किया। रास्ते की प्रत्येक छोटी बड़ी बस्तियों में विचरण करते हुए और अपने उपदेशों से जगत् के दुखित जीवों के भवरोगों को भगाते हुए, आप एक दिन राजगृह में पधारे। प्रभु के शुभागमन का सन्देश वहां के राजा श्रेणिक ने सुना। तब वह उन के दर्शन के लिए तैयार हो गया। यह सन्देश उस के पुत्रों ने भी पाया। उन ने भी उसके साथ भगवान् के दर्शनार्थ जाने की अपनी अभिलाषा प्रकट की। तब तो लाव-लश्कर, को साथ लेकर, बड़े ही ठाट बाट से वह अपने पुत्रों समेत प्रभु के दर्शन को चला। वहां आकर, सभों ने बड़ी ही श्रद्धा, भक्ति और विनय के साथ प्रभु की पद्-वन्दना की। तब उन के यथा-स्थान बैठ जाने पर, प्रभु ने राजा को सम्यक्त्व का तत्त्व समझाया। राज-कुमार अभय को प्रभु का वह उपदेश बड़ा ही प्यारा लगा। उस ने उसी काल श्रावक धर्म को प्रभु के सम्मुख स्वीकार कर लिया। भगवान् का जब प्रवचन समाप्त हुआ, सभी लोगों ने प्रभु को बड़ी ही भक्तिपूर्वक नमन किया। और, उन के पाद-पद्मों का स्पर्श कर, अपने भाग्य को सराहते हुए वे लोग अपने अपने घर को गये।

मेघकुमार यह भी राजा श्रेणिक ही का ज्येष्ठ पुत्र था। प्रभु के सम्मुख अपने पिता को इसने जो भी कुछ नहीं कहा था, तब भी घर आते ही यह अपने पिता-माता से बोला, "मेरा मन अब संसार से सोलह आना ऊब उठा है। मैं अब इस में थोड़ी देर के लिए भी रहना ठीक नहीं समझता। मैं तो भगवान् महावीर की शरण में जा कर अपने सत्य स्वरूप को अब जल्दी से जल्दी पहचान लेना चाहता हूँ। मुझे अब, न तो राज ही करने की इच्छा है; और न राजसी वैभव को भोगने ही की मेरी मनूशा है। यह जगत् मुझे धधकती चिता की तरह खेदजनक और संताप कारक प्रतीत होने लगा है। अच्छा हो, कि आप मुझे वीर भगवान् की शरण में जा कर, चारित्र-व्रत को ग्रहण करलेने की आज्ञा प्रदान करें।" पिता-माता को मेघकुमार की उदासीनता के ये भाव सुन कर बड़ा ही अचरज और दुख हुआ। अचरज तो यों हुआ, कि भगवान् के

भावों की छाप उन के एक ही दिन के उपदेश से, राज–कुमार के हृदय में इस प्रकार गहरा घर कर गयी। दुख का कारण मोह था। उन्हों ने मेघ-कुमार को अपनी शक्ति-भर समझाया। छोटी सी उम्र ही में चारित्र को ग्रहण कर लेने पर, आगे कौन कौनसी कठिनाइयों का सामना उसे करना पड़ेगा, इन सब बातों को बड़े ही उत्तम ढँग से उन्हों ने उस के आगे रक्खा। चारित्र व्रत में संयम, तप और पंच महाव्रतों के बड़े ही तंग मार्गों की प्रचण्ड भीषणता की आलोचना उन्होंने राज-कुमार के सम्मुख की। परन्तु वह तो अपने विचारों से टस से मस भी न हुआ। जब राजा श्रेणिक ने उसे उस मार्ग में इतना अचल देखा, तब उसे एक दिन के पश्चात्, राज-सुख के भोग लेने पर, दीक्षा ले लेने को उस ने कहा। ऐसा कथन पिता श्री का सुन कर राज कुमार ने मौन धारण की। राजा ने अपने पुत्र मेघकुमार के हाथों, बड़ी धूमधाम से, राज्य की बागडोर उसी दिन सौंप दी। कुछ ही समय बीता होगा, कि श्रेणिक अपने पुत्र से बोला, "कि अब आप का क्या हुकम है?" राजा मेघ-कुमार ने उत्तर में उसी क्षण उसी दीक्षा की बात को दुहराया। इस बार पिता ने प्रतिज्ञाबद्ध होने के कारण, अपने पुत्र को दीक्षा-धारण की आज्ञा दे कर बड़ी धूमधाम से दीक्षोत्सव किया। मेघकुमार तो पहले ऐसा चाह ही रहा था। उस की इच्छा पूरी हुई। वह दावानल से बच कर भाग निकलनेवाले मृग-छौने की भांति, अब अपने लिए नहीं, वरन् संसार के लिए जीवित रहने की आशा में भांति भांति की कामनाओं को मन में धारण करता हुआ, प्रभु की शरण में आया। और, अपना आन्तरिक विचार उन के सामने प्रकट किया। प्रभु ने दयालु हो कर, उस की भावनाओं की रूप-रेखा को जब भली प्रकार परख लिया, तब उसे दीक्षा दे दी।

मेघ-मुनि के चित्त की अस्थिरता

तत्कालीन मुनि-वृत्ती के अनुसार, नवदीक्षित मेघ मुनि को, दीक्षा धारण करने की पहली ही रात्रि में, उस स्थान पर सोना पड़ा, जहां से सम्पूर्ण उन से प्रथम के दीक्षित मुनियों के आने जाने का रास्ता अर्थात् उन के सोने का वह स्थान, उन से पूर्व के सभी मुनियों के पैरों की ओर था। "प्रथम-ग्रासे मक्षिकापातः।" इस न्याय से, दीक्षा के बाद की सब से पहली रात ही में उन पर बड़ी कड़ी बीती। मुनियों के इधर उधर आने जाने के कारण, उन्हें बार बार उन के पैरों का प्रहार सहना पड़ता था। उन की केवल इसी एक वेदना ने, आज से पहले के, संसार से विरति के सम्पूर्ण उच्च विचारों को, उन के अन्त-प्रदेश से छिटका दिया। उन के संयम के सारे विचारों में भयंकर उथल-पुथल मच गयी। वे मन ही मन सोचने लगे, "आज ही आज, मेरे वैभव-हीन हो जाने पर, ये लोग इतनी मग़रूरी के साथ, मेरे प्रति व्यवहार करते हैं, कल इन के द्वारा मेरे प्रति जो न हो जाय, वही थोड़ा है। अस्तु। प्रातःकाल होते ही मैं तो प्रभु के सम्मुख जा कर, इस व्रत को सर्वथैव त्याग दूँगा।" तदनुसार प्रातःकाल होते ही वे प्रभु के सम्मुख उपस्थित हुए। पहले ही दिन की घटी हुई वेदना से दुखित हो कर, संयम-व्रत को छोड़ देने की बात वे प्रभु के आगे कहने ही को थे, कि इतने ही में प्रभु उन से बोले, "देवानुप्रिय मेघकुमार! रात्रि की उस छोटी सी वेदना से तुम ऐसे व्याकुल हो गये? तुम्हें अपने पूर्व भव का स्मरण नहीं रहा? क्षण-भर के लिए, पवित्रता-पूर्वक और सचमुच में निभाये हुए दया, क्षमा, आदि सद्गुणों का असर, प्राणियों के जीवन को कितनी बड़ी भारी ऊर्ध्व-गति में ले जानेवाला बनता है? क्या, तुम इस बात को नहीं जानते? उदाहरण के लिए तुम यदि अपने पूर्व भव ही की बात को ले लो, तो अवश्य ही जहां तुम संयम-व्रत को धारण करके उसे छोड़ने चले हो, वहां थोड़ी ही देर के बाद संसार को संयम की ओर झुकाते हुए नज़र आओगे।" तब तो मेघ मुनि ने हाथ जोड़ कर प्रभु से प्रार्थना की, कि "हे कृपासिन्धो! मेरे पूर्व की वह कौनसी बात है? करुणा कर के आप उसे कह सुनाइये। और, मेरे मन का इस भयंकर अशान्ति से शीघ्र ही उद्धार कीजिये।"

मेघ मुनि की, इस प्रकार की उधर उत्कट रूचि देख कर, प्रभु बोले, " भव्य मेघकुमार ! इस से पहले के भव में तू एक हाथी था। तेरा नाम वहां मेरु-प्रभ था। और, विन्ध्याचल के सघन वन-प्रदेश में, किसी तालाब के तट,तू रहा करता था। तेरी शक्ति, सहानुभूति की चाल आदि को देख कर,तुझे वहां के अनेकों हथनियों ने अपना यूथ-पति भी मान लिया था। एक बार उसी वन-प्रदेश में जब कि ग्रीष्म ऋतु का यौवन काल था। उष्णता पुष्कल थी। एक बांस से दूसरे बांस का संघर्षण होने से भयंकर आग लगी। उस से अपने यूथ की रक्षा करने के लिए तूने अपने समुदाय के अन्य हथनियों को साथ में ले कर, उस वन के जलाशयों के किनारे खड़े हुए अनेकों झाड़ों को जा कर उखाड़ पटका। एक योजन तक उस स्थान को पानी छिटक कर साफ कर लिया। जिस से उस स्थान पर प्रायःझाड़-झँखाड़ उत्पन्न न हो सके। उस आग को भयंकर दावानल के रूप में देख कर तू अपने हथनियों को लेकर पहले ही उसके अन्दर सुरक्षित रूप से पैठ गया। इसी बीच अनेक अन्य बनैले जन्तु भी उस के अन्दर, भयभीत हुए, भर आये थे। तूने भी उन को बिना किसी प्रकार की रोक-टोक के,उस के अन्दर आने दिया था। कुछ ही देर के बाद,पड़ौस की आंच के मारे,तेरे बदन में खुजली चली। ज्योंही बदन के उस अवयव को खुजलाने के लिए,उस क्षण तूने अपने एक पैर को ऊपर उठाया ही था, कि इतने ही में उस धाँय धाँय करती हुई भीषण बन की आगी से, अपने प्राण बचाने के इरादे में, एक भयातुर खरगोश तेरे उस ऊपर उठाये हुए पैर के नीचे आकर बैठ गया। यह सोच कर, कि यदि ऊपर उठाया हुआ पैर अब ज़मीन पर रख दिया जाता है, तो यह प्राणी अभी पिस जायगा, तू ने वह अपना पैर उसी प्रकार पूरे तीन दिन तक अधर ही में उठाये रक्खा। और, जैसे तैसे कर के केवल अपने तीन ही पैरों के ऊपर तू खड़ा रहा। तीसरे दिन जाते, जब वह आगी प्रशान्त हुई, और उस स्थान में भाग कर आये हुए सम्पूर्ण बनचर जीवों ने भी अपना रास्ता पकड़ लिया, तब तू भी किसी जलाशय की ओर अपनी प्यास को बुझाने के लिए जाने लगा। परन्तु था तू भी तीन दिन का भूखा--प्यासा और तीन ही पैर पर खड़ा हुआ। अतः चौथा पैर तेरा जिसे तूने तीन दिन तक ऊपर ही उठाये रक्खा था, ज़मीन पर भली प्रकार टिका नहीं। जिस का परिणाम यह हुआ, कि तू धड़ाम से उसी समय ज़मीन पर गिर पड़ा और मर गया। हे मनस्वी मेघ-मुनि ! अन्त में जिसकी जैसी मति होती है, उसी के अनुसार उस की अगली

गति होती है। तेरे जीवन के केवल अन्त के तीन दिन मात्र ही के ऐसे साहसपूर्ण कार्य, परोपकार-बुद्धि, भूतदया, और संयम के कारण, वहां से मृत्यु पा कर तू इस भव में एक प्रसिद्ध राजपुत्र बना। हे मेघ! उस भव में ही तो तेने प्राण, भूत, जीव और सत्व की अनुकंपा ला कर रक्षा की। उसी से वहीं संसार पड़त किया और अपूर्व जो पहले प्राप्त नहीं हुआ ऐसा सम्यक्त्व रत्न प्राप्त किया। वहां तू एक यूथपति था, इस लिए यहां भी राजगादी का पूर्ण अधिकारी एक राजकुमार बना। देवानुप्रिय! जब तीन ही दिन की ऐसी सुवृत्ति का पालन कर के तू इस मनुष्य गति को प्राप्त हुआ, तब इस जीवन में शेष काल के लिए उस का विचार-पूर्वक भली भांति आचरण करने से तू किस उत्तम गति को प्राप्त होगा, उस के मान का तू अपने हृदय में अनुमान कर। हे नव मुनि! संयम के महत्त्व को तू अब भली प्रकार समझ गया होगा। भव रोगों से छूटने के लिए संयम ही संजीवनी बूटी है, यह तेरे विचार में अब आ गया होगा अतः अब तुझे जिस बात में सुख की प्रतीति हो, वैसा कर। फिर, विपत्तियों से डरना यह तो का-पुरुषों का काम है। क्षात्र तेज से सम्पन्न होते हुए, भावी विपदाओं के भय का तेरे निकट आना, यह तेरे सरीखे शूर के लिए बड़े ही कलंक की बात है। जो वस्तु जितनी ही अधिक महत्त्व-पूर्ण होती है, उस का मोल भी उतने ही ऊंचे रूप में चुकाना पड़ता है। अतः जगजाल से सदा के लिए छुटकारा पाने की यदि तेरी इच्छा हो, तो ये संसार की आपत्तियां तो उस के मूल्य में एक पासंग के बराबर भी नहीं है। उस के लिए तो, कठिन से कठिन आपदाओं को सहने के लिए, एक वीर की भांति तुझे सदा तैयार रहना चाहिए।"

भगवान् के इस संजीवन उपदेश को पाकर, मेघ मुनि को जाति स्मरण ज्ञान हुआ। उस के द्वारा अपने पूर्व भव की सारी बात जान ली। तब तो मेघ मुनि का चलायमान मन सदा के लिए स्थिर हो गया। और, उसी दिन से वह कठोर से कठोर तप की आराधना में जी जान से जुट पड़े।

जामाता और पुत्री का दीक्षा-ग्रहण

यों कितने ही स्थानों को पवित्र करते हुए, भगवान् कुण्डग्राम की ओर पधारे। ज्योंही भगवान् ने अपने पावन चरणों को वहां रक्खा, वहां की आबाल-वृद्ध सभी जनता ने श्रद्धा, भक्ति समेत आप की अगवानी की। और बड़े समादर के साथ उन्हें विधि-पूर्वक वंदना की। वीर प्रभु को वंदना कर लेने के बाद, आये हुए लोग अपने अपने योग्य स्थान पर बैठे। समवशरण में विराज कर भगवान् ने अपने लोक-हितकारक उपदेशों को देना प्रारम्भ किया। इसी बीच एक दिन भगवान् के संसारिक अवस्था की पुत्री, प्रियदर्शना अपने पति जमालि के साथ, भगवान् के चरण-दर्शन और वन्दना को वहां आयी। भगवान् के लोक-पावन उपदेशों का उन पर ऐसा करारा असर पड़ा, कि उन्हें संसार से उपराम हो आया। उन दोनों ने दीक्षा लेने की ठानी। उस के लिए उन्होंने अपने बड़े बूढ़ों से आज्ञा भी हासिल कर ली। उन के वैराग्य में रंगे हुए मन को रोकने वाला फिर था ही कौन, जो दीक्षा ग्रहण करने के व्रत से उन्हें विरत करता? भगवान् ने जब उन्हें दीक्षा के सच्चे अधिकारी देखा, उन्हें दीक्षित करना उचित समझा। जगत् की मंगल कामना को ले कर, प्रिय-दर्शना ने कुछ अन्य नारियों के साथ दीक्षा ग्रहण की। जामाता जमालि भी दीक्षित हुए। उन के साथ भी कुछ अन्य आदमियों ने दीक्षा ले कर, अपने जीवन और जन्म को सफल किया। अब मुनि जमालि ने शास्त्रों का अध्ययन करना प्रारम्भ किया। और थोड़े ही दिनों में उन्हों ने एक एक कर के ग्यारह अंगों का अध्ययन कर लिया। भगवान् ने उन्हें शास्त्र-निष्णात, और उन के मन में सुलगती हुई लोक-हित-कारक लगन को देख कर उन्हें उनके साथ में दीक्षित हुए मुनियों का आचार्य बना दिया। जगत् की गति के सदा-सर्वदा से दो पहलू रहते आये हैं। उस गति में पड़ कर, प्राणी यदि चाहे तो वह ऊंचे से ऊंचा आत्मपद का अधिकार प्राप्त कर सकता है; और आत्मा से परमात्मा बनने की बात को जगत् के सम्मुख प्रत्यक्ष दिखा सकता है। विपरीत इस के, इसी गति के फेर में पड़ कर,

प्राणी यदि चाहे तो दुर्गुणों का साथ कर के अपना सर्वनाश भी कर सकता है। इन में से पहला सुसंगति का परिणाम है। और, दूसरा कुसंगति का कडुवा फल। अस्तु। आचार्य--पदवी को पाकर, मुनि जमालि आत्मोद्धार के लिए तप में जुट पड़े। प्रियदर्शना ने भी उग्र तप करना आरम्भ कर दिया। इस बार चन्दनबाला का ध्येय उस के सम्मुख था।

आचार्य जमालि के मिथ्यात्व का उदय.

बहुत दिनों के बीत जाने पर एक दिन जमालि मुनि ने स्वतन्त्र हो कर विचरने की बात अपने मन में ठानी। वे अपने शिष्यों के साथ प्रभु की शरण में पहुंचे। भगवान् को विधिवत् नमन कर के, वे बैठ गये। कुछ ही देर के पश्चात्, तब उन्हों ने अपने ऊपर के विचारों को भगवान् के सामने रक्खा। और, वैसा करने के लिए आचार्य जमालि ने भगवान् की आज्ञा चाही। जगदुद्धारक भगवान् ने, उस के मूल में, अपने ज्ञान-बल से, भावी अनर्थ को देखा। इसीलिए उस के उत्तर में वे बिलकुल मौन रहे। परन्तु भगवान् की इस मौन-वृत्ति का, आचार्य जमालि ने दूसरा ही अर्थ किया। 'मौनं सम्मति लक्षणं' के न्याय से उन्हों ने समझा, कि भगवान् की इस में सोलहों आना अनुमति है। बस, फिर क्या था! वे शिष्यों को साथ लेकर विहार के लिए निकल पड़े। कई स्थलों में विहार करते हुए, एक दिन वे श्रावस्ती में आये। वहाँ के नर-नारियों ने उन की हृदय से आव-भगत की। उन्हें 'कोष्टक' उद्यान में ठहराया गया। और सब कुछ ठीक होने पर भी, उन के खान-पान की व्यवस्था यहाँ ठीक न रही। उन्हें यहाँ बिलकुल ही नीरस बासी, रूखा और सड़ा-गला भोजन मिला। जिस से वे अस्वस्थ हो गये। पित्तज्वर ने उन्हें आ घेरा। जिसके कारण, होते होते वे इतने अशक्त हो गये, कि अन्त में तो खड़े होना भी उन्हें दुष्वार हो गया। तब तो अपने शिष्यों से उन्हों ने संथारा-बिछौना (संस्तारक) लगाने को कहा। मुनियों ने उन की आज्ञा के अनुसार संथारा लगाना प्रारम्भ किया। परन्तु ज्वर से अधिक पीड़ित होने के कारण, उन्हों ने इसी बीच, बार बार संथारे के लिए मुनियों से पूछा। मुनियों के 'हाँ' कहने पर वे उन के निकट गये। पर अभी तक संथारा लग ही रहा था। तब तो आचार्य के मन के भावों में विकार हो आया। मिथ्यात्व का उदय उस (मन) में हुआ। वे नीचे बैठे। और त्यौरी बदल कर मुनियों से यों बोले—

"मुनियो! भ्रम के वश हो कर, अपन लोग अभी तक कुछ का कुछ समझे हुए थे। परन्तु पछतावे की कोई बात नहीं। अगर सुबह का भूला हुआ शाम को भी घर आ जाय, तो भी उसे भूला हुआ नहीं कहा जाता। अब मैं

समझा, कि जो कोई कार्य 'किया जा रहा हो,' उसे 'हो गया' ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? मुनियो ! संथारा तो अभी लगाया जा रहा है,' तुमने 'लगा दिया' यह कैसे कह दिया ? क्या, ऐसा कर के तुम ने मिथ्या-भाषण नहीं किया ? ऐसा बोलना, अयुक्ति-युक्त, न्याय-विरुद्ध, और असमंजस से भरा हुआ है। मुझे तो अरिहन्त प्रभु तक की मान्यता और कथनी में, दोष जान पड़ता है। क्योंकि, वे स्वयं जो वस्तु "उत्पन्न हो रही है," उसे "उत्पन्न हो गयी" तथा जो काम "किया जा रहा है" उसे "कर डाला" ऐसा मानते और कहते हैं। परन्तु जो काम वर्तमान् और भविष्यत् से सम्बन्ध रखता है, उसे भूतकाल का कैसे माना और कहा जा सकता है ? क्या, ऐसा मानने और कहने में, काल की अव्यवस्था का दोष उत्पन्न नहीं हो जाता है ? युक्ति और व्यवहार तो हमें यही दिखाते हैं, कि जो कार्य सचमुच में पूरा हो चुका है, उसी को किया हुआ, मानना और कहना चाहिए। अस्तु। मेरे ही कथन में व्यवहार और युक्ति से प्रत्यक्ष सत्य है और उसी को आप लोग भी स्वीकार करें। जो बुद्धिमान् हैं, वे भी इसी व्यावहारिक और युक्ति-युक्त न्याय का मंडन करते हैं। महान् पुरुष भी तो कभी कभी राह भूल ही जाते हैं। इसलिए जो अरिहन्त महा प्रभु 'सर्वज्ञ' की उपाधि से विभूषित हैं, वे कभी असत्य भाषण करते ही नहीं, मेरी समझ में तो ऐसा मानना, भूल से युक्त कहा जा सकता है। क्योंकि वे भी तो मनुष्य शरीर-धारी ही होते हैं। गलती करना मनुष्य का स्वभाव है।" आचार्य जमालि के इस कथन को सुन कर मुनियों का मन गुरु और शिष्य का नाता भूलने लगा। उन्होंने जमालि के विपरीत कथन का खण्डन करना उचित और न्याय-संगत समझा। तब वे बोले।

"आचार्य ! आप का यह कथन शास्त्र-सम्मत नहीं है। व्यवहार और युक्ति का सीधा सम्बन्ध मन की सिधाई के साथ है। और अकसर देखा, सुना और अनुभव किया जाता है, कि मन सदा सिधाई की ओर ही मुड़ता है। अपने इस सीधेपन के मार्ग में, वह किसी भी प्रकार के न्याय और अन्याय तथा पाप और पुण्य का, कभी भूल कर भी विचार नहीं करता। अस्तु। अरिहन्त महा प्रभु जो भी मनुष्य शरीर धारी होते हैं, तथापि होते हैं वे सर्वज्ञ, और संसार के कल्मषों से कोसों दूर। राग और द्वेष, मद और मात्सर्य, लोभ और क्रोध आदि तो कभी उन्हें छू कर तक नहीं निकलते। तब असत्य भाषण करने से उन का कोई

प्रयोजन है ? कदापि नहीं । उन की वाणी तो सभी प्रकार के दोषों से सदा-सर्वदा मुक्त रहती है। पूर्ण ज्ञानियों की बात में दोष बताने का आप का साहस भी बड़ा ही अनुचित है । जमालि मुनि ! जो भी आप हमारे आचार्य हैं, तथापि हैं आप छद्मस्थ । और यही कारण है, कि आप को युक्त तथा अयुक्त का वास्तविक ज्ञान अभी नहीं है ।" इस प्रकार जमालि मुनि और उन के शिष्यों में बड़ी देर तक करारी बहस होती रही । जिस का परिणाम यह हुआ, कि मुनियों ने आचार्य जमालि के दिल और दिमाग़ को सन्देहवश कुतर्क में फंसा हुआ देखा । इस से, उन में से कई मुनि उन्हें छोड़ कर, वीर भगवान् की शरण में चले गये । परन्तु कई एक मुनि और प्रियदर्शना ने अपने पूर्व स्नेह के कारण, जमालि ही के सिद्धान्त का साथ दिया। जमालि का यह सन्देह दिनों दिन अधिकाधिक बढ़ता ही गया । और वे, अपनी उसी सन्देह-युक्त विचार-धारा का, घूम घूम कर, जन-साधारण में प्रचार करने लगे ।

जमालि और गौतम गणधर का प्रश्न.

यों इधर उधर घूमते घूमते जमालि चम्पानगरी के पास के 'पूर्णभद्र' नामक वन में निकल आया। उस के ज्ञान में मद और सन्देह का घुन तो बहुत दिन पहले ही से लग चुका था। जिस के कारण उस को कर्तव्याकर्तव्य का भान भी नहीं रहा था। उस समय भगवान् महावीर और गौतम गणधर भी वहां पधारे हुए थे। एक दिन जमालि भगवान् महावीर के समवशरण में पहुंचा। वहां वह भगवान् को सम्बोधित कर बोला, "भगवन् ! आप के शिष्यों में से बहुतों को अभी तक 'केवल ज्ञान' तो प्राप्त हुआ ही नहीं, परन्तु उस के पहले ही वे मृत्यु के मुंह में जा फँसे। किन्तु यह बात मेरे लागू नहीं होती है। मुझे केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन, दोनों का साक्षात्कार हो चुका है। मैं सर्वज्ञ और सर्व दर्शी हूँ। जमालि के ऐसे कलुषित और मोह-मद-भरे वचनों को सुन कर, उन पर कृपालु श्री गौतम स्वामी को बड़ा तरस आया। श्री गौतम स्वामी ने जमालि के इस मिथ्यात्व और मद को दूर करने के इरादे से उस को एक प्रश्न पूछा। वे बोले "जमालि ! जीव और जगत्, दोनों नित्य हैं या अनित्य ? इस का सन्तोष-जनक उत्तर देकर, तुम अपने सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होने का पूरा पूरा परिचय मुझे दो।" प्रश्न को सुन कर जमालि का सिर लज्जा से नीचे झुक गया। उस की ज़बान बन्द हो गयी। और तो क्या, वह उस के उत्तर में 'चूं' तक नहीं बोल सका। इस पर भगवान् महावीर बोले-" हे जमालि ! यह जगत् जड़ और चेतन का समुदाय मात्र है। ये दोनों पदार्थ द्रव्य-दृष्टि से नित्य और पर्याय दृष्टि से अनित्य हैं। इसी बात को एक दृष्टान्त रूप में हम यों समझा सकते हैं, कि सोना एक पदार्थ है। परन्तु उस की पर्याय अनेक हैं। सोने की चूड़ी को गाल कर अंगूठी बनाई। यहां चूड़ी और अंगूठी दोनों सोने की भिन्न अवस्थाएं हैं। मगर इन अवस्थाओं के पूर्व में सोना था और चूड़ी व अंगूठी के रूप में भी सोना ही है। चूड़ी व अंगूठी के टूट फूट जाने पर भी सोना ही रहेगा। अतः यह सिद्ध हुआ कि इन में सोना नित्य पदार्थ है। चूड़ी आदि इस की अवस्थाएं अनित्य हैं। यही बात सारे जगत् को लागू होती है। जीव

एक पदार्थ है। जीवन और मरण उस की अवस्थाएं हैं। इन पर्यायों की अपेक्षा जीव अनित्य है। और द्रव्य की अपेक्षा जीव नित्य है।

प्रभु की यह हित-सनी वाणी जमालि के लिए ज़रा भी कारगर न हुई। इस का मूल कारण था, उन के हृदय में मिथ्यात्व का उदय। जिस से उनके सदसद् विवेक-बुद्धि का लोप हो गया था। उन्हों ने वीर भगवान् की ससार वाणी को एक कान से सुना और दूसरे कान से फुर्र कर के निकाल दिया। वे तब वहां से उठ खड़े हुए और समवशरण से एकदम बाहर निकल गये। सच है, कदाचित् प्रयत्न कर के कोई बालू में से भी तेल निकाल सके; सम्भव है, कोई प्यासा प्राणी मृग-तृष्णा के जल से भी अपनी प्यास को शान्त कर ले; कदाचिद् पृथ्वी पर इधर उधर घूमते-घामते कोई खरहे के सींगों का पता भी पाले! परन्तु मद और मोह से अन्धे, अल्पज्ञ पुरुष के चित्त को कदाचित् ही कोई सुमार्ग पर ला सके। जमालि 'अल्प-विद्यो महागर्वी' बन गये थे।

ढंक कुम्हार और प्रिय-दर्शना की मोह-निद्रा का भंग

घूमते हुए जमालि एक दिन श्रावस्ती की ओर जा निकले। वहां ढंक नाम का एक कुम्हार रहता था। उन दिनों प्रियदर्शना भी उसी बस्ती में इस कुम्हार के यहां ठहरी हुई थी। यह कुम्हार एक बड़ा ही श्रद्धालु श्रावक था। उस ने प्रियदर्शना को असमंजस में पड़ा देखा। उसे उस पर बड़ा तरस आया। वह प्रियदर्शना को किसी भी तरह सुमार्ग पर लाने का शुभ संयोग ढूँढ़ने लगा। अन्त में एक उपाय उसे सूझ ही पड़ा। एक दिन जब वह अपने आँवे में से वर्तनों को बाहर निकाल रहा था, उसी समय आग का एक छोटासा अंगारा उस ने छिप-लुक कर, किसी भी तरह, प्रियदर्शना के वस्त्रों पर फेंक मारा। हवा के ज़ोर से उस अंगारे ने वस्त्रों को पकड़ लिया। और ज़रा ही देर में जल उठे। प्रियदर्शना ने भली बुरी तरह से कुम्हार को कोसना प्रारम्भ किया। कुम्हार ने प्रियदर्शना को सुमार्ग पर लाने का वह बड़ा ही अच्छा मुहूर्त्त समझा। वह बोला-"सती जी! मिथ्या भाषण कर के अनन्त संसार के बांधने वाली क्यों बनती हैं? जब तक वस्त्र जल-बल कर राख का ढेर न हो जाय, तब तक आप की मान्यता के अनुसार उन्हें 'जल गये' कदापि नहीं कह सकती। जलते हुए को जल गया कहने की मान्यता तो श्री वीर प्रभु की है। आप की नहीं।" कुम्हार के इस प्रकार के कथन को सुन कर, प्रियदर्शना के हृदय की आँखें खुलीं। घर-बीती बात के प्रत्यक्ष अनुभव से, अरिहन्त महा प्रभु के वचनों की सचाई का वास्तविक मूल्य उस ने आज जाना। तब वह कुम्हार से यों बोली-"ढंक! तेरे कहने ही में मेरे जीवन का टिकाव है। तेरी वाणी में यथार्थता है। मैं अभी तक जमालि के विचारों की अनुयायिनी थी। सचमुच में, यों कई दिनों से मैं न्यायपथ से विचलित हो रही थी। तू ने मेरे विवेक की आंखें आज खोल दी। अपने पूर्व किये का, आज मैं पश्चात्ताप के द्वारा, प्रायश्चित्त करती हूं।" कुम्हार ने प्रियदर्शना को राह पर आयी हुई देखा। उस ने उस के विचारों को सराहा। तब वह बोला-"सती! सचमुच में यदि अपने पूर्व किये पर पश्चात्ताप तुम्हें हो रहा है, तो जितना भी शीघ्र बने, तुम वीर प्रभु के शरण में जा कर, उस का उचित प्रायश्चित्त करो।" प्रिय-दर्शना ने उस कुम्हार को अपना हितू माना।

वह अपनी सम्पूर्ण शिष्याओं को साथ ले कर, उसी समय भगवान् की शरण में जाने के लिए उठ खड़ी हुई। शरीर से वमन कर के निकाले हुए भोजन के समान, जमालि के विचारों का साथ, उस ने छोड़ दिया। यह देख कर, जमालि के कुछ शिष्यों ने भी उन का साथ छोड़ दिया। वे भी चल कर भगवान् की शरण में आ गये। मिथ्यात्व के उदय से जमालि के विचारों में कोई फेर-फार न हुआ। दुर्बुद्धि और दुर्दिन के मारे, वे कई वर्षों तक इधर उधर घूमते रहे। पर शान्ति का अनुभव उन्हें अपने जीवन की अन्तिम घड़ियों तक भी नहीं हुआ। उन के जीवन के अन्तिम पन्द्रह दिन अनशन में बीते थे। उन के देहावसान के कुछ ही काल के पश्चात्, एक दिन गौतम स्वामी ने वीर प्रभु से प्रश्न किया। वे बोले, "भगवन् ! जमालि अब किस गति को प्राप्त हुए ? कृपा कर के मुझे यह बताइये और मेरे मन के सन्देह को मिटाइये।" इस पर वीर प्रभु ने गौतम को यों समझाया, "गौतम ! जमालि अब लान्तक देवलोक में गया है। वहां की आयु का क्षय हो जाने पर, वह भयंकर नरक मनुष्य और तिर्यंच, आदि की योनियों में जा कर, पांच पांच बार जन्म धारण करेगा। अन्त में निर्वाण तो उस का अवश्य होगा। पर होगा कई प्रकार के कठोर कष्टों को सहन करने के बाद। धर्माचार्यों के अपमान और विरोध करने का ऐसा ही दुर्दान्त फल होता है। वीर प्रभु ने इस के पश्चात् वहां से अन्यत्र विहार कर दिया।

आदर्श श्रावक आनन्द गाथापति

प्रभु अपने चरणों से कई स्थलों को पावन करते हुए एक दिन वाणिज्य गांव में पधारे। उस समय जितशत्रु वहां का राजा था। प्रभु ने वहां उपदेश देना प्रारम्भ किया। जिस का, हज़ारों नर-नारियों ने, लाभ उठाया। उन सबों में आनन्द नामक गाथापति (नगर सेठ) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वह बारह करोड़ सोनैया का स्वामी था। प्रभु के आत्मोद्धारक उपदेश को सुन कर आनन्द के आनन्द की सीमा न रही। उन्हों ने श्रावक धर्म को धारण किया। प्रभु के उपदेश का उन पर इतना गहरा असर पड़ा, कि उन के पास सब कुछ होते हुए भी, सादे से सादा जीवन बिताना उन्हों ने प्रारम्भ किया। काम, क्रोध, लोभ, मोह, माया से उन्हों ने अपना मुख फेरा। थोड़े में यों कहना चाहिए, कि प्रभु के उपदेश से आनन्द गाथापति ने अपने जीवन को सब प्रकार से एक आदर्श जीवन बना लिया। अहिंसा का उपासक भी वे बने। उन की अहिंसा केवल शब्द-मूलक ही नहीं थी। वे उसे मन-वचन और कर्म--मय बना कर, अपने व्यवहार में उतारने की प्रतिपल चेष्टा किया करते थे। यही कारण है, कि जैन साहित्य में भी इन आनन्द गाथापति के एक आदर्श श्रावक होने की काफ़ी चर्चा पायी जाती है। जिन आदर्श गुणों के कारण वे इतने प्रसिद्ध श्रावक बने, संक्षेप में वे यों थे। सब से पहले तो जो भी कुछ प्रभु-मुख से उन्हों ने सुना, बिना किसी प्रकार के सन्देह और अनास्था के, उसे श्रद्धा-समेत अपने जीवन में आजन्म उतारने की कोशिश की। दूसरे, उन के पास जितना भी द्रव्य था, उसे उस से अधिक बढ़ाने की लालसा को उन्हों ने एकदम रोक दिया। क्यों कि वे जानते थे, कि धन की इच्छा करनेवाला प्रायः सदा--सर्वदा, किसी न किसी तरह से दीनता अवश्य दिखाता है। जो धन कमा लेता है, वह अभिमान में चूर रहता है। और जिस का धन नष्ट हो जाता है, वह शोक के समुद्र में डूबा रहता है। इसलिए जो निस्पृह, सन्तोषी है, वही सदा सुख में रहता है। फिर धन जैसी अनर्थ की खदान जगत् में और कोई नहीं। इस के कमाने में

दुख, रखने में दुख, और नाश में दुख है । यूं भी कहें, कि धन ही सम्पूर्ण चिन्ताओं का आगार और आफ़तों का भाण्डार है । जिन के पास यह जितनी ही मात्रा में अधिकाधिक होता है, उन की चिन्ताएं भी उसी क़दर बढ़ी हुई होती हैं । इस के भक्त सदा इसी के फेर में पड़े रहते हैं, और उन की जिन्दगी खतरे ही से हर घड़ी घिरी रहती है । और तो और, सगे, नातेदार और पुत्र, कलत्र तक, धनी की मरण–कामना किया करते हैं । ऐसे अनेकों अनर्थों का मूल धन ही है । तीसरे, आनन्द गाथापति को दान देना भी खूब ही आता था । उनके यहां जो भी कोई किसी इच्छा से आता, कभी विमुख नहीं फिरता था । वे दिल खोल कर सात्त्विक श्रद्धा के साथ उन की सेवा करते । चौथे, वे धर्म के लिए जीनेवाले थे । जीवन चाहने की आशा में धर्म को उन्हों ने धारण नहीं किया था । पांचवें, आनन्द गाथापति का जीवन सादे से सादा होने से आनन्दमय बन गया था; और विचार उन के बड़े ही ऊंचे थे । और, छठे, अहिंसा के वे अपने समय के एक आदर्श उपासक थे ।

आनन्द गाथापति के साथ साथ उन की पत्नी, 'शिवानन्दा'ने भी श्राविका व्रत को धारण कर लिया था । गृहस्थ या श्रावक धर्म के मुख्यतः बारह व्रत जो होते हैं, उन्हें राजा से ले कर रंक तक, कोई भी, बिना किसी आपत्ति के, बिना किसी प्रकार के देश, काल और पात्र के विचार के, ग्रहण कर सकता है । इस प्रकार, आनन्द दम्पति ने अपने जीवन और जन्म को सब प्रकार से, लोक और परलोक के हित के लिए, तन-मन और धन से लगा दिया ।

कामदेवजी को श्रावक-धर्म की प्राप्ति

सर्वज्ञ भगवान् महावीर विचरते हुए एक बार चम्पानगरी में जा पधारे। आप के उपदेश वहां आरम्भ हुए। जैन और जैनेतर सभी जनता के हृदयों में आप के उपदेशों के प्रति अगाध प्रेम था। सभी ने एक स्वर से उन के अन्दर रहनेवाले जगत् के कल्याण को सराहा। परन्तु उन्हें सुन कर समझने और उन के अनुसार अपने जीवन को गढ़ने की चेष्टा, कामदेवजी गाथापति के समान, किसी एक आध व्यक्ति ही ने की। इन कामदेवजी के पास अठारह करोड़ सोनैयों की सम्पत्ति थी। प्रभु के अमर उपदेशों का सच्चा असर उन के अन्तःकरण पर भली भांति पड़ा। उन ने तत्काल ही प्रभु की शरण आकर श्रावक-धर्म के बारह व्रतों को धारण कर लिया। इन्हों ने भी अपने जीवन को, आदर्श श्रावक आनन्द ही के ढाल में ढालने की कोशिश की। वे, उस में, अन्त में सफल भी पूरे पूरे हुए। कामदेवजी की पत्नी भद्रा ने भी, अपने पति के साथ ही साथ, श्राविका धर्म को अंगीकार किया। सती भद्रा के त्याग की महिमा बड़ी ही अपूर्व थी। इन दोनों ने भी, दम में दम रहते, अपने श्रावक धर्म को, जीवन-भर अपने प्राण-प्रण से निबाहा। कामदेवजी और भद्रा को श्रावक धर्म का उपदेश देने के पश्चात्, वीर भगवान् भी यहां से विहार कर गये।

येही कामदेवजी एक बार उपाश्रय में बैठे हुए पौषध व्रत की आराधना कर रहे थे। रात्रि के समय, वहां आकर, एक देव ने इन की धर्म-परायणता की परीक्षा लेनी चाही। उस ने वहां आकर एक अति ही विकराल पिशाच का रूप धारण किया। और, अनेकों प्रकार से कामदेवजी को अपनी पैशाचिक माया से वह त्रास देने लगा। हम इतना ही कह कर आगे बढ़ जावेंगे, कि उस पिशाच की माया को सुन कर या पढ़ कर, स्मरण-मात्र करने से, पैरों के नीचे से ज़मीन छूटने लगती है। शरीर को अपनी सुध-बुध नहीं रहती। और हृदय की धुकधुकी प्रायः रुकने सी लगती है। अधिक क्या, जीते हुए मरणावस्था का अनुभव होने लगता है। परन्तु धर्म की धुन में मस्त कामदेवजी अपने पथ से तिल-भर भी विचलित नहीं हुए। विचलित होना तो परे

की बात रही। पर विचलित होने की भावना तक ने उन के हृदय में प्रवेश न किया। सच्चे धीरों की यही पहचान होती है। और की तो बात ही क्या है, प्रलय काल के अति कराल पवन से पर्वत-सी प्रायः अटल और अचल वस्तुएं भी चलायमान हो जाती हैं। परन्तु घोरातिघोर कष्ट के आ पड़ने पर भी, सच्चे धीर पुरुषों का निश्चल चित्त रंच--मात्र भी चलायमान नहीं होता। और, प्राण-नाश का समय आ उपस्थित हो जाने पर भी, नहीं करने-योग्य काम को वे कभी नहीं करते और करने--योग्य काम को वे कभी बिना किये भी नहीं रहते। यही उन का धर्म और प्रण होता है। वे न तो राज्य-लक्ष्मी ही के नष्ट होने से नाराज़ होते हैं; और न वे कराल कृपाणधारी कृतान्त के शिरच्छेदन करने की क्रिया ही से डरते हैं। उन्हें यदि कोई खौफ़ होता है, तो केवल यही, कि वे अपने धर्म से, जीते जी, एक अणुमात्र भी कभी विचलित न होने पावें। तब देव ने अपने को अपनी पैशाचिक माया में हारा हुआ जाना। दूसरी बार, उस देव ने हाथी का रूप धारण किया। इस बार उस ने अपनी सूंड़ को उपाश्रय के अन्दर डाली। और उस से उस ने कामदेवजी को बाहर निकाल पटका। फिर, सूंड़ ही से पकड़ कर उस ने उन्हें आकाश की ओर फेंका। वापस उन्हें अपनी खींसों पर झेला। बाद में उन्हें उस ने ज़मीन पर दे मारा। सूंड़ से उन्हें उस ने फिर पकड़ा और तब अपने पैरों तले कुचलना आरम्भ किया। पर कामदेवजी ने टस से मस तक नहीं किया। वे अपने ध्यान में पहले ही के समान ध्यान-मग्न बने रहे। हाथी के रूप में भी देव ने अपनी सारी दैविक शक्ति को लगा दी। पर यहां भी उस की कोई दाल न गली। तब तो उस ने एक बड़े ही लम्बे और विषैले व्याल का रूप धारण किया। और, जिधर भी उस की निगाह एक बार चली गयी उस ने उन्हें शरीर के उसी अंग में चट से काटा भी। उस ने कामदेवजी के सारे शरीर को, अपनी प्राण-हरण करने वाली फूत्कारों से, कई बार फूंका। परन्तु कामदेवजी की सहिष्णुता और उन के धैर्य के आगे विकराल, सांप की सारी शेख़ी फ़िसक गयी। तब उसने देव-माया को हटाया। कामदेवजी को भी, अपनी धीरज का आज वास्तविक पता चला। तब तो कष्टों को सहन करने का उन का हौंसिला और भी कई गुना अधिक हो गया। इधर कामदेवजी कठिन से कठिन कष्टों को सहने की तैयारी में, अपने मन को और भी अधिक शिक्षित बना रहे थे। उधर देव मन ही मन उन की धीरज, सहिष्णुता, धर्म के पीछे मर मिटने की

पक्की धुन, आदि की मन ही मन भूरि भूरि प्रशंसा कर रहा था। अब उस से और अधिक समय तक न रहा गया। वह तत्काल ही तब तो अपने वास्तविक दिव्य देव-रूप को ले कर, कामदेवजी के सामने प्रकट हुआ। उस ने कई बार अपने कृत अपराधों की उन से क्षमा प्रार्थना की। वह मन ही मन बड़ा लज्जित भी हुआ। अन्त में, देव ने, प्रकट में, कामदेवजी की दिल खोल कर प्रशंसा की। और सिर नीचा कर के, उस ने अपने स्थान की ओर मुंह फेरा। कामदेवजी ने भी निर्विघ्न हो कर अपने पौषधव्रत को पूरा किया। इधर तो, कामदेवजी के द्वारा व्रत का पूरा होना था, और उधर दूसरी ओर, विचरण करते करते भगवान् महावीर का वहां आना हो गया। उन के मंगलमय उपदेशों को श्रवण करने के लिए, जनता, मानो समुद्र के मान से, दशों दिशाओं से उमड़ी चली आ रहीं थी। उसी जन समुद्र के बीचो-बीच विराजमान हो कर, सर्वज्ञ महा प्रभु ने कामदेवजी के ऊपर देव के द्वारा घटी हुई घटना ही का बड़े ही करुण-रूप में वर्णन किया। और यों स्वयं महाप्रभु ही ने कामदेवजी के सुयश को जग-विस्तारित किया।

कुण्डकोलिक का यश-विस्तार.

भगवान विचरण करते करते एक दिन वाराणसी और आलाम्भिका नगरियों की ओर पधारे। भगवान् के उपदेश से इन बस्तियों के (१) चुलणी पियाजी (२) सुरादेवजी और (३) चूल-शतकजी ने गृहस्थ के बारह धर्मों को धारण किया। यहीं से फिर प्रभु एक बार कंपिलपुर को पधारे। वहां कुंडकोलिक नामके एक गृहस्थ रहते थे। जिनकी स्त्री का नाम पुंसा था। इनके पास भी ग्यारह करोड़ सोनैया की सम्पत्ति थी। साथ ही इनके यहां साठ हज़ार गायें भी थीं। प्रभु के उपदेश को सुन कर इन दोनों स्त्री पुरुषों ने श्रावक-धर्म को अंगीकार कर लिया। इनके श्रावक धर्म को ग्रहण करने के पश्चात् प्रभु ने तो यहां से विहार कर दिया। पीछे से एक दिन की बात है, कि कुण्डकोलिकजी सामायिक करने के लिए अपनी (अशोक वाटिका) फुलवाड़ी में गया। यह फुलवाड़ी इनके मकान के ठीक पीछे ही थी। वहां एक पत्थर की चौकी पर इन्हों ने अपने कपड़े और अंगूठी को उतार कर एक तरफ़ रख दिया। ज्योंही ये अपनी आराधना के ध्यान में मग्न हुए, त्योंही एक देव वहां आया। उस ने इन के वस्त्र और अंगूठी को हरण कर लिया। जो भी उन के वे वस्त्र और वह अंगूठी बड़े ही मूल्यवान् थे; तथापि उन्हों ने उधर आंख उठा कर भी न देखा। देखना तो दूर की बात रही, उन्हों ने उस सम्बन्ध के विचारों तक को अपने मन में न घुसने दिया। होना और करना चाहिए भी तो ऐसा ही था। जब हम सामायिक-व्रत में बैठे, सब प्रकार की झंझटों से बिलकुल निश्चिंत होकर बैठा करें। उस समय हमारी लगन एकमात्र हमारे सत्स्वरूप चिन्तवन ही की ओर हो। उस समय हम ऐसे अटल होकर वहां बैठें, कि संसार की कोई भी ज़बर्दस्त से ज़बर्दस्त शक्ति हमें उस से विचलित न कर सके। मन की ऐसी एकाग्रता के बिना मनुष्य कोई भी काम पूरा नहीं कर सकता। शारीरिक हो या मानसिक, चाहे सामाजिक हो या राजनैतिक, किसी भी क्षेत्र में कार्य करने वालों को मानसिक एकाग्रता की अत्यन्त आवश्यकता है। और यह एकाग्रता,

मनोवृत्तियों को एकत्र किये बिना असम्भव है। संसार में मनोबल ही एकमात्र सर्वोत्तम बल है। परन्तु जब तक मन की वृत्तियां विषयों में बिखरी हुई रहती हैं, तब तक इस मनोबल को किसी भी तरह पैदा नहीं किया जा सकता। यह तो प्रायः सभी कोई जानते होंगे, कि बिखरी हुई सूर्य की किरणों को जब तक किसी आतशी शीशे के द्वारा, या किसी दूसरे यंत्र से एक केन्द्र में इकट्ठा किया नहीं जाता, तब तक दाहक शक्ति की क्रिया का काम उन से लिया नहीं जा सकता। ठीक यही दशा मनोवृत्तियों की है। अस्तु। सामायिक व्रत के समय हमें बिलकुल समभाव हो कर बैठना चाहिए। उस समय विचारों के द्वारा, हमें सुख, दुख, लोहा, पत्थर, सोना, आदि सम्पूर्ण पदार्थों और गुणों में मानसिक वृत्तियों को सदा सर्वदा सम तौल रखने की चेष्टा करनी पड़ेगी। प्रिय और अप्रिय, शत्रु और मित्र, लाभ और हानि, निन्दा और स्तुति, सभी में चित्त की वृत्तियों का एकदम अचंचल रखना पड़ेगा। मन के संकल्प ही सम्पूर्ण क्लेश और बन्धनों का कारण है। अतः जो आत्मार्थी पुरुष हैं, उन का कर्तव्य है, कि वे मन के संकल्पों को अधिक से अधिक रोकने का साधन और प्रयत्न करते रहें। यह मन इतना अधिक ज़बर्दस्त है, कि क्षण-भर में सम्पूर्ण संसार के नाश और पैदायश करने की सामर्थ्य रखता है। इसलिए ऐसे आत्मघाती मन को वासना के नाश, या प्राणों के संयम के द्वारा वश में करने का सतत उद्योग करते रहना चाहिए। इस मन के लिए 'मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः' अर्थात् केवल मन ही मनुष्य की मुक्ति और बन्धन का कारण है, जो कहा गया है, बिलकुल ठीक ही है। सामायिक व्रत के समय के लिए हमें अपने मन को इस प्रकार साध के रखना चाहिए, कि अपना शरीर तक उस समय हमें अपना न जान पड़े। फिर, इस शरीर की वस्तुओं के साथ सम्बन्ध रखना, तो बहुत ही परे की बात रह गयी। कुण्डकोलिकजी ने सचमुच में सामायिक व्रत का तत्त्व समझा था। वे उस समय किसी भी बाह्य वस्तुओं का कभी विचार तक नहीं करते थे। तब अँगूठी और कपड़ों का विचार तो उन्हें होता ही कैसे ? कपड़ों और अँगूठी को ले कर, वह देव आकाश में थोड़ा ही ऊपर जा, ठहर गया। तब वह वहीं से कुण्डकोलिकजी को सम्बोधित कर के बोला—"कुण्डकोलिक ! क्यों, नहीं गौशाला-प्ररूपित नियतिवाद के सिद्धान्तों का माननेवाला तू बन जाता है ? उस में क्रिया-काण्डों के द्वारा कष्ट उठाने

का यह काम, कहीं नाम को भी नहीं है। जो होनेवाला है, वह तो आज या कल, कभी भी हो कर ही रहता है। तब महावीर-प्ररूपित सिद्धान्तों के अनुसार, क्रियाकाण्डों का अनुसरण कर के, क्यों फिजूल सिर-खप्पी करना चाहिए? आदि।" इस के उत्तर में कुण्डकोलिकजी ने कहा—"देव! तेरा कहा कदाचित् ठीक भी हो। परन्तु हमें उस से क्या? जो बात प्रत्यक्ष है, उस के लिए प्रमाण की क्या आवश्यकता है? यदि यम और नियमों से कुछ भी नहीं होता है, तो फिर तुझे अपने देव-शरीर की यह ऋद्धि ही कैसे प्राप्त हुई?" "मुझे बिना ही यम और नियम के देवत्व की प्राप्ति हुई है" कुण्डकोलिकजी के उत्तर में देव ने कहा। इस पर कुण्डकोलिकजी ने फिर पूछा "देव! यदि तुम्हारे कहने के अनुसार, बिना ही कुछ किये-धरे तुम इस देव-शरीर को प्राप्त हो गये हो, तो फिर जगत् के वे अनेकों जीव, जो यम-नियम की आराधना नहीं करते, या करना नहीं जानते, क्यों नहीं वे सब के सब देव बन गये?" देव इस बात को सुन कर एकदम निरुत्तर हो गया। उस के देवत्व की सारी शेखी, एकबारगी फिस्स हो गयी। यही नहीं, वह वहां, इस बात के सुनने के पीछे एक क्षण-भर भी ठहर न सका। तुरन्त ही वह अंगूठी और वस्त्र वहां रख कर उलटे पैरों चल पड़ा। कुछ दिनों के बाद, विचरते विचरते वीर प्रभु भी उधर पधार गये। प्रभु के पधारने का सन्देश कुण्डकोलिकजी को भी मिला। उपदेश श्रवण के लिए वे भी समव शरण में गये। प्रभु ने पहले ही से कुण्डकोलिकजी और देव के बीच होनेवाले सैद्धान्तिक वार्तालाप को केवल ज्ञान से जान ही लिया था। वीर भगवान् ने इस बार उसी वार्तालाप का विवेचन अपने समवशरण में किया। और यों उन्हों ने उन श्रद्धावान् श्रावक कुण्डकोलिकजी के यश को सदा के लिए मेदिनी-मण्डल में चमका दिया। साथ ही, श्रावक-श्राविकाओं और साधु-साध्वियों को एकत्रित कर, प्रभु ने उन्हें यह भी कहा, कि "कुण्डकोलिक ने जो देव सरीखे एक विज्ञ पुरुष को, एक छोटी सी बात मात्र पूछ कर निरुत्तर कर दिया, इस का कारण, कुण्डकोलिक के द्वारा तात्त्विक विषयों का प्रति-दिन चिन्तवन और मनन-मात्र है। अतएव जो भी कोई तात्त्विक विषयों पर अपना अधिकार रखना चाहें, उन्हें एक पल-भर का भी कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि, प्रमाद हमें हंसी हंसी में भी झूठ बोलना सिखाता है। मिथ्या-भाषी पुरुषों में आत्मिक बल का अभाव हो जाता है। इसी

आत्मिक बल के अभाव के कारण, मनुष्य, जगत् में समस्त ऐहिक सुख साधनों को पास में रखता हुआ भी, सब प्रकार से हीन और दीन बन जाता है। इस लिए आत्मोन्नति चाहनेवाले व्यक्तियों को, प्रमाद से सदा दूर ही रहना, भला है।" इस के पश्चात् प्रभु ने वहां से विहार कर दिया।

कुम्भकार सद्दालपुत्र का भ्रम-निवारण

प्रभु विचरते हुए किसी दिन पोलासपुर के निकट पधारे। वहां सद्दालपुत्र नामका एक कुम्भकार रहता था। वह गौशाला का अनुयायी था। वह अपने गुरु के सिद्धान्तों का कट्टर पक्षपाती और भक्त था। उस ने उस के (गौशाला के) सिद्धान्तों को इस प्रकार व्यवहार में उतार लिया था, कि कोई सा भी बड़े से बड़ा विद्वान् उस के सम्मुख आता, एक बार तो वह उसे अपने सिद्धान्तों का क़ायल बना ही लेता था। जब भगवान् यहां पधारनेवाले थे, उस के एक दिन प्रथम एक देव ने आ कर सद्दालपुत्र को यों कहा—"सद्दाल! कल तेरे बड़े भाग्य से अनन्त ज्ञान-दर्शन के धारक, भूत-वर्तमान् और भविष्यत् का ज्ञान जिन्हें हस्ता-मलक-वत् है, जिन्हें जगत् के जीवों का एक-मात्र कल्याण ही प्यारा है, और जो परोपकार के प्रत्यक्ष शरीरधारी हैं, यहां आवेंगे। उन की सेवा भक्ति करने में तू किसी प्रकार की कोर कसर न रखना।" सद्दालपुत्र ने उस का दूसरा ही अर्थ लिया। उस ने अपने गुरु गौशाला के आने की बात जानी। क्योंकि उस के विचार से ऐसे लोकोत्तर गुण गौशाला में ही हो सकते थे। तदनुसार उस ने उन के आव-भगत की तैयारी भी वैसी ही की। एक तो गुरुओं का योंही आदर सत्कार किया जाता है। दूसरे, देव के कथन से उस की उन के ऊपर और भी चौगुनी श्रद्धा हो गयी थी। दूसरे दिन बड़े सवेरे वह उन की बाट देख ही रहा था, कि वहां उसे भगवान् महावीर के पधारने की सूचना मिली। उसे बड़ा ही अचरज हुआ। तथापि देव के द्वारा की हुई प्रशंसा के अनुसार, उस ने उन्हें चल कर देखना चाहा। उसे प्रभु की सर्वज्ञता पर सन्देह था। वह चला और भगवान् के पास आया। प्रभु की पवित्र वाणी ने, उस के कानों के रास्ते से उस के हृदय में प्रवेश किया। उस के वहां प्रवेश करते ही, उस का अज्ञानान्धकार दूर हो गया। उस के हृदय ने प्रभु को सर्वज्ञ मान लिया। किसी के बिना ही कुछ कहे—सुने उस ने वहां श्री वीर प्रभु के मुख से देव के उस के पास आने की बात भी ज्यों की त्यों सुन पायी। तब तो उस के हृदय पर वीर भगवान् के प्रति सर्वज्ञता की गहरी छाप बैठ गयी। तब तो

प्रभु के चरणों में नमन किया। और उन से यों प्रार्थना करने लगा "भगवन्! इसी नगर के बाहर मेरी दूकाने हैं। अच्छा हो, कि मुझ जैसे जगत् के संशय-शील व्यक्तियों का सन्देह दूर करने के लिए, आप कुछ काल के लिए, वहीं निवास करें।" सद्दाल की प्रार्थना को प्रभु ने स्वीकार की। और वहां वे पधारे। एक दिन की बात है, जब कि सद्दाल के नौकर उस के बनाये हुए मिट्टी के बर्तनों को धूप में रख रहे थे। सद्दाल के हृदय की शंका को धो बहाने का भला समय जान कर, प्रभु ने उसे पूछा—"सद्दाल! कहो, ये बर्तन कैसे बने?" "पहले मिट्टी लाया। उस में जल और राख उचित परिमाण में मिलाई गयी। फिर मिट्टी की लुगदी (पिण्ड) को चाक पर चढ़ाकर, इच्छा के अनुसार बर्तन बना लिये गये।" सद्दाल ने बदले में कहा। इस पर प्रभु ने उसे फिर यों पूछा "सद्दाल? इन बर्तनों के बनाने में उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषार्थ, परिश्रम, आदि भी कुछ लगे या नहीं? या ये योंही बन कर तैयार हो गये?" इस का उत्तर "नहीं प्रभु! कदापि नहीं। ये तो योंही बन कर तैयार हो गये"—सद्दाल ने इस प्रकार दिया। क्योंकि, वह गोशाला का अनुयायी था। जिस के सिद्धान्तानुसार प्रत्येक वस्तु भावी के बल, जैसी भी वह होती, हो कर ही रहती थी। उस में किसी भी प्रकार के क्रिया-कांड और परिश्रम का तनिक भी अवलम्बन नहीं माना जाता था। इस पर प्रभु ने उस से कहा—"क्यों, सद्दाल! यदि तेरे इन बर्तनों को कोई चोर आ कर उठा ले जावे, या कोई आ कर इन्हें बिखेर डाले या कोई इन्हें फोड़-तोड़ कर चूरा चूरा कर दे, या कोई आततायी आ कर तेरी स्त्री के सतीत्व को किसी भी तरह हरण करना चाहे, तो इन में से प्रत्येक व्यक्ति के साथ तू किस प्रकार का बर्ताव करेगा?" सद्दाल ने कहा—"भगवन उस के साथ बर्ताव की बात? उसे लात, घूँसा या थप्पड़, या इस से भी और अधिक सख्त कोई दण्ड, जो मैं दे सकता हूँ, उसे देने की पूरी पूरी चेष्टा करूँगा। या मेरा वश चलते तो, उसे जिन्दा तक न छोडूंगा।" "सद्दाल! विचार कर बोल। तू स्वयं ही अपने सिद्धान्तों की हत्या न कर। तेरे सिद्धान्तानुसार, जो होने वाला होता है, वह तो हो कर के ही रहता है। तो इस प्रकार के विचार फिर तेरे मन में आने ही क्यों चाहिए? बर्तनों का चुराना, या टूटना-फूटना आदि तेरी पत्नी के पातिव्रत धर्म में किसी प्रकार की हानि का पहुँचना, जब बिना ही किसी प्रकार के उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषार्थ के, तेरे मतानुसार होनेवाला

है, तब वही तो होगा।" प्रभु ने यों उसे कहा। इस वाणी को सुन कर उस के हृदय की आँखें खुलीं। अपने गुरु गोशाला का नियतिवाद का सिद्धान्त उसे निरा निर्मूल जान पड़ने लगा। उस के प्रति उस के हृदय में घोर घृणा पैदा हो गयी। वह प्रभु के चरणों पर गिर पड़ा। और बोला—"सर्वज्ञ! आप तो घट घट की जानते हैं। मेरी रक्षा कीजिये। अब तो मैं आप की शरण में हूँ। इस नियतिवाद ने निश्चय--पूर्वक मेरा सत्यानाश कर दिया है। मैं राह-भ्रष्ट हो गया हूँ। मुझे शीघ्र ही आप के चरणों की अनीति से रक्षा करने वाली भक्ति दे कर, स्याद्वाद के सिद्धान्तों को मेरे हृदय में बैठाइये। जैसे भी हो, मुझे आप अपना शिष्यत्व और शरणागति प्रदान कीजिये।" इस पर भगवान् ने उसे स्याद्वाद धर्म के सत् सिद्धान्तों का महत्त्व समझाया। और श्रावक धर्म की दीक्षा दी। इतना करने के पश्चात् प्रभु ने वहां से अन्यत्र विहार कर दिया।

कुछ ही काल के अनन्तर सद्दाल की यह खबर गोशाला को मिली। मन ही मन भगवान् पर बड़ा ही क्रोधित हुआ। वह मन ही मन कहने लगा, "मेरे अनुयायी को भगवान् महावीर ने फुसला कैसे लिया? मुझे वहां जाकर जैसे भी बने उसे फिर अपना अनुयायी बना लेना चाहिए।" यों सोच-विचार कर उसने अपने चेले चाँटियों को बुलाया और तत्काल ही उन्हें साथ लेकर वह पोलासपुर की ओर चल दिया। वहाँ पहुँचकर अपने उतरने के सदा के स्थान पर उसने अपने दंड कमंडल रक्खे। और चेले चाँटियों को साथ लेकर सद्दाल के यहां उसे मनाने को चला। सद्दाल ने गोशाला को उस के शिष्यों के साथ आते हुए देखा। वहां आ पहुँचने पर भी उसने उसके प्रति कोई प्रेमभाव नहीं दिखाया। प्रेमभाव तो परे रहा, वह उस से बोला तक नहीं। वीर-वाणी का उस के हृदय पर जब उसने ऐसा गहरा असर देखा, तब तो अपना मतलब सिद्ध करने के लिए गोशाला ने भी अपना रुख बदला। वह स्वयं तब भगवान् की प्रशंसा में सद्दाल से बोला—"सद्दाल! आज यहां महा धर्म के परम श्रेष्ठ वक्ता महा-महिम, वीर प्रभु महावीर आये थे न? सद्दाल बोला हाँ पधारे थे। और क्या आप अपने सैद्धान्तिक विषयोंकी चर्चा उनके साथ कर सकते हैं? इस पर गोशाला ने कहा—"नहीं कदापि नहीं। जिस

प्रकार से किसी पक्षी को सब ओर से बांध दिया जाय और तब उसे उड़ाया जाय तो वह नहीं उड़ सकता। ऐसे ही महावीर हेतु-न्याय से मुझे भकड़ देते हैं। और यही कारण है कि मैं उन से शास्त्रार्थ करने के लिए पूरा पूरा असमर्थ हूँ। यह सुन कर सद्दाल ने कहा—"आपने मेरे धर्म गुरु भगवान् महावीर की हृदय से प्रशंसा करके मुझे आनन्द पहुँचाया है। इस से मैं आपके प्रति भी समादर प्रकट करता हूँ। आप यहीं ठहरिये। आपके लिए आहार, पानी, शैया आदि का इन्तिजाम कर दिया जावेगा। गौशाला ने तब वैसा ही किया। उसने वहीं ठहर कर अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिए सद्दाल को बड़ी ही नम्रता पूर्वक अपना अनुयायी हो जाने के लिए बार बार समझाया। परन्तु उसका कहना और सुनना सारा बेकार हुआ। भगवान् के उपदेश का गाढ़ा रंग उस के हृदय पर चढ़ चुका था। तब तो गौशाला के द्वारा उस पर असर डालने का प्रयत्न करना ऊसर भूमि में बीज डालने के समान हो गया। अन्त में जब गौशाला ने अपने मतलब की सिद्धि होती हुई न देखी, तब लाचार हो कर उसे वहां से चल देना पड़ा।

राजगृह में भगवान् महावीर

किसी दिन विहार करते करते, कालान्तर में भगवान् राजगृह में पधारे। इस बार महाशतक जी तथा उन की पत्नी रेवती के ऊपर भगवान् के उपदेशों का गहरा असर पड़ा। जिस का परिणाम यह हुआ, कि इन दोनों ने श्रावक-धर्म के बारह व्रतों को अंगीकार किया। इन्हों ने भी अन्य श्रावकों की भांति अपने जीवन और जन्म को सब प्रकार से उच्च बनाने की आ-जन्म चेष्टा की। यों उप-रोक्त दश श्रावकों का वर्णन उपासक-दशांग में मिलता है। इन्हों ने अपने जीवन को सब प्रकार से भगवान् के उपदेशों के अनुसार बना कर, जगत् में पूरा पूरा सुयश प्राप्त किया था। जिन का वर्णन सविस्तर रूप से सूत्रों में यत्र-तत्र पाया जाता है। जिन का मनन-पूर्वक पठन-पाठन करने से आज भी कई प्राणी, सु-मार्ग-गामी बन जाते हैं।

पाठको! जिस प्रकार इन श्रावकों ने अपने जीवन को सदाचार-मय बना लिया था, क्या ही सुन्दर हो, हम भी अपने जीवन को उसी साँचे में ढालें। हम भी मनुष्यत्व की महानता को समझनेवाले बनें। संकीर्णता और मदान्धता का समावेश हमारे हृदयों में कभी न होने दें। देश, जाति, तथा रंग और रूप के भेद भाव से भी हम परे रहें। पारस्परिक प्रेम, सहृदयता आदि सद्गुणों का हम सदा सञ्चय करते रहें। हमारे मनुष्यत्व के विशाल महल की नींव, हम जगत् मात्र को अपना कुटुम्ब मानने की भावना पर रक्खें। यथोचित संयम, त्याग, सेवा, परोपकार और तप के द्वारा हम अपने जीवन को ऊँचे से ऊँचा बना सकते हैं। हम इन्हीं सद्गुणों को ग्रहण करने में प्रतिपल मनुष्य जीवन की सफलता, वास्तविक सभ्यता और श्रेष्टता समझें। इसी प्रकार के मनुष्यत्व के द्वारा हम निकट भविष्यत् ही में एक दिन ईशरत्व को प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार के मनुष्यत्व के आगे, यहां की सम्पत्ति, अधिकार, यश, सुख, शान्ति और शक्ति का कोई भी मोल और तौल नहीं हैं। ये सब के सब अपने पूरे रूप से भी, उस प्रकार के मनुष्यत्व की पासँग तक नहीं बन सकते। यदि सचमुच में हम ऐसे मनुष्यत्व को अपनालें, तो फिर संसार में किस महान् से महान्

शक्ति की मजाल है, जो हमें चोर, ज्वारी, लम्पट, कामी, कपटी, दग़ाबाज़, विश्वासघातक आदि उपाधियों से भूषित करें। अपने पूर्वज केवल एक सत्य भाषण ही के बल जगत् के अनहोने कामों को भी बात की बात में कर के दिखा देते थे। वे कहीं भी जाते, राजाओं के दरबार में, चाहे साधारण आदमियों की सभाओं में, हर जगह उन के सत्य भाषण और अन्य सद्गुणों की धाक थी और उन के कारण उन का समादर था। लोगों में महावीर के ऐसे सत्य भाषी अनुयायियों का आना भी कहीं सुन पाता, तो अनाचार, असत्य, और अनर्गल प्रमादों का वहां से एकदम लोप हो जाता था। लोग उनकी सलाह और सहयोग के लिए पद पद पर लालायित बने रहते थे। वे सज्जन तो परले दरजे के होते थे। अपनी स्वार्थ-सिद्धि को हनन होते हुए देख कर के भी वे कभी किसी को बुरी सलाह नहीं देते थे। आज के समान अपने एक पैसे के लाभ के बदले, वे पराये के एक रुपये के हित की, कभी भूल कर भी, हानि नहीं करते थे। हानि करते ही नहीं, वरन् कभी उस का चिन्तवन तक वे अपने हृदयों में न करते। विश्वासघात करना तो वे स्वप्न में भी नहीं जानते थे। विश्व-प्रेम ही एक मात्र उन का व्यापक व्यापार था। मुक्ति के रास्ते पर लगने और जीवन को सब प्रकार सुन्दर बनाने के लिए, पाठको ! सद्विचार और सत्संगति के द्वारा अपने अन्तःकरण को सदा पवित्र बनाये रखने की भरसक चेष्टा आप को करते रहना पड़ेगा। दयालुता, सरलता, सहानुभूति, और शान्ति आदि से नाता जोड़ना होगा। अपनी सामर्थ्य के अनुसार, चुपचाप शरीर, मन और वाणी से, रोटी के एक सूखे टुकड़े से, चुल्लू-भर पानी से, बीमारी की हालत में सेवा से, सद्--व्यवहार से और सच्चे सन्मार्ग की शिक्षा से जनता की सेवा करने के लिए मैदान में उतर पड़ना होगा। अपने धन या जाति के अभिमान से राग–द्वेष से प्रेरित हो कर, अपने ही जैसे दूसरे मनुष्यों से घृणा करना, उन्हें बुरा भला कहना, और उन्हें अपने से नीचा समझने की कुत्सित भावनाओं को हृदय से एकदम झिटका देना पड़ेगा। रागद्वेष–वश अपने अधिकार का दुरुपयोग करने, स्वार्थवश अन्याय करने, न्यायान्याय का विचार त्याग कर मनमानी घरजानी करने, और पदगौरव में पागल होकर किसी का अपमान कर बैठने, आदि से पद पद पर बाज आना पड़ेगा। और अन्त में, हमें करना पड़ेगा, अपने हृदयों को झाड़–बुहार कर निष्कपट बनाने का काम। साथ ही, विश्वास और श्रद्धा की सम्पत्ति से उसे

भरा रखना पड़ेगा। और नम्रता के साथ प्राणी–मात्र का सत्कार करना सीखना पड़ेगा। अगर इस प्रकार के उच्चतर ध्येय को हमने सचमुच में प्राप्त कर लिया, तो मुक्ति हमें अवश्य मिलेगी। उस समय मुक्ति की खोज में हम न होंगे। वरन् वह स्वयं हमारी खोज में अनेकों प्रकार की मिन्नते मनावेगी। भगवान् के सत्सिद्धान्तों का पालन भी इसी मार्ग में चलने से होगा। और बिना भगवान् के सिद्धान्तों का यथावत् पालन किये,हम चाहे हजारों जन्मों तक उन के बिलकुल निकट ही क्यों न रहें, मुक्ति के मालिक हम नहीं बन सकते। परन्तु विपरीत इसके उनके सिद्धान्तों का पालन करते हुए, वीर भगवान् से करोड़ों कोस दूर ही हम क्यों न रहें, सदा सर्वदा उन के निकट ही हम रहेंगे और सचमुच में निकट मानें भी जावेंगे। सज्जनो! उठो। अब वचन के व्यापार से मुंह मोड़ो। करणी में अपने भगवान् के सिद्धांतों को लाकर, अपने आपको जगा लो और जगत् भर की आंखें खोल दो।

प्रकरण—चौथा

प्रसन्नचन्द्र मुनि को केवल ज्ञान

वीर प्रभु विहार करते हुए एक बार पोतनपुर की ओर जा निकले। वहां की जनता ने, यह देख कर, अपने भाग्य की बार बार सराहना की। उस समय प्रसन्नचन्द्र वहीं का राजा था। वह भी प्रभु के दर्शनों के लिए वहां आया। प्रभु के उपदेश को सुन कर, राजा के पूर्व कृत शुभ कर्मों का उदय हो आया। संसार के प्रति उस के मन में तत्काल ही उपराम की भावना उमड़ आयी। बस फिर धनी का धनी भी तो कौन होता है? घर आ कर, उस ने अपने कन्धों से राज्य--भार को एकदम उतार फेंकना चाहा। मन्त्रियों ने उसे बहुत कुछ समझाया भी। पर मस्त मन फिर समझने भी तो क्यों लगता, अपने पुत्र को बुला कर, तत्काल ही सारे राज्य का अधिकार उसे उसने सौंप दिया। तब वह प्रभु की शरण में आया। और उन से दीक्षित होने की प्रार्थना वह करने लगा। प्रभु ने उसे दीक्षित किया। अब राजर्षि प्रसन्नचन्द्र अपने रहे—सहे कायिक कषायों को धो बहाने के लिए, उग्र तपस्या में लग पड़े। जहां कहीं विहार होता वे भगवान् के साथ ही साथ अकसर रहते। एक बार वे भगवान् के साथ विचरते विचरते राजगृह नगर के निकट के वन में आये। राजगृह के राजा श्रेणिक ने इस सन्देश को पाया। राजा ने अपने परिवार को साथ में लिया। और चला बड़ी ही उत्कण्ठा के साथ भगवान् की वन्दना करने को। सेना भी उस के साथ में थी। उस के साथ की सेना के दो मुखिया थे। जिन का नाम क्रमशः

सुमुख और दुर्मुख था । ये दोनों महान् मिथ्या दृष्टि थे । ज्योंही बातें करते-कराते ये दोनों अपने मार्ग को पार कर रहे थे, त्योंही पथ के बीच ही में उन्हें राजर्षि प्रसन्नचन्द्र मुनि मिले । उन के दोनों हाथ सिर से ऊपर की ओर तने हुए थे । यों वे तपस्या में मग्न थे । उन्हें इस प्रकार तपोमग्न देख कर, वे दोनों नीचे के अनुसार परस्पर वार्तालाप करने लगे ।

सुमुख — ऐसे तपोधनी मुनि के लिए स्वर्ग में जाना और मोक्ष पाना, ये तो कोई चीज़ ही नहीं हैं,

दुर्मुख — सुमुख ! यह तो पोतनपुर का राजा प्रसन्नचन्द्र जान पड़ता है । भाई ! तुम कुछ भी कहो । मेरे दिल के लिए तो इस के स्वर्ग और मोक्ष का कोई भी मोल नहीं है । यह तो चला स्वर्ग को प्राप्त करने, या मोक्ष को मिलाने ! और उधर इस के छोटे से पुत्र, जिस के कन्धों इसने इतने बड़े भारी राज्य का भार रक्खा है, उस का हाल बेहाल हो रहा है। जिन मन्त्रियों को इस ने प्राणों से भी प्यारा समझ रक्खा था, जिन्हें धनजनसम्पन्न बनाने में इस ने अपनी ओर से कुछ भी उठा कर न रक्खा था, वेही नमक-हराम राज-मन्त्री, आज इस की ग़ैर-हाज़िरी में, चम्पानगरी के राजा दधिवाहन से जा मिले हैं । और उस से मिलजुल कर, अन्दर ही अन्दर, वे अपने छोटे से राजा को पद-भ्रष्ट करना चाहते हैं । यही नहीं, वे उस के राज्य को भी हड़प जाने की फ़िराक में घात लगाये बैठे हैं। और तो और, इस की पत्नियां, जो राज-माताएं थीं, उन्हों ने भी राज्य को छोड़ दिया है, और ला पता हैं । वाह ! क्या, इसी का नाम आत्म-कल्याण है ?

सुमुख — भाई दुर्मुख ! यह जान कर के हाँ तो, राजा ने अपने राज-पाट को छोड़ा और वैराग्य की बांह पकड़ी है ! फिर, यह तो सभी कोई जानते हैं, कि इस संसार में जिधर भी देखो, बिना स्वार्थ के कोई किसी का यहां नहीं होता । मतलब से ही लोग एक दूसरे के नातेदार और सम्बन्धी बने हुए हैं । वास्तव में होता कोई भी किसी का नहीं है । देखो ! पक्षी वृक्ष को फलहीन जान कर त्याग देते हैं । तालाब को सूखा जान कर सारस भी उसे छोड़ देते हैं। यही हाल भौंरों का है । जब तक फूल मधुमय रहते है, तभी तक वे उन के आजू बाजू मंडराते रहते हैं । जंगल ही में नित्य निवास और गमन करते रहने वाले

मृग तक उसे जला हुआ देख कर छोड़ जाते है। वेश्याओं का व्यापार भी ऐसी ही विचित्रता से भरा पड़ा है। अपने यार दोस्तों को धन-हीन जान कर, उन्हें कभी देखना तक भी नहीं चाहतीं। इसी भांति, श्री हीन राजा को मन्त्री-गण त्याग देते हैं। सारांश यह, कि यहाँ बिना मतलब के कोई भी किसी का नहीं। इस लिए संसार के बन्धन रूप मोह-ममता के बन्धन को तोड़ कर, राजा ने वैराग्य से नाता जोड़ा, तो इस में बुराई भी इस ने कौनसी की है? जब इस संसार की गति ही इस प्रकार की है, तो फिर यहां की चिन्ताओं में अपनी दुर्लभ देह को व्यर्थ ही नाश करना और जिस काम के लिए जगत् में आये हैं, उस काम की ओर ध्यान न देना, निरी नादानी नहीं तो और क्या है?

दुर्मुख — भाई! तुम कुछ भी कहो। मैं तो इस बात को भली नहीं मानता। जिन कुटुम्बियों के सहवास से, हमें आत्मोद्धार का उपाय सूझ पड़े, उन्हीं कुटुम्बियों की ऐसी दुर्दशा अपनी आंखों के सामने कर देना या करा देना, नितान्त नादानी नहीं, तो और क्या हो सकता है?

सुमुख और दुर्मुख के इस ऊपर के वार्तालाप को राजर्षि प्रसन्नचन्द्र ने सुना। इस से उन का ध्यान एकदम टूट गया। उन के हृदय को गहरी चोट लगी। उन के विचारों में बड़ी ही उथल-पुथल मच गयी। तरह तरह के तर्क वितर्क उन के दिल में उठने लगे। विचारों के इस झकझोरे में वे अपने मुनि व्रत को बिलकुल भूल गये। मन्त्रियों को वे मन ही मन बड़ी बुरी तरह से कोसने लगे। अपने संसारी पुत्र और पत्नियों की शोचनीय अवस्थाने उन्हें शोकाकुल बना दिया। क्रोध के मारे वह आगबबूला हो गये। उस समय उन्हें अपने पराये का कोई भी भान न रहा। इधर तो राजर्षि प्रसन्नचन्द्र इस प्रकार तरह तरह के अनेकों मनसूबे अपने मन में बांध रहे थे और उधर, राजा श्रेणिक अपने परिवार को साथ में ले कर वहां आ पहुंचे। उन्हों ने बड़ी ही श्रद्धा और भक्ति-पूर्वक राजर्षि को वन्दना की। और कुछ ही देर के पश्चात्, वे वहां से भगवान् के दर्शनार्थ चल दिये। प्रभु के निकट वे सेना तथा परिवार के साथ आये। विधि-पूर्वक महान् श्रद्धा और भक्ति के साथ भगवान् को राजा ने वन्दना की। तब प्रभु और राजा के बीच यों वार्तालाप होना शुरू हुआ—

राजा श्रेणिक — प्रभु! यहां आने के थोड़े ही पहले, मैंने मार्ग में प्रसन्नचन्द्र

मुनि के दर्शन किये। उस समय वे पूर्ण ध्यानस्थ अवस्था में थे। मैंने उन्हें आदर के साथ नमन किया। उन्हीं राजर्षि के सम्बन्ध में, मैं हाथ जोड़ कर आप से पूछना चाहता हूँ, कि "हे भगवन् ! वे राजर्षि यदि उसी अवस्था में मृत्यु को प्राप्त हो जाय, तो किस गति को वे प्राप्त होंगे ?"

प्रभु — राजन् ! जो भी तुम ने उन्हें पूर्ण ध्यानस्थ अवस्था में देखा है, तथापि उस समय उन का मन तरह तरह के संकल्प विकल्प कर रहा था। वे ध्यानस्थ दिखते हुए भी क्रोध में चूर चूर हो रहे थे। अस्तु। वे सातवें नर्क में जाने का सामान जुटा रहे हैं। इस में तनिक भी फ़रक न समझो। फिर, जो जैसा बोता है, उस के फल भी उसी प्रकार के उसे काटने पड़ते हैं। और सहना भी उन्हें उसी प्रकार से होता है।

प्रभु की इस वाणी को, कि "राजर्षि सातवें नर्क में जाने का सामान जुटा रहे हैं।" सुन कर राजा एकाएक चौंक पड़ा। क्यों कि वह आज तक यही जाने और माने बैठा था, कि मुनि लोग तो कभी किसी भी हालत में नर्क-गामी होते ही नहीं। वीर वाणी को सुन कर के भी उनके मन का संदेह न भागा। उसने दुबारा भगवान् से अपनी वही पहले की बात पूछी। इस बार भगवान् ने कुछ और ही उत्तर दिया। वह पहले उत्तर से बिलकुल विपरीत था। वे बोले "राजर्षि प्रसन्नचन्द्र के सर्वार्थ सिद्धि विमान में जाने योग्य परिणाम इस समय हो रहे हैं। श्रेणिक इस बात पर और भी अधिक चकराया। तब तो वह भगवान् से प्रार्थना करता हुआ बोला,—"हे प्रभो ! कुछ ही क्षणोंके पहले तो आप ने राजर्षि प्रसन्नचन्द्र के नर्क—गामी बनने की बात कही थी। और अब आप ही उस के सर्वार्थ सिद्धि विमान की बात कह रहे हैं। इस गूढ़ता भरी आपकी वाणी के तत्त्व को मैं बिलकुल नहीं समझा। कृपा कर के आप इसका भली प्रकार विवेचन कीजिये, जिस से मेरे मन में जो संदेह उत्पन्न हो गया है, वह मिट सके।"

तब प्रभु ने राजा की उत्कण्ठा देख कर उसे यों कहा—श्रेणिक ! जब तुमने प्रसन्नचन्द्र को नमन किया था, तब उनका ध्यान कषायों से खूब ही मैला हो रहा था। वे प्रचण्ड रौद्र ध्यान उस समय कर रहे थे। परन्तु दुबारा जब तुमने मुझसे पूछा उस समय उनके पहले के विचारों में बहुत परिवर्तन हो चुका था। पहली बार अर्थात् तुम्हारे नमन करते समय वे अपने विचारों के

द्वारा मन ही मन में अपने मंत्रियों के साथ युद्ध ठाने बैठे थे। परन्तु तुम्हारे भली भांति न समझने पर दुबारा जब तुमने मुझ से प्रश्न किया था, उस समय वे अपने आपे में आ चुके थे। मानासिक युद्ध ही युद्ध में अपने शत्रुओं का काम तमाम करने के लिए बढाया तो था हाथ उन्होंने अपने सिर के उपर से सिरत्राण (झिलम टोप) को उतारने ! और उसे शत्रुओं पर फेंकने। परन्तु राजर्षि अब राजा तो थे नहीं। अब तो थे वे एक मुनि। तब उन्हें अपने सिर पर झिलमटोप मिलने ही क्यों लगता ? हाथ बढ़ाने पर उन्होंने लोच किये हुए नंगे सिर को देखा। वे मन ही मन बड़े सकुचाये। अपने मुनिव्रत का उन्हें उसी समय स्मरण हो आया। एक मुनि और युद्ध ? फिर चाहे वह मानासिक होता या भौतिक, पर था तो एक युद्ध ! यह सोच विचार कर अनेक प्रकार का अस्तावा-पछतावा वे करने लगे। आत्म-धिकार के द्वारा वे अपने पापों का प्रायश्चित्त करने लगे। और अन्त में शीघ्र ही ध्यानमग्न हो गये। बस, श्रेणिक ! यही कारण था, कि तुम्हारे द्वारा दुबारा पूछने पर मैंने अपने कथन में इस प्रकार का हेर-फेर किया था। इस से तुम जान सकते हो, कि भावना ही प्रधान वस्तु है। जैसी भी तुम्हारी भावना होगी, वैसे ही तुम बनोगे। वैसे ही साधन तुम्हें प्राप्त होंगे। अस्तु।

इधर तो श्रेणिक और सर्वज्ञ भगवान् के बीच इस प्रकार की वार्तालाप चल ही रही थी, कि इतने ही में ध्यानस्थ मुनि प्रसन्नचन्द्र के पास कई प्रकार के सुन्दर सुन्दर बाजे बजने लगे, जो गगन को भेद रहे थे। इस अचानक होनेवाले सुन्दर शोर को सुन कर, श्रेणिक बड़ा ही प्रसन्न हो उठा। और उस ने भगवान् से उस का कारण पूछा। वह बोला—

"भगवन् ! यह बाजों की गड़गड़ाहट कहां और क्यों हो रही है ? यह तो बड़ी ही सुन्दर और सुरीली आवाज़ है।"

"श्रेणिक ! ध्यान में स्थित राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को केवल ज्ञान की संप्राप्ति हो गयी है। बस, इसी कारण से देवता लोग वहां (उस के आश्रम में) आ पहुंचे हैं। और मुनि के उस ज्ञान की महिमा का वर्णन, वे लोग गगनभेदी इन सुरीले बाजों को बजा कर, कर रहे हैं। यही नहीं, वे हर्ष के मारे भी फूले अंग नहीं समा रहे हैं।"—भगवान् बोले।

अर्जुन माली की मुक्ति

एक बार भगवान् महावीर फिर विहार करते हुए राजगृह को पधारे। वहां उस समय मकाई नामका एक गाथापति रहता था। उस के अन्तःकरण पर भगवान् के उपदेश का इतना गहरा असर पड़ा, कि उस ने अपने बड़े पुत्र को घर का सारा काम काज संभला दिया। और उसने दीक्षा ले ली। भगवान् के आने की सूचना, होते होते सारे गांव में फैली। सुदर्शन नामक एक सेठने भी भगवान् के दर्शन करना चाहा। दर्शन को जाने के पहले, वह अपने पिता-माता के पास गया। उस ने उन से भगवान् के पास जाने और उन के दर्शन कर आने की इजाज़त चाहा। परन्तु उस इजाज़त का उत्तर, उस के माता पिता ने 'ना,' में दिया। वे बोले-"बेटा! अर्जुन माली के शरीर में एक असुर प्रवेश कर गया है। और वह शहर के बाहर घूमता है। जो प्रति दिन छः पुरुष और एक स्त्री का प्राण हरण करता रहता है। यही कारण है, कि राजा ने भी शहर के बाहर, अकेले में जाने आने की मनाही की है। जन-साधारण की भलाई भी इसी बात में है, कि वे राजा की समुचित आज्ञा को अपने हृदय से मानें। और उसी के अनुसार कार्य करें। इस लिए अच्छा तो यही है, कि तुम वहां न जाते हुए, यहीं से भगवान् को वन्दना कर लो। वे सर्वज्ञ हैं। तुम्हारी भाव, भक्ति और वन्दना को, तुम कहीं से भी कुछ क्यों न करो, सर्वज्ञ होने के कारण वे अवश्य स्वीकार कर लेंगे।" परन्तु सुदर्शनजी इस झमेले में पड़ने ही क्यों और कब लगते? उन्हों ने उत्तर में अपने पिता-माता से यों कहा सच्ची भक्ति की परीक्षा भी तो ऐसे ही आपत्ति काल में हुआ करती है। सच्चे भक्त ढ़ोंग नहीं करते। भक्ति लोक में दिखावे के लिए नहीं की जाती। सच्ची भक्ति का कभी हाट (बाज़ार) नहीं लगाया जाता। भक्त की भक्ति दिखावे की चीज़ नहीं होती वह तो होती है हृदय की चीज़। भक्ति के आडम्बर को अपनी जीविका का साधन बनाये रखना उचित नहीं है। भक्त सदा निर्भय और निर्द्वन्द्व होता है। और होता है वह अदम्भी, अक्रोधी, निरभिमानी, अकामी, निर्लोभी और निर्मोही। भक्ति की मस्ती में अपने प्राणों की बाज़ी लगाना उस के बांये हाथ का खेल होता है। सच्चा

भक्त अपनी अनेकों प्रकार की शक्तियों, सांसारिक वैभव, तथा मान–प्रतिष्ठा, इन सब को तृण के समान ठुकरा देता है। और भी चाहता है, वह अपने आप को मिटा कर, फिर भी चिरजीवित रहना। अस्तु। पिता जी! आत्मा तो अजर, अमर, अविनाशी, और अनामय (नीरोग) है। उस का तो कोई कभी नाश कर ही नहीं सकता। अब रहा शरीर। सो, यह तो जन्म से ही नाशमान् है। फिर जो वस्तु जाने वाली है, उस की चिन्ता ही कैसी? अतएव मैं तो जाऊंगा! और अवश्य जाऊंगा!!" सुदर्शनजी तो ऐसा कह कर, भगवान् के पास चल दिये। उन्हें जाते हुए देख कर, लोग तरह तरह के ताने उन पर कसने लगे। वे कहने लगे, "लेओ साहब! धर्म का ठेका तो अब इन्हीं ने लिया है। भक्ति किस चिड़िया का नाम है, इस का तो इन्हें पता तक नहीं है। परन्तु अक्ल के पीछे लठ्ठ ले, घर से बेचारे भक्त का स्वांग भर कर निकल पड़े हैं। अभी तो कुछ नहीं, जब अर्जुन से पाला पड़ेगा, तब भक्ति का भाव इन्हें जान पड़ेगा! सुदर्शन सेठ! ज़रा सुनो तो! अजी हां! हम भली भांति जानते हैं, कि आप बड़े ही धर्मात्मा बनने की धुन में सरपट भागे जा रहे हैं; परन्तु अर्जुन माली के मुद्गर की मार को भी ज़रा भूल न जाइएगा! देखना, कहीं उस के एक ही मुद्गर की मार से आप की सारी शेखी फिसल न जाय! क्या, भगवान् महावीर के अनुयायी आप ही हैं? हम लोग नहीं? सेठ सुदर्शन! जिस शरीर को आप इतना तुच्छ समझते हैं, क्या, नहीं जानते, कि वही शरीर 'धर्माऽर्थ काम मोक्षाणां शरीरं मूल साधनं' है?" सेठ सुदर्शनजी ने किसी एक की भी न सुनी। लोगों ने उन्हें रोकने के लाख लाख प्रयत्न किये; पर सब के सब वे एक सिरे से बेकार सिद्ध हुए। उन की उमंग जवान थी। उन के हृदय में उत्साह उछल कूद मचा रहा था। वे शहर की चाहरदीवारी के बाहर हुए। और जिस स्थान में भगवान् ठहरे हुए थे, उस ओर पैर रखना प्रारम्भ किया। चलते चलते, रास्ते में सुदर्शन सेठ पर वही बीती, जैसी की बीतनी चाहिए थी। दूर ही से अर्जुन ने सुदर्शन को अपनी ओर आते देखा। उन्हें देखते ही, मार गिराने के इरादे से, वह उन की ओर भूखे शेर की भांति लपका। सुदर्शनजी तो पहले ही से तैयार हो कर आये थे। अर्जुन की लपक से वे तिल-मात्र भी भयभीत न हुए। उसे सामने आता हुआ देख, वे प्रभु का ध्यान करते हुए, परम शान्ति और प्रसन्नता के साथ, ज़मीन पर बैठ गये। अर्जुन ने पास आते ही मुद्गर उठाया।

और सुदर्शन को मारना चाहा। परन्तु चाहे सुदर्शनजी के ध्यान का बल कहो, या उन के साहस की शक्ति। अथवा भक्ति की प्रबल दृढ़ता मानो, या अर्जुन माली के शुभ कर्मों का उदय। कुछ भी कहो। अर्जुन ने मुद्गर को सुदर्शनजी पर गिराने के लिए ज्योंही ज़ोरों से अपने सिर पर उठाया, वैसे ही उस के हाथ वहीं के वहीं रह गये। उस ने अपने हाथों को नीचे लाने की भरसक कोशिश की; पर वे नीचे की ओर आ ही न सके। तब उस ने उन्हें अपने सिर के चारों ओर चलाना शुरू किया। पर तब भी सुदर्शनजी तक उस के हाथ न पहुँच सके। यह देख कर, अपनी शक्ति पर बड़ा ही क्रोध आया। वह मन ही मन हद से ज़्यादा झुँझलाया। उसे अचरज भी हुआ। लाज भी उसे कुछ कम न लगी। तब तो वह टकटकी लगा कर सुदर्शनजी की ओर देखने लगा। परन्तु इस का भी सुदर्शनजी पर कोई असर न पड़ा। अन्त में जब अर्जुन ने अपने हृदय में हर प्रकार से हार मान ली, तब तो उस के शरीर में जो देव विगत छः महीनों से घुसा हुआ था, लजा कर अर्जुन के शरीर को छोड़ भागा। इस के पश्चात् अर्जुन अचेत हो कर धरती पर गिर पड़ा। थोड़ी देर के बाद, जब उसे होश आया, उसने सुदर्शनजी से, जो निर्विघ्न हो कर सागारी संथारा को पार चुके थे, पूछा—"भाई! आप कौन हैं? आप कहाँ रहते हैं? और कहां आप जा रहे थे?" सुदर्शनजी ने कहा—"भाई! मेरा नाम सुदर्शन है। मैं इसी गाँव का रहनेवाला हूँ। और, मैं श्रमण भगवान् महावीर के दर्शन तथा वन्दना को जा रहा हूँ।" यह सुन कर अर्जुन का हृदय भी भगवान् के दर्शन, वन्दन, आदि के लिए अकुलाया। वह गिड़गिड़ा कर तब सुदर्शनजी से फिर यों बोला—"भाई सुदर्शन! जो भी मैं जाति का एक माली हूँ, तथापि मेरी बड़ी भारी इच्छा है, कि मैं भी भगवान् के चरण-दर्शन तथा वन्दन करूँ। तथा उन के उपदेशों को सुन कर के, मैं अपने जीवन और जन्म को सफल बना पाऊँ। क्या, मैं भी आप का साथ कर सकता हूँ? क्या, भगवान् तक मेरी भी पहुँच सम्भव है?" इस पर सुदर्शनजी ने कहा—" निस्सन्देह! तुम एक ही बार क्या, १०० (सौ बार) भगवान् की शरण में, परम हर्ष के साथ जा सकते हो। जाति-पांति का भी वहां कोई झगड़ा नहीं है। कोई भी पुरुष जिज्ञासु बन कर, उन के सत्सिद्धान्तों का भली भांति लाभ उठा सकता है। उन के शिष्य और शरणागत होने में देश, काल और पात्र ज़रा भी कभी बाधक नहीं बनते। यदि तुम्हारी अन्तरात्मा भगवान् के दर्शन और वन्दनादि के लिए सचमुच में

लालायित है, तो तुम अवश्यमेव मेरे साथ वहाँ चल सकते हो।" इतना जब अर्जुन ने सुना, वह बड़ा ही प्रसन्न हुआ। और, वह उसी समय, सुदर्शन जी के साथ, भगवान् के पास जाने के लिए उठ खड़ा हुआ। दोनों व्यक्ति वीर भगवान् के पास आये। उन्हों ने उन्हें विधिवत् वन्दन किया। तब वे वहां बैठ गये। कुछ समय के पश्चात्, वार्तालाप कर लेने पर, सर्वज्ञ भगवान् ने उन्हें अधिकारी जान, उपदेश फरमाया। तदुपरान्त सुदर्शनजी तो अपने घर को आ गये। और, अर्जुन भगवान् का शिष्य बन कर वहीं रहने लगा।

पाठको! अब यह अर्जुन पहले का जन-संहारक अर्जुन न रहा। यह पहले कौन था? फिर, प्रति दिन छः पुरुष और एक स्त्री को हनन करनेवाला यह क्यों और कैसे बना? प्रसंगवश इस का भी विवेचन हम यहां कुछ किये देते हैं। यह अर्जुन माली था। राजगृह ही में यह रहता था। जिस बगीचे से यह फूल तोड़ कर बेचने के लिए ले जाया करता था, उस में एक काष्ट--निर्मित यक्ष की मूर्त्ति थी। वह मुद्गर-पाणि यक्ष के नाम से वहां प्रसिद्ध था। अर्जुन की स्त्री बड़ी ही सुन्दर थी। फूल चुन कर बाज़ार में ले जाने के पहले, यह कुछ फूलों को बगीचे में से अलग ही चुनता। तब अपनी पत्नी को साथ ले कर, उन्हें वह उस यक्ष के ऊपर जा चढ़ाता। यह उन का नित्य का व्यापार था। इतना कर लेने के पीछे ही, ये दोनों मिल कर, बगीचे से बेचने के लिए फूल चुनते। फूल चुनलेने पर ये उन्हें बाज़ार में ले जा कर बेचते। और यों अपनी जीविका चलाते थे। एक दिन का ज़िक्र है, जब वहां के छः गोठियों (गुण्डों) ने उसी बगीचे में घूमते--फिरते इस की पत्नी को देखा। वे उस के रूप सौन्दर्य पर मुग्ध हो गये। उन्हों ने उस बेचारी के एक मात्र सतीत्व के धन को, किसी भी तरह हरण कर लेना चाहा। उन्हों ने मनसूबा किया, कि जब माली यक्षालय में अपनी स्त्री के साथ जावे, उस समय अपन लोग दो हिस्सों में बंट कर, मन्दिर के अन्दर, उस की आजू बाजू में, कुछ पहले ही से जा छिपेंगे। उन्हों ने वैसा ही किया। मन्दिर में प्रवेश कर के दोनों ने ज्योंहीं देव-मूर्त्ति को नमन करना चाहा, त्योंहीं उन छलियों ने उस माली को तो रस्सी आदि के द्वारा मज़बूती से कस दिया, और पीछे, उस की स्त्री के साथ उन पापियों ने बलात्कार करना प्रारम्भ किया। यह अचानक अनहोनी घटना घटी हुई देख कर, वह माली तथा उस की स्त्री ज़ोरों से चिल्लाने लगे। परन्तु ये आखिरकार दो

थे और वे छः। इन की चलती भी तो क्या और कहां तक? तब तो वह माली उस यक्ष की मूर्त्ति को बड़ी ही बुरी तरह से कोसने लगा। वह कहने लगा- "ऐ यक्ष सचमुच में आज मैं ने जाना, कि तूं निरी काठ की मूर्ति ही है! अगर ऐसा न होता, तो आज तेरी आखों के सम्मुख हमारी यह पतित दशा? कदापि नहीं! बिलकुल असम्भव!! "ये शब्द उस माली के मुंह ही पर थे, कि इतने ही में उस देव ने उस माली के शरीर में प्रवेश कर दिया। बस, तब तो उसके सारे बन्धन एकदम ज़रा ही ज़ोर लगाते टूट पड़े। उसने उस देव मूर्त्ति के मुद्गर को अपने हाथों में उठा लिया। और उन छहों आततायी पुरुषों तथा अपनी उस एक स्त्री, यों उन सातों ही को उसने उस मुद्गर की मार से, बात की बात में सदा के लिए धराशायी कर दिया। और तभी से उसने प्रण किया, कि "नित्य उठ कर ऊपर के अनुसार सात व्यक्तियों को मैं मारूँगा। उस का यह प्रण पूरे छः मास तक रहा। अन्त में सुदर्शनजी की सत्संगति से भगवान् के दर्शन इसे मिल पाये और इस की काया ही पलट हो गयी। सच है, सत्संगति की महिमा जितनी करें उतनी थोड़ी है।

अर्जुन, भगवान् की शरण में रह कर बेले बेले की तपस्या करने लगा। अर्थात् दो दिन अनशन और एक दिन भोजन; फिर दो दिन अनशन और एक दिन भोजन करके रहने लगा। पारणे के दिन वीर प्रभु की आज्ञा और इजाज़त लेकर जब अर्जुन मुनि आहार-पानी लेने के लिए उसी बस्ती में जाते, उस दिन तो इन पर बड़ी ही गज़ब की विपत्ति आकर टूटती। आज के उन अहिंसा के उपासक अर्जुन मुनि को, उस बस्ती के लोग अभी तक पहले के हिंसक अर्जुन माली ही के रूप में समझे बैठे थे। बस्ती में उनके प्रवेश करते ही, कोई तो उन्हें अपनी माता को मारने वाला समझ कर उन पर पत्थरों की बौछार करता। तो कोई उन्हें बाप और भाई का प्राण लेऊ मान कर उन के मुनि-व्रत को मिट्टी में मिलाने की चेष्टा करता। और कोई उन्हें अपनी पत्नी और बाल-बच्चों की हत्या करने वाले के रूप में देख कर, उन पर खूब ही हाथा-पाई करने लगते। यों, उस बस्ती का प्रत्येक व्यक्ति उन्हें अपना किसी न किसी प्रकार से शत्रु समझता। कभी भूले-भटके उन्हें खाने-पीने को कुछ मिल जाता। नहीं तो अक्सर उन्हें अनेक प्रकार की यातनाओं ही का आहार-पानी दिया जाता था। इन सारी यम-यातनाओं

को आज के अर्जुन मुनि हँस हँस कर सहते। और बदले में, वे अपने मन को इस प्रकार समझाया करते, कि " भाई मन ! तू ने तो इन के कुटुम्बियों का प्राण लिया है, बदले में तुझे तो ये केवल शारीरिक यातनाएं ही दे रहे हैं। यह यातना तो उस अपराध का ब्याज तक नहीं है। ये लोग सचमुच में हैं कितने उदार ! जो नाम-मात्र का, केवल ब्याज ही बदले में पा कर, उस अपने कर्ज़े की फ़ारकती कर रहे हैं, जिसे जन्म जन्मान्तरों तक में पूरा पूरा चुकाना मुझ जैसे साधारण व्यक्ति के लिए केवल कठिन ही नहीं वरन् असम्भव भी है। भाई मन ! अपने भाग्य को बार बार सराहो, कि आज तुम्हें संयोग से ऐसा मौका आ मिला है। जिस का पूरा पूरा सदुपयोग करना तुम्हारे ही हाथ में है। " यों अर्जुन मुनि राग, द्वेष रहित हो कर, जो भी कुछ मिलता, उसी में सब तरह से सन्तोष मानते हुए, अपने कृत कर्मों का निपटारा करते रहते थे। दीक्षा से पहले हिंसा, क्रोध, मान, मोह, आदि जहां उन के साथी थे, वहीं अब अहिंसा, अक्रोध अमान, विराग, आदि से उन ने नाता जोड़ लिया है। सन्तोष और क्षमा तो चलते-फिरते, खाते-पिते, उठते-बैठते, सोते-जागते, हर समय उन के साथ ही-साथ रहते हैं। सच पूछा जाय तो इन सखाओं ने मुनि का बड़ा भारी उपकार किया है। यह इन्हीं की दोस्ती का फल है, कि जिस लम्बे और बीहड़ रास्ते को, इस दुनिया के बड़े बड़े शूरमा लोग तक जन्म-जन्मान्तरों में पार कर पाते हैं, उसी विकट रास्ते को मुनि अर्जुन ने, अपने, मुनि जीवन के इन साथी सन्तोष, क्षमा, अहिंसा अमान, अक्रोध, आदि दोस्तों के साथ से, केवल छःही महीने में, बिलकुल थोड़े ही परिश्रम से, पार कर पाया है।

भिन्न भिन्न गाथापति और दीक्षा-व्रत

पीछे से, इसी राजगृह के निवासी कासव, वीर, और मेघ नामक व्यक्ति भगवान् की शरण में पहुंचे। और उन के निकट उन्हों ने दीक्षा-व्रत को धारण करने की अपनी प्रबल लालसा दिखायी और प्रार्थना की। परम दयालु भगवान् ने उन्हें योग्य अधिकारी जान कर, उन की भी मनचाही की। यों, काकन्दी-निवासी क्षेम और धृतिधर, साकेत ग्रामवाले कैलाश और हरिचन्दन, इसी तरह श्रावस्ती के रहनेवाले श्रमणभद्र और सुप्रतिष्ठ, तथा वाणियागांव के निवासी सुदर्शन आदि नाम के गाथापतियों ने भगवान् से क्रमशः दीक्षा धारण की। ये सभी लोग बड़े धनी थे। ऐहिक सुखों की भी इन के पास कोई कमी नहीं थी और थे सब के सब निश्चिन्त और निर्द्वन्द्व। परन्तु इन्हें संसार की असारता का भी काफ़ी ज्ञान हो चुका था। ये इह लोक और पर लोक के भोगों में आसक्ति के अभाव रखने का भी प्रयत्न करते रहते थे। अहंकार को ये हृदय से झाड़ बुहार कर निकालने की फ़िराक में थे। जन्म, मृत्यु, जरा (बुढ़ापा) और रोग आदि में दुख तथा दोषों का बारम्बार विचार करते। और, करते थे पुत्र, कलत्र, घर और धनादि में आसक्ति और ममता का अभाव। साथ ही, तात्त्विक विषयों के विवेचन और मनन करने में भी ये अपनी शक्ति के अनुसार जुटे रहते थे। अन्त में इन सभी ने मुक्ति को भी सम्पादन करली।

राजपुत्र एवन्त-कुमार का दीक्षा-व्रत धारण.

एक बार पुनः वीर प्रभु विचरते विचरते पोलास-पुर को पधारे । उन दिनों विक्रम राजा वहां राज्य करता था । उसके पुत्र का नाम एवन्त कुमार था । भगवान् महावीर के बड़े शिष्य गौतम स्वामी भी इस बार प्रभु के साथ थे । एक दिन गौतम स्वामी को बेले का पारणा था । उन्होंने प्रभु से आज्ञा प्राप्त की । और आहार पानी के लिए, दिन के ढल जाने पर, अर्थात् तीसरे प्रहर आप बस्ती में पधारे । अनैमित्तिक तथा प्राशुक आहार-पानी की, क्रमशः गरीब तथा अमीर सभी के यहां, छानबीन करते हुए आप वहां जा निकले, जहां वह एवन्त राज-कुमार अन्य बालकों के साथ खेल रहा था । उस राज-कुमार ने गौतम स्वामी से पूछा—"आप कौन हैं? इधर उधर चक्कर क्यों काट रहे हैं? क्या चाहते हैं?" "हम निर्ग्रन्थ साधु हैं । प्राशुक तथा अनैमित्तिक आहार-पानी हम चाहते हैं । उसी की खोज में हम इधर उधर फिर रहे हैं ।" गौतम स्वामी ने उत्तर में कहा । इस पर राजकुमार ने गौतम स्वामी की अँगुली पकड़ ली । वह उन से कहने लगा—"यदि आप निर्ग्रन्थ भिक्षुक हैं, तो मेरे साथ अपने राज-महलों में पधारिये । वहां मैं अनैमित्तिक और प्राशुक आहार--पानी आप को दिलाऊँगा । वे चले चले दोनों राज-महलों में आये । राजकुमार की माता ने अपने पुत्र के साथ, परम पूजनीय अतिथि को दूर ही से आते देखा । वह मन ही मन बड़ी ही प्रसन्न हुई । अपने तथा राजा के भाग्य को उस ने मन ही मन सराहा । बालक राज कुमार की बुद्धि की भी उस ने कम प्रशंसा न की । उन्हें उन की आम्नाय के अनुसार भोजन बहराया गया । जब गौतम स्वामी वापिस चले, तो राज-कुमार ने उन से उन के ठहरने का पता पूछा । उत्तर में उन्हों ने बताया, कि "नगर के बाहर, जहां मेरे धर्म-गुरु, भगवान् महावीर ठहरे हुए हैं, उन्हीं के साथ मैं भी हूँ ।" राजकुमार ने कहा—"अच्छा, तो मैं भी आप के साथ चल कर कम से कम भगवान् के चरणों के दर्शन कर लूँ ।" मुनिराज ने बालक की इच्छा पूरी की । भगवान् के पास पहुंचते ही, राज कुमार ने उन्हें प्रेम और श्रद्धा--भक्ति पूर्वक वन्दना की तत्पश्चात् प्रभु ने, उस के बैठ जाने पर, अपना उपदेश देना उसे आरम्भ किया । भगवान् के थोड़े से ही समय के सत्संग से राज-कुमार के मन पर ऐसा अनोखा असर पड़ा,

कि उस का मन संसार से एकदम विरत हो गया। उसी समय, वह दीक्षा-व्रत को लेने के लिए, भगवान् से अनुनय--विनय करने लगा। परन्तु उस के माता--पिता और अन्य कुटुम्बियों की ओर से बिना अनुमति उसे मिले, सर्वज्ञ प्रभु ने उसे दीक्षित नहीं किया। तब तो वह उसी समय अपने माता-पिता व अन्य पारिवारिक जनों से, दीक्षा धारण करने की अनुमति लेने के लिए लालायित हो कर सब से पहले अपनी माता के पास आया। और अपनी इच्छा उन्हें कह सुनाई। इतने में राजा भी वहां आ पहुंचे। राज-कुमार की बातों को दोनों ने यह कह कर, कि "ऐं! यह तो अभी निरा बालक ही है। दीक्षा के महत्त्व और दुख का यह जान ही कैसे सकता है? बालकों के केवल कान होते हैं। वे शान को अभी समझ ही कैसे सकते हैं। हँसी मज़ाक में टाल देना चाहा। पर बालक मचल पड़ा। वह फिर अपने माता-पिता से बोला-"माँ! अब चाहे आप कुछ भी कहो। मैं कभी मानने का नहीं। बालक समझ कर आप मेरी बात को हँसी में न डालिये।" तब तो उन लोगों का चेहरा ज़रा तमतमा गया। इस बार, जब उन्होंने बालक को अपने हठ से हटते न देखा, थोड़ी डाट डपट दिखाते हुए बोले-"बेटा अभी तू नादान बालक है। धर्म-कर्म के तत्त्व को अभी तू जानता ही क्या है? झूठी ज़िद मत कर। चल अपने काम में लग। बालकों के हक में, ऐसी कड़ी हठ पकड़ना, कदापि ठीक नहीं। वे, अपनी भलाई बुराई किस बात में है, ज़रा भी नहीं जानते। इसीलिए तो नीति का, यही कहना है, कि बालकों का हित बड़ों की आज्ञा पालन करने ही में है।" इस पर राजकुमार ने और भी एक अटपटी सी बात कह दी। वह बोला-" पिताजी? मैं जिस बात को जानता हूँ, उस को मैं नहीं जानता हूँ। और जिसे मैं नहीं जानता हूँ, उसे मैं भली प्रकार से जानता हूँ।" अपने पुत्र के इस अटपटे से वचन को सुन कर, राजा और रानी और भी चक्कर में पड़ गये। वे यही न समझ सके, कि यह कह क्या रहा है? वे उस से बोले-" बेटा! यह तुम ने क्या कहा? इस कथन से तुम्हारा क्या मतलब है? उत्तर में, राजकुमार ने गम्भीरता से कहा-"पिताजी! जो जन्मा है, वह अवश्य मरेगा। यह मैं जानता हूँ। पर यह नहीं जानता, कि कब कहाँ और कैसे मरेगा? मैं नहीं जानता, कि किन किन कर्मों से आत्मा नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव-भवको प्राप्त होती है? क्यों कि मैं छद्मस्थ हूँ। अरूपी कर्म- वर्गणाओं का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। हाँ यह अवश्य जानता हूँ, कि अशुभ

कर्मों का उपार्जन होने से नरकादि नीच जातियों को आत्मा प्राप्त होती है और पुण्य संचय होने से स्वर्गादि ऊर्ध्व गति को प्राप्त होती है।

यों, राजा-रानी और राज-कुमार के बीच, बड़ी देर तक तात्त्विक वाद-विवाद होता रहा। अन्त में राज-कुमार ही की जय हुई। वह माता-पिता की स्वीकृति ले कर, दीक्षा-धारण के लिए, भगवान् के पास आया। भगवान् ने सचमुच में उसे दीक्षा का पात्र पाया। और अन्त में उसे दीक्षित किया।

एक दिन की बात है,जब कि येही नव-दीक्षित एवन्तकुमार मुनि शौचादिको बाहर गये हुए थे। उस समय वर्षा होने के कारण पानी बह चला था। वहां मुनि ने मिट्टी की एक पाल बांधी। उस में पानी को रोका। जब काफ़ी पानी वहां इकट्ठा हो गया, तब अपने पात्र को वे उस पानी में तिराने लगे। बाल मुनि की इस हरकत को, अन्य मुनियों ने देख लिया। बस, फिर क्या था, वे तरह तरह के आक्षेप भगवान् पर लगाने लगे। वे बालकों को दीक्षा देने के ऐसे कुपरिणामों की छानबीन करने लगे। आखिरकार वे भगवान् के पास भी पहुँचे। सर्वज्ञ प्रभु ने बड़े ही शान्त-भावों से उन्हें समझाया। वे बोले, कि "बाल-मुनि ही धर्म के तत्त्वों को नहीं जानते, सो बात नहीं है। मुनि-धर्म की विशेषता उम्र की अधिकता और न्यूनता पर निर्भर नहीं है; और न कभी ऐसा रहा ही है। इस की विशेषता तो केवल पालन करने ही में है।" इतने ही में एवन्तकुमार मुनि की ओर भगवान् ने देखा। फिर उन्हों ने कहा-" मुनियो! अपने पात्र को उस गँदले और छिछले पानी में, जो ये बाल-मुनि तिरा रहे थे, उस का तो केवल यही मतलब था, कि उसी तरह ये अपनी आत्मा को भी संसार रूपी महासागर के पार ले जाने के लिए, शीघ्र ही कठोर और भर-सक प्रयत्न करेंगे।" नव-दीक्षित मुनि के लिए, इस समय सूचक और अति ही सुन्दर भावी वीर-वाणी को सुन कर, जहां (१) अन्य मुनि अपना सा मुँह ले कर रह गये; (२) बाल-मुनि के भाग्य को उन लोगों ने सराहा; (३) उन्हें बड़ा ही सन्तोष हुआ; (४) भव-सागर को पार करनेवाली बाल-मुनि की करणी को अपनी कृति में उतारने का निश्चय उन्होंने किया; और (५) उन्हें बड़ा ही आनन्द तथा सन्तोष हुआ; वहां वे बाल मुनि भी, कल्याण कारक वीर-वाणी के अनुसार, अपने जीवन के व्यापार को बनाने के प्रयत्नों में अपनी पूरी पूरी शक्ति से जुट पड़े।

वाराणसी के राजा अलख को संसार से उपराम

—(०)—

भगवान् विचरण करते हुए एक दिन वाराणसी नगरी में पधारे। उन दिनों वहां अलख नामक राजा राज करता था। भगवान् के शुभागमन का सन्देश उस ने सुना। एक दिन वह भी उन के उपदेशों से लाभ उठाने के लिए, प्रभु के समवशरण में गया। वहां जा कर उसने भगवान् को वन्दना की। प्रभु के एक ही दिन की धर्मकथा ने उस के दिल पर जादू का असर किया। उस ने भी संसार की असारता का अनुमान और प्रत्यक्ष अनुभव किया। चल कर के वह अपने घर आया। और, उसी समय अपने जेठ पुत्र को बुला कर राज्य का सारा भार उसे सौंप दिया। और, आप दीक्षित होने के लिए भगवान् के पास चला। भगवान् के पास आकर, उस ने बड़ी ही अनुनय विनय, दीक्षा के लिए की। प्रभु ने उसे भी दीक्षित किया। कालान्तर में उन राज-मुनि ने भगवान् के साथ में रह कर, भव तरणोपायों को अपने जीवन में उतारा और अपने जीवन तथा जन्म को सब प्रकार से सार्थक बनाया।

सम्राट् श्रेणिक को प्रतिबोध.

वीर भगवान् महावीर ही के ज़माने में श्रेणिक नाम के एक सम्राट् थे। वे अकसर राजगृह ही में रहा करते थे। अथवा यूँ कह सकते हैं, कि राजगृह ही उन की राजधानी थी। पधारने को तो भगवान् इसी सम्राट् के समय में, कितनी ही बार राजगृह में पधारे थे; परन्तु श्रेणिक ने आज तक भगवान् का साक्षात्कार नहीं किया था। एक दिन राजा जंगल में सैर करने गये। वहां अचानक अनाथी नाम के मुनि से, जो भगवान् महावीर के शिष्य थे, उन की भेंट हो गयी। मुनि को राजा ने वन्दना की। फिर कुछ वार्तालाप भी आपस में हुआ। अन्त में होते होते मुनि ने सम्राट् के उच्छृंखल मन को अपने वश में कर लिया। जगत् का वास्तविक स्वरूप अब उसकी आंखों के सामने आया। उसे प्रत्येक सांसारिक भोगोपभोग दुःखदायी प्रतीत होने लगे। संसार में उसे कहीं भी सच्चे सुख का आभास तक न मिला। उसी दिन से वह जैन-धर्म का अनन्योपासक बन गया। इस का विशेष विवरण उत्तराध्ययन जी सूत्र के बीसवें अध्याय में आता है।

शालिभद्र का अपूर्व त्याग और दीक्षा-धारण.

प्रभु विचरण करते-करते एक दिन फिर राजगृह में पधारे। इस बार वहां एक कोट्याधीश पुरुष,जो कि शालिभद्र के नाम से प्रसिद्ध थे,प्रभु की शरण में आये। और दीक्षा के लिए प्रार्थना करने लगे। श्री प्रभु ने उन से कहा—"पर पदार्थों का संसर्ग ही आत्मविकास में सब से अधिक बाधा पहुँचाता है। अतः जो अपनी आत्मा में रमण करना चाहता है, उसे बाह्य उपाधियों का संसर्ग हटा देना चाहिए।" इस पर शालिभद्र जी ने अपने करोड़ों के राजसी वैभव को ठुकरा दिया। जैसे बटोही अपने पिछले पद-चिह्नों की ओर नहीं देखता उसी प्रकार शालिभद्रजी ने भी अपने त्यक्त वैभव की ओर उपेक्षा का भाव धारण किया। पाठको! आज जहां अनेकों सत्पुरुषों की जेबों से एक पैसा भी निकलना बड़ा भारी कठिन काम होता है, वहां करोड़ों की सम्पत्ति की ओर आंख उठा कर भी न देखना,कितना महत्त्व रखता है? शालिभद्रजी ने उसे वमन की भांति छोड़ दिया। कष्टों के बादल भी उन पर कुछ कम नहीं उमड़े थे। परन्तु उन सबों को, छाती खोल कर, एक सच्चे वीर की भांति, वे सहते रहे। उनके मुंह से कभी एक आह तक न निकली। एक दिन श्रेणिक सरीखे सम्राट् भी, शालिभद्रजी से मिलने-भेंटने के लिए, उनके घर आये थे। परन्तु शालिभद्रजी को उन से बोलने में तनिक भी रुचि नहीं होती थी। ऐसे महा पुरुष ने, इस संसार को दुख और दोषों से पूर्ण पा कर, उसे तिनके की भांति त्याग दिया। अपने सारे राजसी वैभव उन्हों ने बात की बात में त्याग दिये। शालिभद्रजी! आप के दिल और दिमाग़ सचमुच में सेठाई—श्रेष्ठता—से भरे-पूरे थे। आप व्यापारी समाज के थे। और इसीलिए आप व्यापार की नस नस को जानते थे। कुशाग्र बुद्धि, दूरदर्शिता और समय--सूचकता आप की दासियां हो कर, आप के मुंह की ओर सदा निहारती रहती थीं। आप भली भांति जानते थे, कि किसी भी व्यापार में जब तक दिल खोल कर के पूँजी न लगा दी जाय, तब तक उस व्यापार से मनचाहा लाभ उठाना, निरी नादानी--मात्र है। आप ने परलोक से जब व्यापार खोलना चाहा, जब इस संसार स श्रेष्ठतर सुख और सम्पदा के साहित्य को आप ने प्राप्त करना चाहा, तब अपनी सांसारिक करोड़ों

की सम्पत्ति को आंख खोलकर परलोक के व्यापार में लगा दिया। तब आपको लाभ क्यों न होता ! होता ! और अवश्य होता ! यही कारण है, जैसा आपने चाहा, वैसा ही पूरा पूरा लाभ उस से आपने उठाया। अस्तु। शालिभद्रजी के हृदय में प्रभु के शब्दों ने उचित घर कर लिया। उन्हों ने तब तो यहां की अपनी सारी सुख-सामग्री को छोड़ दिया। शालिभद्रजी ! इसी कारण, लोक--पावन भगवान् की जीवनी के साथ ही आप के जीवन की गाथा भी आज तक संसार में गायी जाती है। और आगे भी गायी जावेगी। पाठको ! शालिभद्रजी, इतनी विशाल सम्पत्ति के स्वामी कैसे बने; उस का एक--दम त्याग उन्हों ने कैसे कर दिया, पूर्व-भव की करणी उन की कैसी थी; आदि आदि बातों का संक्षिप्त विवरण अब हम आप के सामने रक्खेंगे।

राजगृह के निकट किसी समय 'शालि' नाम की एक छोटी सी बस्ती थी। उस में दुर्दिनों की मारी एक स्त्री कहीं से आकर रही थी। उस का नाम धन्या था। पहले वह धन--जन से भरी पूरी रही होगी। परन्तु इस बस्ती में आने के समय, उस के पास केवल उस का एक छोटा सा इकलौता पुत्र ही, सम्पत्ति के रूप में बच रहा था। इस प्रकृति के बाग़ की विशेषता भी इसी बात में है, कि यहां का एक वृक्ष, जो कल फूला हुआ था, आज झड़ता हुआ नज़र आता है। और एक दूसरा वृक्ष, जो कल बिलकुल नंगा नवाब बन कर खड़ा था, वही यहां आज लहलहाता हुआ नज़र आता है। यहां की सभी बातें ऐसी ही निराली है। उस के उस पुत्र का नाम संगम था। कुछ ही बड़ा होने पर संगम ने अपने गांव के ढोरों को चराने का काम अपने हाथों लिया। अपने छोटे से बालक को ढोरों के साथ, अकेला जंगल में जाते देख, जो भी माता का कलेजा कांप उठता था; परन्तु 'डूबते को तिनके का सहारा काफ़ी है', के नाते, आजीविका का कोई दूसरा चारा न देख, लाचार हो कर उसे अपने बच्चे से ऐसा काम करवाना पड़ा था। एक दिन गांव में उस बालक ने अपने जान-पहचानवालों के यहां दूध की खीर और तरह तरह की मिठाइयां बनते देखीं। बालक संगम ने इस का कारण उन से पूछा। तब उसे जान पड़ा, कि आज कोई पर्वोत्सव का दिन है। खीर और भांति भांति की मिठाइयों के खाने के लिए उस का भी जी ललचाया। वह उसी समय विलखते हुए मुंह से अपनी माता के पास आया। माता ने उस की उदासी का कारण पूछा। बालक ने रोते हुए खीर मां से मांगी। अपने दीनहीन छोटे से बच्चे

की ऐसी दशा देख कर, उसे आंसू टपकाते हुए लख कर, माता की भी छाती भर आयी। उस से भी अधिक रोना, उसे अपनी ग़रीबी और अपने बालक की इच्छा पूरी न कर सकने पर आया। वह अपने बुढ़ापे के एक मात्र सहारे, अपने प्राण-प्रिय बालक का मुख चूम कर, उस से बोली " बेटा ! दुर्दिन के मारे, आज तो मेरे पास नाम लेने को भी पैसा नहीं है। अगर मेरे पास पैसा होता, तो मैं तुम्हें काहे को वन वन में चौपायों को चराने के लिए भेजती ! बेटा ! तुम मुझ भाग्यहीना के घर आये हो। किसी भले घर में तुम्हारा जन्म हुआ होता, तो न जाने तुम्हारे जैसे लाल के लिए कितने प्रकार की मिन्नतें वहां मानी जातीं ! "

माता का ऐसी दीनता से सारा बोलना-बकना, संगम के लिए केवल अरण्य रोदन-मात्र हुआ। बात भी सच है। भोले संगम को माता की ग़रीबी हालत का ज्ञान ही क्या था ? उस ने अपनी ज़िद न छोड़ी । वह तो और भी ऊंचे स्वर से चिल्लाने लगा। उस का रोना इतना करुणाजनक था, कि इधर उधर के पड़ौसी वहां इकट्ठे हो आये। उन्हों ने उस की माता से उस के रोने का कारण पूछा। परन्तु संगम की माता भले घरानों की बहू और बेटी थी। वह इधर उधर की बातें कह कर, अपनी मुख्य बात को टाल देना चाहती थी। अन्त में, उन पड़ौसियों को, पास खड़े हुए एक व्यक्ति से बालक के रुदन करने का सारा वृत्तान्त जान पड़ा। माता और पुत्र उन दोनों की ऐसी शोचनीय अवस्था को देख कर, आये हुए पड़ौसियों के हृदयों में बड़ी ही करुणा उमड़ आयी। उन्हों ने उसी समय थोड़ा थोड़ा कर के, उस बच्चे के लिए खीर का सारा सामान जुटा दिया। बस, फिर क्या था ? माता ने थोड़ी ही देर के बाद, अपने बालक के लिए खीर तैयार कर दी। तब उस ने उसे बालक की थाली में परोसा। और, वह आप घर के किसी धन्धे में लग गयी। इतने ही में एक विचित्र घटना वहां घट पड़ी। इधर तो बालक खाने के लिए अपने हाथ को अपने मुंह के पास ले ही जानेवाला था, कि उतने ही में आहार-पानी की इच्छा से एक मुनिराज उधर आ निकले। वे एक, मास क्षमण-धारी मुनि थे। कल ही उन के एक मास के अनशन-व्रत का पूर था। और आज उन के पारणे का दिन था। बालक और मुनि की चार आंखें हुई। मुनि के शान्त, गम्भीर और विकसित वदन को देखते ही, सरल-हृदय बालक के हृदय में भक्ति के भावों का उभार हो आया। तब उस ने

उसी समय, अपनी जाति-पांति का पता उन्हें देते हुए अपने निकट बुलाया। और अपनी थाली में की आधी खीर को, बड़े ही प्रेम और विनम्रता के साथ, मुनि को बहरा देने के लिए, उस ने अपनी थाली को अपने हाथों में उठाया। परन्तु खीर एक तरल वस्तु होती है। थाली के टेढ़ी करते ही वह सारी की सारी मुनि के पात्र में जा गिरी। इस बात को देख कर, बालक का मन उलटा आनन्दित हो उठा। जो भी खीर खाने के लिए वह बड़ा ही लालायित था। और खीर जुटी भी बड़ी ही मुश्किल से थी। परन्तु उसे इस बात की तनिक भी चिन्ता ना हुई। ग्लानि का एक लेश भी उस के दिल में न आया। उस के निमित्त बनी हुई वस्तु, मुनिराज के काम में आयी, इस बात को स्मरण कर के, वह अपने भाग्य को बार बार सराहने लगा। दूसरे क्षण, उसे कुछ दुख भी हुआ। जिस के कारण उस ने अपने भाग्य को भी कुछ कोसा। परन्तु इस दुख का कारण कुछ और ही था। वह यह विचार कर दुखित हुआ, कि "हाय! मुझ जैसे दीन-हीन बालक से मुनि-राज की विशेष सेवा न बन पड़ी! इतनी सी खीर से, मास-क्षमण—धारी मुनि को क्या होगा? इतने से मुनि का पेट कैसे भरेगा? माता को भी मैं पुकार नहीं सकता। क्योंकि, एक तो वह दीना-हीना है। दूसरे, खीर जो उसने आज मेरे लिए बनायी है, उस की सामग्री को जुटाने की सारी कठिनाइयों को वह भली प्रकार से जानती है

इतने ही में, इधर मुनिराज का घर से निकलना हुआ; और उधर से माता का बालक के पास जाना। बालक गीली थाली को ज़बान से चाट रहा था। पहली बार संगम को खीर परोस कर जाने और वापस उस के पास आने में, माता को कुछ अधिक देर नहीं लगी थी। पास आ कर माता ने बालक की थाली को सफ़ाचट देखा। तब उस ने बड़े ही प्रेम से, पहले तो, बर्तन में की बची-बचायी खीर को बालक की थाली में परोस दिया। और उस के दूसरे ही क्षण, उस ने अपने मन में विचारा, कि "हाय! मेरा मोतियों से भी महंगा लाल, कदाचित इसी भांति सदा-सर्वदा भूखा रहता होगा। मैं अभागिन तो इस के पेट को भी पूरा नहीं भर सकती!"

बस, इधर तो धन्या बड़ी ही सद्भावना और सन्ताप के साथ, यों मन ही मन अपने भाग्य को कोस रही थी, कि इतने ही में बालक के पेट में शूल चलने

लगी। बालक फूट फूट कर रोने लगा। और, थोड़ी ही देर में मछली के मानिन्द तड़फ़ तड़फ कर इधर से उधर और उधर से इधर लोट-पोट करने लगा। सारे रंग में भंग हो गया। बेचारी माता और अड़ौस-पड़ौस के लोगों ने मिल-जुल कर पचासों उपाय किये। परन्तु उस के इस शरीर की अन्तिम घड़ियां पास आ लगी थीं। इसलिए एक भी औषध उस पर कारगर न हुई। इस बीच, जब कभी भी संगम को तनिक-सा चैन-मिलता, वह उसी समय उन मुनि की शान्तता और गम्भीरता का स्मरण करने लगता। होते होते, दिन भी डूब गया। परन्तु उस के दर्द में कोई भी कमी नहीं हुई। अन्त में रात के घोर अंधेर के साथ ही साथ, बेचारी धन्या का घर भी, पुत्र-विहीन हो जाने के कारण, सदा के लिए अंधकारमय हो गया। संगम ने मुनि-स्मरण को अपनी अन्तिम स्वांस तक अपने साथ तो रक्खा था। और, यूं भी कहा जाय कि वह उसे अपने साथ परलोक में भी ले गया, तो भी कोई अत्युक्ति न होगी। क्योंकि, 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' का न्याय प्रसिद्ध है।

अपने पिछले जन्म की सद्भावना के अनुसार संगम की आत्मा, राज-गृह नगर के प्रसिद्ध सेठ गोभद्र की भद्रा नामक पत्नी के उदर में आयी। इस आत्मा के गर्भ में आने के पहले सती भद्रा को एक सु-स्वप्न आया था। जिस में उस ने धान्य (शालि) का एक लह-लहाता खेत देखा था। स्वप्न के समाप्त होने पर, उस ने अपने इस स्वप्न का वृत्तान्त अपने पति से कह सुनाया। पति ने बड़े ही प्रसन्न-वदन से कहा- " प्रिये ! यह तो तुम्हें बड़ा ही शुभ स्वप्न आया है। यह बताता है, कि तुम्हें शीघ्र ही एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति होगी। पति के मुख से पुत्र-रत्न की प्राप्ति की बात सुन कर, भद्रा का हृदय आनन्द से बांसों उछलने लगा।

कुछ ही दिनों के बाद कई प्रकार के सदान करने का दोहल (दोहद या साध) भद्रा के मन में हुआ। सेठ गोभद्र ने अपनी अर्द्धांगिनी की वे वे सद्भावनाएं, बड़े ही उत्साह के साथ, उस के मन और अपनी शक्ति के अनुसार, सब प्रकार से पूरी की। सन्तति-शास्त्र भी, इच्छानुसार सन्तान प्राप्त करने में, सेठ गोभद्र की नीति की हामी भरता है। इसी प्रकार, प्रसव के समय तक जितनी भी सद्भावनाएं भद्रा के मन में उठीं, गोभद्र ने उन सब को पूरी की। होते होते एक

दिन प्रसूति का समय निकट आया। भद्रा ने बड़ी ही शुभ घड़ी में, एक अति ही सुन्दर, मनोरम, सुदृढ़, मनोहर और होनहार पुत्र-रत्न को प्रसव किया।

माता ने जो गर्भाधान के पहले शुभ स्वप्न देखा था, उस के अनुसार ही उन का 'शालिभद्र' नाम रक्खा गया। सेठ गोभद्र ने बालक की टहल और लालन-पालन के लिए समझदार और चरित्र-शीला पांच धा-माताओं को नियत कर दिया। उन्हीं धा-माताओं की देख-रेख में शालिभद्रजी बालक पले-पुषे और बड़े हुए। यों घड़ी, दिन, महीने और वर्षों के बीतने पर शालिभद्रजी सात वर्ष के हुए। तब उन्हें पाठशाला में बैठाया गया। शालिभद्रजी जन्म ही से होनहार जान पड़ते थे। थोड़े ही समय में वे बहत्तर कला के स्वामी बन गये। उस के बाद उन के विवाह की चर्चा चलने लगी। सेठ का व्यापार चारों ओर फैला हुआ था। उस के बड़े हुए व्यापार के नाते उसे दूर दूर के लोग भली प्रकार जानते थे। प्रायः यही कारण था, कि इधर उधर के ख्यात-नामा सभी पुरुष चाहते थे, कि उन की कन्यां का सम्बन्ध शालिभद्रजी के साथ हो जाय। उन्हों ने इस के लिए पूरा पूरा प्रयत्न भी किया। परन्तु सेठ गोभद्र इस बात को नापसन्द करते थे। वह तो अपने गांव ही की सर्व-गुण-सम्पन्न और रूप-सुन्दरी कन्याओं को, अपने रूप-यौवन और गुण-सम्पन्न पुत्र के लिए लेना चाहता था। और अन्त में उस ने किया भी वैसा ही। एक एक कर के, अपने नगर ही की बत्तीस कन्याओं के साथ शालिभद्रजी का विवाह सम्पन्न हुआ। अब शालिभद्रजी भांति भांति के सांसारिक भोगोपभोग भोगने लगे। उन्हें सूर्योदय और सूर्यास्त तक का भान न रहा। उन के सुख-साज की सारी सामग्री तो उन के माता-पिता जुटा ही दिया करते थे। फिर उन्हें पर्वाह ही किस बात की रही होती? शालिभद्रजी को यों सुखोपभोग करते हुए कुछ ही काल बीता था, कि एक दिन उन के पिता सेठ गोभद्र ने प्रभु के चरण-दर्शन की अभिलाषा प्रकट की। तदनुसार वे प्रभुदर्शन को गये। सेठ ने ज्योंहीं प्रभु के चरणों का दर्शन किया, उसे अपना विशाल सांसारिक वैभव, वैराग्य-सुख के आगे, अति ही तुच्छ जान पड़ा। उस ने उसी दम अपने उस सुख को वैराग्य में बदल देना चाहा। प्रभु की शरण में जा कर सेठ ने दीक्षा की प्रार्थना की। प्रभु ने उसे अधिकारी जान दीक्षा दी। दीक्षित हो कर गोभद्र तीव्र तपस्याओं के द्वारा अपने शरीर को खूब ही सुखाने लगे। उन के तप में शास्त्रों का विधान था; मानसिक कषायों के क्षय की भावना थी;

और थी मोक्ष-मार्ग में जाने की उन की कट्टर लगन। परन्तु उन की यह कठोर तपस्या अधिक समय तक न निभ सकी। बड़े ही कड़े और लम्बे अनशन व्रतों की आराधना से उन के शरीर का शीघ्र ही निधन हो गया। और उन की आत्मा स्वर्ग को सिधारी।

स्वर्गस्थ गोभद्र मुनि की आत्मा ने अवधिज्ञान के बल अपने पुत्र, शालिभद्रजी को देखा। पुत्र के पिछले जन्म का पुण्य बड़ा ही ज़बर्दस्त था। उन के पुण्य-प्रभाव पर गोभद्र मुनि की स्वर्गस्थ आत्मा लट्टू हो गयी। और वहीं से अपने संसारी पुत्र के प्रति वात्सल्य भाव वह दिखाने लगी। वह दिव्य असन-वसन, तथा अन्य सुख की सामग्री से अपने पुत्र को उसी प्रकार प्रसन्न और परिपूरित रखने लगी, जिस प्रकार कि कल्प-वृक्ष अपने आश्रितों की सारी साध केवल इच्छा-मात्र ही से पूरता रहता है। उधर वैधव्य के विषाद से व्यथिता भद्रा, जो भी मन मलीन तन--छीन बनी रहती थी, तथापि वह अपने प्राण-प्रिय पुत्र के सुखोपभोग में तनिक भी बाधक नहीं बनना चाहती थी। और यही कारण था, कि वह स्वयं, हर घड़ी गृहस्थी के सारे काम-काजों की देख--भाल करती रहती थी। एक ओर माता की जहां यह दशा थी, वहां दूसरी ओर, शालिभद्रजी अपने पिछले जन्म के मुनि--दान के प्रभाव से, संसार के केवल सुखों के भोगने ही में दिन--रात रत रहते थे।

एक दिन की बात है, जब कि सम्राट् श्रेणिक के पास व्यापारी लोग रत्नों के कम्बल लेकर आये। उन्हों ने श्रेणिक से भेंट की। उसे अपना माल भी बताया। परन्तु उन में से प्रत्येक रत्न--कम्बल की क़ीमत इतनी अधिक थी, कि जिसे सुन कर के ही श्रेणिक अवाक् हो रहा। और 'अभी तो कोई ज़रूरत नहीं है, कह कर ही उन व्यापारियों को राज--महलों से रवाना किये। फिर शालिभद्रजी की दासियों के साथ उन व्यापारियों ने बात चित की। और वे शालिभद्रजी के घर की ओर जा निकले। शालिभद्रजी तो अपने महलों में थे। सेठानी भद्रा को वे कम्बल दिखाये गये। उस ने यह विचार कर, कि "चलो गृहस्थी का घर है; पड़े रहेंगे;" सारे के सारे रत्न कम्बल ख़रीद लिये। व्यापारियों ने मुंह-मांगा मोल पाया।

इस के बाद कुछ ही दिन हुए होंगे, कि उन रत्न--कम्बलों की चर्चा सारे शहर में फैल गयी। सम्राट् श्रेणिक की पत्नी, सम्राज्ञी चेलना ने भी उन कम्बलों

की कहानी सुनी। उस ने उसी समय सम्राट् से एक रत्न कम्बल अपने लिए मंगा देने को कहा। श्रेणिक ने पहले तो आना-कानी की। पर पीछे से उन व्यापारियों को अपने यहां बुलाये। और एक रत्न-कम्बल उन से ख़रीद लेना चाहा। उन व्यापारियों के द्वारा, फिर यह बात सुन कर, कि " महाराज! वे रत्न कम्बल तो सब के सब, आप की बस्ती के भूषण, सेठ शालिभद्रजी की माता भद्रा सेठानी ने ख़रीद लिये हैं; सम्राट् के अचरज की सीमा न रही। तब उन व्यापारियों को तो उस ने प्रेम-पूर्वक विदा किया। और, थोड़ी ही देर के बाद, अपने एक उच्च राजकर्म-चारी को, जो व्यावसायिक बुद्धि में बड़ा ही कुशल था, उचित मूल्य दे कर, उस ने भद्रा के पास भेजा।

वह राज-कर्मचारी भद्रा के निकट आया। और मोल दे कर एक रत्न-कम्बल ख़रीद लेने की चर्चा उस ने वहां चलाई। इस पर भद्रा ज़रा अनमनी सी हो कर बोली-- " भाई! क़ीमत की तो बात ही कौन सी है! ऐसी-वैसी साधारण चीज़ों की क़ीमत तो जब अपने यहां किसी से भी नहीं ली जाती, तो फिर अपने सम्राट् से तो वह ली ही कैसे जाती? वे तो अपने स्वामी ही ठहरे! दिये दिन सब उन्हीं के हैं! पर करूँ क्या? आप कुछ देर से चेते। दो ही चार दिन के पहले, यदि कोई संदेशा आप की ओर से मिल गया होता, तो एक या दो कम्बल आप को योंहीं दे दिये जाते। पर बड़े ही खेद के साथ कहना पड़ता है, कि वे टुकड़ों टुकड़ों में हो गये थे। और पुत्र-वधुओंने उन टुकड़ों से पैर पूंछ कर, उन को फेंक दिए हैं। इस बात को सुन कर, वह भद्रा के भाग्य, वैभव, और उस की उदारता तथा स्वभाव की नम्रता को सराहने लगा और, वहां से चल कर वह सम्राट् श्रेणिक के पास आया। और, उस ने भद्रा के मुख से सुने हुए सारे कथन को ज्यों का त्यों सम्राट् को सुना दिया। सम्राट् को यह बात सुन कर, मन ही मन बड़ा भारी अचरज अभिमान और आनन्द हुआ। अचरज तो भद्रा के भाग्य, विशाल वैभव और उदारता को सुन कर हुआ। 'अपनी बस्ती में आज एक ऐसा भी वैभव, सुख, और सुयश-सम्पन्न कुटुम्ब मेरे आधीन है।' यह बात सोचकर, उसे मन ही मन अपने सम्राट् होने का अभिमान हुआ। और आनन्द इस बात का हुआ, कि जिस राज्य में ऐसे दानी, विशाल-वैभव के स्वामी, और गुणी प्रजा-जन हों, फिर उस राज्य को भूख ही किस बात की रहती है? वह तो कहने-मात्र ही का अपने धन-माल का स्वामी होता है। वास्तव में तो उस राज्य का नरनाथ

ही उस का असली स्वामी होता है। कुछ देर के लिए वह निरुत्तर हो रहा। परन्तु चेलना को अपने पति की ये हरकतें भली न जान पड़ीं। उस ने उसी समय सम्राट् को ताना मारते हुए दो दो बातें सुनायीं। वह बोली—"महाराज! देखा न? आप से तो एक रत्नकम्बल तक खरीदा न गया। परन्तु भद्रा ने तो उन सब के सब रत्नकम्बलों को मुंह-मांगा मोल दे कर उठा लिया। कर्मचारी के कहने से, तो मुझे यही अनुमान होता है, कि यदि आज भद्रा चाहे, तो आप के साम्राज्य को भी खरीद सकती है। तब और की तो बात ही क्या कहना है! महाराज! मुझे चमा कीजिये, मैं तो, भद्रा और आप के वैभव में आकाश--पाताल का अन्तर देखती हूँ।"

रानी चेलना के इस कथन को भी, बिना ज़रा भी त्योरी बदले, श्रेणिक ने सुख-पूर्वक हंसते हंसते सुन लिया। उसने तब शालिभद्रजी से मिलने की अपनी इच्छा प्रकट की। यह सोच कर, उस ने उसी समय, उसी कर्मचारी के हाथ, सेठ शालिभद्र को, बड़े ही आदर--सत्कार के साथ बुला भेजा। परन्तु बदले में उस की माता भद्रा वहां आयी। वह सम्राट् से जा कर मिली। उसने उसे मुजरा किया और बैठ गयी। तब वह हाथ जोड़ कर बोली—"सम्राट्! यह आप की महानता और अति ही उदारता है, कि आप अपने प्रजा-जनों की समय-असमय याद करते रहते हैं। आज मेरे पुत्र शालिभद्र को आप ने स्मरण किया, जिस के लिए मैं राजा और राज्य दोनों के प्रति अपना आभार प्रकट करती हूँ। राजन्! दुःख के साथ कहना पड़ता है, कि मेरा पुत्र कभी घर से बाहर निकलता ही नहीं है। इसलिए उस के बदले मैं ही खुद यहाँ आयी हूँ। हुक्म हो वह फ़र्माइये। मेरा घराना आप की उस सेवा को बजाने का पूरा पूरा प्रयत्न करेगा। साथ ही, मेरा घराना अपने भाग्य को सराहेगा, यदि आप ही मेरे घर को पधारने का अनुग्रह करें।" तदनुसार, राजा ने उस के घर को जाना स्वीकार कर लिया।

सम्राट् श्रेणिक ने शालिभद्र के घर स्वतः जाने में अपना कोई अपमान न समझा। बस, राजा के हां कहते ही, भद्रा अपने घर की ओर, राजा को मुज़रा कर के, रवाना हुई। घर आ कर उस ने तत्काल ही अपने भवन से राजमहलों तक के सारे रास्तों को सजवाने का पूरा पूरा प्रबन्ध--करवा दिया। उन रास्तों में सब से पहले रत्नों को बिछाया गया और ऊपर से बेश क़ीमती मखमल आदि

के पांवड़े डलवा दिये गये। जगह जगह रत्न–जटित चौकियां भी पूरी गयी थीं। श्रेणिक बात की बात में सजायी गयी उस अनुपम सजावट को देखता हुआ, और मन ही मन में शालिभद्र के अटूट वैभव की सराहना करता हुआ, उस के भवन में पहुँचा। भवन की भव्यता को देख कर के तो वह और भी अधिक चकित हुआ। जगह जगह उस में सोने के खम्भे लग रहे थे। और उन में नील–मणियों के तोरण तथा बन्दनवारें लटक रही थीं। स्थान स्थान पर बहु-मूल्य वस्त्रों की छतें बंधी हुई थीं। जिन में लगी हुई पानीदार मोतियों की चौड़ी चौड़ी झालरें मन को एक निराले ही रूप से मोह रही थीं। दर्वाज़े के आंगन में स्वस्तिक के चिह्न बने हुए थे, जो बहु--मूल्य मोतियों को जड़ कर बनाये गये थे। श्रेणिक ने, यों चारों ओर की सजावट को, अचरज–भरी आंखों से देखते हुए, शालिभद्र के सुन्दर सदन में प्रवेश किया। एक एक कर के आदर–पूर्वक वह चौथे मंज़िल पर लाया गया। और, वहां वह एक बड़ी ही सुन्दर तथा रत्न–जटित चौकी पर बिठाया गया। पीछे, भद्रा भागती हुई सातवें मंज़िल पर गयी, जहां उस का पुत्र शालिभद्र रहता था। वहां जा कर उस ने अपने पुत्र को, राजा के अपने घर पर आने का संदेशा दिया। परन्तु वह अपने अतुलित वैभव के आगे, राजा को समझता ही क्या था? माता के, उस से मिल लेने की बात कहने पर, उस ने उस बात को सुनी अनसुनी कर दी। और, बदले में उस ने माता से कह दिया, कि "मां तुम्हें संसार का भली प्रकार से अनुभव है। तुम जो चाहो, उस का उचित मूल्य चुका दो। इस में, मुझ से कहने–सुनने की ज़रूरत ही क्या है?" इस पर माता ने ज़रा ज़ोर देकर कहा "बेटा! मोल चुका कर, राजा भी कोई ख़रीदने की चीज़ होती है? फिर, अपन तो गृहस्थी हैं! अपने दर्वाज़े पर तो घर आये हुए शत्रु का भी सम्मान किया जाता है। तब, राजा तो राजा ही ठहरा! वह तो अपने राज्य का स्वामी है। लोग राज--द्वार पर चक्कर काटते काटते बूढ़े हो जाते हैं। पर राजा से उन की मुला-क़ात अकसर नहीं हो पाती। यह तुम्हारे पुण्यों ही का प्रभाव है, कि राजा स्वयं चल कर तुम्हारे आंगन में आया है। और, वह भी तुम से मुलाक़ात लेने की इच्छा से। अतः ज़रा नीचे उतर कर उस से भेंट अवश्य कर लो।"

शालिभद्र को, अपनी माता के द्वारा राजा को अपना तथा अपने राज्य का स्वामी बताये जाने की बात, बड़ी ही अखरी। उन्हों ने झुंझला कर मन ही मन

कहा-"ओह ! जब मेरा भी स्वामी यहाँ पर कोई है, तब मेरे इतना वैभव-सम्पन्न होने से प्रयोजन ही कौनसा सिद्ध हुआ ? धिक्कार है, मेरे इस विशाल वैभव पर ! यहां कोई भी कितना ही बड़ा वैभव-शाली क्यों न हो, उस के सिर पर भी कोई न कोई तो अवश्य होता ही है। तब तो यही कहना होगा, कि यहां की सम्पदा केवल विपदा-मात्र ही है। सम्पदा को पाकर भी यदि कोई आश्रित ही बना रहा, तो फिर वह सम्पदा ही क्या है ? अस्तु। मुझे किसी ऐसी सम्पदा की अब शीघ्र ही खोज कर लेनी चाहिए, जिस में न तो कोई किसी का आश्रित ही हो; और न कोई किसी का स्वामी ही। और वह सम्पदा केवल वैराग्य की शरण में जाने ही से इस जगत् में मिल सकती है। इस जगत् में हम जिधर भी आंख उठा कर देखते हैं, वहां एक ज़बर्दस्त दूसरे किसी कमज़ोर का स्वामी बने बैठा है। कहीं जन्म पर मृत्यु का ज़ोरज़ोरा चलता है; तो उधर युवावस्था के सिर पर बुढ़ापे के भूत ही का भय सवार हो रहा है। कहीं बेचारे सन्तोष को धन की इच्छा दबोचे बैठी है, तो कहीं मनुष्यों की मानसिक शान्ति को स्त्रियों के हाव-भाव और कटाक्षों ने रौंद रक्खा है। कहीं जलनेवाली या कुढ़नेवाली चीजों से या मनुष्यों से गुणों का खात्मा हो रहा है, तो दूसरी ओर सांपों तथा अन्य बनैलू जन्तुओं ने बेचारे वन को बारह बाट बना रक्खा है। दुष्टों के मारे राजाओं को भी रात में नींद सुख से नहीं आती है। इधर चंचलता धनैश्वर्य को सफाचट करने के लिए अपनी ज़बान को लपलपा रही है। तब ऐसी कौनसी वस्तु यहां पर है, जिस पर किसी दूसरे के दांत नहीं है ? और, ये सब की सब बातें मनुष्यों में पायी जाती हैं। फिर, जब एक ही स्वामी का स्वामित्व नहीं सहा जाता, तब इतने स्वामियों का मन रखना, तो महान् कठिन समस्या है। और इन का मन बनाये रख कर भी, अपने आपे को बनाये रखना, तो और भी कठिन-तर है। अतः मैं तो भगवान् महावीर की शरण में जा कर, दीक्षा-धारण करते हुए, इस स्वामित्व के पंजे से छूटने का उपाय करूंगा।"

जब शालिभद्रजी को यों विचार करते करते बहुत देर हो गयी, और उन की ओर से कोई उत्तर भी न मिला, तब तो माता ने आग्रह-पूर्वक उन्हें फिर एक बार समझाने का प्रयत्न किया। इस बार वह बोली—"बेटा ! बहुत देर हो गयी। राजा तुम्हारी राह ही देख रहे होंगे। उस से चल कर मिलने में तुम्हारा

मान ही कौनसा मैला हुए जा रहा है ? आखिरकार, कहलाते तो अपन उसी की प्रजा हैं ! तब इतना पशोपेश करने की आवश्यकता ही क्या है ! " इस बार, माता की आज्ञा को मान कर, अपना दिल न होते हुए भी, राजा से मिल लेने की इच्छा से, वह अपने आसन से उठ खड़ा हुआ। तब सातवें माले से वे उतरे। और, चौथे माले में, जहां राजा बैठा हुआ उन की प्रतीक्षा ही कर रहा था, वहीं आया। उन्हों ने श्रद्धा और विनय-पूर्वक राजा को मुजरा किया। राजा ने भी उन्हें आगे बढ़ कर अपनी गोदी में उठा लिया। उस ने उन्हें छाती से लगाया। उस का सिर चूमा। और, पुत्र की भांति उसे अपनी गोदी में बैठा कर, राजा उस से वार्तालाप करने लगा। वार्तालाप करने में जो भी राजा का हृदय उन के साथ था; तथापि वे प्रायःमौन साध के बैठे थे। माता ने अपने पुत्र को अनमना देखा। तब उस ने राजा से प्रार्थना की, कि " महाराज ! अब कुमार भद्र को आप जाने दीजिये ! " राजा ने वैसा किया। कुमार ने ज्योंही अपने कमरे में प्रवेश किया, फिर उस के मन में वही पहले के भाव और भी ज़ोरों से बढ़ गये।

वे मन ही मन कहने लगे-" ओह ! मैं ने सोचा था, कि मैं परम स्वतन्त्र हूँ। मेरे सिर पर दूसरा कोई भी नहीं है। पर आज मुझे जान पड़ा, कि मैं तो पराधीन हूँ। मेरे सिर पर भी किसी का अंकुश है। मेरी इस सम्पदा को सौ सौ बार धिक्कार है, जो मेरी इस पराधीनता से मेरा पिंड न छुड़ा सकी। अब मुझे जान पड़ता है, कि मेरी पूर्व करणी ही की यह सारी करतूत है ! परन्तु पछताने की कोई बात नहीं। अब भी काफ़ी समय है। इन नाशमान् विषयों के विष से विमुख हो कर, संसार से एकदम अलग हो जाना चाहिए। और, उस अवस्था में किसी ऐसे तप की आराधना करनी चाहिए, जिस से परम स्वतन्त्र बना जा सके। अभी तक मैं गहरी नींद में सोया हुआ था। यह जगत्, सच पूछा जाय, और विचार कर के देखा जाय, तो जान पड़ेगा, कि भोग-भूमि नहीं है। यह तो कर्म-भूमि है। और, ख़ास कर के मनुष्य-योनि तो कर्मों का हिसाब-किताब पूरा करने ही के लिए मिला करती है। परन्तु यह भी हमें सदा स्मरण रखना चाहिए, कि मिलती है यह योनि बड़ी ही कठिनाई से और जन्म जन्मान्तरों के सुकृतों के उदय से। ऐसे दुर्लभ मानव-जन्म को विष रूपी विषयों में वृथा ही गंवा देना, तपश्चरण करके कर्मों के कषायों का क्षय नहीं करना और निज

सत्य-स्वरूप की आराधना कर के उसे न पहचान लेना, यह भयानक भूल नहीं, तो और क्या है। जिस प्रकार चूल्हे के ऊपर मरकत--मणि का बासन चढ़ाना, और उस में चन्दन का ईंधन जला कर, खल को पकाना, महज़ मूर्खता—भरा काम है; उस से भी अधिक मुर्खता का काम, मानव--देह को पाकर विषय-वासना ही में दिन रात फंसे-रहना है। ऐसा कौन मुर्ख होगा, जो कोदों के खेत के चारों ओर, कपूर की झाड़ियों को काट कर, बाड़ लगाना अच्छा समझेगा? क्या, उसी भांति, इस नाशमान शरीर और संसार के झूठे जंजालों में उम्र को गंवाना नादानी नहीं है? है, और अवश्य है।

यदि मनुष्य अटूट धन राशि का स्वामी भी बन जाय, तो उस से क्या? यदि वह उदय से अस्त तक के साम्राज्य का एकछत्र स्वामी भी बना दिया जाय, तो उस से भी क्या? अगर वह अपने सम्पूर्ण संसारी शत्रुओं को भी अपने आधीन कर ले, तो वह भी किस काम का? अगर वह-अपनी सम्पत्ति से अपने मित्रों, कुटुम्बियों और सम्बन्धियों का मनोरंजन तथा पालन—पोषण भी कर ले, तो उस से भी क्या? इन सब के परे, यदि वह कई पल्योपम तक भी यहां जीवित बना रहे, तो वह भी किस लिए? अगर भव—भय--हारिणी आत्म—स्वरूप की दिव्य ज्योति, अपनी तपश्चर्या के बल, अपने हृदय में जाग न उठी, तो हमारा यहां का यह बल और पौरूष, यह विज्ञान और वैभव, यह विद्या और बुद्धि, यह सौन्दर्य और शक्ति, सब मिल कर तीन कौड़ी की कीमत के भी नहीं हैं! हमारा वैभव विषवत् है! हमारे भूषण भाररूप हैं। हमारा विवेक बौखलापन—मात्र है। और हमारा मानव—जीवन कीड़ों—मकोड़ों से भी निकम्मा और बदतर है। क्यों कि, हमारी ये बातें तो हमें, थोड़ी या बहुत, प्रायः सभी योनियों में, किसी न किसी रूप में मिल सकती हैं। अतः अब ऐसी करणी के करने में शीघ्र ही लग पड़ना चाहिए, कि जिस से मेरे सिर पर कोई स्वामी न रहे।"

भाग्योदय से उन्हीं दिनों भगवान् महावीर भी वहां पधारे हुए थे। शालि-भद्रजी प्रभु की सेवा में गये। प्रभु ने उन्हें उपदेश दिया। उपदेश श्रवण कर, दीक्षा के लिए उत्सुक हो, कर माता भद्रा के पास आये। और आज्ञा मांगी। माता भद्रा ने अपने इकलौते पुत्र शालिभद्रजी के इन विचारों को जाना। तब तो वह बड़ी घबरायी। और, उस ने उन्हें बहुत अधिक समझाया। परन्तु वह उन के मन

को वापिस ससार की ओर ले जाने में बिलकुल असमर्थ ही रही। क्योंकि, उन के मन में तो वैराग्य की भावनाएं अपना शासन पहले ही से पुख्ता जमाए बैठी थीं। उधर शालिभद्र ने निश्चय किया, कि अपनी बत्तीस पत्नियों में से प्रत्येक को समझाने बुझाने के लिए, एक एक दिन बहुत अधिक होगा। सब को एक साथ समझाना तो अच्छा भी न होगा; और जायगा भी बड़ा ही कठिन। क्योंकि, सब के विचार तो एक सरीखे कभी हो भी न सकेंगे। इस लिए प्रत्येक के मन की बात को देख समझ कर, उस के अनुसार ही उसे समझाना होगा। यों समय तो सचमुच में कुछ अधिक लग जायगा; पर काम होगा, निर्विघ्न, पक्का और पूरा। तब तैतीसवें दिन घर से निकल पड़ेंगे। और, भगवान् की शरण में जा कर, उसी दिन दीक्षा-व्रत को धारण कर लेंगे। अन्त में, अपने इस निश्चय के अनुसार, शालिभद्रजी अपने ऊपर के विचारों को कार्य का रूप देने के लिए, उसी दिन से जुट पड़े।

अब, उन की बहिन सुभद्रा ने अपने भाई के मार्ग को और भी शीघ्रता से, किस प्रकार साफ़ कर दिया, ज़रा उस पर भी विचार करना चाहिए। शालिभद्रजी की यह बहिन उसी बस्ती में ब्याही गयी थी। उस के पतिदेव का नाम धनाऊ सेठ था। जब शालिभद्रजी ने ऊपर का निश्चय अपने मन में किया, उन्हीं दिनों की बात है, कि एक दिन सुभद्रा देवी अपने पति को स्नान करवा रही थी। स्नान करवाते करवाते उस के मन में अपने भाई के दीक्षा-धारण के विचार उठ आये। जिस के कारण से उस का चेहरा बड़ा ही उदास हो आया। इतने ही में उसके पति की निगाह उस के चेहरे की ओर गयी। उस ने तब तो अपनी प्राण-प्रिय पत्नी को अचानक चिन्तित होने का कारण पूछा। सुभद्रा ने बिलखते हुए मुख से कहा, "स्वामिन्! और तो कुछ नहीं। मेरे मन में मेरे भाई के दीक्षा-व्रत को धारण करने की सुध इस समय हो आयी थी। मेरे पीहर में वही एक मेरा इकलौता भाई है। अभी उस के पुत्र भी नहीं है। उस के दीक्षा-धारण कर लेने से पीहर का होना न होना मेरे लिए एक सा हो जावेगा। जो भी माता है, तो भी क्या? वह तो वृद्धा है। उस के मुंह की भाफ़ कब और कैसे निकल जावेगी, कौन जानता है? जिस दिन से श्रेणिक और मेरे भाई की भेंट हुई है, बस, उसी दिन और उसी क्षण से, वैराग्य ने उस के हृदय में घर कर लिया है। और,

इसीलिए वह एक एक कर के अब अपनी पत्नियों को भी समझा बुझा रहा है। अब उस की दीक्षा के दिन प्रति पल निकट आ रहे हैं। यही सोच विचार कर मेरा मन उदास हो गया था। और, उसी मेरे उदास मन की परछांई मेरे चेहरे पर पड़ी। जिस के कारण से मैं भी आप को उदास जान पड़ी।

सुभद्रा की यह बात सुनकर, धनाऊ ने ज़रा ताना मारते हुए कहा—"देवी! तेरा भाई, कौन कहता है, कि वह वीर है? मैं तो उसे महा कायर समझता हूँ। फिर जब त्याग ही मन में समा गया, तब बत्तीस या बारह चौदह करने की आवश्यकता क्या? जब किसी को मैं ने विष ही समझ लिया, और मुझे यह ज्ञात भी हो गया, कि सचमुच में यह विष है, तो उसे छोड़ने में मोह कैसा? उसके छोडने में देरी करना क्या अज्ञान की निशानी नहीं है? अरे जब साधुवृत्ति ही को अंगीकार करना है, संसार से नेहनाता ही जब तोड़ना है, और इसका पक्का निश्चय भी मन में जब कर लिया है, तब आज और कल करके स्त्रियों के मोह-पाश में फंसे रहना, अपनी कायरता है, या वीरता? उँ हूँ! सुभद्रा! तुम चाहे कुछ भी कहती रहो। मेरी समझ में तो, शालिभद्र का मन अभी रंगा नहीं है। अभी तक वह कमज़ोर है। और फिर, बातें तो कोई भी कर सकता है। बातों के बनाने में तो किसी का कुछ लगता ही क्या है? इस पर सुभद्रा ने कुछ झिझक कर कहा। उसका चेहरा कुछ तमतमा गया। वह बोली—

"प्राण वल्लभ! यदि यही बात है, तो फिर आप क्यों इस मोह के कीचड़ में फँसे हुए हैं? क्या ही अच्छा हो, कि मनुष्य पराये के लिए किसी बात को अपनी वाणी के द्वारा प्रकट करने के पहले, यदि उसके परिणाम को अपने ही ऊपर घटा कर देख लिया करे, तो मैं निश्चय के साथ कहती हूँ, कि संसार से राग, द्वेष, और टंटा—फ़साद की जड़ ही कट जाय। और, जगत् मात्र के जीव तब अपने अपने हवाल में मस्त रहें। स्वामिन्! कथनी और करणी का यह अंतर तो जगत् के सभी जीवों में देखा-सुना जाता है। फिर, मेरे भाई ही के लिए आप इस बात को लागू क्यों करते हैं?' ' बस, सुभद्रा के इन शब्दों के सुनने-मात्र ही की देर थी। धनाऊ सेठ ने उसी क्षण, अपनी सारी सम्पत्ति को, अपने परिवार को, अपनी प्राण-प्यारी पत्नी सुभद्रा को और अन्य सातों पत्नियों को, तिनके की भांति त्याग दिया। उस ने उन की ओर आंख उठा कर के भी नहीं देखा। जैसे भी रूप-रंग में वे वहां खड़े थे, वैसे ही वे वहां से दीक्षा के लिए चल पड़े। तब तो सुभद्रा घबरायी।

उस ने तो की थी मज़ाक़ और बात हो गयी सच्ची। बेचारी सुभद्रा लेने तो चली थी पूत को; परन्तु भर्तार को भी बदले में खो बैठी। उस की सातों सौतों ने भी सुभद्रा के उस कथन को सुना। असमय में ही अपने पति को वैरागी होता देख, और वह भी एक न कुछ सी बात पर, उन के भी हाथ-पांव फूल-गये। वे सुभद्रा को बड़ी ही बुरी तरह से कोसने लगीं। सुभद्रा ने दौड़ कर, स्वामी के पैरों को पकड़ लिया। वह उस समय आंखों से आंसुओं के पनाले बहा रही थीं। वह घुटने टेक कर, बड़े ही करुण स्वर से, अपने स्वामी से प्रार्थना करती हुई बोली—" नाथ! सुभद्रा ने स्वामी का मन दुखाया। उसे क्षमा कीजिये। यह दासी तो केवल मज़ाक़ कर रही थी। स्वामीने उसे सोलह आना सत्य ही मान लिया। इसे, मैं, केवल अपना दुर्भाग्य समझती हूँ। और कुछ नहीं। आज से नहीं, सदा से संसार की यही रीति चली आयी है, कि छोटे अपने छुटपन से अपराधों की मात्रा को बढ़ाते ही रहे हैं, और बड़े अपने बड़प्पन से उन्हें क्षमा करते ही आये हैं। उन के इस तरह करने में ही उन के बड़प्पन की शोभा और विशेषता है। अतः इस बार तो इस दासी के बोलों पर आप कान न दीजिये। अगर दीक्षा ही आप को लेनी है, तो आज का दिन तो आप अवश्य चुका दीजिये। फिर, कभी भी आप उसे ग्रहण कर सकते हैं। पर आज तो आप मुझे उस का निमित्त न बनाइये। नहीं तो मैं इन सौतों के सौतिया डाह से कैसे अपना पिंड छुड़ाऊँगी!" इतना कह कर सुभद्रा धाड़ मार कर रोने लगी। परन्तु अपने यहाँ की थोड़ी सी सम्पदा को दे कर, बदले में पारलौकिक-धन को प्राप्त कर लेने की पूरी पूरी सट्टाखोरी की मस्ती में मस्त, धनाऊ सेठ, सुभद्रा के इस वाक्-छल में अब फंसने ही वाले कब के थे? सुभद्रा का इतना रोना-धोना, और इतनी आजीज़ी और दस्तन्दाज़ी, धनाऊ सेठ के लिए सब की सब एक सिरे से बेकार हो गयीं! क्यों कि, घर से बाहर पैर रखते ही, धनाऊ अपनी पत्नियों को बहिनें कह कर पुकार चुके थे। तब ठीक ही तो है, स्त्रियों की फ़र्याद को वे सुनने ही क्यों लगते? हां उन की उन्हीं में से कोई बहिन बन कर धनाऊ को अपने भाई के रूप में पुकारती, तो वे उस की सुनते और अवश्य सुनते। धनाऊ! आप अवश्यमेव धीर थे। तब आप को अपनी अर्द्धांगिनियों की कराहें तो क्या, प्रलयकाल की आंधी तक अपने इच्छित मार्ग से विचलित नहीं कर सकती थी।

धनाऊ सेठ अपने घर से निकले। औंधे-सीधे पैर रखते हुए, वे अपने साले शालिभद्रजी के घर आये। नीचे ही से अपने साले को उन्हों ने पुकारा। अपने बहिनोई की आवाज़ शालिभद्रजी के कानों में गयी। उन्हों ने उसी समय अपना मुख खिड़की से बाहर निकाला। दोनों की नज़रों से नजरें मिलीं। बस, धनाऊ ने दो ही चार बोल के बाण उन की ओर ऐसे फेंके, कि वे उन के पास आते ही बने। धनाऊ ने कहा—" अजी! चलो न! देरी का अब क्या काम है? अरे, जब मन ही में दीक्षा की ठान ली, तो फिर विलम्ब ही काहे का है? मोह तो एक व्यसन-मात्र है। इस के छोड़ने में बत्तीस दिनों का काम ही क्या है? इस से तो जितना भी जल्दी पल्ला छुड़ा लिया जाय, उसी में वीरता और मनुष्यता है। और तो सब कदराइयाँ हैं। " अपने बहिनोई के मर्मभेदी बोलों से, शालिभद्रजी का रहा-सहा मोह, अब बात की बात में जाता रहा। वे तत्काल ही अपने सम्पूर्ण सांसारिक सर्वस्व को त्याग कर, अपने महलों से नीचे उतर आये। और, भगवान् की शरण में पहुँचने के लिए अपने बहिनोई धनाऊ सेठ के साथ हो लिये। दोनों चलते चलते भगवान् की शरण में गये। और पश्चात् दीक्षा धारण कर ली। इस के बाद वीर प्रभु भी वहां से विहार कर के अन्यत्र पधार गये।

धनाऊ मुनि की मुक्ति, शालिभद्र मुनि का स्वर्गारोहण

भगवान् विहार करते हुए एक दिन फिर राजगृह को पधारे। उस समय धनाऊ मुनि और शालिभद्र मुनि, दोनों भगवान् के साथ ही थे। एक दिन इन दोनों मुनियों का मास क्षमण का पारणा आया। तब इन्हों ने प्रभु से पूछा, कि–" आज किस के घर से आहार-पानी बहराया जावेगा ? " इस पर प्रभु ने शालिभद्र मुनि की ओर इशारा करते हुए कहा, कि " आज तुम्हारी माता के हाथ से आहार-पानी तुम्हें मिलेगा। " वीर प्रभु की इस भावी वाणी के अनुसार मुनियों ने मनसूबा किया, जब भगवान् के कथनानुसार, एक निश्चित घर से ही आज आहार-पानी मिलनेवाला है, तब दूसरी जगह भटकने की फिर गरज़ ही क्या है ? ऐसा सोच-विचार कर वे वहां से चले। और पहले के संसारी शालिभद्र सेठ के घर पर वे दोनों मुनि आये। उस के घर में वे दोनों मुनि प्रवेश करना ही चाहते थे, कि इतने ही में एक पहरेदार ने वहां आकर, उन्हें भीतर जाने से रोक दिया। वह उन से कहने लगा–" भगवन् ! आज शालिभद्रजी की माता और उन का सारा परिवार भगवान् महावीर, शालिभद्र मुनि और धनाऊ मुनि, जो यहां पधारे हुए हैं, उन के दर्शनों के लिए जा रहा है। अतः यहां तो अभी कोई भी आप को आहार-पानी न बहरा सकेगा। कृपा कर के आप वापस लौट जाइये। " द्वारपाल के इन शब्दों को सुन कर, उन दोनों मुनियों ने अपना कोई भी परिचय वहां न देते हुए, वे वहां से वापिस लौट पड़े। आते आते, मार्ग में एक ग्वालिन उन्हें मिली। यह ग्वालिन उसी बस्ती में दूध-दही बेचने के लिए जा रही थी। और पूर्व भव की शालिभद्र की माता थी। उसने पूर्व भव के अपने पुत्र शालिभद्र मुनि को देखा। देखते ही उन के प्रति उसका प्रेम उमड़ आया। उसने अपने पूर्व जन्म के वात्सल्य–प्रेम के कारण उन्हें अपने पास का कुछ दूध,-दही बहरा देना चाहा। इसी सद्भावना और सत्प्रेम से उसने दोनों मुनियों को अपने निकट बुला कर

पूछा, "महाराज ! कुछ दूध-दही ले लें, तो मुझ गरीबिनी पर बड़ी दया होगी। मुनियों ने उसकी श्रद्धा और भक्ति देख कर, तब कुछ दूध-दही पात्रों में ले लिया। अब वे दोनों मुनि वहां से चल कर, भगवान् के निकट आये।

भगवान् के पास जाते ही, शालिभद्र मुनि उन से बोले, "प्रभो ! आप की आज्ञा के अनुसार, आज हम सांसारिक शालिभद्र के माता के घर पर ही आहार पानी लेने के लिए गये थे। वहां से आहार-पानी मिलना तो दूर रहा। परन्तु मकान तक में प्रवेश हम न कर सके। हमारे, भीतर की ओर पैर बढ़ाते ही, द्वारपाल ने हमें रोक दिया। और उसने कहा, कि 'आज तो यहां के सारे लोग भगवान् आदि के दर्शनों की तैयारी में लगे हुए हैं। आप वापिस लौट जाओ।' अन्त में एक ग्वालिन से यह दूध दही हमें मिल पाया है।" तब भगवान् ने कहा- " मुनियो ! इतने संशयशील न बनो। अधीर मत होओ। जिस ग्वालिन से यह दूध-दही तुम्हें मिल पाया है, शालिभद्र मुनि ! वह तुम्हारी पूर्व-जन्म की माता ही तो थी। इतना कहने के उपरांत, प्रभु ने उन की, तथा उनके पूर्व-भव की माता की सारी जीवनी शुरू से आखिर तक कह सुनाई। तब तो सर्वज्ञ प्रभु के श्री-मुख से इस प्रकार की बातें सुन कर के भगवान् की सर्वज्ञता को उन्हों ने बार बार अभिनंदन किया। अन्त में, मास क्षमण का पारना करके वे दोनों मुनि, प्रभु की आज्ञा से समीप के एक विपुलगिरि पर चले गये। और वहां जा कर उन्होंने संथारा ले लिया।

इधर से तो उन मुनियों का समीप के पहाड़ पर संथारा लेने के लिए जाना हुआ। और, उधर से उन दोनों मुनियों के सांसारिक परिवार के लोगों का वहां आना हुआ। उन्हों ने वहां आ कर प्रभु को बड़ी ही श्रद्धा और भक्ति से नमन किया। तत्पश्चात्, उन्हों ने उन दोनों मुनियों के दर्शनों की इच्छा प्रकट करते हुए, उन लोगों ने उन का संदेशा प्रभु से पूछा। "आज उन के मास क्षमण का पारना था। वे आहार-पानी लेने के लिए बस्ती में आज आप ही लोगों के घर पर आये थे। परन्तु उन का प्रवेश भवन के द्वार में भी नहीं हो पाया था, कि इतने ही में द्वारपाल ने आ, उन्हें वहीं का वहीं रोक दिया। और, यह कह कर, कि इस परिवार के लोग आज प्रभु तथा मुनियों के दर्शनों की तैयारी कर रहे हैं, उन्हें उलटे पैरों वहां से लौटा दिया। अन्त में शालिभद्र मुनि के

पूर्व-भव की माता, जो आज कल एक ग्वालिन है, उन्हें रास्ते में मिली। उसी ने उन दोनों मुनियों को दूध-दही बहराया। उसी से अपना पारना कर, अभी अभी थोड़े समय के पहले, वे दोनों के दोनों, इस निकट के पर्वत पर संथारा लेने के लिए चले गये हैं।" प्रभु ने यों उन के पूछने पर उन्हें कहा।

इस कथन को सुनकर दोनों मुनियों का सांसारिक सारा परिवार एकदम सुस्त हो गया। उन लोगों ने अपने भाग्य को बार बार कोसा। द्वारपाल की भी खूब ही अवहेलना की गयी। अन्त में, वे लोग उसी पहाड़ पर गये, जहां उन मुनियों ने संथारा ले रक्खा था। उन्होंने श्रद्धा और भक्ति के साथ उन्हें वन्दना की। परन्तु मुनि तो ध्यान-मग्न थे। वे कुछ भी न बोले। तब सेठानी भद्रा ने दोनों मुनियों की ओर देख कर कहा, मुनि राज एक क्षण भर ही के लिए हमारी ओर देख कर, हमें कृतकृत्य कर दीजिये। यह सारा परिवार आप के श्रीमुख से केवल दो एक वचन मात्र सुनने के लिए लालायित हो रहा है। भगवन्! आप की आत्मा के कल्याण के साथ ही साथ हम संसारी जीवों के उद्धार का मार्ग भी आप हमें बताते जाइये।" भद्रा के इन ममता सने वचनों ने मुनियों के मनको तनिक भी न छुआ। वे तो न हिले ही और न डुले ही। ज्यों के त्यों ध्यान-मग्न हो रहे। अतः भद्रा तथा अन्य पारिवारिक जन मुनियों के दर्शन कर, अपने घर को लौटे उधर दोनों मुनियों में से धनाऊ मुनि कर्मों के एकान्त क्षय होने से वे मुक्ति में जा विराजे। और शालिभद्रजी अन्त समय में सर्वार्थ सिद्धि को प्राप्त हुए। वहां की देव-स्थिति को पूरी कर मानव-शरीर को धारन करेंगे। तप संयम का पालन कर मुक्ति में पधारेंगे।

राजा श्रेणिक की तेरह रानियों को वैराग्य.

एक बार वीर भगवान् विचरण करते हुए राजगृह नगर में पधारे। उन दिनों वहां श्रेणिक राजा का शासन था। श्रेणिक की कई रानियों ने प्रभु के आगमन का शुभ सन्देश पाया। उन के दर्शन के लिए समवशरण में जा पहुंची। प्रभु के ओजपूर्ण शब्दों ने, उन में से तेरह रानियों के हृदयों में प्रवेश कर, उन के राज-मद को चूरचूर कर दिया। पूर्व पुण्यों के उदय से उन्हें अपने सत्स्वरूप के दर्शन की प्रबल लालसा हो आयी। संसार उन्हें शूली के समान जान पड़ने लगा। दीक्षा-धारण करने की प्रवृत्ति उन की हुई। तदनन्तर अपने स्वामी, राजा श्रेणिक की आज्ञा को पा कर उन्हों ने भी दीक्षा-व्रत को धारण किया। उन के दीक्षित होने पर प्रभु की आज्ञा से, वे सब की सब, महा सती चन्दनबाला के नेतृत्व में रक्खी गयी।

प्रकरण पांचवां

कौणिक और चेड़ा राजा का युद्ध

प्रभु ने विचरते हुए किसी दिन चम्पा नगरी की ओर पदार्पण किया। उन दिनों कौणिक का वहां शासन था। कौणिक की विमाता काली नामक महारानी ने भी प्रभु के वहां पधारने का सन्देश पाया। उन दिनों, उस का पुत्र काली-कुमार संग्राम में गया हुआ था। बहुत दिनों से, उस की ओर से कोई भी कुशल समाचार को न पा कर, वह बड़ी ही व्याकुल हो उठी। तब उस ने प्रभु की शरण में जा कर, अपने पुत्र की कुशल क्षेम जानना चाही। इस हेतु वह भगवान् के पास पहुँची। प्रभु से, उस के सम्बन्ध में पूछने पर, पता लगा, कि उस का तो, शत्रु की ओर से आये हुए एक ही बाण के द्वारा निधन हो गया है। यह सुन कर रानी मूर्च्छित हो गई। कुछ ही समय के बाद सचेत हो प्रभु को नमन कर बोली, "प्रभो! संसार असार है। अतः मैं राजा कौणिक की सम्मति प्राप्त कर दीक्षा धारण करूंगी।" वैसा ही किया। इसी तरह अन्य नौ रानियों ने भी अपने अपने पुत्र के मृत्यु के समाचार पा वे भी दीक्षित हुईं।

किसी ने कहा है, कि 'लोभ ही गला कटवाता है,' सो बिलकुल ठीक है। यहां भी लोभ ही के कारण, काली-कुमार ने अपने प्राणों से हाथ धोये। लोभ पिशाचादि की अपेक्षा भी भारी शत्रु है। क्योंकि:—

न पिशाचा न डाकिन्यो न भुजंगा न वृश्चिकाः।
सम्भ्रान्तयन्ति मनुजं यथा लोभो धियं रिपुः॥

अर्थात्-पिशाच, डाकिनी, सांप और बिच्छू, इन के द्वारा मनुष्य उतना भ्रान्त नहीं होता, जितना कि वह लोभ के द्वारा होता है। सारांश यह कि सर्प, पिशाचादि के द्वारा तो केवल इसी जन्म में कुछ समय के लिए ही मनुष्य पीड़ित हो सकता है; परन्तु लोभ जब बुद्धि को भ्रम में डाल देता है, तो अनेक जन्म-जन्मान्तरों में पुरुष को त्रिविध तापों से छुटकारा नहीं मिल पाता। इसी से 'लोभ पिशाचादि की अपेक्षा भी भारी शत्रु है,' जो कहा गया है, सो बिलकुल युक्तियुक्त और न्याय-संगत है।

पाठको! लोभ ही के कारण, अपने भाई कौणिक के कहने में आकर काली-कुमार युद्ध में लड़ने के लिए गया था। राजा श्रेणिक जब राजगृह में राज करता था, उस समय उसके अधिक समय तक राज करते रहने के कारण, उस के पुत्र कौणिक को, उसे क़ैद में डाल कर, राज करने की बात सूझी। वह प्रायः यही चाहा करता था, कि कब उसके पिता मरें और कब वह राजा बने। इस कौणिक के दश भाई और भी थे। कौणिक ने अपने निर्धारित पाप-पूर्ण मार्ग का पूर्ण साहस के साथ अपने भाइयों के सामने वर्णन किया। और साथ में उन्हें यह लोभ भी दिखाया, कि जब उसके पिता का राज्य उसके अधिकार में हो जावेगा, वह ईमानदारी से उसे समान के ग्यारह भागों में बाँट देगा। और छोटे बड़े का कोई भी खयाल न करते हुए, ग्यारहों भाइयों में ग्यारहों भाग समान रूप से बाँट दिये जाँयँगे। अन्त में कौणिक ने किया भी वैसा ही। पिता को क़ैद में डाल देने पर, सारे राज्य का स्वामी बन, कौणिक अपनी माता के चरण छूने के लिए, उस के पास गया। परन्तु पुत्र की नीच हरकतों से माता का मन खूब ही दुःखित हुआ। उस ने उसे खूब ही आड़े हाथों लिया। वह बोली। "बेटा! क्या, इसी का नाम पितृ भक्ति है? तुझे पाल-पोष के, तेरे पिताजी ने तुझे इतना बड़ा किया, और सब प्रकार से योग्य बनाया, ऐसे दयालु पिता के महान् उपकारों का बदला, क्या इसी प्रकार चुकाया जाता है? बेटा! याद कर, तू अपनी शैशवावस्था के उन दिनों को, जब मैं ने तो जन्मते ही तुझे पड़ौस के एक घूरे पर फिंकवा दिया था; गर्भ-ज्ञात भावनाओं के द्वारा तेरी इन भावी बदज़ात हरकतों को जान कर ही, मैं ने तुझे कूड़े कचेरे से भी बदतर समझा था। परन्तु उस समय तेरे ये पिताजी ही थे, जिन की बदौलत तू बच पाया!

ये वे तेरे पिता जी ही थे, जिन ने कूड़े कचरे के उस ढेर पर से उठवा कर तुझे मंगवाया; अपने मुंह का नेवाला दे कर तुझे आज तक पाला-पोषा और बड़ा किया; पढ़ाया, लिखाया, हुशियार किया और इस के योग्य बनाया ! नहीं तो बेटा, इतने वर्ष ? अरे तू कुछ घड़ियां तक निकालने नहीं पाता ! तेरा जीवन कभी का समाप्त हो गया होता ! बेटा ! अपना कल्याण चाहो, अपने जीवन को सफल बनाना चाहो, तो जाओ, इसी समय जाओ ! अपने बाप को क़ैद से छुड़ा कर, उन के चरणों की धूल को अपने सिर पर चढ़ाओ ! बस, तुम्हारे इस पाप को दूर करने का यह पश्चात्ताप ही सच्चा प्रायश्चित्त है। अन्य कोई साधन नहीं ।

माता के ऐसे मार्मिक शब्दों को सुन कर कौणिक का कलेजा कांप उठा । वह उसी काल अपने पिता को बन्धन-मुक्त करने के लिए लपका । बन्धनों को अपने हाथ से काट फेंकने के लिए एक तेज़ फ़रसा भी वह अपने साथ ले गया । बन्धन में पड़े हुए पिता ने दूर ही से अपने आततायी पुत्र को, एक पैने हथियार के साथ, अपनी ओर लपक कर आते हुए देखा । उस के होश-हवाश और भी ढीले हो गये। वह मन ही मन कहने लगा ' छिद्रेष्वऽनर्था बहुली भवन्ति' । पहली बार तो इस ने मुझे कारागृह में डाला। और मेरी यह दुर्दशा की। अब तो अपने हाथ के पैने हथियार से, कदाचित् यह मेरे प्राणों ही का ग्राहक बनने के लिए उछलता कूदता मेरी ओर आ रहा है । नहीं तो, हथियार को हाथ में लाने का प्रयोजन ही दूसरा कौन सा था ? सच है, ' अर्थी दोषं न पश्यति' ।

श्रेणिक सज्जन और महानुभाव था । तब तो-'मानो हि महतां धनम् । ' अर्थात् बड़े लोगों का धन केवल मान ही होता है । यह तत्त्व उसे याद आया। उस ने अपने पुत्र के द्वारा होने वाले पहले अपमान को तो जैसे तैसे सह लिया। परन्तु दूसरे भावी अपमान का तो अनुमान करना तक, उस ने अनुचित और मृत्यु से भी बदतर समझा। उस की हृत्तन्त्री के तार अचानक झंकृत हो उठे । उस में से एक बड़ा ही सुरीला सुर निनादित हुआ। जिस ने राजा श्रेणिक की परतन्त्र आत्मा को, सजग कर के कहा-" जुल्म और अन्याय कहीं हो,किसी से हो—अपने से, बेगानों से, मित्रों से, शत्रुओं से, राजा से, प्रजा से, ब्राह्मण से या छोटी कहलाने वाली जाति के व्यक्ति से, साधु से या महात्मा से-कभी

और किसी दशा में भी सन्तव्य न होना चाहिए। अन्याय और अत्याचार को सहन करने-वाला, अन्यायी और अत्याचारी पुरुष से भी बहुत अधिक दोषी, होता है! अन्याय और अत्याचार के साथ किसी प्रकार का सहयोग करनेवाला अन्यायी और आत्याचारी से भी बुरा और भयंकर होता है। वीर पुरुष के लिए गुलामी और पराधीनता का जीवन त्याज्य और असह्य है। " बस, फिर क्या था! राजा सचेत हुआ। उस ने अपने हाथ की अंगूठी को देखा। अपने पुत्र के उस के पास पहुंचने के पहले ही पहले, उस ने उस अंगूठी को झटका देकर अपनी अंगुली से खींच लिया। और चट उसे किसी भी तरह तोड़ फोड़ कर उस के अंदर की हिरकणी को मुह में रख कर निगल गया। उस हिरकणी के, निगलते ही राजा श्रेणिक की आत्मा उस के शरीर से स्वतन्त्र हो गयी। पुत्र ने पास आ कर, पिता को मृत्यु की सेज पर सोते पाया। उसे अपनी करणी पर बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ। यहां तक, कि उस ने अपनी राजधानी राजगृह से हटा कर, चम्पा नगरी में कायम करली।

राजा कौणिक अपने बाप की गादी का स्वामी बना। उस ने अपने सम्पूर्ण राज्य को, पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार, समान रूप से ग्यारहों भाइयों में बांट दिया इसी कौणिक का एक सगा छोटा भाई भी था, जिस का नाम वहल कुमार था। वह अकसर इसी के पास रहा करता था। उसे अपने पिता, राजा श्रेणिक की ओर से (१) सीचानक गन्ध नामक एक बड़ा ही सुन्दर हाथी; और (२) अठारह लड़ियों का एक बहु-मूल्य हार, ये दो वस्तुएं मिली हुई थीं। अपने राजा होने के दिन से कौणिक के दांत इन दोनों वस्तुओं पर गड़े हुए थे। जिस का कारण यह बतलाया जाता है, कि वहल-कुमार के पास उस हाथी और हार को देख कर, कौणिक के राजा हो जाने पर भी, लोग अकसर ऐसा कहते थे, कि "ऐं! धरा ही क्या है ऐसे राज्य में! राज्य की सारी शोभा, जो हाथी और हार हैं, वे तो वहल-कुमार के पास हैं! कौणिक का राज्य तो बिना दुलहे की बरात है! बिना जीव का शरीर है।" होते होते यह बात कौणिक की पत्नी तक भी पहुंची। उस ने अपने पति कौणिक को, उन के पाने के लिए, शक्ति-भर उकसाया। पहले तो उस ने उस ओर कोई कान ही न दिया। पर अन्त में अपनी पत्नी की वाक्-चातुरी से वह उन्हें ले लेने पर उतारू हो गया। एक दिन मौका पाकर,

उस ने इन दोनों वस्तुओं को अपने भाई से मांगी। बदले में बहल कुमार ने इसे कहा-"ये वस्तुएं मुझे पिताजी की ओर से मिली थीं। मेरे समान,अन्य दश भाइयों को भी, ऐसी बेश क़ीमती एक नहीं वरन् कई चीजें समय समय पर मिली हैं। अस्तु। वे सभी भाई अपनी अपनी उन वस्तुओं को आपके हाथों सौंपने के लिए यदि तैयार हैं, तो मुझे भी अपनी इन दोनों वस्तुओं को आपके लिए दे देने में, कोई पशोपेश और उज्र नहीं है। परन्तु यदि अकेली मेरी ही वस्तुओं पर आप का मन मचल पड़ा है, तो मेरा दश चलते हुए मैं तो उन्हें देने में असमर्थ हूँ। और ऐसा करने में, आप के न्याय की शोभा भी तो नहीं है। इतने पर भी आप राजपद पर हैं। जो चाहे, सो कर सकते हैं। यों तो, मेरा यह शरीर भी आप ही के आधीन है। परन्तु भाई साहब ! आप को-(१) राजा के कर्तव्य क्या क्या हैं; और अनीति को अपने बग़ल में दबाये रहने से, उस पर कौन कौन से कष्ट आ कर पड़ते हैं। ये बातें सदा ध्यान में रखनी चाहिए। जो भी मेरे छोटे मुँह से ये बातें कहना शोभा नहीं देती। तथापि मैं सब तरह से आप ही का हूँ। यह समझ कर, आप को अनीति के गर्त्त में गिरने से बचाना भी मेरा धर्म है इतने पर भी, यदि आप मेरा हार और हाथी ले लेने पर ही तुले हुए हैं,तो लाइये, दशों कालि-कुमार तथा आपके अनुसार राज्य के मेरे भाग को भी और तब ले लीजिये इस हार और इस हाथी को।"

कौणिक इस कर्म-कथा को सुनने और समझने वाला ही कब था? उस ने तो न्याय से या अन्याय से, धर्म से या अधर्म से लेना-मात्र सीखा था। देना, उसका व्यापार था ही नहीं। सच है, 'अर्थी दोषं न पश्यति'। कौणिक ने राज्य का हिस्सा देने की तो कोई बात तक न की। परन्तु हार और हाथी वह हर घड़ी मांगता रहा। तब 'पानी में रह कर मगर से बैर ठानना' की बात बहल-कुमार को पसन्द न लगी। वह अपने भाई के पास से अपने नाना के यहां चल दिया। उनका नाम चेड़ा था। वे वैशाली में राज करते थे। कौणिक ने वहां भी अपने भाई का पीछा न छोड़ा। उसने चेड़ा राजा को लिख भेजा-"मेरा भाई, बहल-कुमार हार और हाथी ले कर वहां आया हुआ है, उसे यहां शीघ्र ही भेज दिया जाय।" इस पर चेड़ा राजा की ओर से कौणिक को उत्तर दिया गया,कि यदि तुम हार और हाथी लेना चाहते हो, तो अन्य दशों कालि-

कुमारों के राज्य भागों के अनुसार, बहल-कुमार को उसके अपने राज्य का हिस्सा अवश्य दे दिया जाय। अन्यथा, वे चीजें तुम्हें नहीं मिल सकती। इस उत्तर को पा कर कौणिक आपे से बाहर हो गया। उसने चेड़ा राजा से लोहा लेना चाहा। युद्ध का निश्चय कर, उसने दशों कालि-कुमारों को, निर्धारित युद्ध-स्थल में, समय पर, अपनी अपनी सेना समेत हाज़िर होने का संदेश पढ़ाया। उन में से प्रत्येक भाई के पास तीन तीन हज़ार हाथी, तीन तीन हज़ार घोड़े, तीन तीन हज़ार रथ, और तीन तीन करोड़ पैदल सिपाही थे। इतनी ही सेना कौणिक की भी और थी। इस तरह कुल तेतीस हज़ार हाथी, तेतीस हज़ार घोड़े, तेतीस ही हज़ार रथ, तेतीस करोड़ पैदल सिपाहियों को लेकर कौणिक निर्धारित रण-स्थल में चेड़ा से लोहा लेने के लिए पहुंचा। यह रण-स्थल वैशाली नगरी के बिलकुल निकट ही था। दूसरी ओर चेड़ा ने भी उसी कद्र कौणिक के विपरीत अपनी तैयारी की थी। उसने काशी के अपने सधर्मी नौमल्ली राजाओं और कौशलदेश के नौ लिच्छावी राजाओं को अपनी सहायता के लिए बुला भेजा। उन के आने पर, उस ने उन्हें सारा हाल कह सुनाया, जिसके कारण यह युद्ध छिड़ने वाला था। लोक-व्यवहार और शास्त्र सभी का मेल मिला कर वे राजा लोग चेड़ा से बोले, "राजन्! जो भी हम लोग जैन-धर्म के अनुयायी होने के कारण अहिंसा के उपासक हैं, परन्तु यह तो अपन सभी को मानना पड़ेगा, कि 'अहिंसा', बुज़दिलों का तो धर्म है ही नहीं; वह तो वीरों का धर्म है। अस्तु। यदि कोई आततायी अपने धन या अपने राज्य या अपने शरणागतों पर आक्रमण करे, तो उसे हटाना अपना कर्तव्य है। न्याय की प्रतिष्ठा ही वास्तविक अहिंसा की प्रतिष्ठा है। अपने नेत्रों के सामने अन्याय होता हुआ देख कर भी जो मौन रहता है, वह अहिंसा का भक्त नहीं हो सकता। फिर यह तो एक प्रकार की विरोधी हिंसा है और गृहस्थ, विरोधी हिंसा का त्यागी नहीं होता। फिर राज्यधर्म का उत्तरदायित्व भी अपने सिर पर है। जिसका निर्वाह करना हमारा मुख्य कर्त्तव्य है। अतः अन्यायी को उस के किये का उचित बदला देना, अपने धर्म और पद की रक्षा करना है। जैन-धर्म इस में तनिक भी बाधक नहीं है। हम लोग क्षत्रिय हैं। अपने कर्त्तव्य के अनुसार, आततायियों को उन के अत्याचारों का उचित दण्ड देना और किसी भी दुख में फंसे हुए न्याय-पथ के पथिक व्यक्ति को, प्राण रहते उस दुख से उबारना, अपना कर्तव्य और धर्म है। बहल-कुमार भी ऐसे ही व्यक्तियों में से एक हैं। वह न्याय-पथ का पथिक और अपना शरण-

गत है। अतःअपने दम में दम रहते उस की तरफ़दारी करना,तथा उसके जानो-माल की रक्षा करना, अपना ख़ास कर्तव्य और धर्म है।" जब ऐसा निर्धारित हो गया, तब वे सब के सब, अपनी अपनी सेना को ले कर, रणाङ्गण में जल्दी से जल्दी आ उपस्थित होने की तैयारी में लग पड़े। इस पक्ष में चेड़ा समेत कुल उन्नीस राजा थे। इन में से भी प्रत्येक के पास उतनी ही सेना थी, जितनी कि कौणिक के पक्ष के प्रत्येक भूपति के पास। यों, चेड़ा के पक्ष का सारा सैन्य-बल नीचे के अनुसार था—हाथी, घोड़े और रथों में से प्रत्येक की संख्या सत्तावन सत्तावन हज़ार थी। और, पदचरों की संख्या थी सत्तावन करोड़। चेड़ा के पक्ष की सेना भी रणाङ्गण में जा डटी। राजा कौणिक ने अपनी सेना को गरुड़ाकार में सजाने की आज्ञा दी। दूसरी ओर, राजा चेड़ा की सेना, शकटव्यूह के रूप में, रची गयी।

अब युद्ध आरम्भ हुआ। धर्म-युद्ध के नाते, दोनों ओर के सम-बल वाले योद्धा की, एक दूसरे से मुठ-भेड़ हुई। अर्थात् रथी, रथी से और घुड़सवार, घुड़सवार से जा भिड़ा। यही हाल पैदल सेना का था। उन में भी बन्दूक़वाला बन्दूक़वाले के सामने हुआ और तलवार ने तलवार ही को अपनी जोड़ी का देखा। प्राचीन भारतीय युद्धों का जहां कहीं भी वर्णन मिलता है, सब में, इसी धर्ममयी युद्ध-नीति का पालन, अथ से इति तक पाया जाता है। इस युद्ध की भी एक दिन समाप्ति हुई। युद्ध के अन्तिम तीन दिन दोनों, पक्षों के लिए काल रूप थे। उन दिनों प्रत्येक स्वामिभक्त सेनानी ने अपने खाये हुए नमक को अदा कर देना चाहा। उन्हों ने अपने प्राणों को प्राण ही नहीं समझा। उस समय का दृश्य सचमुच में बड़ा ही अनोखा था। एक ओर जहां कायर और कुपूत खेत छोड़ छोड़ कर पलायमान् हो रहे थे; वहां दूसरी ओर, रण--बांकुरे शूर--वीर, "जीतेंगे, तो पृथ्वी का राज्य भोगेंगे और हार गये तो वीर--गति को प्राप्त होंगे;" इस बात पर अटल बने रह कर, रण-खेत में धीरता और वीरता के साथ, जूझ रहे थे। दोनों ओर से उन तीनों दिनों में एक करोड़ अस्सी लाख (१८००००००) आदमियों का संहार हुआ। राजा कौणिक के कालि-कुमार आदि दशों भाई भी इस युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुए। अन्त में, अपने भाइयों को इस संसार से चलते हुए देख, वीर कौणिक का कलेजा कांप उठा। उस ने अपने पूर्व-भव के मित्र और आज के

इन्द्रों को स्मरण किया। और, यथा-समय उन की सहायता को पा कर, रण-भूमि से चेड़ा और उस के अन्य साथियों के पैर उस ने उखाड़ दिये। विजय ने भी कौणिक ही के गले में जयमाल डाली। यह तो सब कुछ हुआ। परन्तु जिस बात के लिए युद्ध छिड़ा था, उस का तो कोई भी फैसला नहीं हुआ। दृढ़-प्रतिज्ञ चेड़ा ने हाथी और हार को कौणिक के हाथों न सौंपा। हाथी तो अग्नि में जल कर पहले ही स्वाहा हो चुका था। और हार जिस देवता की ओर से मिला था, उसे वह ले गया। कौणिक भी हाथी और हार को न पा कर, अपना सा मुंह ले कर वापिस लौटा। पाठकों को यहां यह स्मरण रखना चाहिए, कि इस युद्ध में जो इन्द्र, कौणिक की सहायतार्थ आये थे, वे न्याय की रीति से नहीं वरन् मित्रता का नाता निभाने के लिए आये थे। वर्णनाग नतुवा नामक एक परम पराक्रमी श्रावक भी चेड़ा की ओर से इस संग्राम में आया हुआ था। यह जीवाजीव आदि तत्वों के स्वरूप को भली प्रकार से जानता था। दृढ़-धर्मी भी ऐसा था, कि देवताओं के द्वारा अपने धर्म से डिगाये जाने पर भी अपनी आन पर अचल (पहाड़) की भांति अड़ा रहता था। जैन-धर्म की शरण में आने के दिन से आजीवन उस ने 'बेले-बेले' का अनशन-व्रत, पूरी रीति से निर्विघ्न निभाया। लड़ाई के समय तो इस का वह व्रत-बन्धन और भी कमाल कर गया। रणाङ्गण में उपस्थित होने की आज्ञा को पा कर,उस ने उस रोज बेले का पारणा न किया तेले का अनशन व्रत धारण कर लिया और चेड़ा के साथ रण-भूमि में उतर पड़ा। वीरता भी उस ने बड़ी ही बांकी दिखायी थी। अस्तु जैन-धर्म को धारण करना कोई ऐसी वैसी बात नहीं है। इस के आश्रय में आना तो वीरों ही का काम है। कायरों और क्रूरों के लिए यहां कोई स्थान ही नहीं है। ऊपर का युद्ध डंके की चोट से इस बात की गवाही दे रहा है, कि अपनी जान, अपने माल, अपनी-औरत, अपने धर्म, अपने किसी नातेदार या अपने शरणागतों पर आयी हुई आपत्ति को दूर करने के लिए, जैन-धर्म, बाधक नहीं है। किन्तु हां वह किसी भी प्रकार के कषायों के आधीन हो कर निर-पराधियों के लिए स्वयं आगे हो कर रणाङ्गण में नहीं उतरता। और अपराधी शत्रु के द्वारा युद्ध में ललकारा जाने पर, दम में दम रहते हुए। वह पीछे पैर रखना भी कभी नहीं जानता।

*****

जैनी-अहिंसा

यों तो संसार में ब्राह्मण-धर्म, बौद्ध-धर्म, तथा अन्य विदेशीय धर्मों ने भी अहिंसा को धर्म रूप माना है, पर जैनधर्म सम्मत अहिंसा एक निराली ही वस्तु है। जैनधर्म के प्रत्येक आचार-विचार की कसौटी अहिंसा ही है। जैन शास्त्रों में इस तत्त्व का जितना विस्तृत, सूक्ष्म और पूर्ण वर्णन किया गया है, वह अन्य किसी भी धर्म में नहीं पाया जाता। जैनधर्म के प्रवर्त्तकों ने अहिंसा तत्त्व को चरम सीमा तक पहुंचाया है। उन्होंने अहिंसा का न केवल उपदेश ही दिया है वरन् उसका वैसा ही आचरण भी कर दिखाया है। और धर्मों का अहिंसा-तत्त्व केवल कायिक बन कर रह गया है। पर जैनधर्म का अहिंसा-तत्त्व बहुत कुछ आगे बढ़ कर वाचिक और मानसिक से भी परे-आत्मिक रूप बन गया है। औरों की अहिंसा की मर्यादा मनुष्य या पशु-पक्षियों तक समाप्त हो जाती है। परन्तु जैनी-अहिंसा की कोई मर्यादा नहीं है। उस में सारी सचराचर जीव-जाति समा जाती है और तो भी वह वैसी ही अमर्याद बनी रहती है। वह विश्व की तरह अमर्याद और आकाश की तरह सर्व पदार्थ व्यापिनी है।

परन्तु जैनधर्म के इस महान् तत्त्व के यथार्थ रहस्य को समझने के लिए बहुत ही थोड़े मनुष्यों ने प्रयत्न किया है। जैनधर्म की अहिंसा के विषय में, लोगों में बड़ी अज्ञानता फैली हुई है। कोई इसे अव्यवहार्य कहता है, कोई अनाचरणीय बतलाता है, कोई आत्मघातिनी कहता है, तो कोई राष्ट्र-नाशिनी कह कर अपने ज्ञान का प्रदर्शन करता है। अतएव यहां संक्षेप में इन सब बातों पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

जैनी-अहिंसा के विषय में पहला आक्षेप यह किया जाता है कि-जैन धर्म प्रवर्त्तकों ने अहिंसा की मर्यादा इतनी लम्बी और विस्तृत बना दी है, कि जिससे वह लगभग अव्यवहार्य की कोटि में जा पहुंची है। यदि कोई इस अहिंसा का पालन करना चाहे तो उसे अपनी समग्र जीवन-क्रियाएँ बन्द कर के निश्चेष्ट हो देहत्याग करना होगा। जीवन--व्यवहार को चालू रखना और

इस अहिंसा का पालन करना, ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध है। अतः इस अहिंसा के पालन करने का मतलब आत्मघात करना है।

यद्यपि जैन अहिंसा की मर्यादा बहुत ही विस्तृत है और इसलिए उसका पालन करना सर्व साधारण के लिए बहुत कठिन है, तथापि उसे सर्वथा अव्यवहार्य या आत्मघातक कहना ठीक नहीं। यह बात सभी विचारक स्वीकार करते और मानते हैं, कि इस अहिंसा-तत्त्व के प्रवर्त्तकों ने इसका आचरण अपने जीवन में पूर्ण रूप से किया था। वे इसका पालन पूर्ण रूप से करते हुए भी वर्षों जीवित रहे और जगत् को अपना परम तत्त्व समझाते रहे। उन के उपदेशानुसार अन्य असंख्य लोगों ने इस का पालन किया। पर किसी को आत्मघात करने का मौक़ा न आया। इस से यह सिद्ध होता है, कि जैनी अहिंसा न तो अव्यवहार्य है और न आत्मघातिनी ही है। इस के साथ ही हमें यह स्मरण रखना चाहिए, कि कोई भी सत् सिद्धान्त सर्व साधारण के लिए सुलभ और सहज परिपालनीय नहीं हो सकता। सिद्धान्त एक आदर्श है और आदर्श जितना ही अधिक उच्च होगा, उतना ही अधिक विकास उससे प्राणियों का हो सकता है। यदि आदर्श ही हमारा क्षुद्र होगा तो विकास के लिए आगे कोई मार्ग नहीं रह जायगा। अतएव उच्चतम विकास के लिए यह आवश्यक है, कि सिद्धान्त-आदर्श महान् उच्च हो। अतएव जो अपना उच्चतम विकास चाहते हैं, आत्मा को समस्त प्रकार के दुःखों से मुक्त कर चरम सुख को प्राप्त करना चाहते हैं, उन के लिए जैन-अहिंसा ही सहायक का काम दे सकती है। उस में अव्यवहार्यता या आत्मघातकता की कल्पना करना कायरों का ही कार्य है।

कुछ लोगों का यह भी ख़याल है, कि जैनी-अहिंसा के प्रचार से भारतवर्ष पराधीन हो गया है। क्योंकि अहिंसा-जन्य पाप से डर कर लोगों ने मांसभक्षण छोड़ दिया और मांसभक्षण किए बिना शरीर में बल, मन में शूरता पैदा नहीं होती। फलतः प्रजा के दिल से युद्ध की भावना नष्ट हो गई और उससे विदेशी और विधर्मी लोगों ने भारत पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन बना लिया। इस प्रकार अहिंसा के प्रचार से देश पराधीन और प्रजा पराक्रमहीन हो गई। अहिंसा के विषय में इस प्रकार की कल्पना नितान्त भ्रमपूर्ण है। इस कल्पना के मूल में बड़ी अज्ञानता और अनुभव शून्यता भरी हुई है। वास्तव में जो लोग इस

प्रकार की भ्रान्त धारणा रखते हैं, उन्हें न तो भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास ही विदित है और न मानव-समाज की परिस्थिति का ज्ञान ही है । भारत की पराधीनता का असली कारण अकर्मण्यता, अज्ञानता और असहिष्णुता है--अहिंसा नहीं । इन सब दोषों का मूल हिंसा है । भारत का पुरातन इतिहास बतला रहा है, कि भारत में जब तक अहिंसा--प्रधान धर्मों का अभ्युदय रहा, तब तक प्रजा में शान्ति शौर्य, सुख और संतोष काफ़ी मात्रा में मौजूद रहे । अहिंसाधर्म के महान् उपासक और प्रचारक नृपति श्रेणिक चेड़ा और मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त तथा अशोक थे । क्या उन के समय में भारत पराधीन हुआ था ? अहिंसा धर्म के, कट्टर अनुयायी दक्षिण के कदम्ब, पल्लव और चालुक्य वंशों के प्रसिद्ध--प्रसिद्ध महाराजा थे । क्या उनके समय में किसी विदेशी या विधर्मी ने आकर भारत को सताया था ? अहिंसा--तत्त्व का अनुगामी चक्रवर्ती सम्राट् श्रीहर्ष था । क्या उसके समय में किसी ने भारत को पद--दलित किया था ? अहिंसा--सिद्धान्त का पालन करने वाला दक्षिण का राष्ट्रकूट वंशीय राजा अमोघवर्ष और गुजरात का चालुक्य वंशीय प्रजापति कुमारपाल था । क्या उनकी अहिंसोपासना से देश की स्वतंत्रता नष्ट हुई थी ? इतिहास तो साक्षी दे रहा है, कि भारत इन राजाओं के राजत्व काल में अभ्युदय के शिखर पर था । जब तक भारत में बौद्ध और जैनधर्म का ज़ोर था और जब तक ये धर्म राष्ट्रीय धर्म कहलाते थे, तब तक भारत में स्वतंत्रता शान्ति, सम्पत्ति आदि पूर्ण रूप से विराजती थी । अहिंसा के परम उपासक इन नृपतियों ने अनेक युद्ध किये, अनेक शत्रुओं को पराजित किया और अनेक दुष्ट जनों को दण्डित किया । इन की अहिंसोपासना ने न देश को पराधीन बनाया और न प्रजा को निर्वीर्य बनाया । जिन्हें गुजरात और राजपूताने का थोड़ा बहुत भी वास्तविक ज्ञान है, वे जान सकते हैं, कि इन देशों को स्वतन्त्र, समुन्नत और सुरक्षित रखने के लिए जैनों ने कैसे--कैसे पराक्रम किये थे । जिस समय गुजरात का राज्य--भार जैनों के अधीन था--महामात्य, मंत्री, सेनापति, कोषाध्यक्ष आदि बड़े--बड़े अधिकारपद जैनों के अधीन थे--उस समय गुजरात का ऐश्वर्य उन्नति की चरम सीमा पर चढ़ा हुआ था । गुजरात के इतिहास में दण्डनायक विमलशाह, मंत्री मुंजाल, मंत्री शान्तु, महामात्य उदयन और बाहड, वस्तुपाल और तेजपाल, आभू और जगड़; इत्यादि जैन राजद्वारी पुरुषों का जो स्थान है, वह औरों का नहीं है । केवल गुजरात के ही इतिहास में नहीं, परन्तु समूचे

भारत के इतिहास में भी इन अहिंसाधर्म के परम उपासकों के पराक्रम की तुलना करने वाले पुरुष बहुत कम मिलेंगे। जिस धर्म के परम अनुयायी स्वयं ऐसे शूरवीर और पराक्रमशाली थे और जिन्हों ने अपने पुरुषार्थ से देश और राज्य को खूब समृद्ध और सत्वशील बनाया था, उस धर्म के प्रचार से देश और प्रजा की अधोगति कैसे हो सकती है ? देश की पराधीनता और प्रजा की निर्वीर्यता में कारणभूत अहिंसा कभी नहीं हो सकती। जिन देशों में हिंसा का खूब प्रचार है, जो अहिंसा का नाम तक नहीं जानते हैं, एक मात्र मांस ही जिन का भक्षण है, जो पशु से भी अधिक क्रूर हैं, वे क्या सदैव स्वतंत्र बने रहते हैं ? रोमन साम्राज्य ने किस दिन अहिंसा का नाम सुना था ? उस ने कब मांस-भक्षण छोड़ा था ? फिर उसका नाम संसार से क्यों उठ गया ? तुर्क प्रजा में से कब हिंसा-भाव नष्ट हुआ और क्रूरता का लोप हुआ था ? फिर उसके साम्राज्य की दीन दशा क्यों हो रही है ? दूसरे देशों की बात जाने दीजिए। भारत के ही उदाहरण लीजिए। मुगल साम्राज्य के संचालकों ने कब अहिंसा की उपासना की थी, जिससे उनका प्रभुत्व मिट्टी में मिल गया ? और उसके विरुद्ध पेशवा-ओं ने कब मांसभक्षण किया था, जिससे उनमें एकदम वीरत्व का वेग उमड़ पड़ा था ? इससे स्पष्ट है, कि देश की राजनीतिक उन्नति में हिंसा-अहिंसा कोई कारण नहीं है। राजकर्त्ताओं की कार्य दक्षता और कर्त्तव्यपरायनता आदि ही देश की उन्नति आदि के कारण होते हैं।

हाँ, प्रजा की नैतिक उन्नति-अवनति में अहिंसा-हिंसा अवश्य कारणभूत होती है। अहिंसा की भावना से प्रजा में सात्विक वृत्ति का विकास होता है। और जहां सात्विक वृत्ति है वहीं सत्व का निवास होता है। सत्वशाली प्रजा का ही जीवन श्रेष्ठ और उच्च समझा जाता है। जहां प्रजा में सत्व नहीं वहां सम्पत्ति, स्वतंत्रता आदि कुछ भी नहीं। अतः प्रजा की नैतिक उन्नति में अहिंसा प्रधान कारण है। नैतिक उन्नति के मुकाबिले में भौतिक प्रगति का कोई स्थान नहीं और इसी विचार से भारतवर्ष के पुरातन ऋषि-मुनियों ने अपनी प्रजा को शुद्ध नीतिमान् बनने का ही सर्वाधिक सदुपदेश दिया है। यूरोप की प्रजा ने नैतिक उन्नति को गौण कर भौतिक प्रगति की ओर जो दौड़ना शुरू किया था, उसका कटुक आज सारा संसार भोग रहा है। संसार में यदि सच्ची शान्ति और वास्त-

विक स्वतंत्रता स्थापित करनी है, तो प्रजा को शुद्ध नीतिमान् बनना होगा। शुद्ध नीतिमान् बनने के लिए अहिंसा का यथार्थ ज्ञान और यथार्थ-पालन-चारित्र अत्यावश्यक हैं। अहिंसा ही शान्ति, शक्ति, शुचिता, दया, प्रेम, क्षमा, सहिष्णुता, निर्लोभता, आदि समस्त सद्गुणों की जननी है। अहिंसा के आचरण से मनुष्य के हृदय में पवित्र भावों का संचार होता है। वैर-विरोध की भावना नष्ट होती है, और सब के साथ बन्धुत्व का नाता जुड़ता है। जिस प्रजा में ये भाव विकसित होते हैं वहां ऐक्य का साम्राज्य होता है। और एकता ही देश की उन्नति का मूल कारण है। इस प्रकार सिद्ध है, कि अहिंसा अवनति का कारण कदापि नहीं हो सकती; वह उन्नति का एकमात्र साधन है।

इस के अतिरिक्त जिसने--आधुनिक अहिंसात्मक आन्दोलन का गंभीर अध्ययन किया है और देश पर उसके प्रभाव को देखा है, वह अहिंसा की दिव्य शक्ति का सहज ही अनुमान कर सकता है। अहिंसा की ही लोकोत्तर शक्ति से आज संसार का बड़े से बड़ा साम्राज्य डगमगा गया है। भला, ऐसी शक्ति स्वरूपिणी अहिंसा कभी कायरता की जननी हो सकती है? कदापि नहीं। वास्तव में भारतवर्ष का अधःपतन अहिंसा का परित्याग करने पर ही हुआ था और उसका उत्थान तभी होगा जब वह पुनः अहिंसा रूपी महाशक्ति का आश्रय लेगा। इस सत्य के चिह्न क्रमशः स्पष्ट होते जा रहे हैं। इस विवेचन से पाठक भली भांति समझ सकेंगे, कि अहिंसा पर निराधार लांछन लगाने वाले लोग कितने घने अंधकार में हैं।

अहिंसा के विषय में श्रमण भगवान् महावीर ने कहा है:-"सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुहपडिकूला, अप्पियवहा, पियजीविणो जीविउकामा, णातिवाएज्ज किंचणं।" अर्थात् सब प्राणी आयुष्य को प्रिय समझते हैं, सब सुख के अभिलाषी हैं, दुःख सब को प्रतिकूल है, वध सब को अप्रिय है, जीवन सभी को प्रिय लगता है। सभी जीने की इच्छा रखते हैं, अतः किसी को मारना या कष्ट न देना चाहिए।

अहिंसा की उत्तमता के लिए इससे बढ़ कर और क्या दलील हो सकती है? पर यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि इस प्रकार की अहिंसा का पालन किस प्रकार किया जा सकता है?

सारा जगत् जीवमय है; और खाने-पीने, चलने-फिरने, व्यापार-विहार में, जीवहिंसा होती है। बिना हिंसा के कोई प्रवृत्ति हो नहीं सकती। तब अहिंसा का पालन करने के लिए शरीर को नष्ट कर देना आवश्यक है। जीवित रहते हुए इस अहिंसा का पालन नहीं किया जा सकता।

इस आशंका का उत्तर अहिंसा के भेद और अधिकारियों का निरूपण करने से भली भांति हो जाता है। शास्त्रकारों ने अहिंसा के भेद कई प्रकार से निरूपण किये हैं। जैसे स्थूल अहिंसा और सूक्ष्म अहिंसा; द्रव्य अहिंसा और भाव अहिंसा; देश अहिंसा, और सर्व अहिंसा आदि। त्रस जीव के प्राणों का व्यपरोपण न करने की प्रतिज्ञा को स्थूल अहिंसा कहते हैं और सब प्रकार के जीवों को किसी भी प्रकार कष्ट न पहुंचाने की प्रतिज्ञा सूक्ष्म अहिंसा कहलाती है। किसी भी जीव को अपने शरीर से दुःख न पहुंचाने के आचरण का नाम द्रव्य अहिंसा और समस्त जीवों के कल्याण की कामना करना भाव-अहिंसा है। किसी अंश में अहिंसा का पालन करना देश अहिंसा है; और पूर्ण रूप से अहिंसा का पालन करना सर्व अहिंसा है।

यद्यपि समस्त बन्धनों से मुक्ति पाने के लिए अहिंसा का पूर्ण रूप से आचरण करना अनिवार्य है, तथापि संसार के सभी मनुष्यों में इस प्रकार की पूर्ण अहिंसा के पालन करने की शक्ति और योग्यता नहीं आ सकती। अतः न्यूनाधिक योग्यता वाले मनुष्यों के लिए उल्लिखित भेद करके शास्त्रकारों ने क्रमशः आगे बढ़ने का क्रम प्रदर्शित किया है। जो अहिंसा का पूर्ण पालन नहीं कर सकते वे गृहस्थ, श्रावक, अणुव्रती, देशव्रती, आदि कहलाते हैं। जब तक जिस मनुष्य में संसार के सब प्रकार के मोह और प्रलोभनों को छोड़ देने की शक्ति विकसित नहीं हुई, तबतक वह संसार में रहता हुआ ही क्रमशः अहिंसा-पालन में उन्नति करता जाय। यथासंभव वह अपने स्वार्थों को कम करके प्राणियों के प्रति मारन--ताड़न--आक्रोशन आदि क्लेशजनक व्यवहार का त्याग करता जाए। ऐसे गृहस्थ के लिए कुटुम्ब, देश, या धर्म के रक्षण के लिए यदि स्थूल हिंसा करनी पड़े तो उस के व्रत में कोई हानि नहीं पहुंचती। क्योंकि जब तक वह गृहस्थी ले कर बैठा है तब तक समाज, देश और धर्म की रक्षा करना भी उस का परम कर्त्तव्य है। वह अपने कर्त्तव्य से यदि भ्रष्ट होता है तो उसका नैतिक

अधःपात होता है और नैतिक अधःपात सूक्ष्म हिंसा है। क्योंकि इस से आत्मा की उच्च वृत्ति का हनन होता है। अहिंसा-धर्म के उपासक के लिए निजी स्वार्थ के लिए हिंसा का त्याग करना आवश्यक है। यही कारण है, कि जैनधर्म ने जहां अहिंसा को पालन करने का उपदेश दिया है, वहां राजा के लिए यह भी स्पष्ट रूप से बतला दिया है, कि राज्य की रक्षा और राष्ट्र के हित के लिए अपराधी शत्रुओं के साथ युद्ध करे, तो वह स्थूल अहिंसा से पतित नहीं हो सकता है। जैन राजाओं ने अनेकों युद्ध करके शत्रुओं के छक्के छुड़ा दिये थे। अलबत्ता इन युद्धों में दो बातों का पूर्ण रूप से ध्यान रखा जाता था। पहली बात यह कि युद्ध में किसी भी प्रकार का निजी स्वार्थ नहीं होना चाहिए और दूसरी बात यह कि जिस के साथ युद्ध छेड़ा जा रहा है वह निरपराध न होना चाहिए। क्योंकि श्रावक निरपराधी की हिंसा का त्यागी होता है। अपराधी होने पर भी जब दूसरे उपायों से काम न चले तभी अन्त में युद्ध का आश्रय लेना चाहिए। यही कारण है, कि प्राचीन काल में जब विरोधी सेनाएँ एक दूसरे के आमने सामने आती थीं, तब युद्ध आरंभ होने के पूर्व शत्रु के पास दूत भेज कर उसकी मंशा जान ली जाती थी। क्योंकि संभव है, शत्रु बिना युद्ध किये ही ठीक मार्ग पर आ सके, तो युद्ध निरर्थक हो जायगा। जैन-अहिंसा का यह नियम उस समय समस्त भारतवर्ष में आदर के साथ स्वीकार किया जाता था। दूर की बात रहने दीजिये। राजपूतों की युद्ध-प्रणाली का ही विचार कीजिए। वे लोग मौक़ा पा कर भी उस शत्रु पर हाथ नहीं उठाते थे, जिसके हाथ में अस्त्र-शस्त्र न हो। क्योंकि इससे भी युद्ध की नैतिकता नष्ट हो जाती है। इस प्रकार के युद्धों के बाह्य आवरणों को हटा कर यदि अंतर्दृष्टी से देखा जाय तो अहिंसा देवी के ही सौम्य स्वरूप में दर्शन होंगे। इस प्रकार स्पष्ट है, कि जीवन को कायम रखते हुए भी अहिंसा का पालन करना असंभव नहीं—सुसंभव है। इस सत्य का समर्थन करने के लिए निम्नलिखित उदाहरण पर्याप्त होंगेः—

गुजरात के अन्तिम चौलुक्य नृपति दूसरे भीम (जिसको भोला भीम भी कहते हैं) के समय में, उसकी राजधानी अणहिलपुर पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ। राजा उस समय राजधानी में मौजूद न था और सेनापति आभू

नामक एक वणिक श्रावक था। वह अपने पद पर नया ही नियुक्त हुआ था। उसके सामर्थ्य के विषय में किसी को निश्चित विश्वास न था। रानी बड़ी चिन्ता में पड़ी। अन्त में आभू के विश्वास दिलाने पर उसे युद्ध संबंधी सम्पूर्ण सत्ता दी गई। युद्ध की घोषणा कर दी गई। दूसरे दिन प्रातः काल युद्ध होने वाला था। पहले दिन सेना की व्यवस्था करते करते सन्ध्या हो गई। वह व्रत-धारी श्रावक था। प्रतिक्रमण का समय आया। एकान्त में जाना उस समय हानिकारक था। अतः उसने हाथी के हौदे पर बैठे बैठे एकाग्रता पूर्वक प्रतिक्रमण करना शुरू किया। जब वह प्रतिक्रमण के "जे मे जीवा विराहिया एगिंदिया-बेइंदिया" इत्यादि पाठ का उच्चारण करता था, तो किसी सैनिक ने सुन कर अपने अधिकारी से कहा—देखिए जनाब! सेनापति महोदय इस युद्ध-भूमि में आकर भी 'एगिंदिया-बेइंदिया का पाठ कर रहे हैं। नरम नरम सीरा खाने वाले ये श्रावक क्या बहादुरी बतावेंगे? यह बात रानी के कानों तक पहुंची। राना को संदेह हुआ, पर वह लाचार थी। दूसरा दिन हुआ। आभू ने ऐसी होशियारी से शत्रु पर आक्रमण किया, कि क्षण भर में ही शत्रु की सेना का संहार हो गया और उसने हथियार रख दिये। आभू की विजय हुई। सब चकित रह गए।

आभू के स्वागत के लिए दरबार किया गया। उस समय रानी ने मुस्किरा कर कहा—सेनापति! जब आप रणक्षेत्र में 'एगिंदिया-बेइंदिया' करने लगे, तो सब को बड़ा सन्देह हो रहा था। पर आपकी वीरता देख सभी को चकित हो रहना पड़ा है।

सेनापति ने कहा—" महारानीजी! मेरा अहिंसा—व्रत, आत्मा के साथ संबंध रखता है। मैंने स्वार्थ की अपेक्षा से एकेन्द्रिय आदि के बध का त्याग किया है। मेरा शरीर राष्ट्र की सम्पत्ति है। इसलिए राष्ट्रहित के लिए उसका उपयोग होना ही चाहिए। शरीरस्थ आत्मा मेरी सम्पत्ति है, उसे स्वार्थजन्य हिंसा से बचाना, यही मेरे अहिंसा—व्रत का लक्षण है। इस सत्य ऐतिहासिक उदाहरण से पाठकों को स्पष्ट मालूम, हो सकेगा, कि गृहस्थ लोग किस प्रकार की अहिंसा का पालन करते हैं।

पाठको! अब हम जैनी-अहिंसा के विषय में अपनी ओर से अधिक कुछ न कह कर जैनेतर विद्वानों के अभिमत दे देना चाहते हैं, जिन्हों ने उसका

निष्पक्ष और जिज्ञासु के भाव से अध्ययन किया है। ये दोनों अभिमत 'मॉडर्न रिव्यू' में प्रकाशित हुए हैं। उन में से पहला अंश तो श्रीयुत् लीलाधर वत्सल के लेख से लिया गया है; और दूसरा अंश, अहिंसा के परम भक्त महात्मा गांधी के लेख का है। वे क्रमशः यों हैं:

(१) जैन-अहिंसा पर श्रीयुत् लीलाधर वत्सल—

(अ)—जैनधर्म का आसन अहिंसा धर्म के माननेवाले मतों में सब से प्रथम और उत्कृष्ट है।

(आ)—जैनधर्म की यह आज्ञा कभी नहीं है, कि जब सबल निर्बल को सतावे या कष्ट पहुंचावे, तो उदासीन हो कर बैठ रहना चाहिए। गृहस्थों को यह बात कभी भी बरदाश्त नहीं हो सकती और न कभी होनी ही चाहिए। वे पदलोलुप, आततायी, बदमाशों, गुण्डों, विषयलम्पट पुरुषों, अबलाओं के सतीत्व और धर्म को नष्ट-भ्रष्ट करने वाले अधर्मियों, लुटेरों और डाकुओं के द्वारा होनेवाले अन्यायों और अत्याचारों को चुपचाप बैठे बैठे किसी भी प्रकार सहन नहीं कर सकते।

(इ)—अहिंसा का सीधा सच्चा मतलब तो यह है, कि किसी भी गृहस्थ को केवल अपनी मनमानी घरजानी और एक साधारण सी आवश्यकता के लिए हिंसा कभी न करना चाहिए। यही नहीं; उसे अपनी कुत्सित भावनाओं की पूर्ति के लिए भी कभी प्रयत्न न करना चाहिए।

(ई)—जैनियों की अहिंसा, व्यक्तिगत स्वाभिमान और आत्म-सम्मान के मार्ग में कभी बाधक नहीं होती। और न इस से साहस, वीरता, देशाभिमान, देश-प्रेम, कौटुम्बिक-स्नेह, तथा जातीय गौरव ही की कोई हानि हो सकती है।

(उ)—जैन-धर्म की अहिंसा का कभी भूल कर भी यह आदेश नहीं है, कि कोई भी मनुष्य आत्म-रक्षा, आत्म-सहायता, आत्म-सम्मान, आत्म-संयम, और आत्म-जागृति के जीवनोपयोगी भावों को जागरूक बनाये रखने के लिए, न्यायानुमोदित शक्ति का उपयोग न करे,

(ऊ)—जैन-धर्म की अहिंसा, कन्याओं के धर्म को बचाने को, देवियों के सतीत्व की रक्षा करने को, नन्हें-नन्हें बिलखते हुए बच्चों को अपनी माताओं

की गोदी से विलग न होने देने को, अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझती है। और उन पर अत्याचार करनेवालों को प्राण--दण्ड से भी और कोई कठोर-तर दण्ड यहां हो, तो उसे उन्हें देने के लिए विरोध नहीं करती।

(ए)-जैन-धर्म की अहिंसा केवल निषेधात्मक थोथा उपदेश-मात्र ही नहीं है। विपरीत इस के, उस में गूढ़ तत्त्व भी भरा हुआ है। यह हमें वास्तविक नैतिक शिक्षा का सन्मार्ग दिखाती है। हमें परायों की सेवा के लिए प्रति पल उकसाती है। अपने स्वार्थ के संकुचित दायरे को 'वसुधैव कुटुम्बकं' के विश्व-व्यापक दायरे में जा मिलाती है। एक ओर यह हमें पेटू बनने से रोकती है। तो दूसरी ओर यही हमें अपने जीवन को मानव-जाति ही की नहीं, वरन् प्राणी-मात्र की सेवा करने का सुन्दर बल प्रदान करती है। और तीसरी ओर, हमें गृहस्थी में रहते हुए भव--सागर से पार पाने का सुगम मार्ग भी यही दिखाती है।

(ऐ)—जैनधर्म की अहिंसा, किसी जाति विषेश की सर्वोच्चता तथा सर्वोत्कृष्टता को आदरणीय नहीं मानती। साथ ही, उसे यह भी स्वीकार नहीं है, कि कोई मनुष्य सुमार्ग पर चलते हुए या उचित काम को करते हुए भी, देवताओं के प्रकोप का शिकार बन जाता है।

(ओ)-जो भी आज भारतवर्ष से अनेकों सद्गुणों का लोप हो गया है, तब भी जैन-धर्म की अहिंसा को उस का कारण बताना, बड़ा ही भूल--भरा है। क्योंकि, इस के विपरीत हम देखते हैं, कि यहां अहिंसा को न माननेवाली जो अनेकों जातियां हैं, उन में भी उन सद्गुणों का प्रचार नहीं है। और न पहले ही कभी हुआ था।

(२) अहिंसा धर्म पर आज के युग के सर्व श्रेष्ठ पुरुष महात्मा गांधी जीः—

महात्मा जी के लेख का यह निम्नांकित अंश पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय जी को, उन के द्वारा पूछे हुए अहिंसा-धर्म के उत्तर के विषय में था। जो 'मॉडर्न रिव्यू' कलकत्ता VOL 20; October 1916 में प्रकाशित हुआ था। महात्माजी फ़रमाते हैंः—

"Our shastras seem to teach that a man who really practises **Ahinsa** its fullness has the world at his feet, he so affects his surround-

ings that even the snakes and other venomous reptiles do him no harm. This is said to have been the experience of it, Francis of Assisi.

In its negative form it means not injuring any living being whether by body or mind. I may not, therefore, hurt the person of any wrong doer, or bear any ill-will to him and so cause him mental suffering, this statement does not cover suffering caused to the wrong doer by natural acts of mine which do not proceed from ill-will. It therefore does not prevent me from withdrawing from his presence a child whom he, we shall imagine, is about to strike. Indeed the proper practice of Ahinsa requires me to withdraw the intended victim from the wrong doer if I am in any way whatsoever the gaurdian of such a child.

In its possitive form Ahinsa means the largest love, the greatest charity. If 1 am a follower of Ahinsa, I must love my enemy I must apply the same rules to the wrong doer who is my enemy or stranger to me as I would to my wrong doing father or son. This active Ahinsa necessarily includes truth and fearlessness. A man cannot deceive the loved one he does not fear or frighten him or her. अभयदान (gift of life) is the greatest of all gifts. A man who gives it in reality disarms all hostility. He has paved the way for an honourable understanding and none who is himself subject to fear can bestow that gift. He must therefore be himself fearless a man cannot then practise Ahinsa and be a coward at the same time. The practice of Ahinsa calls forth the greatest courage. It is the most soldierly of soldiers Virtues.

He is the true soldier who knows to die and stand his ground in the midst of a hail of bullets such a one was Ambarish who stood his ground without lifting a finger though Durvasa did his worst.

Ahinsa truly understood, is in my humble opinion a panacea for all evils mundane and extra mundane. We can never over do it just at present we are not doing it at all. Ahinsa does not displace the practice of other Virtues but renders their practice imperatively necessary before it can be practised even its rudiments Lalaji need not fear the Ahinsa of his Father's faith. Mahavir and Buddha

were Soldiers and so was Folstoy. Only they saw deeper and truer into their profession and found the sacred of a true happy, honourable and godly life. Let us be joint shares with these teachers and his land of ours will once more be the abode of Gods."

अर्थात् हमारे शास्त्र हम को यह शिक्षा देते हैं, कि जो मनुष्य अहिंसा का भली भांति पालन करता है, उस के चरणों में सारी दुनिया नमस्कार करती है। उस का प्रभाव इतना भारी होता है, कि उस को सर्प अथवा कोई भी विषैले जानवर तक हानि नहीं पहुंचा सकते हैं। यह सेंट फ्रांसिस असीसी का अनुभव है।

इस का एक अर्थ यह है, कि किसी प्राणी को शरीर अथवा मन से कष्ट नहीं पहुंचाना चाहिए। इस लिए मुझे किसी भी बुरी (अनीति) करनेवाले को कष्ट नहीं पहुंचाना चाहिए। अथवा ऐसा बुरा नहीं कहना चाहिए, कि जिस से उस को मानसिक कष्ट पहुंचे। इस में वह कष्ट नहीं आया है, कि जो मेरे स्वाभाविक कार्यों से बिना किसी बुरे विचार के किसी बुरा (अनीति) करने, को पहुंचे। अस्तु। मैं किसी बच्चे को, जिसे वह पीटना चाहता हो, उस के सामने से हटाऊं, तो यह अहिंसा है। यथार्थ में यदि मुझे अहिंसा का सच्चा अभ्यास है, तो मैं उस बच्चे का वास्तव में रक्षक ही हूँ। और, मेरा धर्म है, कि अनर्थकारी के सामने से उस के शिकार को मैं हटा दूं।

अहिंसा का दूसरा अर्थ भारी दान है। यदि मैं अहिंसा का पालन करनेवाला हूँ, तो मुझे मेरे शत्रुओं से प्रेम करना चाहिए। मुझे वही नियम किसी भी बुरा करनेवाले के साथ काम में लाना चाहिए, फिर चाहे वह मेरा शत्रु हो या अनजान हो, जो कि मैं ऐसा करने पर अपने पिता अथवा पुत्र के साथ करता हूँ। ऐसी अहिंसा में सत्यता और निर्भयता है। मनुष्य अपने प्रेमी को धोखा नहीं दे सकता है। न तो वह उसे भय ही दिखा सकता है; और न स्वयं उस से डरता ही है। 'अभयदान,' सम्पूर्ण दानों में श्रेष्ठ दान है। जो व्यक्ति सचमुच में अभयदान देता है, वह अपने शत्रुओं को शस्त्र-हीन कर देता है। अर्थात् उन से उस को कभी कोई भय ही नहीं रहता है। उस ने अपने मार्ग को प्रतिष्ठित बातों से सुसज्जित बना दिया है। वह मनुष्य जो भयभीत है, अभयदान नहीं दे सकता है। इस लिए मनुष्य को पहले स्वयं निर्भय हो जाना चाहिए। कोई भी मनुष्य अहिंसा का अनुयायी हो कर डरपोक

कदापि नहीं हो सकता है। अहिंसा का पालन बहुत बड़े साहस का कार्य है। यह सिपाही के गुणों में एक बहुत बड़ा गुण है।

सिपाही, वही सच्चा सिपाही है, जो मरना जानता है। और जो रण-भूमि में गोलियों की वर्षा के बीच खड़ा रहता है। ऐसा तो एक अम्बरीष ही था, जो कि बिना अंगुली के उठाये ही रण-भूमि में खड़ा रहा। यद्यपि दुर्वासा ने उस के लिए बुराई करने में कोई बात उठा कर नहीं रक्खी थी।

यथार्थ में, मेरी राय में तो अहिंसा ही सम्पूर्ण बुरी बातों के लिए सर्वौषधि है। हम पूरी प्रशंसा उस की किसी भी तरह कभी भी नहीं कर सकते हैं। वास्तव में हम इस काल में कुछ भी नहीं कर रहे हैं। अहिंसा दूसरे गुणों को, तो दूर कदापि करती नहीं है; परन्तु हां, दूसरे गुणों को वह अपने साथ मिलाती अवश्य है। लाला जी को अहिंसा से, जो कि उन के पिताजी का धर्म है, डरना नहीं चाहिए। महावीर और बुद्ध सिपाही थे। और, ऐसा ही टॉलस्टॉय भी था। उन्हों ने अपने कार्य को बड़ी ही बारीकी और सत्यता से देखा है। और उन्हों ने उस में सत्यता का भेद, आनन्द, प्रतिष्ठा, और ईश्वरीय जीवन को पाया है। हमें भी उन महान् शिक्षकों के साथ भाग लेना चाहिए। और, ऐसा करने से यह भूमि पुनः एक बार देवताओं के रहने के योग्य स्थान के रूप में बदल जावेगी।"

उपर्युक्त दोनों लेख-खंडों के देखने से पाठकों को यह तो भली भांति जान पड़ा होगा, कि अहिंसा कायरता और कायरों का धर्म नहीं है; परन्तु वह एक वीरत्व-प्रधान गुण है। इसे राव से ले कर रंक तक सभी बिना किसी भी प्रकार की पशोपेश के धारण कर सकते हैं। इस के सिद्धान्त इस प्रकार सर्व-व्यापक हैं, कि वे किसी को भी बाधक नहीं हो सकते। परन्तु हां, इस अहिंसा धर्म के अंगीकार करने वाले को आत्म-बलिदान अवश्य देना पड़ता है। ऐसा करते ही, "क्या बना है नक़्द सौदा, इस हाथ दे, उस हाथ ले," इस सिद्धान्त की बात चरितार्थ होती है। उस की आत्मा की सर्वोत्कृष्ट और महान् से महान् शक्तियों का उसे पता लग जाता है। वह पता लगते ही वह सर्वज्ञ बन कर मोक्ष के अक्षय सुख को प्राप्त कर लेता है। यह इस धर्म की विशेषता है।

यथार्थ में बारीक़ी से विचार किया जाय, तो मनुष्य समाज का अधः पतन ही इस कारण से हुआ है, कि उस ने अहिंसा धर्म के असली तत्त्व ही को पूर्ण-

तया नहीं समझ पाया है; या समझ कर के उसे आज भूल गया है। आज उस की अवनति के जितने भी कारण दिख पड़ते हैं, उन सभी का एक ही मूल कारण अहिंसा धर्म का अभाव है। अगर इस सर्वोच्च अहिंसा धर्म को पूरी तरह से अंगीकृत कर लिया जाय, तो यह ध्रुव निश्चय है, कि देश की दशों दिशाएं, बहुत ही थोड़े समय में, उन्नति की पराकाष्ठा पर, पहुंच सकती हैं। परन्तु यह काम केवल मुंह से ही कह देने-मात्र का नहीं है। इस अहिंसा धर्म को करणी में उतार कर दिखाना चाहिए।

इस प्रकार अहिंसा का जैन शास्त्रों में विस्तृत वर्णन पाया जाता है और उसे समस्त कर्तव्यों में प्रधानतम स्थान मिला है। प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान की कसौटी अहिंसा ही मानी गई है। यहां तक कि सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि व्रत भी अहिंसा के ही पोषक हैं। यदि कोई सत्य, अहिंसा के विरुद्ध है, तो वह सत्य नहीं, असत्य ही है। तात्पर्य है कि अन्यान्य समस्त व्रत अहिंसा के ही अंग हैं। अहिंसा धर्म की इतनी महिमा संसार के अन्य किसी धर्म में नहीं है।

प्रकरण—छठा

आर्द्रकपुर के राजकुमार के साथ गौशाला की चर्चा

महाराज श्रेणिक का एक मित्र था। जो आर्द्रकपुर में राज्य करता था। इसी आर्द्रकपुर के राजकुमार को, मोह कर्म के उपशान्त होने से जाति-स्मरण ज्ञान हो आया। तब तो वह भगवान महावीर की शरण में जा कर, दीक्षित होने के लिए, अपने घर से निकल पड़ा। मार्ग में गौशाला से उस की भेंट हुई। गौशाला ने उस से पूछा— " राज-कुमार! कहो आज किस ओर मुंह मुड़ा है?" उत्तर में— " मैं भगवान् महावीर के पास से दीक्षा--व्रत ग्रहण करने के लिए जा रहा हूँ। अब मुझे न तो राज्य ही की चाह है; और न लोकैषणा ही मुझे प्यारी रही है; " राज-कुमार ने कहा। उसी समय गौशाला ने उसे रोका और सम्बोधन करते हुए उस से कहा—

राज-कुमार! अच्छा, सुन! तू उन के आचार-विचारों से अभी परिचित नहीं है। इसलिए जो भी कुछ तू करता है, बहुत समझ--बूझ कर पैर बढ़ा। देख, वे पहले तो अकेले विहार करते थे। अब शिष्यों को वे मुंड़ने लगे हैं। पहले वे मौनी थे। अब इधर उधर उपदेश देते फिरते हैं। साधु के लिए यह बिलकुल ही विपरीत आचरण है। अभी संसार की इन संकड़ी गलियों से तू परिचित नहीं है। यदि पहले एकलविहारी बने रहने ही में धर्म था, तो अब चेले-चांटियों की ज़मात बनाने से उन का क्या मतलब है? और यदि ज़मात को जुटाने ही में धर्म था, तो कई दिनों तक एकल--विहारी ही वे कैसे बने रहे? इसी तरह, मौन ही में यदि धर्म था, तो अब उपदेश देने में उन का उपधर्म सिद्ध होता है। और यदि उपदेश देने ही में धर्म की प्रभावना होती थी, तो पहले मौन

धारण उन्हों ने की ही क्यों थी ? " इस के उत्तर में राज—कुमार बोला— "अजी गोशाला जी ! आप कुछ भी कहें, मेरा मन तो उन्हीं की पवित्र और पाप-तापनाशक वाणी से रंगा हुआ है; उस पर अब किसी की भी वाणी का कोई असर नहीं हो सकता। मैं भली प्रकार से जानता हूँ, कि भगवान् पहले भी राग-द्वेष-रहित हो कर विचरण करने ही में धर्म मानते थे और वही बात उन की अब भी बनी हुई है। इस में, शिष्य बनाने और उन्हें अपने साथ साथ रखने से, उन के राग-द्वेष रहित मन पर कोई असर आज तक नहीं पड़ा। फिर, पहले वे मौन रखते थे और आज उपदेश देते वे विचरते हैं। जिस का कारण यह है, कि वे घनघाती कर्मों का नाश करने के लिए उस समय मौन-व्रत धारण किये रहते थे और आज अघाती कर्मों के क्षय के लिए वे उपदेश देते हुए विचरण करते हैं। जो स्वयं अपूर्ण होता है उसका उपदेश कभी पूर्ण नहीं हो सकता। भगवान् इस तत्त्व को भली भांति जानते थे। यही कारण है, कि उन्हों ने सर्वज्ञता-प्राप्ति से पहले मौन रह कर ही तीव्रतर तपश्चरण किया है। और फिर यह कैसे कहा जा सकता है, कि मौन रहने की अवस्था में उन्हों ने उपदेश नहीं दिया। उनका मान भी हमारे लिए बड़ा भारी उपदेश है। इस से हम यह सीख सकते हैं, कि जिस विषय में हम पूर्ण अनुभव प्राप्त न कर लें, उस विषय में हमें ज़बान तक न खोलनी चाहिए। महापुरुष अपनी पवित्र वाणी द्वारा तो उपदेश देते ही हैं। पर उनकी क्रिया और भी अधिक उपदेशप्रद होती हैं। अतः भगवान् ने मौन रह कर भी हम और आप जैसे पामर प्राणियों के सामने एक महान् उपदेश रख दिया है। उन के उपदेश में राग और द्वेष का कहीं नाम तक नहीं है। उन का उपदेश, एक बड़े से बड़े सम्राट् से ले कर छोटे रंक-पुरुष तक, सभी के लिए एक ही आनन्द और एक ही सा सुख देनेवाला होता है। वहां बड़े और छोटे में उपदेश ग्रहण करते समय, कोई अन्तर नहीं है। और उस में, विशेषता इस बात की है, कि छोटे से छोटा मनुष्य भी, जो उस अमर उपदेश के अनुसार अपना आचरण बना लेता है, महान् से महान् व्यक्ति माना जाता है। परन्तु संसार का बड़े से बड़ा व्यक्ति भी, जिस की गति और मति, उस उपदेश के अनुसार अपने आचरणों को बनाने में नहीं है, वह छोटे से भी छोटा है।"
राज-कुमार के इस कथन को सुन कर, गोशाला कुछ गड़बड़ाया। थोड़ी देर के पश्चात्, वह उस कुमार के प्रति, फिर यों बोला—"राज-कुमार ! जो भगवान्

महावीर के मतानुसार, उन की मौनावस्था और अमौनावस्था, दोनों में तुम एक ही से धर्म की परछांई देखते हो, तब तो हम भी यों ही कहते हैं, कि सचित्त पानी, बीज, वनस्पति, आधाकर्मी भोजन अर्थात् नैमित्तिक भोजन और स्त्री-प्रसंग आदि आदि में भी धर्म है। और इन के सेवन करनेवाले को भी साधु ही कहना चाहिए ?" इस पर राज-कुमार ने कहा—" गोशालाजी ! बात ऐसी नहीं है। आपने जैसा कहा, वैसा करनेवाला तो गृहस्थ है। वह साधु हो ही कैसे सकता है? क्योंकि जितने भी अचित्त पदार्थ और अनैमित्तिक भोजन की सामग्रियाँ हैं, केवल उन्हीं का सेवन करने वाला साधु कहला सकता है। यदि सचित्तादि पदार्थों का सेवन करने वाला भी साधु ही कहलाता रहे, तो फिर गृहस्थ और साधु में अन्तर भी कौनसा रह जावेगा ? अस्तु। यह बात न्याय और धर्म के बिलकुल विपरीत है। साधु कहला कर, और उसके वेश को धारण कर, सचित्तादि पदार्थों का सेवन करना तथा स्त्री-प्रसंग करना, यह तो न्याय और धर्म का, साधुत्व की ओट में, दिन दहाड़े खून करना है। वे लोग भव रोगों के भ्रमर में फँसे हुए, संसार सागर की उत्ताल-ऊँची ऊँची और भयंकर—तरंगों में, जन्म जन्मान्तरों के लिए, इधर से उधर और उधर से इधर, उतराते फिरेंगे।" राज-कुमार के इस खरे और गम्भीर उत्तर को सुन कर, गोशाला मन ही मन में बड़ा ही सिटपिटाया। उस से और कुछ कहते न बन आया, तो उसने राज-कुमार के कथन पर अन्य मतावलम्बियों की निन्दा करने ही का इलज़ाम लगा कर उसे दोषी ठहराना चाहा। परन्तु राज-कुमार तो खूब ही होशियार था। उस पर गोशाला के मत की छाप न बैठी। तब गोशाला ने यों कहा—"ऐ कुमार ! सावधान होकर मुँह से बात निकाल। तू यों कह कर, तो अन्य दर्शनियों की निन्दा कर रहा है। क्योंकि वे तो सचित्तादि पानी तथा अन्य पदार्थों के सेवन के द्वारा, संसार के अन्त होने और करने की बात कहते और मानते हैं।" राज-कुमार ने इतना सुनते ही, चट गोशाला की बात पकड़ ली। वह बोलाः—

"महाराज ! मैं अन्य किसी भी दर्शनी की निन्दा नहीं कर रहा हूँ। जैसे वे मतों को प्रकट करते हुए अपने सिद्धान्तों की पुष्टि करते हैं, ठीक वैसे ही मैं भी अपने सिद्धांतों की पुष्टि में अपने मत को आपके सामने रख रहा हूँ। सत्य बात के कथन में निन्दा का काम ही क्या है? जो त्रस स्थावर जीवों की रक्षा करने

वाले संयमी पुरुष होते हैं, वे कभी किसी की निन्दा नहीं करते। परन्तु उन की सत्य और निष्कपट बातों ही को सुन कर कोई चौंक जाय, और बदले में अपना और कोई वश चलता हुआ उन पर न देख, द्वेष-भाव या निन्दा का आरोप उन पर लगावे, तो क्या, इस से फर्यादी की विवेक, हीनता और कर्मों का उदय होना नहीं जान पड़ता ?"

कुमार के इस कथन से गोशाला की ज़बान बन्द हो गई। वह वहां कुछ देर तक निरुत्तर रहा। अन्त में कुमार के सम्मुख अपने विचारों की किसी भी प्रकार से दाल गलती हुई न देख कर वहां से वह चल दिया। कुमार भी तब आगे बढ़ा। रास्ते में इसे बौद्ध,वैदिक,सांख्य-शास्त्री,आदि आदि पुरुष भी मिले। कुमार ने उन सभी का,अपनी प्रत्युत्पन्न बुद्धि-शक्ति के द्वारा, यथोचित समाधान किया। यही नहीं, उन्हें जैन-धर्म के व्यापक सिद्धांतों का क़ायल भी उस ने बनाया। अन्त में चलते चलते एक दिन कुमार भगवान् महावीर के पास आ पहुंचा। और दीक्षा-व्रत को ग्रहण करने की प्रार्थना उस ने उन से की। प्रभुने उसकी दृढ धारणा, वाक्-चतुरता, मन की मज़बूती और संसार से उपराम की अवस्था को देख कर, उसे दीक्षित किया। अब राज-कुमार ने साधु-वृत्ति को धारण कर, जगत् में विचरण करना शुरू किया।

गौतम स्वामी और उदक मुनि के बीच वाद-विवाद

एक समय की बात है, जब कि भगवान् राजगृह के नालन्द नामक मुहल्ले से कुछ ही दूरी पर, एक बन में जिसका नाम 'हस्तिग्राम' था, विराजे हुए थे। उन दिनों भगवान् के साथ में गौतम स्वामी थे। एक दिन पार्श्वनाथ प्रभु के सन्तानिक उदक मुनि भी उधर निकल आये। बातों ही बातों में, उदक मुनि और गौतम स्वामी के बीच प्रत्याख्यान के विषय पर वाद-विवाद छिड़ गया। जिस का विशद वर्णन सूत्र-कृतांग जी में है। गौतम स्वामी ने भिन्न भिन्न युक्तियों के द्वारा प्रस्तुत विषय का प्रतिपादन करते हुए, उदक मुनि का समाधान किया। अन्त में उदक मुनि भगवान् के पास आये और उन के अनुयायी बन गये।

गौशाला का अन्तिम पश्चात्ताप और स्वर्गारोहण।

इधर उधर विचरण करते हुए, एक बार पुनः प्रभु श्रावस्ती की ओर जा पधारे। इस बार वे वहां के कोष्टक उद्यान में विराजे। उन दिनों, गौशाला भी, उन के पहले से, यहाँ आया हुआ था। अपने आप को लोगों के सामने यह 'जिन' कहा करता था। यह अष्टांगनिमित्त के ज्ञान से भी सम्पन्न था। इसी ज्ञान के बल, यह भूत, भविष्य की बातों को जान लेता, तथा लोगों पर प्रकट कर देता था। यह एक कुम्हार के यहां पर टिका हुआ था। जिस का नाम हाला-हला था। संसार प्रत्येक वस्तु की पहले परीक्षा लिया करता है। और, उस परीक्षा के तात्कालिक फल की ओर भी उस की टकटकी लगी ही रहती है। यदि उस परीक्षा का फल उन के मन के अनुसार उतर गया, तो फिर लोग उस वस्तु पर लट्टू हो कर टूट पड़ते हैं। जगत् का यह एक साधारण सा नियम है। इसी नियम के नाते गौशाला के अष्टांग-निमित्त ज्ञान की चर्चा प्रायः सारे गांव में फैली हुई थी। लोग उस के यश को सुन सुन कर उस के निकट आते थे। और, धड़ाधड़ उस के शिष्य बनते जाते थे। 'चमत्कार को नमस्कार' सभी किया करते हैं। थोड़े ही दिनों में वहां के अधिकांश लोग उसे अरिहंत के समान ही समझने लगे। एक दिन, गौतम स्वामी ने भी, जो नगर में, प्रभु की आज्ञा से, गोचरी के लिए गये हुए थे, सुन पाया, कि वहां गौशाला आया हुआ है और जो वहां अरिहन्त व सर्वज्ञ के नाम से प्रख्यात हो रहा है। ज्योंही उन्हों ने इस बात को सुना, वे उलटे पैरों प्रभु के पास आये और उन के निकट बैठे हुए बीसों मनुष्यों के बीचोबीच, वे बोले कि "भगवान्! गौशाला, जो इस बस्ती में आया है, और जिसे लोग 'अरिहन्त' अथवा 'सर्वज्ञ' के नाम से पुकारते हैं, यह बात कहां तक न्याय-संगत और सत्य हो सकती है?" इस पर प्रभु ने फ़र्माया, कि "गौतम! क्या, मंखली के पुत्र गौशाला की बात पूछते हो? वह तो एक अजिन है। अपने को फिर वह जिन कैसे मानता है? हां, तेजोलेश्या उस के पास अवश्य है। परन्तु बहुत समय हुआ, जब कि मैं ने ही

उसे दीक्षित किया था। शिक्षा भी उसने मेरे ही पास पायी थी। उस के कुछ ही काल के पश्चात्, वह मुझ से अलग हो गया। फिर एक बार वह मुझ से आ कर मिला भी। कुछ दिनों तक फिर भी वह मेरे साथ रहा। पर वह तो अपने पूर्व-कृत कर्मों तथा उन के अनुसार बने हुए उस के अपने स्वभाव से लाचार है। मुझ से वह फिर अलग हो गया। अष्टांग-निमित्त के योग से उस की प्रसिद्धि चाहे फैल रही हो, पर अरिहन्त वह हो नहीं सकता।" यह सुन कर गौतम स्वामी के मन का सन्देह मिटा। और प्रभु को वन्दना कर ज्ञान ध्यान में जुट पड़े।

अब एक दिन नगरी में गोचरी के लिए, आनन्द नामक मुनि पधारे। वे भी प्रभु ही के द्वारा दीक्षित हुए थे। मार्ग में जाते जाते गौशाला ने कहीं से उन्हें देखा। उस ने उनको बुला कर कहा,—"आनन्द! तुम्हारे गुरु मुझे तो एक मंखली का पुत्र कहते रहते हैं और जनता में अपना नाम फैलाने के बहाने अपने आप को धर्माचार्य कहलाने की कोशिश करते हैं। यही नहीं, उपदेश देते देते, वे जहां एक ओर अपनी प्रशंसा के पुल बांधते रहते हैं, वहां दूसरी ओर, मेरी निन्दा भी वे भरपूर किया करते हैं। मेरे अरिहन्त होने में उन्हें सन्देह है। यही नहीं,मुझे वे अरिहन्त मानते भी नहीं है, ऐसा भी यदि कहा जाय तो कोई झूठ नहीं है। कदाचित् इस का मुख्य कारण,मेरी तेजोलेश्या की शत्रु-संहारिणी शक्ति से वे जानकार न हों। परन्तु इस तरह मेरी निन्दा कर के, अब वे जीवित नहीं बच सकते। वेही क्यों,उन का सारा परिवार भी, उन के साथ, अब मेरी तेजोलेश्या की धधकती हुई अग्नि में, अपने प्राणों को होम देना चाहता है। यही हाल उन के शिष्यों का होगा। परन्तु हां, यदि तुम चाहो, तो अपने आप को मेरी तेजोलेश्या की शक्ति से बचा सकते हो। और नहीं, तो मेरे साथ वैर-विरोध कर के देख लो, कि उस का परिणाम क्या होता है।

आनन्द मुनि और गौशाला तब एक दूसरे से अलग हुए। गोचरी ले लेने के पश्चात् मुनि भी भगवान् के पास आये। उन्हों ने आ कर प्रभु से सारा हाल, आज का, कह सुनाया। अन्त में, आनन्द मुनि ने भगवान् से पूछा—क्या भगवन्! सचमुच में गौशाला की तेजोलेश्या में इतनी शक्ति है? या, वह केवल अपनी बड़ाई हांकता है? क्या, आप से वीर सर्वज्ञों पर भी उस की वह शक्ति

अपना काम दिखा सकती है ?" इस पर भगवान् ने कहा--"अरिहन्तों के सिवाय औरों का काम करने में वह शक्ति सचमुच में सामर्थ्यवान् है। अतः अच्छा हो, कि आप मुनियों में से कोई भी उस के साथ व्यर्थ का वाद-विवाद मोल न लें। आनन्द! जाओ और सम्पूर्ण--अन्य मुनियों को भी इस बात का सन्देशा दे आओ।" आनन्द मुनिने वैसा ही किया।

इतने ही में गोशाला वहां आ पहुंचा। वह प्रभु को सम्बोधित करते हुए बोला—ऐ काश्यप! लोगों के सम्मुख तुम कभी तो मुझे एक मंखली का पुत्र बतलाते हो और कभी अपना शिष्य कह कर पुकारते हो। मुझे समझ नहीं पड़ता, कि एक ओर तो तुम सर्वज्ञ बनते हो, और दूसरी ओर, अपनी ज़बान को पलटने में भी तुम्हें पल-भर नहीं लगता। परन्तु तुम गुमराह बने हो, इस बात का कोई ध्यान ही तुम्हें नहीं है। हां, मैं भी मानता हूँ, कि कोई एक गोशाला तुम्हारा शिष्य रहा होगा। परन्तु वह गोशाला तो शुककुल में उत्पन्न हुआ था। और उसका तो कभी का निधन भी हो चुका। निधन के बाद वह देव-लोक में गया है। और वहां देव-योनि में,अपने धर्म ध्यानादि के बल,जाकर जन्मा है। हां उसके निधन होने पर एक बात अवश्य अचरज भरी यहां हुई है। वह बात थी-मैं ने उस शुक-कुलोत्पन्न गोशाला के शरीर को,उस के निधन हो जाने पर, अपने तत्कालीन शरीर की अपेक्षा बड़ा ही सुदृढ, सुंदर और शक्तिशाली तथा भाँति भाँति के उपसर्गों को सहने में सबल देखा था। इसी कारण विशेष से, मैंने अपने पुराने शरीर को तो वहीं पटका। और, अपने तपोबल के द्वारा उस में से अपनी आत्मा को निकाल, उस में उसे डाल दी। हाथ की छूटी तो मिल भी सकती है; परन्तु मुँह की छूटी फिर कभी नहीं मिलती। अतः सम्भाल कर बोलो। मुझे बिना ही समझे बूझे अपना शिष्य तुम कहते कैसे हो? मैं तो उदय मुनि कहलाता हूँ।"

तब भगवान् बोले—गोशाला! दाई से भी कहीं पेट छिपा है? यों मिथ्या-लाप कर के क्यों स्वयं ही अपनी आत्मा का हनन तुम करते हो! मुझ से तुम्हारी एक भी बात छिपी नहीं है।"

इस पर गोशाला और भी झल्लाया और बोला "काश्यप! क्या अपने

काल को नज़दीक बुला रहे हो ? मुंह को बन्द करो ! नहीं तो अभी मटिया मेट हो जाओगे !"

गौशाला की इस अनधिकार चेष्टा को देख कर, प्रभु के शिष्यों में से (१) सर्वानुभूति मुनि और (२) सुनक्षत्र मुनि से अब और चुपचाप न बैठा गया। वे अपने सर्वज्ञ और सर्व गुण–सम्पन्न तथा महा योगेश्वर गुरु के अपमान को और अधिक समय तक न सह सके। इन दोनों में से पहले ने गौशाला से कहा "गौशाला! कौए कुत्ते कहलानेवाले नीच से नीच प्राणी तक भी अपने साथ किये हुए उपकारों का बदला यों नहीं चुकाया करते। वे भी प्राण रहते अपने उपकारी का यों अपमान नहीं करते। जिन सर्वज्ञ भगवान् ने तुम्हें शिक्षित किया, दीक्षित किया और बनाया तुम्हें आज के लायक़, उन्हीं के साथ ये दो दो बातें? इस प्रकार के तिरस्कार की तिज़ारत? उन के उपकारों का बदला चुकाने का यह अनोखा ढंग? गौशाला! तुम्हारा ज्ञान भास्–रूप है। तुम्हारी विद्या विषैली है। तुम्हारा वैभव व्यर्थ है। तुम्हारा मान मैला है। तुम्हारा तप संसार को ताप-दायक है। और जगत् में तुम्हारा होना न होना एक सरीखा है।"

यह कथन सुन कर गौशाला के क्रोध की दावानल भड़क उठी। उस ने उसी क्षण मुनि सर्वानुभूति पर तेजोलेश्या का प्रहार किया। उस ने दृष्टि–विष-सर्प की ज्वाला की भांति मुनि के कोमल शरीर को बात की बात में झुलसा मारा। मुनि ने अपने ऊपर तेजोलेश्या का प्रहार होते देख, शुभ ध्यान के साथ आत्मा की लौ लगायी। और संसार से नाता तोड़, स्वर्ग से अपना नाता जोड़ा। तब तो गौशाला को अपनी शक्ति का और भी ग़रूर हो आया। वह पहले से भी अधिक, इस बार, भगवान् का तिरस्कार करने लगा। तब ऊपर कहे, हुए भगवान् के दूसरे शिष्य, सुनक्षत्र मुनि ने अपने मुँह के सामने ऐसा होने देना अनुचित और कायरता का काम समझा। और लगे वे गौशाला को वाक्-बाणों के द्वारा ऊपर और नीचे लेने और उसे अपनी कृतघ्नता का पूरा पूरा मज़ा चखाने। बदले में गौशाला ने उन पर भी वैसा ही अपनी तेजोलेश्या का वार किया, जैसा कि सर्वानुभूति मुनि पर उस ने किया था। बस, फिर क्या था? मुनि बात की बात में शरीर छोड़ कर स्वर्ग में चले गये। गौशाला के गर्व की सीमा और भी बढ़ गयी। तब तो वह और भी कठोरता से भगवान् पर अपने वाक्–बाणों का प्रहार करने लगा।

इस बार स्वयं वीर प्रभु ही ने उस की कटूक्तियों का उत्तर देना उचित समझा। वे बड़ी ही गम्भीरता और सरलता के साथ गौशाला से कहने लगे-"गौशाला ! अपने शिक्षा और दीक्षा-गुरु के प्रति ऐसा घृणित व्यवहार ? जिस के एकमात्र बल से तू ने शास्त्रों का ज्ञान पाया; तेजोलेश्या को सिद्ध की; उसी के साथ ऐसे कठोर शब्दों का व्यवहार ? इस से तो तेरे हृदय और तेरे ज्ञान की कमज़ोरी जान पड़ती है। क्रोध यह तो अज्ञान का लक्षण है। ज्ञान और तप की शोभा तो विनय और शान्तता ही से होती है। अतः तू अब भी अपने आपे को संभाल।" अब तो गौशाला के क्रोध की सीमा ही न रही। वह भगवान् के पास चला गया। और अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उस ने इस बार स्वयं भगवान् ही पर अपनी तेजोलेश्या का घातक प्रहार किया। परन्तु वह तेजोलेश्या भगवान् के शरीर को भस्म करने में उसी प्रकार असमर्थ बन, वहां से वापस गौशाला की ओर लौटी, जैसे भयंकर हवा का झोंका किसी पहाड़ की ओर जा कर, उस से जोरों से टकराते हुए वापिस अपने प्रवाह के स्थान की ओर लौट जाता है और वहां के छोटे बड़े झाड़ों को जड़ से उखाड़ कर फेंक देता है। उस शक्ति ने गौशाला के द्वारा अपना यों दुरुपयोग करते देखा। तब तो वह और भी भयंकर रूप से सनसनाती हुई गौशाला की ओर लपकी। पास आ कर उस ने गौशाला ही के शरीर को भस्मी-भूत करना प्रारम्भ किया। अपनी ही शक्ति के इस प्रत्याघात से उस का शरीर भीतर ही भीतर, कांच की भट्टी की तरह, जलने लगा। परन्तु हिम्मत का वह इतना पक्का था, कि उस ने मुँह से उफ़ तक न की। वह और भी कठोर बन कर भगवान् से बोला- "काश्यप ! कुछ पर्वाह नहीं। जो भी मेरी यह शक्ति तुम्हारे शरीर पर वार करने के लिए असफल रही है, तब भी बच के कहां जाओगे ? आज या कल इसी से तुम्हारा अंत होगा। याद रक्खो, आज से ठीक छः महीने के पीछे, जब कि तुम छद्मस्थ अवस्था में होगे, इसी शक्ति से उत्पन्न हुए पित्तज्वर के द्वारा तुम्हारा निधन होगा। इस में किसी भी प्रकार का संदेह नहीं है।" यह सुन कर भगवान् बोले:—

"गौशाला ! बिल्ली के कहने और व्यर्थ के मनसूबे बांधने से छींका नहीं टूटता। इसी भाँति तुम्हारा यह कथन एक पागल का प्रलाप मात्र है। मेरी आत्मा आज अर्हंतावस्था का भोग कर रही है। अभी तो मैं ठीक सोलह वर्ष तक इसी अवस्था में विहार करूँगा। परन्तु तेरी ही तेजोलेश्या से उत्पन्न होने

वाले पित्त-ज्वर के द्वारा, आज के ठीक सातवें दिन, तेरा निधन अवश्य हो जावेगा। इस लिए अपने शुद्ध स्वरूप का स्मरण कर। अपनी कुत्सित भावनाओं का अंत कर। जिस से अंत तो कम से कम तेरा सुधर जाय।" भगवान् ने इतना कहने के पश्चात् मौन धारन कर लिया।

तेजोलेश्या के प्रत्याघात से पीड़ित हो कर, गौशाला मूक-सा बन गया। उस समय, भगवान् के गौतम आदि शिष्यगण, उसे यों प्रबोधित करने लगे:—

"ऐ विवेक-हीन गौशाला! अपने धर्म-गुरुओं के अपमान ही का यह जीता जागता फल है। जो उन की हित की शिक्षा को नहीं मानते, उन की ऐसी ही अधम गति होती है। तू ने अभिमान, आडम्बर और झूठे आत्म-सम्मान के वश में हो कर अपने द्वारा पढ़े हुए शास्त्र, सद्युक्ति और सदाचार का सत्यानाश कर दिया। तूने शास्त्रों की अवज्ञा, कुयुक्तियों के सहवास और असदाचार में अनुरक्त हो कर अपने ही हाथों अपने पैरों में कुल्हाड़ा मार लिया। धर्माचार्य पर फेंकी हुई तेरी उस तेजोलेश्या का तेज अब कहां गया? 'रस्सी जल जाती है, पर ऐंठन नहीं जाती। इसी नाते, जो भी गौशाला तेजोलेश्या के तेज के मारे जल—भुन रहा था, तथापि वह जरा से जर्जरित शिथिल—अंग एवं भूखे शेर की भांति, घूर घूर कर, उन की ओर देख रहा था। परन्तु असमर्थ होने के कारण, उस के क्रोध का असर दूसरों पर कुछ न होते हुए, स्वयं उसी को खाये जा रहा था। कुछ देर के बाद, जब उस की क्रोधाग्नि कुछ कम हुई, वह कराहता हुआ अपने स्थान की ओर चला गया। और गिरते पड़ते किसी भी तरह वह अपने स्थान पर आ पहुँचा।

अब एक एक कर के छः दिन पूरे हुए। सातवां या उस के जीवन का अन्तिम दिन भी पास आ लगा। जो भी यह अन्तिम एक सप्ताह का समय, भयंकर से भी भयंकर और बड़ा ही कलपानेवाला उस के लिए बीता, तथापि उस का अन्त बड़ा ही सुखद हुआ। उस की अन्तिम घड़ियों में उस के हृदय में विवेक पैदा हो आया। इस विवेक के जागरूक होते ही, उसे अपने किये हुए कुतकार्यों पर पश्चात्ताप होने लगा। उसी घड़ी अपने चेले—चांटियों को इकट्ठा कर के वह उन से कहने लगा "शिष्यो! मैं ने इतने समय तक सचमुच में अपनी आत्मा और जगत् को धोखा दिया, जो अभिमानवश अपने सर्वज्ञ गुरु भगवान् महावीर

के सत्सिद्धान्तों को न तो स्वयं ही माना और न उन्हें दूसरों ही को मानने दिया। मैं ने आज तक अपने असली नाम को छिपाने की कोशिश की। मेरा नाम गोशाला ही है। मैं वीर भगवान् ही का शिष्य और एक मंखल-मंखली का पुत्र हूँ। केवल अज्ञान के आधीन होकर ही इतने दिनों तक मैं ने अरिहन्त कहलाने का थोथा दम भरा था। केवल ज्ञानी कहलाने की कोशिश की थी। सब कुछ मैं ने किया। परन्तु पाप फुलता मात्र है; फलता नहीं, वाला नतीज़ा ही हुआ। शिष्यो! अब यदि मेरे अपराधों की ओर ध्यान न कर, आप लोग मुझ गोशाला की आत्मा के लिए चाहते हैं, कि स्वर्ग में उसे सच्ची शान्ति मिले तो इसी में आप का तथा संसार का हित है, कि आप लोग अपने सत्स्वरूप को पहचानने के लिए, सारी झंझटों को छोड़ दीजिये। और, एक-मात्र वीर प्रभु ही की शरण में जा कर, उन्हीं के सत्-सिद्धान्तों का पालन स्वयं कीजिये और दूसरों से करवाइये। इस काम के लिए एक क्षण-भर की ढील भी अब आप न कीजिये।" बस येही गोशाला के अन्तिम शब्द थे। यही उस की आख़िरी अभिलाषा थी। जीवन-भर गुमराह बने रह कर भी, जीवन की अन्तिम घड़ियों ही में फिर क्यों न हो, एक मात्र सत्संगति ही के कारण, गोशाला ने अपने शरीर को छोड़ कर, सीधे स्वर्ग का रास्ता पकड़ा। उस के शिष्यों ने भी उस की अन्तिम अभिलाषा को पूरी की। उन्हों ने भगवान् की शरण में जा कर, उस की स्वर्गस्थ आत्मा को सच-मुच में शान्ति प्रदान की। जगत् के विभिन्न धर्मों का इसी भांति अन्त हो। सारा जन-समुदाय सुमार्ग पर लग कर, सच्ची शान्ति को इसी तरह प्राप्त करता रहे और घर घर व दर दर में वीर-वाणी का समादर हो तथा वीर-धर्म का प्रचार तथा प्रसार हो।

पाठको! यों तेजोलेश्या का अनुचित उपयोग करने से, भगवान् के शरीर में केवल दाह-ज्वर मात्र का प्रकोप कुछ काल तक बना रहा था। परन्तु सम-दर्शी प्रभु का, अपनी उस अवस्था पर भी, कभी कोई राग-द्वेष न था। क्यों कि, आप के राग-द्वेषात्मक कर्मों का एकान्त क्षय हो चुका था। केवल वेद-नीय आदि कर्मों का खाता-मात्र थोड़ा बहुत रह चुका था, यह कारण भी था, कि तेजोलेश्या का प्रकोप आप के शरीर पर कुछ काल तक बना रहा। इस के पश्चात् प्रभु ने वहां से विहार कर दिया।

भगवान् के शरीर की व्याधि का शमन

प्रभु ने वहां से विहार कर, छोटे-बड़े सभी गांवों की भूमि को इस बार पावन की। विचरते विचरते वे मेंढ़िय ग्राम में पधारे। वहां साण-कोष्टक नामक एक उपवन में आप विराजे। प्रभु के आगमन को सुनते ही वहां की जनता उन के दर्शन व वन्दन के लिए उमड़ पड़ी। जनता ने आप के दर्शनों से अच्छा लाभ उठाया। तेजोलेश्या से उत्पन्न दाह-ज्वर अभी तक प्रभु के शरीर में बाधा पहुंचा रहा था। भगवान् जब तक वहां विराजे, वह रास्ता रात-दिन बहता रहा। गांव से कुछ ही दूरी पर सिंह-अणगार नाम के एक मुनि मालिया कच्छ नामक उद्यान के समीप के वन में ध्यानस्थ रहा करते थे। एक दिन राह चलने वालों से, आप ने सुना- "भगवान् के लिए गोशाला ने छः महीने में निधन की बात कही थी। आज-कल प्रभु का स्वास्थ्य भी बिगड़ता जा रहा है। परिणाम क्या होगा, कोई नहीं कह सकता।" लोगों के द्वारा सुनी हुई इस करुण कहानी ने मुनि के हृदय को वेध दिया। शोक-मग्न हो कर वे रोने लगे। यदि सचमुच में प्रभु के शरीर का निधन हो गया, तो संसार की क्या गति होगी, मुनि यह बात सोच सोच कर बड़े ही दुखित हुए। इस घटना को प्रभु ने जान ली। तब तो उसी समय प्रभु की ओर से सिंह-अणगार मुनि को बुलावा भेजा गया। संदेशा पाकर तत्काल ही मुनि, प्रभु के निकट आये। आ कर के मुनि ने चरण वन्दन किया। तब प्रभु ने मुनि से कहा "मुनि ! चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। अभी तो मैं सोलह वर्ष तक गज-हस्ती की तरह विचरण करूंगा। फिर अवश्य-म्भावी बात के लिए शोक करना भी अनुचित है। अब भविष्य की चिन्ता को दूर करो। और, वर्तमान् के लिए, पड़ौस के गांव में जा कर वहां की गाथा-पत्नी से मिलो। उस का नाम रेवती है। उसने 'बीजोरे का पाक' बनाया है। उसे ले आओ।" आज्ञा को सिर कन्धों पर चढ़ा कर, मुनि रेवती देवी के घर गये। मुनि का अचानक आगमन देख कर रेवती ने अपने भाग्य की भूरि भूरि प्रशंसा की। पश्चात्, उस ने हाथ जोड़ कर मुनि-आगमन का कारण पूछा। मुनि ने उस के द्वारा पाक के बनाये जाने और भगवान् के निमित्त उसे ले जाने का भाव

दर्शाया । रेवती के आनन्द की सीमा न रही । उस ने बड़ी ही श्रद्धा, भक्ति और सद्भावना के साथ उस पाक को बहराया । मुनि पाक को ले कर प्रभु के निकट आये। प्रभु ने भी उसे ग्रहण कर लिया । जिस से उन की शारीरिक व्याधि का बिलकुल शमन हो गया । अब वीर प्रभु के शरीर को पूर्ण नीरोग देख-सुन कर साधु-साध्वी, तथा श्रावक--श्राविका और देवी-देवता सभी का चित्त प्रसन्नता से प्रफुल्लित हो उठा।

तेजोलेश्या से भस्मसात् होनेवाले मुनियों तथा गौशाला की गति

एक दिन भगवान् महावीर और गौतम स्वामी में नीचे के अनुसार वार्तालाप हुआ:-

गौतम--भगवन्! आप के वे दोनों शिष्य—(१) सर्वानुभूति और (२) सुनक्षत्र—गौशाला की तेजोलेश्या से भस्मीभूत हो गये थे। उन की कौन सी गति हुई? वे कहां जा कर उत्पन्न हुए? कृपा कर के मुझे कहिये।

भगवान्--गौतम! (१) सर्वानुभूति तो यहां से आठवें स्वर्ग में जा कर जन्मे हैं और वहां उन की स्थिति अठारह सागरोपम की है। इसी भांति, सुनक्षत्र की स्थिति बाईस सागरोपम की है; और यहां से चल कर, वे अच्युत नामक देव लोक में जाकर जन्मे हैं। यों, वे दोनों के दोनों, अपने अपने देवलोकों की आयु के समाप्त हो जाने पर महा-विदेह क्षेत्र में जाकर जन्म धारण करेंगे। फिर वहां एक दिन वे दोनों साधुवृत्ति को स्वीकार करेंगे। उस अवस्था में घोर तपस्या कर के, अपने अपने आठों कर्मों का क्षय करेंगे। उस के पश्चात् वे मोक्ष को प्राप्त हो जावेंगे?

गौतम—भगवन्! दोनों मुनियों की गति को तो मैं ने सुन ली। अब कृपा कर के कहिये, कि यहां से निधन को प्राप्त हो कर, गौशाला कौन सी गति को प्राप्त हुआ?

भगवान्—गौतम! गौशाला भी यहां से अच्युत-स्वर्ग में गया। वहां की शरीर-लीला के संवरण हो जाने पर, उस की आत्मा अनेकों योनियों में चक्कर काटती फिरेगी। अन्त में वह मानव-भव प्राप्त कर, अपने संपूर्ण कर्मों का क्षय कर मुक्ति में जायगा।

प्रकरण—सातवां

मान और अपमान का जोड़ा: दशार्णपुर के राजा को वैराग्य

प्रभु एक दिन विचरते विचरते [१]दशार्णपुर नामक बस्ती के बाग़ में जा पधारे। भगवान् के पदार्पण की खबर उसी समय गांव के कोने कोने में फैल गयी। उन के आगमन की खबर राजमन्त्री के द्वारा वहां के राजा को भी मिली। उसी समय राजा ने मन्त्री के सम्मुख अपने विचार प्रकट किये, कि भगवान् के दर्शन और वन्दन को मैं भी जाऊंगा। परन्तु जाऊंगा मैं ऐसी धूमधाम और सजधज के साथ, कि आज तक वैसे विशाल आयोजन के साथ, कोई भी, प्रभु को वन्दना करने के लिए न आया होगा। आज्ञा पाते ही मन्त्री ने उसी प्रकार नगर को सजाने का प्रबन्ध कर दिया। उस में भी विशेष कर के राजमहलों से प्रभु के विराजने के बीच की सड़कें, गलियां, मकान, बाग, आदि को सजाने का विशेष आयोजन किया गया था। निर्धारित समय पर, लाव—लश्कर के साथ, राजा हाथी के हौदे पर बैठ कर भगवान् के दर्शन और वन्दन को, राज—महलों से निकला। पहले के आठ मार्गों की सजावट और समृद्धि को देख कर राजा को बड़ा ही गर्व हुआ और वह फूले अंग न समाने लगा। परन्तु राजा का वह गर्व अधिक

१—यही दशार्णपुर आज कल मन्दसौर कहलाता है; जो कि रतलाम और अजमेर के बीच में पड़ता है।

काल तक न टिका। इस नाशवान् जगत् में प्रत्येक वस्तु के दो पहलू होते हैं। फिर उन्हें चाहो तो सुख और दुख के नाम से पुकारो। चाहे उन्हें उजियाले और अंधियारे पाखों के नाम से कहो। या उत्थान और पतन उन के नाम रक्खो। ये दोनों पहलू ऐसे साथीदार हैं, जिन के साथ रहने की प्रथा की, एक ही शरीर के दो अंगों—अर्थात वामांग और दक्षिणांग—के एक ही साथ रहने की परिपाटी के साथ उपमा दी जा सकती है। जैसे, चलते समय किसी के शरीर का पहले बांयां पैर गिरता है, तो उसी के पीछे, आगे बढ़ने के लिए दाहिना पैर उठकर गिरता है। बस, ठीक यही नियम उन्नति और अवनति, सुख और दुख, रात और दिन, वसन्त ऋतु और ग्रीष्मकाल, उष्णता, और ठण्डक, तथा मान और अपमान आदि द्वन्द्वों के लिए लागू होता है। इसी नियम के अनुसार, राजा को जो बड़ा भारी मान हो आया था, तो दूसरी बार, वहीं का वहीं, उस का उतना ही बड़ा अपमान होना भी परम आवश्यक था। हुआ भी तत्काल वैसा ही। ज्यों ही राजा समवशरण में पहुंचा कि त्योंहि उसी समय स्वर्ग में इन्द्र को अवधि ज्ञान से पता लगा कि दशार्णपुर के राजा को अपनी समृद्धि का बड़ा ही गर्व हो रहा है। अतः उस का गर्व दूर होना ही चाहिए। ऐसा विचार कर अपने आधीन रहे हुए ऐरावत देव को आज्ञा दी, कि ऐसी देव माया करो, जिस से उसका मान दूर हो। अपने स्वामी की यों आज्ञा पाकर देव ने अपनी माया से हाथी को एक अजब तरह से सिङ्गार कर भगवान् के समवशरण के समीप उतारा। उस की शोभा और विभूति के आगे दशार्णभद्र की सारी विशाल समृद्धि वैसी ही श्रीहत (कान्ति-हीन) हो गयी, जैसे कि मध्याह्न की सूर्य-प्रभा के सामने चन्द्रमा की ज्योत्स्ना। इस को देख कर, राजा के मान का बड़ा ही विशाल महल चूर चूर हो गया। वह मन ही मन बड़ा भारी लजाया। और अपने आप को कहने लगा—" हाय! क्यों, ऐसे गंदले गर्व से नाता जोड़ कर मैंने अपनी आत्मा को अपवित्र बनायी! सच है, इस गर्व ने किसे नहीं गिराया? इस गर्व के आधीन हो कर किस ने सुख पाया? इस एकमात्र मान ही ने सब का मान मैला किया है। जिस ने भी इस की रचा का विचार किया, बस उसी को इस ने मिट्टी में मिलाया। सचमुच में यह बड़ा ही निन्दनीय है। चलो, इतने ही से खैर हुई। इन्द्र ने अपनी समृद्धि से मुझे परास्त कर दिया है, तो भी कुछ चिन्ता नहीं। अब इन्द्र को तो नीचा मैं दिखाऊंगा ही। परन्तु इस

के साथ इस बार में कर्म को भी घसीटूंगा। साधु--वृत्ति को स्वीकार कर, अब इन्द्र और कर्म, इन दोनों पर, मैं एक बड़ी ही अनोखी विजय प्राप्त करूंगा।"

बस, राजा का मन तो यों वैराग्य में रंगा गया था। अन्त में शुद्ध हृदय हो कर उस ने भगवान् से दीक्षा ग्रहण करने के लिए प्रार्थना की। तब प्रभु ने दशार्णभद्र राजा को दीक्षा दी। इस के पश्चात् प्रभु ने यहां से विहार कर दिया।

मंडूक श्रावक और तापसों का संवाद

राजगृह में मंडूक नाम का एक श्रावक रहता था । उसने प्रभु को वहां आये जाना । उस ने उन के दर्शन और वन्दन की इच्छा की । ज्यों ही वह नगर के बाहर आया, कुछ तापस लोग उसे दिख पड़े । वे चर्चा कर रहे थे, कि "प्रभु ने धर्मास्तिकाय आदि के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है,वह तो समझ ही में नहीं आता । क्योंकि,जब कोई चीज़ दिखने ही में नहीं आती,तो उस का अस्तित्व माना भी कैसे जाय ? और जिस का आकार-प्रकार तथा रूप रंग नहीं मालूम, उस की जानकारी होवे भी तो कैसे ? प्रकृति में भी हम इसी नियम का पालन देखते हैं । हमारे शरीर में, नीचे से ऊपर की ओर जाते हुए इन्द्रियों की बनावट और क्रम ही हमें बता रहा है, कि पहले किसी वस्तु को शरीर से छूना चाहिए । फिर,उसे चखना या सुंघना हो, तो वह किया जाना चाहिए । तदनंतर उसे हम देखते-सुनते हैं । और सब के पीछे उस के लिए सोचते समझते हैं । परन्तु पहले सोचते–समझते उसके लिए नहीं है ।" यह बात वे तापस आपस में कर ही रहे थे, कि इतने ही में मण्डूक को उन्हों ने देख पाया । उन्हों ने उसे अपने पास बुलाया और बोले–"मन्डूक ! तेरे धर्माचार्य (महावीर) पंचास्तिकाय कहते हैं । उन्हें कैसे जाना और माना जावे ?" इस के उत्तर में मंडूक ने यों कहा "धर्मास्तिकाय से अपना जो कार्य निकलता या सधता है, बस, उसी एक–मात्र काम के ऊपर से धर्मास्तिकाय का अनुमान किया जा सकता है । जैसे, कहीं धूएँ को उठता हुआ देखा जाय, तो उस से आगी का अनुमान भी निश्चय–पूर्वक कर लिया जाता है । और, वहां आगी होनी भी अवश्य चाहिए, चाहे फिर उसे जा कर के हम देखें, या न देखें । इसी तरह धर्मास्तिकाय के कार्यों पर से उस के अस्तित्व का पता लग ही जाता है । यही कारण है, कि उन के कार्यों तथा चिह्नों के द्वारा छद्मस्थ-अल्पज्ञ-जीवों को अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है । यदि उन के कार्य हमारे सन्मुख न हों तो हम उन्हें नहीं जान सकते हैं ।" तापस लोग इतना कहने पर हंस पड़े और फिर से बोले– "अरे मंडूक ! तू जो इनका श्रावक है । फिर भी तू इन बातों

को भली प्रकार से नहीं जानता ?" बदले में मंडूक ने कहा-इस बात का उत्तर तो मैं ने तुम्हें पहले दे दिया है, कि उन्हें उन के कार्यों पर ही से जाना जाता है। तब अल्पज्ञ लोग प्रत्यक्ष रूप में उन्हें जान भी कैसे सकते हैं ?" इस के पीछे मंडूक ने उन तापस लोगों से पूछा-"वायु है या नहीं ? इस पर वे लोग कहने लगे! "वाह ! वायु है क्यों नहीं ? वह अवश्य है। और अपन उसे मानते भी तो हैं।

मंडूक-"अच्छा, तो उस वायु को तुम ने कभी देखा है, या नहीं देख सकते हो ?"

तापस-मंडूक ! अरे वायु भी कभी दिखती है ? हम और तुम क्या, उसे तो कोई भी नहीं देख सकते।

मंडूक-अरे ! जब वायु दिख नहीं पड़ती, तब उस के अस्तित्व को तुम अपने विचारों से मान ही कैसे सकते हो ? और, यदि मानते ही हो, तो किस प्रकार से ?

तापस-मंडूक ! वायु जो भी दिख नहीं सकती तो भी क्या हुआ ? उस के अनेकों प्रकार के जीते-जागते कार्य तो हमारे सम्मुख सदा रहते हैं। देखो उस के लगने से वृक्षों की पत्तियां हिलती रहती हैं। आगी को सिलगाते समय धूआं एकदम सीधा आकाश की ओर नहीं उठता है। हाथ को ऊपर कर के, एक मुट्ठीभर धूल को नीचे डालें, तो वह सीधी ज़मीन पर नहीं आती। टेढ़ी-मेढ़ी गिरती है। ये सब वायु की हरकतों ही के काम हैं। पत्ते, आदि अनेकों प्रकार के पदार्थ एक स्थान से, बिना किसी के उठाये, दूसरे स्थान पर जा गिरते हैं। उन्हें यों उठाने और गिराने का काम भी तो हवा ही करती है। हवा के बिना आगी कभी प्रज्वलित रह ही नहीं सकती। वह हवा ही है, जिस के कारण, पानी की सतह पर लहरें सदासर्वदा लहराती ही रहती हैं। यह भी हवा ही का काम है, जो बहते हुए पानी को सदा-सर्वदा हलका और मीठा बनाये रखती है। जीवधारियों का उन के अपने जीवन में पहला काम हवा को अपने अन्दर खींचना, और अन्तिम काम हवा को बाहर निकालना है। हवा जलाशयों के जल भाफ रूप में बदल कर, उसे अपने द्वारा वृक्षों तक पहुंचाती है; तथा उस के द्वारा उन के जीवन को जगत् में बनाए रखती है। आकाश में दो बादलों को ज़ोरोंसे भिड़ा कर बिजली को पैदा करनेवाली भी तो यही हवा होती है। इस तरह इस के एक नहीं,दो नहीं, वरन् सैकड़ों काम प्रत्यक्ष दिखाये जा सकते हैं।

और इन्हीं कामों से हवा का अस्तित्व हम मानते और जानते हैं।

मंडूक-बस, तापसो! मेरा काम बन गया। मैं भी तो तुम से, बड़ी देर से, यही बात कह रहा था, कि इस जगत् में अनेकों पदार्थ ऐसे भी हैं, जो दिखते तो नहीं हैं; परन्तु उन के कार्यों पर से, तथा इन्द्रियों के अनुभव पर से, उन्हें जाना, पहचाना और माना जाता है। परन्तु आप की मोटी बुद्धि उस बात को अभी तक ग्रहण ही नहीं कर सकती थी! मंडूक के इस प्रकार के कथन को सुन और समझ कर, उन तापसों की आंखें खुल गयीं। उन्हें मंडूक का यही सिद्धान्त धर्मास्तिकाय के लिए भी मानना पड़ा। तब मंडूक वहां से आगे बढ़ा। और भगवान् के पास आ कर, उन्हें बड़े ही प्रेम से उस ने वन्दना की। इस के सिवाय मंडूक ने एक शब्द भी मुख से नहीं कहा। परन्तु सर्वज्ञ भगवान् ने उस के बैठते ही कहा, "भद्र कालोदई तापसों की शंका का अच्छा समाधान किया। तुम ने उन के सामने उदाहरण भी ऐसा रक्खा, कि उन्हीं के मुख से उन की शंका का समाधान हो गया। और, अन्त में, वे सब निरुत्तर बन गये।" इस पर मंडूक ने केवल इतना ही कहा, कि "यह सब सर्वज्ञ प्रभु-चरण-कृपा ही का फल है।" इस के बाद, उस ने प्रभु के चरणों को वन्दना की। और, अपने घर की ओर प्रस्थान किया।

पाठको! इन सारे उदाहरणों को आप के सामने रख कर, लेखक का एक-मात्र यही बतलाने का उद्देश्य है, कि भगवान् महावीर के सम-सामयिक काल में साधारण से साधारण' श्रावक लोग तक, जीवाजीव के तत्त्वों की पूरी पूरी पहचान रखते थे। और, यथा-सम्भव, अपनी सन्तानों में भी उस ज्ञान का प्रचार और प्रसार वे करते कराते रहते थे। यही कारण था, कि यथावसर वे लोग प्रश्न-कर्ताओं की शंकाओं का समाधान करते। और, उन्हीं की बातों से वे उन्हें नीचा दिखादेते थे। अस्तु यदि हम भी इसे प्राप्त करना चाहें, तो हमें भी शास्त्रों का सदा अवलोकन करते रहना पड़ेगा। उन पढ़ी हुई बातों को जीवन में उतारने के लिए, उन पर एकान्त में मनन करना पड़ेगा। इतना ही नहीं, अपने से ज्ञान, अनुभव और उम्र में वृद्ध पुरुषों की दो बातें भी कभी हमें सुननी पड़ेंगी। इतनी कठिनाइयों को सहने के लिए यदि हम तैयार हों, तो आज भी हम ज्ञान और अनुभव में बड़े से बड़े बन सकने की बाज़ी मार सकते हैं।

शंखजी और पोखलीजी श्रावक.

एक बार प्रभु विचरते हुए श्रावस्ती नगरी की ओर पधारे। प्रभु-आगमन का समाचार तत्काल ही सारी नगरी में फैल गया। शंखजी, पोखलीजी, आदि आदि अनेकों श्रावक-जन तथा अन्य धर्मावलम्बी लोग प्रभु के दर्शनों के लिए गये। और, आप के उपदेशों से सभी ने यथामति लाभ उठाया। जन-समूह पीछा बस्ती में आया। उस समय संखजी तथा पोखलीजी ने मार्ग में आते हुए विचार किया, कि भोजन कर के अपन पौषध व्रत का सेवन करेंगे। इधर पोखलीजी ने शंखजी के साथ में यह विचार किया था। और उस के अनुसार, भोजन की सारी व्यवस्था भी पोखलीजी ने वैसी ही कर दी थी। परन्तु पोखलीजी के विलग होने पर कुछ ही देर में शंखजी का विचार बदल गया। उन्हों ने सोचा, कि " आज तो पाक्षिक (पक्खी) है। अतः चतुराहार (चारों प्रकार के आहार) का परित्याग कर के पौषध-व्रत करना चाहिए। " यह विचार उठते ही, अपने घर आ, उन्हों ने अपनी पत्नी को सूचित करवा दिया। और, आप पौषध-शाला में जा, पौषध-व्रत को धारण कर बैठ रहे। उधर पोखलीजी भोजन की व्यवस्था में ही लगे हुए थे। भोजन के तैयार हो जाने पर, अब वहां शंखजी के लिए पुकार मची। दूसरे दूसरे श्रावक भी वहां सब आ चुके थे। परन्तु शंखजी वहां नहीं थे। तब पोखलीजी ने आये हुए अन्य सज्जनों से प्रार्थना की, कि कुछ ही देर के लिए, आप और ठहरने की कृपा करें। शंखजी अभी आये नहीं हैं। मैं अभी अभी उन को लिये आता हूँ। ऐसा कह कर, पोखली जी उसी समय शंख जी के घर की ओर लपके। पर वे घर में होते, तो मिलते। वे तो वहां थे ही नहीं। शंख जी की स्त्री ने पोखलीजी को आते हुए देख कर उन के स्वागत के लिए सात आठ पांव सामने गई। उन को अभिवन्दन किया। फिर उन्हें आसन दे कर उन के हांपते हांपते आने, तथा अपने पति को ढूंढ़ने का कारण भी पूछा। उत्तर में यह जान कर, कि शंख जी पौषध-शाला में होंगे, वे वैसे के वैसे पौषधशाला में आये। वहां शंखजी को धर्म ध्यान, में उन्हों ने देखा। पोखली जी ने उन्हें भोजन के तैयार होने और अन्य

सभी श्रावकों के वहां आ जाने की सूचना दी। साथ ही में, उन के वहां जल्दी से जल्दी चलने की प्रार्थना भी की। शंख जी ने पहले तो अपना सिर हिला दिया। पीछे, पोखलीजी को वहीं के वहीं अड़े हुए देख कर, वे बोले–"पोखलीजी! आज तो मैं ने पौषध–व्रत की आराधना कर ली है। इस में तो आप जानते ही हैं, कि चतुराहार का परित्याग कर दिया जाता है। अतएव आज तो मुझे खाना कल्पता नहीं है। आज तो मैं किसी भी हालत में खाना नहीं ले सकता। और आप के लिए आप की इच्छा।

(१) सूचना–ज्ञान–क्रिया से आत्मा का पोषण करना, अर्थात्--तत्त्व के पठन--पाठन, मनन और चिन्तवन के द्वारा आत्मा को बलवती बनाने का साधन करना, 'पौषध--व्रत' कहलाता है। इस व्रत का पालन, चतुराहार का परित्याग कर के, या केवल प्राशुक पानी ही का सेवन करके किया जाता है। प्राशुक भोजन कर के जो पौषध–व्रत पाला जाता है, उस को आज की भाषा में दया--पालना, कहा जाता है। जिस का अनेकों जगह आज भी प्रचलन है।

शंख जी के उत्तर को सुन कर, पोखली जी ने कुछ त्योरी बदली। वे बोले–"वाह! जब चतुराहार परित्याग रूप धर्म–ध्यान ही प्यारा था, तो फिर रसोई की यह सारी व्यवस्था ही क्यों करवायी? कल यह विचार ही क्यों किया गया था? आप तो ऊंचे प्रकार के पौषध का सौदा करने चले और दूसरे के लिए दूसरे ही प्रकार के पौषध का रास्ता खोला!" आदि अनेक बातें कह-सुन कर भी, जब देख लिया, कि शंख जी तो अब उठते ही नहीं हैं, तब पोखली जी ने भोजनालय का रास्ता पकड़ा। श्रावक लोग वहां उन की राह देख रहे थे। उन्हों ने शंखजी का सारा हाल उन्हें कह सुनाया। तब सब ने मिल कर भोजन किया। पश्चात् धर्म--वृद्धि में वे लग पड़े।

दूसरे दिन, वे सब के सब श्रावक और पोखलीजी प्रभु के पास पहुंचे। इधर, शंखजी के मन में भी पिछली रात्रि में यह विचार आया, कि पौषध--व्रत की अवस्था ही में प्रभु के पास चल कर, उन्हें वन्दना करनी चाहिए। और वहां से आ कर फिर पौषध–व्रत को पाल लेंगे। बस, तब तो सूर्योदय के होते ही, वस्त्र पहन कर प्रभु के पास चल दिये। प्रभु के समीप आ, उन्हें वन्दना की। और निकट में बैठ कर, वीर--वाणी का ध्यान--पूर्वक श्रवण करने लगे। जब भग-

वान् का उपदेश समाप्त हो गया, तब पोखलीजी ने शंखजी को, कल के उन के किये का बदला चुकाना चाहा। और उस के लिए वही समय उन्हों ने अनुकूल भी समझा। पोखलीजी ने शंखजी की ओर अंगुली का इशारा करते हुए कहा—" देखा! आप बड़े धर्म--धुरन्धर हैं! कल तो ये अपने साथ खूब ही अच्छे पेश आये थे! वाह! शंखजी तो ठहरे! फिर कहने--सुनने की बात ही कौनसी है!" शंखजी ने, इस पर, नम्रता-पूर्वक कहा" भाई पोखलीजी! आप तो एक बड़े ही भले श्रावक हैं। आप जैसों के मुंह से ऐसी बातें कहना नहीं फबता। आप का मुझ पर क्रोध करना बिलकुल ही बे--बुनियाद है। पहले भोजन आदि बनाने की बात मैं ने आप से कही थी। पीछे से मेरे विचार चतुराहार परित्याग रूप पौषध--व्रत को पालने के हो गये, तो इस में आप के गर्माने या झल्लाने की ज़रूरत ही क्या है? दूसरे, यह कोई बुरा काम तो था ही नहीं! तीसरे, भोजन में मेरे शरीक न होने के कारण, किसी एक दूसरे आदमी की भोजन की गरज़ पूरी हो गयी होगी। इस में तब आप के लिए आपत्ति ही कौनसी हुई मुझे नहीं ज्ञात होता?" प्रभु ने भी शंखजी की बात का समर्थन किया। वे कहने लगे-" श्रावको! जरा खामोशी से काम लेना अच्छा होता है। शंखजी धर्म के कट्टर अनुयायी हैं। उन्हें धर्म अपने प्राणों से भी प्यारा है। और धर्म जागरणा जागने वाले हैं।

इस के अनन्तर गौतम स्वामी ने प्रभु से धार्मिक जागरणा विषयक प्रश्न पूछा। प्रभु ने उस का विस्तार-पूर्वक वर्णन कह सुनाया। तब शंखजी ने "क्रोध से कितने और कौन कौन से कर्म बंधते हैं?" प्रभु से पूछा। वीर प्रभु ने नीचे के अनुसार उस का विवेचन किया—

" शंखजी! कर्म आठ प्रकार के कहे गये हैं। जैसे, (१) ज्ञानावरणीय; (२) दर्शनावरणीय; (३) वेदनीय; (४) मोहनीय; (५) आयुष्य; (६) नाम; (७) गोत्र; और (८) अन्तराय। इन आठों प्रकार के कर्मों में से केवल आयुष्य कर्म को छोड़ कर, शेष सात कर्मों के बन्धन यदि ढील हों, तो वे इस क्रोध के करने से और भी अधिक दृढ़ा जाते हैं। अर्थात् आयुष्य कर्म को छोड़ कर, शेष सात प्रकार के कर्मों के भोग, यदि जीव को कुछेक काल के लिए ही भोगना रह गये हों, तो इन कर्मों का भोग और दीर्घकाल के लिए बढ़ जाता है।"

पाठको ! इधर तो भगवान् से शंखजी ने 'क्रोध के करने से कौन कौन से कर्म बंधते हैं,' प्रश्न पूछा। और भगवान् जब इस का समाधान कर रहे थे, उसी समय पोखलीजी आदि अन्य श्रावकों के मन में और भी अधिक क्रोध का आवेश हो आया। जिस का कारण यह था, कि उन्हों ने, शंखजी के द्वारा अपने ऊपर इस बात को पूछी गयी, समझ ली थी। परन्तु भगवान् का कथन समाप्त होने के पहले, वे पोखलीजी आदि श्रावक उस अपने क्रोध के आवेश को शंखजी पर प्रकट न कर सके। इस के पश्चात्, ज्योंही भगवान् का कथन समाप्त हुआ ही था, कि इतने ही में, शंखजी ने दूसरा प्रश्न भगवान् से कर दिया। इस बार उन्हों ने 'मान' व 'कपट' के करने से जीव की क्या गति होती है, यह जिज्ञासा भगवान् के सामने रक्खी। शंखजी के द्वारा भगवान् के सम्मुख इस प्रश्न के रखते ही, पोखलीजी आदि लोगों के दिलों से क्रोध का सारा जोश निकल गया। वे बड़े ही पछताये। और मन ही मन कहने लगे कि "अरे अरे ! अपन सब के सब अभी तक और ही विचारों में थे, जो शंखजी पर क्रोध कर बैठे। क्रोध के विषय में इन का पूछना अपने ऊपर नहीं था। उस प्रश्न के द्वारा तो, ये केवल अपनी ही शंका को दूर करना चाहते थे। यदि अपने लिए उस बात को शंखजी ने पूछा होता, तो केवल वही पूछ कर ही ये चुप हो रहते। सच है, बिना सोचे विचारे एक अक्षर भी मुँह से कभी न निकालना चाहिए। नहीं तो, परिणाम कुछ का कुछ हो जाता है। परन्तु अब इन के अगले प्रश्न से ज्ञात हो जाता है, कि ये एक सरल हृदय पुरुष हैं। और इसी सरलता का व्यवहार इन्हों ने कल भी किया था। परन्तु अपन लोग बात का बतंगड़ और राई का पर्वत बना बैठे थे" तब तो उन्हों ने उसी समय शंखजी से क्षमा-याचना की। जिस के बदले में शंखजी ने उनसे भी क्षमा याचना की।

अन्त में, भगवान् ने कपट और मान के करने से जीव की गति किस किस प्रकार की होती है, इस का विशेष विवेचन कर शंखजी की शंकाओं का यथोचित समाधान किया। तब वे सब के सब श्रावक तथा शंखजी और पोखलीजी, आदि भगवान् को वन्दना कर के, अपने अपने भाग्यों को सराहते हुए अपने अपने घरों की ओर गये। इस के एक या दो ही दिन के पश्चात् श्री भगवान् ने भी वहां से अन्यत्र विहार कर दिया।

प्रकरण--आठवां

महाप्रभु का अन्तिम उपदेश और निर्वाण

अब हम पाठकों को दिखलावेंगे, कि जब से भगवान् महावीर को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई, तब से लगा कर उन की निर्वाण प्राप्ति के पूर्व काल तक, उन के परिवार में किस क़दर की संख्या-वृद्धि हुई थी। भगवान् के उस विशाल परिवार में जहां चौदह हज़ार साधु थे, वहां साध्वियों की संख्या पूरे छत्तीस हज़ार तक पहुंच चुकी थी। उसी परिवार में तीन सौ चौदहपूर्व ज्ञान के धारी मुनि, तेरह सौ अवधि ज्ञानी मुनि, सात सौ वैक्रियक लब्धि को धारण करने वाले साधु,सात सौ केवली साधु,और सात ही सौ अनुत्तर-विमान नामक स्वर्ग में जानेवाले साधुओं की संख्या थी। इन के अतिरिक्त पांच सौ साधु ऐसे थे,जो मनःपर्यव ज्ञान के धारण करनेहारे थे। चार सौ विद्वान् खंडन-मंडन के विषय का प्रतिपादन करने वाले थे। और, एक लाख, उनसाठ हज़ार ऐसे श्रावक,तथा तीन लाख, अठारह हज़ार ऐसी श्राविकाएँ थी, जिन्हों ने श्रावक-धर्म के बारह-व्रतों को पूर्ण रूप से आजन्म पालन करने का बीड़ा उठाया था। यह तो हुई उन के ख़ास परिवार की बात। इस परिवार के अतिरिक्त, लाखों नर-नारी ऐसे थे, जिन्हों ने भगवान् के धार्मिक सिद्धान्तों को अन्तःकरण से अपना रक्खा था और जिन सिद्धान्तों को वे लोग अपने दैनिक व्यवहार में लाते थे।

इस काल तक, भगवान् के कुल ग्यारह गणधरों में से नौ मोक्ष में जा चुके थे। शेष, इन्द्रभूति और सुधर्माचार्य ये दो गण-धर रह गये थे। इस के बाद,

भगवान् अपने भौतिक शरीर से अन्तिम उपदेश देने के लिए 'अपापा' नाम की एक नगरी में पधारे। भगवान् का अन्तिम चातुर्मास भी इस बार इसी नगरी में, राजा हस्तिपाल की यानशाला में हुआ था। वहां इन्द्र, अपापा नगरी का राजा नौ लिच्छवी तथा नौ मल्लि, आदि आदि और भी अनेकों छोटे बड़े राजा महाराजाओं ने आ कर, प्रभु के इस वार के अन्तिम उपदेश से अपने जीवन को सफल बनाया था।

कार्तिक कृष्णा अमावस के दिन रात्रि के समय भगवान् जब विराजे हुए थे, त्योंही इन्द्र ने आकर, भगवान् को बड़ी ही श्रद्धा तथा भक्ति के साथ, वन्दना की और स्तुति कर अपने स्थान को गया। फिर अपापा नगरी के राजा ने उठ कर भगवान् को विधिवत् नमन किया और स्तुति पढ़ी। इस के बाद और भी मुख्य मुख्य राजा--महाराजाओं ने उठ उठ कर प्रभु की अनेकों भांति से स्तुतियां कीं। तब भगवान् ने धर्म, अर्थ काम और मोक्ष के सम्बन्ध में कहते हुए संसार को अपना दिव्य सन्देश दिया, कि—"जगत् में चार पुरुषार्थ माने गये हैं। जिन के नाम क्रम से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हैं। इन में से काम और अर्थ ये दो पुरुषार्थ तो ऐसे हैं, जिन से, प्रत्येक प्राणी अपने जन्म ही के दिन से, कुछ न कुछ परिचय प्राप्त कर लेता है। यही नहीं, इस परिचय की दिनोंदिन अधिकाधिक वृद्धि भी वहां होती जाती है। धर्म और मोक्ष दो पुरुषार्थों का कार्य-कारण संबंध है। धर्म कारण है, मोक्ष उसका कार्य है-साध्य है। कारण से कार्य की निष्पत्ति अवश्य होती है, अतएव धर्म से मोक्ष की प्राप्ति होनी ही चाहिए। जो धर्म मोक्ष की अवस्था तक न पहुंचा सकता हो वह धर्म ही कैसा? अस्तु।

धर्म—(१) खंते (क्षमा) (२) मुत्ते (निर्लोभता) (३) अज्जवे (आर्जवता, सरलता; या निष्कपटता) (४) लाघवे (निर्मोहीपन या लघुता) (५) मद्दवे (मृदुता) (६) सच्चे (सत्यता) (७) संयमे (संयम) (८) तवे (तप) (६) चेइए (त्याग और ज्ञान-धारण;) (१०) बम्भचेरवासे (ब्रह्मचर्य) ये दश अंग हैं। जीव इस दश लक्षणी धर्म का सहारा ले कर, इस संसार—सागर के पार उसी प्रकार जा सकता है, जिस तरह महा—सागर के ऊपर, उस के आर—पार बने हुए एक पुल के द्वारा, एक छोटी सी चींटी उस के पार जा सकती है। यह संसार दुखों का सागर है। जब प्राणी इस दुख—रूप संसार से बेहद घबरा

उठता है, तभी वह अनन्त सुख--रूप मोच को प्राप्त करने के लिए कमर कसता है। ऐसे दुख–रूप संसार का त्याग और सुख--रूप मोच्च की प्राप्ति, एक मात्र धर्म ही के आश्रय से होती है। इस के सिवाय जगत् के अन्य बल, वहां बिलकुल बेकार और थोथे हैं। जिस प्रकार एक पांगुरा व्यक्ति किसी सबल आदमी के कन्धों पर चढ़ कर, एक स्थान से दूसरे स्थान को आसानी के साथ जा सकता है, ठीक वैसे ही एक घन–कर्मी जीव भी धर्म की बांह पकड़ कर मोच्च को जा सकता है। परन्तु स्मरण रहे, कि उस धर्म में किसी भी तरह के निदान का नामोनिशान तक न होना चाहिए।

यों, उपदेश देने के पश्चात् गौतम स्वामी ने, अवसार्पिणी काल के पांचवें तथा छठे आरों की स्थिति के सम्बन्ध में भगवान् से पूछताछ की। जिस का आद्योपान्त वर्णन प्रभु ने उन के सामने कर दिखाया। इस ग्रन्थ में भी उस का यथा स्थान, पहले विशद रूप से विवेचन किया जा चुका है।

इस के उपरान्त, सर्वज्ञ महा प्रभुने गौतम स्वामी से कहा—"गौतम! पास में एक ब्राह्मण रहता है। जिस का नाम देवशर्मा है। वह तुम से ज्ञान—प्राप्त करने की इच्छा रखता है। अच्छा हो, कि ज़रा देर के लिए तुम स्वयं ही वहां चले जाओ। और उसे प्रतिबोधित कर आओ।" महा प्रभु की आज्ञा पाकर गौतम स्वामी पड़ौस में चले गये। वहां उस ब्राह्मण को उन्हों ने प्रतिबोधित किया। और उस के जीवन के रूख को, जो पाप–मार्ग की ओर प्रवाहित हो रहा था, मोड़ कर सुमार्ग की ओर लगाया।

वह कार्तिक कृष्णा अमावस की रात्रि का समय था। पिछली रात्रि में जब स्वाति नच्चत्र लगा, तब वीर प्रभु ने सुख–विपाक, तथा दुख–विपाक सूत्रों के पचपन पचपन अध्यायों का जगत् के कल्याण के लिए प्रतिपादन किया। तदनन्तर, जगत् के भव्य जीवों के उद्धार के हेतु, श्री उत्तराध्ययनजी सूत्र के छत्तीसों अध्यायों का प्ररूपण, श्री मुख से किया। उस के अन्तिम अध्याय का प्ररूपण जब प्रभु कर रहे थे, उसी समय एकाएक इन्द्र का आसन डोला। तब तो इन्द्र, भगवान् का निर्वाण-काल एकदम निकट समझ,बड़ा ही अधीर हो उठा। वह शीघ्र ही अपने परिवार को साथ ले कर प्रभु के दर्शनार्थ आया। आते ही अपने परिवार समेत उस ने प्रभु के पावन पद-पद्मों को, बड़ी ही विनम्रता और भक्ति के साथ पहले स्पर्श किया। पश्चात्, उन्हें बार बार वंदना कर के,

बड़े ही करुणा–पूर्ण स्वर से, नीचे के अनुसार, वह उन से निवेदन करने लगा–

" महा प्रभु ! आप की गर्भावस्था, जन्मधारण, दीक्षा–व्रत और केवलावस्था, इन सभी में हस्तोत्तरी नक्षत्र आ कर पड़ा था। परंतु उस में इस समय 'भसक' नामक एक दूसरे ही ग्रह का योग आ कर होनेवाला है। आप के निर्वाण काल के नक्षत्र में पड़े हुए इस ग्रह के द्वारा, आप के भावी अनुयायियों को पूरे पूरे दो हज़ार वर्ष तक, संकट का सामना करना पड़ेगा। इस लिए जब तक इस ग्रह का योग आप के निर्वाण-काल के नक्षत्र के साथ रहे, तब तक आप का यहां विराजना आप के भावी अनुयायियों के लिए बड़ा ही हितकर सिद्ध होगा। यदि महा प्रभु की मौजूदगी ही में इस ग्रह का योग आ कर हो गया, तो निस्संदेह आप की तपस्या के प्रताप रूपी सूर्य के आगे वह बिलकुल निस्तेज हो जावेगा। और, तब भविष्य में उस का कोई असर भी न हो पावेगा। अतः नाथ ! जगत् की भावी आर्ति-नाशन में आप इतना सा सहयोग और देने की कृपा करें, तो बड़ा ही अनुग्रह होगा। "

इस का उत्तर वीर प्रभु ने यों दिया–"शक्रेन्द्र ! यह तुम्हारा केवल मोह-मात्र है। जीवन, आयु कर्म के आधीन है। कर्मों के अतिरिक्त, इसे बढ़ाने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं है। कोई कितना ही बड़ा चाहे क्यों न हो, वह समय मात्र भी इसे नहीं बढ़ा सकता है। फिर, पांचवें आरे की प्रवृत्ति काल से ही, श्रावक श्राविका और साधु तथा साध्वी, इस चतुर्विध संघ--रूप तीर्थ को बाधा होनेवाली है। उसी होनी के वश ऐसे ग्रह का उदय आ कर पड़ा है। इन्द्र ! इस भवितव्य को कोई टाल नहीं सकता। "

शक्रेन्द्र को यों समझाने बुझाने के पश्चात्, श्रमण भगवान् ने पहले स्थूल मन तथा वचन के योगों को रोक दिया। तब सूक्ष्म कायिक योग में वे स्थिर हुए। और, स्थूल कायिक योग के वेग को पूरा पूरा रोक दिया। तदनन्तर सर्वज्ञ ने वाणी तथा मन के सूक्ष्म व्यापारों को भी अपने वश में कर लिया। इतना कर लेने पर, प्रभु शुक्ल--ध्यान की तीसरी अवस्था में पहुंच गये। अब सूक्ष्म शरीर के व्यापारों को रोकने का समय आ पहुंचा। ज्योंहीं महा प्रभु ने इन्हें भी रोक लिया, तब वे शुक्लध्यान की चौथी अवस्था में, जिस का नाम समुच्छिन्न--क्रिया भी है, प्रवेश हुए। शुक्ल ध्यान की इस चौथी स्थिति में भगवान्

केवल उतने ही समय तक स्थित रहे, जितने से समय में केवल अ, इ, उ, ऋ और लृ ये पांच ह्रस्व अक्षर मुख के द्वारा बोले जा सकते हैं। और, तब वहां एरण्ड के बीज के समान, अपने अवशेष कर्म-बन्धनों से बिलकुल रहित हो, एकदम सीधी गति के साथ अन्तरिक्ष में गमन कर, शाश्वत और परम शान्त निर्वाण-पद को प्राप्त हो गये। जिस के परे जीव के लिए कोई भी ऊंचा और श्रेष्ठतम पद दूसरा नहीं हो सकता। नौओं लिच्छवी तथा नौओं मल्लि आदि तत्कालीन सभी छोटे बड़े राजा और देवताओं ने इस निर्वाणोत्सव को बड़ी ही सजधज के साथ मनाया। बस, उसी दिन से जगत् में दीपावली के उत्सव को मनाने का प्रचलन हुआ। उस समय चौथा आरा समाप्ति के बिलकुल समीप जा पहुंचा था। जिस दिन महा प्रभु को निर्वाण-पद प्राप्त हुआ, उस दिन चौथे आरे की समाप्ति होने में, केवल तीन वर्ष और साढ़े आठ मास का समय शेष रहा था।

इधर देवशर्मा ब्राह्मण को ज्ञान का दान दे कर गौतम स्वामी वापिस लौटे। अंतःकरण कांच के समान है। जिस में समय असमय, सम्पूर्ण सांसारिक बाहरी भावनाओं तथा घटनाओं का प्रतिबिम्ब ज्यों का त्यों पड़ता रहता है। तब संसार में कोई भी भावना किसी भी हृदय में उठ रही हो, या कोई भी घटना कहीं भी घट रही हो, उस का प्रतिबिम्ब अन्तःकरण पर पड़ना ही चाहिए। पर यह नियम सभी के लिए एक सा लागू नहीं होता, भावों तथा घटनाओं के प्रतिबिम्बित होने का नियम उस के अन्तःकरण की शुद्धि पर निर्भर है। अर्थात्, जिस का अन्तःकरण जितना ही अधिक शुद्ध और निष्कपट होता है, उस में जगत् की भावनाओं तथा घटनाओं का उतना ही अधिक रूप से तथा शुद्ध प्रतिबिम्ब पड़ता रहता है। विपरीत इस के, वह जितना ही अधिक मैला और कपट-पूर्ण होगा, उतना ही कम और धुंधला प्रतिबिम्ब उन का उस में पड़ेगा। इसी नियम के अनुसार, गौतम स्वामी एक सच्चे सन्त थे। उन के अन्तःकरण की शुद्धि के विषय में किसी गवाही के पेश करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। तब भगवान् के निर्वाण में पदार्पण कर जाने की घटना का, उन के अन्तःकरण पर, रास्ते में चलते चलते प्रतिबिम्ब पड़ा। आगे चलते चलते, लोगों के द्वारा सुने हुए संवाद से भी, प्रभु के निर्वाण में जाने की पुष्टि हो गयी। उन के पैर लड़खड़ाने लगे। उन्हें एक पैर भी ज़मीन

काटना बड़ा भारी दुस्तर हो गया। उन का हृदय हिम्मत-परत हो गया। शोक और सन्ताप ने उन्हें आ घेरा। उसी समय नाना भांति के भावों की भगदौड़ उन के हृदय में मच गयी। वे दुखी हो कर मन ही मन में कहने लगे-"भगवन्! मैं ने तो गुरु और देव कुटुम्बी और सनेही, भव-भय-त्राता और ज्ञान-विधाता, सब ही कुछ एकमात्र आप ही को समझ रक्खा था। महा प्रभु! अगर आप को निर्वाण ही में पधारना था, तो क्या, मेरे सम्मुख आप ऐसा नहीं कर सकते थे? क्या, मेरे रहते हुए उस आप के पद की प्राप्ति में कोई बाधा पहुंचती थी? मैं थोड़े ही उस में कोई हिस्से किये लेता था? ओह! इस संसार की सार-हीनता का कोई अन्त है? सच है, यहां कोई किसी का नहीं होता! न कभी हुआ ही! और न कभी होगा ही। सभी को अपने अपने पथ से जाना होगा!

ऐसी भाँति भाँति की कई भावनाएँ उन के हृदय में उस समय उठीं। बस, एक-मात्र अब इन्हीं वैराग्यमयी भावनाओं से गौतम स्वामी के हृदय में प्रभु के शरीर के प्रति रहे हुए ममता के जो भाव थे, वे छिन्न-भिन्न हो गये। बस, उन के बिलीयमान होते ही, उन्हें केवल-पद की प्राप्ति हो गयी। पश्चात् पूरे पूरे बारह वर्ष तक वे इस संसार में विचरते रहे। इस अवधि में जगह जगह के अनेक भव्य जीवों को प्रति-बोधित कर आपने उन्हें सुमार्ग पर लगाया। और तदनन्तर आप मोक्ष में पधारे। गौतम! आप का पवित्र नाम और काम, जगत् के जीवों के हृदयों में फैले हुए इन्द्रिय-जन्य विषवत् विषय-सुखों के अन्धकार का सदा के लिए अन्त करे।

भगवान् के निर्वाण के पीछे, उन के काम को पांचवें गणधर श्री सुधर्माचार्य जी ने अपने सिर-कन्धों लिया। कितने ही समय तक वे भी आर्यावर्त्त देश में विचरण करते रहे। गाँव गाँव जाकर, भगवान् के सत्सन्देश को जनता के कानों में पहुँचाने, तथा उनके अनुयायियों की संख्या में आशातीत अभिवृद्धि करने का, बड़ा ही मज़बूत काम उन्हों ने किया। पश्चात्, अपने ही शिष्य, श्री जम्बू स्वामी के हाथों, श्री संघ का भार सौंप, आपने निर्वाण-पद को प्राप्त किया। प्रसंगवश हम यहाँ पाठकों को, श्री जम्बू स्वामी की संक्षिप्त जीवनी से भी, परिचय करा देना उचित समझते हैं, जिसे पढ़ कर, वे भली भांति जान पावेंगे, कि आत्मोद्धार की शाश्वत सम्पत्ति ख़रीदने के लिए, यहां की करोड़ों

की सम्पत्ति तथा आज की ब्याही हुई धर्म-पत्नियों तक को, किस प्रकार परित्याग कर दिया जाता है। किस कठोरता के साथ अपना स्थायी नेह और नाता उन से एकदम तुड़ा दिया जा सकता है। और, ऐसे सौदों को पटाने के लिए, किस प्रकार की पूर्व तैयारियों की आवश्यकता हुआ करती है ! अस्तु।

प्रकरण—नौवां

जम्बू-स्वामी का संक्षिप्त परिचय

उसी समय राजगृह में ऋषभदत्त नाम के एक बड़े ही विख्यात नामी सेठ रहा करते थे। ये काश्यप गोत्री थे। इन की धर्म-पत्नी का नाम धारिणी था। इसी धारिणी की कोख से एक अति ही पुण्यात्मा पुत्र की उत्पत्ति हुई। जिस का नाम जम्बू—कुमार रखा गया। जो बालक होनहार होते हैं, वे किसी भी प्रकार छिपे नहीं रहते। इस कुमार की बुद्धि बालकपन से ही बड़ी प्रतिभाशालिनी थी। इसे शिक्षित बनाने की योजना भी इस के छुटपन से ही कर दी गयी थी। जब यह सोलह वर्ष का हुआ, इस का विवाह करना निश्चित हुआ। लग्न निश्चित किये गये। कुमार के उन्हीं विवाह के दिनों में यहां भी सुधर्म स्वामी अपने शिष्य समुदाय के साथ पधारे हुए थे। जनता जैसे जैसे उन धर्माचार्य्य के आगमन का संदेशा पाती थी, वैसे ही वैसे अधिकाधिक संख्या में वह उन के दर्शनों के लिए उमड़ती जाती थी। कुमार जम्बू को भी आचार्य के आगमन की सूचना मिली। इन्हों ने भी उन के दर्शनों की इच्छा प्रकट की। तब कुछ आदमियों को साथ देकर, इन्हें ऋषभदत्त सेठ ने धर्मगुरु के दर्शन और वन्दन के लिए भेजा। वहां जाकर दर्शन इन्हों ने किये। बैठ कर कुछ उपदेश भी उनका सुना। उपदेश सुन कर जम्बू को वैराग्य हो आया। कुमार ने आचार्य्य

महाराज के सम्मुख अपने दीक्षित होने के भाव प्रकट किये । गुरु महाराज ने उत्तर में कहा, कि जम्बू ! जैसा सुख हो वैसा करो । उत्तम विचारों की पूर्ति के लिए एक क्षण का भी प्रमाद करना उचित नहीं है । इस प्रकार धर्माचार्य की कही हुई बात को शिरोधार्य कर फिर उन्हें वन्दना करके वापिस घर की ओर लौट पड़े ।

ज्योंही कुमार अपने साथियों के साथ शहर को वापिस लौट रहा था, कि इतने ही में एक विचित्र घटना वहां घटी । शहर-पनाह के दर्वाज़े में से ज्योंहीं ये पार करने के लिए क़दम बढ़ाये हुए थे, बस, त्योंहीं उस दर्वाज़े का कुछ भाग ऊपर से टूट कर, इन के आगे गिर पड़ा । उस से ये लोग मरते ही मरते बचे । इस भावी घटना से बच कर कुमार ने मन ही मन सोचा, " ओह ! आज पूर्व जन्म का सुकृत ही कुछ आड़े आया, नहीं तो आज इस दर्वाज़े के आगे हम एक क़दम भी बढ़ने न पाते ! सब के सब अभी यहीं के यहीं, पत्थरों से पिचक कर, मिट्टी में मिल गये होते । कदाचित् , यह धर्म-गुरु के दर्शनों ही का अतीव सुन्दर प्रभाव है, जिस के कारण इस भावी—दुर्घटना से हम लोग बाल बाल बच पाये ! यदि कहीं एक क़दममात्र और भरने की ग़फ़लट हुई होती, तो देव दुर्लभ नरजन्म का आज यहीं ख़ातमा हो गया होता ! मनुष्य प्रकृति के बाज़ार का सर्वोत्तम रत्न होते हुए भी, है बड़ा ही भोला प्राणी । यह नर-जन्म कर्मों का बन्धन काटने को उसे मिलता है, परन्तु अपने चारों ओर के प्रायः दूषित—संसारी-वातावरण में रह कर, वह अपने लक्ष्य को एक दम विस्मृत कर बैठता है और ऐसे प्रपंचों में पड़ जाता है, कि जीवन का लक्ष्य उस के सामने कभी आता ही नहीं । उसे ऐसे ही प्रपंचों से बचाने के लिए, समय समय पर, कुदरत की ओर से ऐसी अनहोनी घटनाएँ उस के सामने आकस्मिक रूप से घटा करती हैं ! क्या ही अच्छा हो, कि इन ऐसी घटनाओं से वह अपने जीवन की गति विधि बदल दे । वह जिन श्रेष्ठ और परोपकार पूरित कामों को पूरा करने का मनसूबा बांधकर यहां आया है, उन को पूरा करने में जुट पड़े ।

" दीप-शिखा की भांति जीवन की ज्योति क्षण क्षण में क्षीण हो रही है । दीपक के तेल की भांति जीवन के आधार स्वरूप स्वासों की सम्पत्ति भी प्रति पल घट रही है । जीवन-सूर्य के अस्ताचल पर पहुंचने का समय पल पल

में निकट आ रहा है। तब भी यह मनुष्य कितना ग़ाफ़िल प्राणी है, कि चेतता ही नहीं है। अरे भूले हुए जीव! दिन के रहते ही रहते अपने घर का सीधा मार्ग पकड़ ले। नहीं तो अज्ञान-रूपी रात के घोर अंधकार में पड़कर पथ भ्रष्ट हो जावेगा। बिछुड़ जायगा अपने जीवन संगाती साथियों से, और भटकता फिरेगा वीरान जंगल जंगल में हताश, निराश और उदास हुआ! आँख खोल! शीघ्र चेत! अरे जीव किस मोह-पाश में भूल रहा है! किस मद से मतवाला बन रहा है? जीव की तृप्ति होना यहां असम्भव और एकदम असम्भव है। तृप्ति होने को होती, तो अब तक हो न जाती? एक नहीं, दो नहीं, पूरे सोलह वर्ष इस जीवन में भी तुझे बीत चुके। पहले ही न मालूम क्या क्या बना, पर तृप्ति के लिए तू सदा तरसता ही रहा। तृप्ति के अथाह सागर से तू अभी तक दूर ही रहा। थोड़ासा या इतनासा और हो जाय, यह तेरी लालसा, न जाने किस अनादि काल से चली आ रही है, अभी तक पूरी नहीं हुई। ऐ जीव! अब तो तू इस मनुष्य शरीर रूप आनन्द-समुद्र के तट पर आ पहुंचा है। अरे! अब तो तोड़ दे सारे बंधनों को। छोड़ दे सारी झिझक या हिचकिचाहट को। और दृढ़ मनोरथ बन कर, हृदय का पट खोलते हुए मार गहरा गोता इस आनन्द समुद्र में! और निकाल ला आत्म स्वरूप के अमूल्य रत्न को। जीव! यदि अब भी न चेता, किनारे से वापिस लौट गया, इस हाथ में आये हुए पारस को फेंक दिया तो पीछे सिवाय पछताने और रोने-बिलखने के और कोई भी उपाय हाथ में नहीं रह जायगा। अतः इस बाज़ी को हाथ से न जाने दे। ऐसा मौक़ा बार बार नहीं मिलता! काल की चक्की तो रात दिन एकान्त रूप से चल ही रही है। इस में न जाने कब तू पिस जायगा? तू अपने को बड़ा समझता है। पर काल की सूझ कुछ और ही है। वह तेरी परमायु के दिन पूरे होने का हिसाब लगा रहा है। वास्तव में काल ही की सूझ पक्की है। तेरी नहीं। तो क्या इस काल के भय से, काल का भरोसा छोड़ कर, तू तत्काल ही काल का काल बन जाने की चेष्टा नहीं करता? अरे! ऐसा बन जा, कि फिर काल कभी तेरे सामने अपनी आँख उठाकर भी न देख सके। उस पद को प्राप्त कर ले, जहां कभी काल की दाल ही नहीं गलती! शीघ्रता कर, जितना भी जल्दी तुझ से हो सके, अपनी इस कल्पना को तू व्यवहार के रूप में बदल दे!"

इन भावनाओं के उस समय उस के हृदय में उठते ही, वह जम्बू कुमार

घर की ओर न लौटते हुए, वापिस सुधर्मा-स्वामी के पास लौट पड़ा। अपने साथियों को उस ने रास्ते ही में छोड़ दिये। वे उसे पुकारते ही रह गये। परन्तु उस ने उन के कथन पर कोई कान ही नहीं दिया। स्वामी के पास आ कर, लड़खड़ाती हुई ज़बान से वह बोला—"नाथ? मुझे आजन्म के लिए ब्रह्मचर्य व्रत के पालन की प्रतिज्ञा धारण करावें।" इस के अतिरिक्त उस ने और भी व्रतों के धारण कराने की सुधर्मा-स्वामी से प्रार्थना की। उस कुमार के मुंह से इन बातों के सुनते ही वहां खड़े हुए लोगों से कुछ कहे बिना न रहा गया। वे चट बोले—"कुमार! जान पड़ता है, तुम्हारा होश-हवाश ठिकाने नहीं है। अभी एक ओर तुम्हारा विवाह हो रहा है; और दूसरी ओर तुम आजन्म के लिए ब्रह्मचर्य-व्रत के धारण करने की बात कह रहे हो! यह विचार जो भी तुम्हारा बुरा नहीं है; तथापि प्रत्येक बात के लिए समय होता है। और न तुम यही जानते हो, कि इस व्रत का आजन्म-पालन करना, कितना घोर कठिन काम है। जम्बू! मनुष्य जीवन में इन भावों का उदय होना, पूर्व जन्म के बड़े ही पुण्यों का फल है। यही नहीं, मनुष्य-जीवन की सफलता ही इन भावों के उदय में है। तथापि, तुम्हारी अवस्था के विचार से, तुम्हारे अभी के इस त्याग का समर्थन हम नहीं करते।" इस पर जम्बू ने कहा—

"सज्जनो! आप का कहना ठीक है। फिर भी इस बात पर, मैं ने अपना कोई न कोई विचार अवश्य ही स्थिर कर लिया है। तब ही मैं यह त्याग कर रहा हूँ। स्वामी जी ने तब उसे उस के इच्छित त्यागों को धारण करवा दिया। तब वह उन्हें वंदना करके अपने घर को आया। घर आ कर, उस ने अपने धारण किये हुए व्रतों की बात, शुरू से अन्त तक, अपने माता-पिता को कह सुनायी। साथ ही, उस कुमार ने बिलकुल सत्य रूप से वह भी उन से कह दिया, कि फलां फलां कारण से, उस ने उन व्रतों को धारण किया था। इस के उपरान्त, उस ने अपने माता-पिता से प्रार्थना की, कि "आप जिन आठ कन्याओं के साथ अभी अभी मेरा पाणि-ग्रहण करा रहे हैं, उसे रोक दीजिए। इस बात पर, उस के माता-पिता बड़े अप्रसन्न हुए। वे कुमार से बोले—"बेटा! यह बात अभी तक तो हमारे देखने में यहां नहीं आयी, कि विवाह कार्य प्रारम्भ होने के बाद, कहीं पर वह रोक दिया गया हो। कुमार! ज़रा अपने कुल की

मर्यादा को भी तो देख ! अगर तुझे ऐसा ही करना था, तो विवाह शुरू होने के " पहले ही तू ने क्यों न ऐसा कह दिया ! तुझे यह भी तो भली प्रकार से ज्ञात है, कि विवाह का कार्य भी तो तेरी ही मौजूदगी में शुरू हुआ था ! तेरे पीछे से तो कोई हुआ ही नहीं था ! तथा सभी बड़े-बूढ़े लोग माता-पिता की आज्ञा को मानना धर्म बतलाते हैं और उन का कहना है, कि इस जगत् में वेही बालक के लिए देवता हैं। तब तू विवाह के बाद जैसा भी चाहे, करते रहना। अस्तु। अभी तू अपने माता-पिता की आज्ञा का पालन कर। पीछे जैसी तेरी इच्छा। कुमार जम्बू ने अपने माता-पिता की इस आज्ञा को एक शर्त पर मंजूर कर लिया। वह शर्त यह थी, कि ' उस के साथ जिन कन्याओं का विवाह हो रहा है, कम से कम उन्हें तो, कुमार के इन त्याग सम्बन्धी विचारों से कि 'विवाह होने के बाद ही वह संयम को धारण कर लेगा,' जानकार बना देना उन का कर्तव्य होगा। ' उस के माता-पिता ने कुमार की इस शर्त को मंजूर कर ली। और तदनुसार, उन कन्याओं के माता-पिता के पास, कुमार के इन विचारों का पूरी पूरी तरह स्पष्टी-करण कर के, उस के माता-पिता ने भेज दिया।

उन कन्याओं के माता-पिता ने वरपक्ष की ओर से जब यह संदेशा सुना, कि "कुमार तो विवाह होने के बाद ही संयम को धारण कर लेगा। यदि उन्हें यह बात पसन्द आवे, तो वे उस के साथ विवाह करें। नहीं तो, अपनी मरज़ी के अनुसार, वे अभी तो दूसरा वर भी चुन सकती हैं।" वर-पक्ष के इस सन्देश ने कन्याओं के माता-पिता के मन में बड़ी ही खलबली पैदा कर दी ! उन के अन्य कुटुम्बी जन और अड़ौसी-पड़ौसी मिल-जुल कर, इस विषय पर बहुत देर तक सोचते रहे। अन्त में वे इस निर्णय पर पहुंचे, कि " विवाह के बाद ही कुमार यदि संयम लेने के लिए लालायित हो रहा है, तो फिर उस के साथ अपनी कन्याओं को देना, जान-बूझ कर के अपनी कन्याओं को कूंए में ढकेलने ही के समान है। ' कुमारी बालिका के लिए सैकड़ों घर-वर हाजिर हैं,' इस न्याय से अभी तो इन कन्याओं का कुछ भी बिगड़ा नहीं है। फिर अपनी कन्याओं में किसी तरह का कोई ऐब भी नहीं है, जिस के कारण अपन उन्हें यों बिना विचारे ढकेल देना चाहें। इस भांति सोच विचार कर, वे इस अन्तिम निर्णय पर पहुंचे, कि कुमार के तथा अपने इन निर्णयों को, उन्हें अपनी कन्यओं

के सामने भी, एक बार रख देना उचित और न्याय-संगत है। तद्नुसार, दोनों ओर के निर्णय उन के सामने रख दिये गये। और, उन से यह भी कह दिया गया, कि उन का निर्णय ही, इस बात पर अन्तिम निर्णय समझा जायगा। क्यों कि, इस विषय में जैसा और जितना भला वे स्वयं अपने लिए सोच सकती हैं, उतना और वैसा अन्य जन कोई भी नहीं।

कन्याओं ने इस समय और इस बात को अपने लिए बड़ी ही कठिन परीक्षा का समय और बात समझी। सचमुच में यह उन के लिए अग्नि-परीक्षा भी थी। वे अन्त में इस परीक्षा में पूरी उतरीं। उन्हों ने बड़े ही सोच-विचार के साथ, अपने कौटुम्बिक जनों के सामने इस निर्णय को रक्खा, कि " कुलीन कन्याएं अपने जीवन में केवल एक ही पति को वरण करती हैं। और वह भी एक बार। परन्तु इस के विपरीत, जो कुलटा नारियां होती हैं, वेही बार बार और अनेकों पुरुषों को अपना पति बनाया करती हैं। कुलीन नारियों के वैवाहिक सम्बन्ध में (१) मन, (२) वचन, और (३) शरीर की एक सम्मति होती है। तब अकेल शरीर या अकेले वचन ही को क्या अधिकार है, कि वह तीनों के द्वारा निर्धारित निर्णय का खातमा अकेले में कर दे ? कदापि नहीं। इसी न्याय के नाते, हमारे माता-पिता तथा अन्य कुटुम्बी जनों के द्वारा, और हमारे स्वयं के द्वारा हमारा सम्बन्ध मन-वचन और शरीर से जब उन के साथ एक बार हो चुका है, वह किसी भी प्रकार अब तोड़ा नहीं जा सकता। यदि अब हमें किसी अन्य पुरुष का हाथ पकड़वा दिया जायगा, तो हमारी तुच्छ बुद्धि से तो, वह बात, हमें संसार के सामने अपने ही जनों के द्वारा, असती व कुलटा सिद्ध करने का प्रयत्न-मात्र होगी। जिस से हमारा यह लोक और परलोक, दोनों बिगड़ जावेंगे। अतएव हमारा तो यही निश्चित मत है, कि इस भव में जब एक के साथ हमारा सम्बन्ध एक बार निश्चित हो गया, तब दूसरे के हाथ हमारे मन, वचन तथा काया को दुबारा सौंपना, यह तो हमारे सतीत्त्व में दाग़ लगाना है ! जैसी भावी हमारी होगी, उसी से काम चलेगा। विवाह संस्कार के पूरा होने के चाहे दूसरे क्षण में जम्बू कुमार संयम को धारण कर लें, यह हमें स्वीकार है, परन्तु अन्य के साथ हमारे विवाह की चर्चा करना, आप लोगों की निरी भूल है।" अपने कुटुम्बियों को तो उन कन्याओं ने इस प्रकार निर्णय दे दिया। अब

उन के पारस्परिक मनसूबे की दो बातें भी पाठकों को सुन लेनी चाहिए।

"भयभीत होने की कोई बात नहीं है," उन्हों ने आपस में कहा। जो भी संसार की कुमारियां और नारियां 'अबलाएं' कहलाती हैं, परन्तु सचमुच में यह शब्द कुमारियों और नारियों को, किसी भी प्रकार फबता हुआ नहीं है। हां, उन के शरीर की बनावट के मान से कदाचित् संसार उन्हें अबलाओं के नाम से सम्बोधित कर सकता है। परन्तु अपने गुणों के सामने, वे संसार की उत्पत्ति से ले कर आज तक, बड़े से बड़े वीरों, दानियों, विद्वानों, त्यागियों, कलाकोविदों और वैज्ञानियों को भी नीचा दिखाती रही हैं। जितने भी पुरुष-रत्न इस जगती-तल में हुए हैं और आगे होंगे, वे सब के सब अपनी बाल्यावस्था में अबला कहलाने वाली इन्हीं कुमारियों व नारियों के हाथों में पले थे और पलेंगे। इन्हीं ने संसार में उन्हें जीवन प्रदान किया है। अनुपम त्याग का महत्त्व केवल नारी जाति ही जानती है, कि वे अपने पिता के वंश तक को, पुरुष-जाति का नाम और वंश चलाने के लिए अपने पतिदेव के वंश में मिला कर एकरस कर देती है। वैज्ञानिक प्रयोग भी, अपने शरीर रूपी विज्ञानशाला के द्वारा, वे ऐसा करतीं है, कि जिस से जंगम जगत् को मानव शरीर के रूप में एक असाधारण अनुपम रसायन मिलती है। जो मानव, आगे चलकर सत्संगति और सच्छास्त्रों के पठन-पाठन द्वारा, निर्वाण-पद तक को प्राप्त कर सकता है। जब इतनी शक्तिशाली और हर प्रकार के सद्गुणों से सम्पन्न अपनी नारी जाति है, तब एक राजकुमार जम्बू को अपने वश में करना, अपने लिए कोई कठिन बात नहीं होगी।

निदान, विवाह बड़ी ही धूम-धाम से हुआ। ससुराल में तथा घर में, जम्बू कुमार के बेचारे संयम का, हंसी ही हंसी में, फ़ज़ीता भी काफ़ी हुआ! परन्तु कुमार था इरादे का पक्का। वह इन के झांसे-पट्टी में आनेवाला था ही कब का? उस ने उन की मुराद को भरपेट पूरा होने दिया। उस ने उन के विरोध में एक पूरा अक्षर भी अपने मुंह से न निकाला। इस विवाह में कुमार को पूरे पूरे निन्यानवे करोड़ रुपयों का धन दहेज में मिला। पाठको! आज के ज़माने में दुनिया के बड़े से बड़े शाहनशाहों के पास तक निन्यानवे करोड़ की सम्पत्ति मिलना, महान् दुर्लभ हो गया है। जहां उस समय के एक साधारण व्यापारी

तक, केवल स्त्री–धन में, इतना धन एक मुश्त दे सकते थे। दहेज की इस सम्पत्ति से, तत्कालीन भारतीय साम्पत्तिक अवस्था का, भली प्रकार पता लगाया जा सकता है। बरात विदा हुई। कुमार जम्बू अपनी नववधुओं को साथ ले कर अपने घर पर आये। माता तथा अन्य कौटुम्बिक सुमुखी नारियों ने अनेकों प्रकार के मांगलिक साज सजाये। और, बड़े प्रेम के साथ उन की आरती कर के, उन को घर में प्रवेश करवाया। अन्त में दूल्हे ने अपनी दुलहिनों के साथ सैकड़ों शुभाशीर्वाद पाये।

पाठको! अगले ज़माने में कन्याओं के माता–पिता स्त्री--धन (दहेज) के रूप में वरराज को कितनी अटूट सम्पत्ति दिया करते थे और एक आज का ज़माना है, जब कि अनेक जगह, जाति की हीन रूढ़ियों के कारण, वरराज या उस के पिता–माता से मुंहमांगा मोल–तोल ठहरा कर, कन्या दान की प्रथा का प्रचलन इस देश में हो रहा है! जाति–वात इस महा–रोग के निवारण करने का, सब से उत्तम और सरलातिसरल उपाय तो केवल यही हो सकता है, कि जिस जाति में वह हो उस जाति के मुखिया लोग उसे कठोर से कठोर कोई दण्ड, उस की शक्ति के अनुसार दें, जिस से अन्य किसी पुरुष को भविष्य में ऐसा करने का स्वप्न तक में साहस कभी न हो। किसी राज–नियम के द्वारा इस प्रथा का मूलोच्छेदन करवाया जाय। जाति में सदाचार–युक्त ऊंची शिक्षा का प्रचार और प्रसार करने--कराने का प्रयत्न किया जाय और धर्मात्मा पुरुष ऐसे उत्सवों में सम्मिलित न हों। दहेज देने की प्रथा का अन्त कर दिया जाय।

पाठको! अब जम्बू कुमार के महल में चल कर, उस के भावी कार्यों का अवलोकन भी कर लीजिये। जिस दिन जम्बू कुमार अपनी पत्नियों के साथ अपने घर आया, उसी दिन, वह अपनी पत्नियों को तरह तरह के संयमशील विचारों से समझाने लगा। उधर कामदेव की उस नयी, अति ही प्रबल, और सब प्रकार की आवश्यक सामग्री से सुसज्जित सेना ने भी, जम्बू कुमार के ऊपर आक्रमण करने में किसी प्रकार की तनिक भी कोर--कसर नहीं की। परन्तु जम्बू कुमार के अकेला रहने पर भी, उस का आत्मिक बल बड़ा ही ज़बर्दस्त था। तब तो जितनी भी बार उस सेना की उस पर चढ़ाइयां हुईं, उतनी ही बार अपने मुंह की खाकर, उस सेना को उलटे पैरों भागना पड़ा। शुरू से

अन्त तक कुमार ही की जय होती रही। जिस समय एक ओर तो कुमार की संयम-शीलता मेदाने जंग में आकर डटी थी, दूसरी ओर कामदेव की चढ़ाइयाँ घनघोर रूप से हो रही थी। ठीक उसी समय एक घटना वहाँ इस प्रकार घटी:-

उसी नगर के निकट प्रभव नामी एक चोर रहता था। सरकार की ओर से उसे पकड़ने के लिए कई प्रयत्न ज़ारी थे, पर वह था पक्का चोर। किसी के भी हाथ वह नहीं आता था। उस सरकार की सारी शक्ति का, उस के ज़हरीले कारनामों के आगे नाकों दम हो रहा था। उसे उस दिन पता लगा कि सेठ ऋषभदत्त के लड़के की बरात आज आचुकी है। उस के पुत्र को दहेज में निन्यानवे करोड़ का माल मिला है। तब तो उसने उस सारी सम्पत्ति को उसी दिन चुरा लाने की बात सोची। उसने उसी समय ज्योंही शाम हुई, अपने चार सौ निन्यानवे साथियों के साथ उस के घर पर चोरी करने के लिए प्रवेश किया। उस प्रभव का, दो विद्याओं पर, बड़ा ही अच्छा अधिकार था। एक तो, किसी भी प्रकार के बड़े से बड़े और मजबूत से मजबूत ताले होते, वह उन्हें उसी समय तोड़ फोड़ कर आसानी के साथ खोल लेता। और दूसरे, जिस किसी को भी सोये हुए अपनी भरपूर निगाह से वह एक बार देख लेता, उसे वह और भी प्रगाढ़ निद्रा में मुर्च्छित कर देता था। उस ने अपने साथियों के साथ, दहेज में मिले हुए उस माल की, थोड़ी ही देर में सारी खोज ढूँढ़ निकाली। फिर उसने मकान के किसी एकान्त भाग में बैठ कर अपने साथियों के साथ यह विचार किया, कि उस माल को किस रास्ते से और कितना कितना ले जाना चाहिए। सब प्रकार का पूरा पूरा निश्चय हो जाने के बाद, उस सम्पत्ति की पोटलिया बांधी गई। और चलने के लिए वे सब के सब तैयार वहां से होने लगे। इतने ही में इन्द्र का आसन डोला। उसने अवधि-ज्ञान से उस का सारा हाल जाना। तब तो उसने विचार किया, कि कल तो जम्बू संयम को धारण करनेवाला है; और आज ये चोर उस की सारी सम्पत्ति का इस प्रकार अपहरण कर रहे हैं। यह तो ठीक नहीं। अगर ऐसा हो गया, तो लोग जम्बू के मानसिक बल को क्या समझनें लगेंगे? वे तो यही समझेंगे, कि "जम्बू कुमार बाबाजी हो चुका है; उस की सारी सम्पत्ति का अपहरण हो गया है; इसलिए वह अब बेचारा संयम को धारण करने चला है! पास कुछ पूंजी रहती, तो

संसार से क्यों वह अलग होता ? टका नहीं रहा, तो चला बाबाजी बनने !" अतः इन चोरों के यहां से बाहर निकलने के पहले ही पहले कोई ऐसी तरकीब करनी चाहिए, जिससे उस की सम्पत्ति भी बच जाय, और चोरों को भी साथ में संयम हो जाय। अर्थात् चौबेजी जहां छब्बे बनने की आश और फिराक में घर से बाहर निकले थे, वहां वे दुबे बनकर भी घर को न लौटें। ऐसा आसान उपाय अभी कर देना चाहिए। यह विचार कर इन्द्र ने, प्रभव को छोड़ कर, शेष उन सम्पूर्ण चोरों के पैरों को, जहां वे खड़े थे, वहीं का वहीं चिपका दिया। इधर तो यह घटना घटी। उधर अपने साथियों को प्रभव ने वहां से शीघ्राति शीघ्र निकल चलने की बात कही। प्रातः काल होने के पहले ही पहले वहां से निकल भागने की आज्ञा उसने उन्हें दी। इतने ही में चोरों ने अपने पैरों के ज़मीन में चिपक जाने की फ़र्याद प्रभव के सामने की। प्रभव एकदम चौंक पड़ा। चारों ओर घूर घूर कर, इस घटना का हाल जानने के लिए, उस ने देखा-भाला। इधर उधर कान भी खूब लगाये। अन्त में, ऊपर के मंजिल से मन्द मन्द गति से आते हुए कुछ शब्दों ने, उस के कानों में प्रवेश किया। वह शब्द-भेदन की गतिसे कुछ जानकार था। उसने उन शब्दों की गति का पीछा किया। और धीरे धीरे उस के सहारे वह जम्बू के शयनागार के पास जा पहुंचा। तब वह वहां जाकर उस शयनागार के एक ओर के कोने में चुपके से जाकर खड़ा हो गया। उस ने जम्बू कुमार के द्वारा अपनी नवेली आठों पत्नियों को संसार की असारता समझाते हुए देखा। दलीलों पर दलीलें एक दूसरे की ओर से वहां पेश की जा रही थीं। जम्बू को अपने पक्ष की पड़ी थी। और, वे सुन्दरियां अपना पक्ष खींच रही थीं। पर हां, उन के चेहरों पर जो मस्ती, अपने पति को अपने आधीन बना लेने के लिए, पहले चढ़ी हुई थी, अब उसका नशा उतरता जा रहा था। वे ऊपर से जो भी अनेकों प्रकार के हाव-भाव दिखा कर अपने पति को अपना बना लेने में मशगूल थीं। तथापि, अब संयम-शीलता का सिक्का भी उन के हृदय पर लग चुका था। और, बीच बीच में संयम-शीलता की ओर वे भागती भी जाती थी। यह बात उन के चेहरे से साफ साफ झलकती थी। कुछ देर तक यों लगातार टकटकी लगाकर देखते रहने के बाद, प्रभव से तब न रहा गया। वह सोचने लगा, कि " ओह ! हम लोग तो इस के इसी धन-राशि को चोर बन कर चुराने के लिए आये हैं; और इसी विशाल धन को यह विष्टे की भांति

त्यागने के लिए लालायित हो रहा है। यही नहीं, साथ में अपनी नवोढ़ा और सुकुमार तथा कल ही की लायी हुई कामिनियों को भी, यह त्यागने का हठ पकड़े बैठा है। ओह ! प्रकृति की कारीगरी का ख़ातमा इन मनोहर कामिनियों की रचना में ही हुआ है। सचमुच में उस ने फुर्सत में बैठ कर इन की गढ़ाई की है। अजब खुबसूरती इन्हें दी है। ऐसा कौन है, जो इनको देख कर इन पर अपना तन-मन न वार दे ? ओह ! इन तक को यह कुमार तिनके की भांति त्याग देने के लिए उधार खाये बैठा है ! सचमुच में तब तो कंचन और कामिनियों के इस त्याग में कोई विशेषता होनी चाहिए ! हो न हो, आगे बढूँ। कुमार से दो दो बातें करूं। इस अनुपम त्याग का कारण इसे पूछूँ। और, अपने यहां आने का, उचित समझूंगा तो कारण भी इसे सुझा दूंगा।

अन्त में यों तरह तरह के विचार अपने हृदय में रख कर, वह प्रभव चोर कुमार जम्बू के सामने प्रकट हो आया। तब वह कुमार से यों कहने लगा— "कुमार ! मैं आप की इसी बस्ती का एक नामी चोर हूँ। चोरी करने ही के लिए आपके महल में आया भी मैं हूँ। साथ में मेरे चार सौ निन्यानवे साथी और हैं। आप के माल को समेटने, तोड़ फोड़ कर उसको पोटलियों में बांधने और अन्त में चल कर सिर पर उठा उठा कर उसे रखने के समय तक मेरे सारे साथी सब प्रकार से बंधन-मुक्त थे। परन्तु ज्यों ही वहां से चलने के लिए, क़दम उन्होंने आगे उठाया, कि उन के क़दम वहीं के वहीं जमे रह गये। पृथ्वी से उन के पैर वहीं के वहीं चिपक गये। मेरे पास की दो विद्याओं के बल, आज तक मैं ने कई जगह बड़े बड़े छापे मारे हैं। पर आज की तरह मैं कहीं भी असफल नहीं हुआ। मैं वही हूँ। मेरे साथी वही हैं। और मेरी विद्याएं भी वही हैं। सब कुछ हमारा ही हमारा होते हुए भी आपका यह महल और यह माल हमारा नहीं है। यह हम सभी के लिए बड़े अचरज की बात है। मेरी उन दो विद्याओं को तुम ले लो और बदले में तुम्हारी यह 'स्तम्भन' की विद्या मुझे दे दो। संभव है, जिसे पाकर, मेरे कुटुम्ब तथा साथियों का जीवन और भी सुभीते के साथ, बसर हो सके।

कुमार जम्बू, प्रभव की इस ईमानदारी पर बड़ा ही प्रसन्न हुआ। उस ने उसे अपने पास बैठाया। मनुष्यत्व के सम्बन्ध में, तब तो दोनों के बीच, देर तक, खूब ही गहरी छनती रही। कुमार की बातों को सुनते सुनते प्रभव जब उकता गया, तब वह उस

से बोला—"कुमार! आप, अभी मनुष्य जीवन का सुख क्या है, नहीं जानते। यही कारण है, कि मनुष्यत्व की बातें आप कर रहे हैं। संसार में आ कर आप ने अभी किया और देखा ही क्या है! एक बार भी जगत् के सुख को जिस ने जाना है, वही मनुष्यत्व का मोल जानने का हक़दार बना है। दूसरा नहीं। मानव जीवन के महत्त्व को पहचानने वाले उन्हीं अधिकारी पुरुषों का कथन है, कि पृथ्वी इस संसार में सार है। पृथ्वी पर नगर सार है। नगरों की शोभा का निचोड़ घरों में पाया जाता है। और, उन घरों की भी शोभा वहां की नारियों पर निर्भर है। उन नारियों में भी यदि वे पति-परायणा होती हैं, तो संसार के सार का पलड़ा उस ओर और भी अधिक झुक जाता है। नर-देह-धारी वे प्राणी महान् भाग्य शाली हैं; जिन्हें इस जगत् की सार मयी वस्तुएं प्राप्त हो पाती हैं। जो इन सार वान् वस्तुओं से जितना ही दूर रहता है, वह यहां उतना ही हतभागा समझा जाता है। और, जो इन से बिलकुल ही वंचित है, उस का तो जगत में आना-न आना दोनों एक ही समान हैं। कुमार! गृहस्थ धर्म के पालन करने के लिए यह चोला आप को मिला है, कि इस से ऊब कर असमय में ही चारित्र–धर्म को धारण करने आप चले हैं? यों कायरता लाना भला नहीं! आप के चेहरे से तो शूर–वीरता टपक रही है। फिर, वाणी बेचारी ने ही आप का क्या बिगाड़ा है, कि उसी को आप कायरता की गोदी में ले जा कर डाल रहे हैं?"

प्रभव की, अपने पतिदेव के प्रति, यह खरी खरी फटकार सुन कर, वे आठों पत्नियां मन ही मन बड़ी खुश हुईं। और परस्पर में कहने लगीं, "ओह बड़ा ही अच्छा हुआ। पतिदेव ने अपन सबों की तो ज़बान ही को बन्द कर दिया था। परन्तु अब तो प्रभव नाम के एक पक्के चोर से इन का पाला पड़ा है। प्रभव! भले समय तूने हमारा मुख्तार नामा लिया! इस वकील की शंकाओं का समाधान करना, पतिदेव के लिए ज़रा नाम रखावेगा! इस की बात बात में वकीली दाव–पेंच भरा हुआ है। आशा है, पति देव इस के द्वारा अवश्य-मेव पराजित हो जावेंगे। तब तो अपना बना बनाया घर भी बिगड़ने न पावेगा।

परन्तु भावी को कुछ और मंजूर था। वह, कुमार जम्बू, उस की ससुराल और उस प्रभव तथा उस के साथियों के घरों को उजाड़ कर के ही, उन के घरों को बसाना समझ रही थी। और अन्त में, उस ने वैसा ही किया भी।

कुमार ने प्रभव की बातें ध्यान-पूर्वक सुन लीं। प्रभव जब अपने दिल के सारे अरमान निकाल चुका, तब वे बोले- " अरे प्रभव ! यह सब कर्मों का हिसाब किताब है। इन्हीं कर्मों के कारण से ही, यहां अपनी अपनी रुचि अलग अलग है। वे एक दूसरी से मेल नहीं खातीं, रुचियों के अलग होने से ही, एक जिस चीज़ को अच्छी समझता है, दूसरा उसी को बुरी बतला कर, हिक़ारत की नज़रों से उसे देखता है। ऐसी अवस्था में, जो चीज़ जिस को प्यारी न हो वह कैसी ही सुन्दर, मनोहर और रसीली तब क्यों न हो, उसे अच्छी नहीं लगती। उस के मन को वह नहीं मोह सकती। क्यों कि, " यद्यस्मै रोचते तत् तस्मै सुन्दरम् ।" अर्थात् सुन्दर, सुन्दर नहीं है। किन्तु सुन्दर तो वही है, जो अपने मन को भा जावे। यही तो कारण है, कि एक अफ़ीमची निर्मल और बड़ी ही उज्ज्वल मिश्री को छोड़ कर अफ़ीम ही को सराह सराह कर के खाता है। क्यों कि, उस को तो उसी की चाह उस के दिल में है।" यों, तरह तरह की बातें कह कर के, उस चोर के मन को कुमार ने बदल दिया। कुमार की सुसंगति के प्रभाव से उस के भी पूर्व-भव के पुण्यों का उदय उस समय हो आया। उसने उसी दम अपने हीनतर व्यवहार और विचारों के लिए, कुमार से क्षमा याचना की। कुमार ने, बदले में, उसे गले से लगाया। अब तो बात ही कुछ और की और हो गई। वह आया तो था धन चुरा करके मालामाल बनने और अपने साथियों को मालामाल बनाने की आशा से। परन्तु इसी माल-असबाब को नहीं, अपनी जीवन-भर की चोरियों के द्वारा संग्रहीत धन-माल को छोड़छाड़ कर, वह भी कुमार जम्बू के साथ संयमी बनने को तैयार हो गया। उसी समय कुमार को साथ ले कर, वह अपने अन्य साथियों के पास आया। जहाँ, वे जड़वत् हो कर, पैरों के चिपक जाने से खड़े हुए थे। उसी क्षण, प्रभव ने, अपने त्याग-सम्बन्धी विचारों को, उन अपने साथियों के सम्मुख रक्खा। पहले तो पैर चिपक गये। दूसरे, प्रभव के जीवन में इस अचानक और बड़े ही अनोखे परिवर्तन को होते हुए उन्हों ने देखा। तब तो उन के अचरज की सीमा न रही। अपने मुखिया मित्र के विचारों में ऐसा अनहोना एकाकी परिर्वन देख कर के, संसार की मोह-माया के ममता के विचार उन के भी, उसी क्षण और वहीं के वहीं बदल गये। उन्हों ने उसी जगह, अपने सिर पर लदी हुई बहुमूल्य मणि-मानिक की पोटलियों को, दूर उतार फेंका। उन ने भी संयम-शीलता को हृदय से एक

बार सराहा और पश्चात् दूसरे क्षण में उस को धारण करने का दृढ़ निश्चय मन में कर लिया। इस भावना के उन के हृदय में प्रवेश करते ही उन के पैर ज़मीन से एकदम छूट गये। इस तीसरी घटना ने उन के संयम-व्रत को उन के दिलों में और भी अधिक दृढ़ कर दिया। इस विचित्र बात को अपनी निज की आँखों से वहीं की वहीं देख और उन चोरों के द्वारा सुन कर, उन आठों नव-विवाहित जम्बू कुमार की पत्नियों का मन भी संसार से विरत हो गया। उन की देखा देखी उन के कुटुम्बियों ने भी की। फिर तो कुमार के शेष परिवार ने भी कुमार ही के विचारों का अनुसरण और अनुकरण किया। बस, बात की बात में संयम-व्रत को धारण करनेवालों की संख्या, एक से आगे बढ़ कर पांच सौ सत्ताईस पर जा पहुंची। सब के सब मिल कर, सुधर्म स्वामी के पास गये। और, उन से दीक्षा-व्रत धारण कर लिया।

पाठको! यह है सच्ची आत्मा का प्रभाव। एक ही दृढ़-प्रतिज्ञ और आत्मिक बल से बलवान् आत्मा संसार में, बात की बात ही में, क्या से क्या करके दिखा सकती है, जम्बू की संक्षिप्त जीवनी को पढ़ कर, पाठक भली भाँति इस बात को जान सकते हैं। विवाह के पूर्व संयम को धारण करनेवाले अकेले जम्बू ही थे। परन्तु विवाह के पश्चात् पाँच सौ छब्बीस अन्य नर-नारियों ने भी उन के साथ संयम को धारण किया। यह उन के निन्यानवे करोड़ रुपयों की सम्पत्ति तथा आठों सुन्दरी पत्नियों के आदर्श त्याग ही का फल था। जम्बू मुनि! सचमुच में आप श्रेष्ठि वंश के एक महापुरुष थे। अपने सांसारिक राजसी सुख-साज की सम्पूर्ण पूँजी को पारलौकिक व्यापार में लगा कर, पाँच सौ सत्ताईस गुना एक साथ लाभ उठाना, आप ही जैसे महामना पुरुषों का काम था। आप की जीवनी से लोग आज भी त्याग की सुन्दर शिक्षा सीखते हैं। आप धन्य हैं!

दीक्षा धारण करने के पश्चात्, जम्बू स्वामी ने अपने अवशेष कर्मों का तप तथा संयम के द्वारा शमन किया। एक तो बालकपन ही से संयम-व्रत को धारण कर लेना, और दूसरे सत्संगति का प्रभाव, इन दोनों बातों के कारण आप का शास्त्रीय ज्ञान भी गजब का चढ़ा-बढ़ा था। यही कारण था, कि सुधर्म स्वामी ने संसार से विदा होते समय, अपने आचार्य-पद का अधिकारी भी आप ही को चुना। अन्त में, अनेकों प्रकार के कठोरतम तपों की आराधना कर के, आप ने केवल-पद को प्राप्त किया। और उस अपने ज्ञान पद से जगत् की अनेक भव्य आत्माओं को मोक्ष-मार्ग का अधिकारी तथा अनुयायी बनाया था।

उपसंहार

दीर्घ तपस्वी श्रमण भगवान् महावीर का महान् उज्ज्वल चरित्र यथाशक्ति संक्षेप में बतलाया जा चुका है। यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं हो सकता, कि अनन्त दुर्गम रहस्यों से परिपूर्ण भगवान् के चरित्र को सम्पूर्ण रूप से बतला सकना असंभव है। जड़ भाषा में भी इतनी शक्ति नहीं उसके द्वारा उसका निरूपण हो सके। किन्तु जितना भी संभव हो सका, है वही कुछ न्यून नहीं है। उसे शुद्ध अन्तः करण से मनन परिशीलन किया जाय तो वह भी आत्मा के उच्च से उच्च विकास का साधन बन सकता है।

भगवान् के जीवन को नाना दृष्टियों से देखा जा सकता है। एक मुमुक्षु जीव के लिए वह मुक्ति के अव्याबाध मार्ग का दर्शन कराता है; दार्शनिक को दर्शनशास्त्र की अनेकानेक गुत्थियों को सुलझाने वाले महा प्रसाद के रूप में दिखाई दे सकता है; और समाज-शास्त्रियों को तात्कालिक सामाजिक अवस्था का यथावस्थितबोध करा सकता है। भगवान् के जीवन के परिशीलन करने से उस समय की धार्मिक, राष्ट्रीय, सामाजिक और आर्थिक अवस्थाओं का भी अनुमान लगाया जा सकता है। भगवान् के जीवन का उनके उपदेशों के साथ इतना घनिष्ठ संबंध है कि उनके उपदेशों का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किये बिना उनके जीवन की ठीक-ठीक सङ्गति बिठलाना असंभव नहीं तो अत्यन्त दुष्कर अवश्य है। भगवान् के बहुत से उपदेश और उनके द्वारा समय समय पर स्थापित की हुई व्यवस्थाएं तत्कालीन परिस्थिति पर ही निर्भर हैं।

ऐतिहासिक अन्वेषण से यह भलीभाँति प्रमाणित हो चुका है जिस समय भगवान् महावीर ने धर्मतीर्थ की स्थापना की थी, उस समय का समाज अन्धश्रद्धा, के जाल में बुरी तरह जकड़ा हुआ था। निष्प्राण क्रियाकाण्ड ने उस समय धर्म को चैतन्य हीन और जड़प्रायः बना डाला था। धार्मिक-मूढ़ताओं की वेदी पर सम्यक्-चारित्र की बलि चढ़ाई जाती थी। समाज का एक भाग स्वार्थान्ध हो कर मनमानी धार्मिक व्यवस्थाएं दिया करता था। उस अन्धकारमय युग में

लोकोत्तर आलोक से समस्त लोक को आलोकित करना अलौकिक बल-सम्पन्न 'महावीर' का ही कार्य था। भगवान् महावीर ने अगणित अन्धपरम्पराओं का सर्वनाश करके चैतन्यमय धर्म की प्राण-प्रतिष्ठा की। और सम्यक्-चारित्र को जीवित दान दिया।

भगवान् पूर्ण परमात्मा थे और उनके उपदेश की शैली भी बड़ी ही प्रभाव शालिनी थी। यही कारण है कि थोड़े से ही समय में समाज का रूप बिलकुल बदल गया। आज भी बाह्य क्रियाकाण्ड में से चैतन्य मय प्रेरणा विलुप्त सी होती चली जाती है और इसी कारण हम भगवान् द्वारा संस्थापित क्रियाकलाप के शुद्ध स्वरूप का अनुमान लगाने में असमर्थ से हो रहे हैं।

भगवान् महावीर के द्वारा तत्कालीन समाज का उद्धार न हुआ होता तो आज हमारी क्या दशा होती? हम किस प्रगाढ़ अन्धकार में आकण्ठ निमग्न होते? कितनी कितनी मूढ़ताएं हमारे मस्तिष्क को भ्रान्त एवं निकम्मा बना देती? धर्म का वह शीतल शान्त समीर प्राप्त करके किस प्रकार हम अपने प्राणों को स्थिर रख सकते? इत्यादि प्रश्नों पर एकान्त में गंभीर विचार करने से भगवान् के उपदेश का माहात्म्य समझ में आ सकेगा।

एक बात और कह कर हम उपसंहार को समाप्त करेंगे। हमारे खयाल से इधर आर्यावर्त्त के इतिहास में भगवान् महावीर सदृश घोर तपस्वी महात्मा और कोई नज़र नहीं आता। भगवान् के चरित्र से पद-पद पर जो गंभीरता, उच्चता, तपस्विता, और महानुभावता टपकती है वह अनुपम है, उसकी तुलना किसी अन्य महात्मा के साथ नहीं की जा सकती। उन्हों ने संसार को जो अमूल्य उपहार प्रदान किये हैं, उनकी बराबरी भी कोई नहीं कर सकता। इतना होने पर भी अब तक के अधिकांश इतिहास-लेखकों ने महावीर के साथ कृतज्ञता का व्यवहार नहीं किया। इस व्यवहार के कई कारण हैं। प्रथम तो इतिहास-लेखकों का धार्मिक पक्षपात व्यक्त या अव्यक्त रूप में अपना काम करता है और दूसरे भगवान् महावीर के अनुयायी वणिक्-जन अपने संग्रहप्रिय स्वभाव के कारण भगवान् द्वारा प्राप्त सम्पत्ति को सर्वसाधारण के समक्ष भेंट करने में असमर्थ हैं। कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि एक दिन आएगा, जब संसार भगवान् महावीर के जीवन और

उपदेश का ठीक-ठीक मूल्य आँकेगा और इतिहास-विपर्यास करने वाले लेखकों को अपराधी ठहराएगा। हमारे विचार से वह दिन अब बहुत दूर नहीं है-और यदि शीघ्र ही न आया तो क्या-

कालोऽह्यांनिरवधिः विपुला च पृथ्वी।

बस, आशा है निष्पक्ष पाठक इस परमपावन चरित्र से लाभ उठाकर अपने आत्मा के कल्याण में संलग्न होंगे। तथाऽस्तु।

प्रकरण—दसवां

भगवान् का तत्त्वज्ञान

किसी भी महा पुरुष के जीवन का वास्तविक रहस्य जानने के लिए दो बातों की अनिवार्य आवश्यकता होती है—(१) उस महापुरुष के जीवन की बाह्य घटनाएँ और (२) उस के द्वारा प्ररूपित या प्रचारित उपदेश। बाह्य घटनाओं से आन्तरिक जीवन का यथावत् परिज्ञान नहीं हो सकता। आन्तरिक जीवन को हृदयङ्गम करने के लिए उसके उपदेश ही अभ्रान्त कसौटी का काम दे सकते हैं। उपदेश, उपदेष्टा के मानस का सार, उसकी आभ्यन्तरिक भावनाओं का प्रत्यक्ष चित्रण, एवं उसके महान् तपश्चरण का प्रतिबिम्ब है। तात्पर्य यह कि उपदेष्टा की जैसी मनोवृत्ति होगी वैसा ही वह उपदेश दे सकेगा और उसकी जितनी अधिक तपस्या होगी, उतनी ही अधिक यथार्थता तथा हितकरता उस के उपदेश में होगी। यही कसौटी प्रत्येक मनुष्य की महत्ता का माप करने के लिए उपयोगी हो सकती है।

श्रमण भगवान् महावीर के उपदेशों का वर्णन हम इसी दृष्टि-बिन्दु से संक्षेप में उपस्थित कर देना आवश्यक समझते हैं।

भगवान् के सिद्धान्त मुख्यतया दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं—(१) तत्त्वज्ञान और (२) आचरण वाद। इन दोनों विभागों का सूक्ष्म अध्ययन करने के लिए अनेक-पृथक् ग्रंथों का स्वाध्याय करना आवश्यक है। तथापि यहां उनका थोड़ा सा दिग्दर्शन कराया जायगा। भगवान् के जीवन का आदर्श शाश्वत शान्ति की प्राप्ति किस उपाय का अवलम्बन करने से प्राप्त होगी, यही

रहा है। अतएव उन के उपदेश-पीयूष की संतापसंहारिणी धारा मुख्य रूप से निवृत्ति की ओर प्रवाहित होती है। सभी बाह्य-प्रवृत्तियां, जो जैनशास्त्रों में कर्त्तव्य रूप से प्रतिपादित की गई है, निवृत्ति की सहायिका हैं और जिस कर्त्तव्य-कलाप से निवृत्ति सिद्ध नहीं होती, वह सब हेय बतलाया गया है। भगवान् ने प्रथम अंग (आचाराङ्ग) के आरम्भ में ही जो अमूल्य उद्‌गार निकाले हैं, उन्हीं से उन के महान् लक्ष्य का अनुमान किया जा सकता है। वे उद्‌गार इस प्रकार हैं—

'सुयं मे आयुसं तेणं भगवया एवमक्खायं—इह मेगेसिं णो सण्णा भवइ, तंजहा—पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहे दिसाओ वा आगओ अहमंसि, अण्णयरीओ वा दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि। एव मेगेसिणो णायं भवइ-अत्थि मे आया उववाइए, णत्थि मे आया उववाइए, के अहं आसि? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि? से जं पुण जाणेज्जा सहसम्मइयाए परवागरणेणं अण्णेसिं अंतिए वा सोच्चा तं जहा-पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि जाव अण्णयरिओ वा दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि। एव मेगेसिंणो णायं भवइ—अत्थि मे आया उववाइए, जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ जो आगओ अणुसंचरइ सोहं, से आयावादी, लोगावादी, कम्मावादी, किरियावादी। अकारिस्सं च हं, काराविस्सं च हं, करओवा वि समणुन्ने भविस्सामि। एयावंति, सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति। अपरिण्णायकम्मा खलु अयं पुरिसे जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ साहेति, अणेगरूवाओ जोणियो संधेइ, विरूवरूवे फासे पडिसंवेदेइ। तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया। इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण माणण पूयणाए, जाइमरणमोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं, एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति जस्से ते लोगंसि कम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति सेहु मुणी परिण्णायकम्मेत्ति बेमि।"

भावार्थ-(श्रीसुधर्म स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं-हे आयुष्यमन्! मैं ने सुना है. भगवान् ने ऐसा कहा है) संसार के कुछ प्राणियों को यह नहीं मालूम कि मैं पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊर्ध्व, अधः दिशाओं तथा ईशान आदि विदिशाओं एवं अनुदिशाओं में से किस ओर से आया हूँ! कितने ही जीवों को यह पता नहीं कि मेरी आत्मा उत्पन्न होती है या नहीं? मैं पूर्व भव में कौन था और परभव में क्या होऊँगा? ये सब बातें जातिस्मरण से, सर्वज्ञ के कथन से या अन्य ज्ञानी से सुन कर, जान सकते हैं। किसी-किसी को यह ज्ञात नहीं है, कि मेरी आत्मा पुनर्जन्म धारण करती है जो अमुक दिशा, विदिशा या अनुदिशा से आती है। सब दिशाओं विदिशाओं से जो आया है वही मैं हूँ। जो प्राणी यह जानता है, वही आत्मावादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रिया-वादी होता है। मैंने किया, कराया, करने वाले की अनुमोदना की, मैं करता हूँ; कराता हूँ, करने वाले को भला जानता हूँ, मैं करूंगा, कराऊंगा और करते को भला जानूँगा; ये सब कर्म-बंधन के कारण जानने योग्य हैं। जो इन्हें नहीं जानता वह दिशाओं तथा विदिशाओं में जाकर, अनेक योनियों को प्राप्त करके नाना प्रकार के दुःख भोगता है। निस्सन्देह वास्तविक (संयम रूप) जीवन के लिए प्रशंसा के लिए, पूजा के लिए जन्म-मरण से मुक्त होने के लिए उपर्युक्त कर्मबंध के समस्त कारणों को जानना उचित है। जिन महापुरुषों ने उन्हें जाना और त्यागा है, वे सच्चे संयमवान् मुनि हैं। "

प्रभु महावीर स्वामी का यह आद्य उद्गार इस विषय को स्पष्ट कर देता है,कि भगवान् के जीवन का मुख्य लक्ष्य आत्म कल्याण था। और इसी लक्ष्य को समक्ष रखते हुए ही उन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया था। उनका सारा तत्त्वज्ञान इसी आवश्यकता की पूर्ति का साधन है। अतः मुमुक्षु जीवों को वह सदैव उपयोगी रहेगा। अस्तु। अब हम तत्त्वज्ञान के प्रासाद के स्तम्भों पर थोड़ा प्रकाश डालना चाहते हैं।

जगत—जिसमें हम सदा से रहते आये हैं और रहते है वह जगत क्या है? कब से है? इसका निर्माण किसने किया? किन उपादानों से किया? या यह अनादि कालीन है, अकृत्रिम है। इत्यादि प्रश्न मानव-मस्तिष्क में सदा से उठते आये हैं। पर उनका सन्तोषप्रद समाधान करना साधारण बात नहीं है, महात्मा बुद्ध ने,जो भगवान् के प्रायः समकालीन थे, ऐसे प्रश्नों पर अ-

धिक कुछ भी नहीं कहा। परन्तु भगवान् महावीर ने उनका बुद्धिगम्य और सरल स्पष्टीकरण किया है। जहां वस्तुएँ इतनी अधिक हों कि प्रत्येक की पृथक् पृथक् गणना करना संभव न हो, वहां वर्गीकरण का सिद्धान्त उपयोगी होता है। जगत का वर्गीकरण करने से हमें दो तत्त्व-मौलिक पदार्थ-उपलब्ध होते हैं- (१) जीव और (२) जड़। इनके अतिरिक्त और कोई तीसरी मौलिक वस्तु है ही नहीं, अतएव यह कहा जा सकता है कि जीव और जड़ के समूह को ही जगत कहते हैं।

प्रत्येक प्राचीन दर्शन शास्त्र और आधुनिक विज्ञान, इन दोनों की मान्यता है कि-" नासतो विद्यते भावः, नाभावो जायते सतः " अर्थात् जो सत् नहीं— असत् है, वह कभी सत् नहीं हो सकता और जो सत् है उसका कभी अभाव नहीं हो सकता। इस सर्व सम्मत सिद्धान्त को स्मरन रखते हुए विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि जगत् यदि सत् है (और उसकी सत्ता निर्विवाद सिद्ध है) तो वह अनादि कालीन अवश्य है। इस का निर्माण न तो किसी ने किया है और न करने की आवश्यकता ही थी। ' इस प्रकार दो मौलिक पदार्थों का समूहात्मक यह संसार सदा विद्यमान था, है, और रहेगा। इसमें दिखलाई देने वाली विविधता इन्हीं दोनों वस्तुओं के अमुक भांति के सम्मिश्रण आदि पर निर्भर है : इस विविधता का विश्लेषण करने से यह बात सहज ही बुद्धि में आ जाती है। एक उदाहरण लीजिए। मिट्टी जड़ वस्तु है कुंभार उसे लेता है, चाक पर चढ़ाता है और घड़ा बना देता है। अब वही मिट्टी घड़े के रूप में आजाती है। इसी प्रकार अन्यान्य वस्तुएँ अमुक प्रकार के संयोगों में पड़ कर भिन्न-भिन्न रूप धारण करती रहती हैं। यही जगत् की विविधता का रहस्य है। किन्तु इस विविधता के बाह्य आवरण को चीर कर भीतर नज़र डालने से हमें उल्लिखित जड़ और चेतन, यही दोनों मौलिक पदार्थ दिखाई देते हैं। यह दोनों पदार्थ अनादि कालीन हैं और अनन्त काल तक रहेंगे, इसलिए ऐसा कहना सर्वथा उचित ही है, कि जगत् अनादि कालीन है और अनन्त काल तक रहेगा। इसका न तो कोई कर्त्ता है, न हर्त्ता।

षट् द्रव्य- ऊपर जो दो मूल पदार्थ बताए गए हैं। उन में से जड़ या अजीव के अवान्तर भेदों को सम्मिलित करने से छह

पदार्थ हो जाते हैं और वही षट् द्रव्य कहलाते हैं। उनके नाम ये हैं-(१) जीव (२) पुद्गल (३) धर्म (४) अधर्म (५) आकाश (६) काल।

(१) जीव, ज्ञान, दर्शन, सुख, आदि अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड स्वरूप है। जीव में रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं हैं, अतएव वह बाह्य इन्द्रियों से नहीं जाना जाता, फिर भी ज्ञान आदि प्रत्यक्ष अनुभूत होने वाले गुणों से उसका अस्तित्व अवश्य सिद्ध होता है। किसी भी जड़ वस्तु में ज्ञान-दर्शन शक्ति नहीं है। ऐसी अवस्था में इस शक्ति का आधारभूत कोई भिन्न द्रव्य अवश्य होना चाहिए और वही जीव या चेतन है। "मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ" इस प्रकार की जो प्रतीति होती है, वह भी आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है। कई दर्शन-कारों का सिद्धान्त है, कि सुख-दुख का अनुभव शरीर को होता है। पर विचार करने से यह सिद्धान्त मिथ्या सिद्ध होता है। यदि शरीर को सुख का अनुभव होता हो तो मृतक शरीर को भी होना चाहिए। मुर्दा शरीर में भी वे सब क्रियाएँ होनी चाहिए, जो जीवित शरीर में होती हैं। मगर ऐसा नहीं होता, इससे प्रतीत होता है, कि सुख आदि का अनुभव करने वाला कोई और ही पदार्थ है, जिसके सद्भाव से शरीर जीवित कहलाता है और जिसका वहां सद्भाव न रहने पर शरीर मुर्दा कहलाने लगता है। शरीर, जड़ पदार्थों के संयोग से बनता है और जैसे घट पट आदि जड़ पदार्थों में चेतना शक्ति नहीं होती, उसी प्रकार शरीर में भी नहीं हो सकती।

कल्पना कीजिए कि एक ऐसा बंगला है जिस में पांच खिड़कियाँ हैं। बंगले में बैठा हुआ एक व्यक्ति उन खिड़कियों द्वारा विभिन्न पदार्थों को जानता है। यदि खिड़कियाँ बन्द कर दी जावे तो वह उन पदार्थों को नहीं जान सकेगा। परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता, कि वे खिड़कियां स्वयं ही उन पदार्थों को जानती थीं। खिड़कियाँ भिन्न हैं और उन के द्वारा-उनका आश्रय लेकर-जानने वाला व्यक्ति उन से भिन्न है। इसी प्रकार शरीर रूपी बंगले में पांच इन्द्रिय रूपी खिड़कियाँ हैं। उन इन्द्रियों के द्वारा आत्मा भिन्न-भिन्न विषयों को जानता है; अतएव यह नहीं माना जा सकता कि इन्द्रिया स्वयं ही पदार्थों को जानती हैं। वास्तव में इन्द्रियों से जानने वाला आत्मा पृथक् ही है।

यद्यपि जीव अनन्तानन्त हैं, तथापि उन सब में जीवत्व जाति समान रूप

से रहती है। अतः सामान्य दृष्टि से एक भी कह सकते हैं। अन्य दृष्टियों से अन्य प्रकार के भेद भी हो सकते हैं। विकास और अविकास की विवक्षा को प्रधानता देने से मुख्य रूप से दो भेद होते हैं।

(१) मुक्त और (२) संसारी। जैसे कणाद आदि दर्शनकारोंने आत्मा और परमात्मा में स्वभाव से ही भेद माना है। एवं आत्मा को लाख प्रयत्न करने पर भी ईश्वरत्व से वंचित ही रखा है, वैसा भगवान् महावीर ने नहीं माना। भगवान् ने हमारे सामने सर्वोच्च आदर्श–ईश्वरत्व-रखा है, और उसकी प्राप्ति का मार्ग भी बताया है। उनके सिद्धान्त के अनुसार आत्मा, सदा के लिए ईश्वर का गुलाम नहीं है, बल्कि वह स्वयं ईश्वर बनने की क्षमता रखता है। इसलिए उक्त दो भेद विकास-अविकास की अपेक्षा से ही समझने चाहिए। अर्थात् जो चौरासी लाख जीव योनियों में परिभ्रमण कर रहे हों वे संसारी जीव और जो संसार–भ्रमण से छूट चुके हों, आत्मा के ज्ञानादि स्वाभाविक गुणों का पूर्ण विकास हो जाने के कारण सर्वज्ञ और पूर्ण वीतराग हो गये हों वे मुक्त जीव हैं।

मोक्ष की प्राप्ति उस आत्मा को ही होती है, जिसके समस्त विकार नष्ट हो गये हों—जो सर्वथा निर्विकार हो गया हो। एकबार पूर्ण निर्विकार होने के कारण मुक्तात्मा के फिर कभी भी विकार उत्पन्न नहीं हो सकते। क्योंकि एक विकार ही दूसरे विकार को उत्पन्न करता है। मुक्तात्माओं के जब विकार उत्पन्न नहीं होता तो वे मोक्ष से लौट कर पुनः संसारी नहीं हो सकते। जो लोग मोक्ष से लौटना मानते हैं, उनके मत से मोक्ष का कुछ महत्त्व ही नहीं रह जाता। इस प्रकार भगवान् ने मोक्ष से पुनरागमन का सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया है।

(२) पुद्गल द्रव्य—जिस में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पाये जाते हों वह पुद्गल है। पुद्गल शब्द का प्रयोग कहीं–कहीं जीव के अर्थ में भी देखा जाता है, परन्तु जैनशास्त्रों में प्रधानता उक्त अर्थ की ही है। शब्द, अन्धकार, छाया, उद्योत, आतप, ये सब एक प्रकार के पुद्गल हैं। जीव द्रव्य में वैभाविकता उत्पन्न करने में पुद्गल मुख्य कारण हैं। पर इस विषय का वर्णन हम आगे चल कर करेंगे।

(३-४) धर्म द्रव्य—अधर्म द्रव्य—हम एक पत्थर हाथ में लेकर फेंक देते हैं। वह कुछ दूर जाकर रुक जाता है, पर पहले उस की गति और बाद में स्थिति

का कारण क्या है ? बस, वही धर्म और अधर्म द्रव्य। धर्म द्रव्य जीव और पुद्गलों की गति में सहायक होता है। जैसे रेल की पटरी रेलगाड़ी के चलने में सहायता पहुँचाती है। अधर्म द्रव्य का कार्य जीव-पुद्गलों की स्थिति में सहायक होना है। यह दोनों द्रव्य गति-स्थिति का कार्य उदासीन भाव से करते हैं। वे गति-स्थिति के सहायक हैं। प्रेरक नहीं।

(५) आकाश द्रव्य—" अवकाशदमाकाशम् " अर्थात् जो जीव पुद्गल आदि द्रव्यों को अवकाश—स्थान—प्रदान करता है, वह आकाश द्रव्य है। आकाश के उपाधि भेद से दो भेद हो जाते हैं।

(१) लोकाकाश और (२) अलोकाकाश। आकाश के जिस विभाग में जीव आदि किसी भी अन्य द्रव्य का अस्तित्व पाया जाता है, वह लोकाकाश और जिस में आकाश के सिवाय अन्य कोई भी द्रव्य नहीं, वह अलोकाकाश है। आकाश द्रव्य का अस्तित्व सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है।

(६) काल द्रव्य—नवीन पदार्थ देखते-देखते ही पुराना पड़ जाता है, और पुराना हो कर फिर जीर्ण-शीर्ण। एक छोटासा बच्चा युवक बन जाता है और युवक वृद्ध हो जाता है। आज तक जिसके लिए 'होगा" होगा' कहते थे उसे ही अब हो रहा और थोड़े ही समय में "हो गया, हो गया।" कहने लगते हैं। इस व्यवहार का कारण ही काल है। काल के सर्वव्यापक प्रभाव से ही यह सब होता है। द्रव्यों के इन विभागों में संसार में प्रत्यक्ष अथवा अनुमान आदि प्रमाणों से उपलब्ध होने वाले प्रत्येक पदार्थ का अन्तर्भाव हो जाता है। अन्य अनेक दर्शनकारों ने द्रव्य के अधिक भेद गिनाये हैं। पर उन में मौलिकता और व्यापकता का प्रायः अभाव पाया जाता है। उदाहरण के लिए वैशेषिक दर्शन-सम्मत द्रव्यों को लीजिए। वैशेषिक दर्शन में (१) पृथ्वी, (२) अप (३) तेज (४) वायु (५) आकाश (६) काल (७) दिक् (८) आत्मा (९) मन; ये नौ द्रव्य स्वीकार किये गये हैं। परन्तु इन में धर्म और अधर्म द्रव्य का समावेश नहीं होता। इस के अतिरिक्त आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है, कि अप् कोई स्वतंत्र मौलिक द्रव्य नहीं है। क्योंकि वह अमुक प्रकार के वायु के सम्मिश्रण से उत्पन्न किया जा सकता है। लेकिन जैनदर्शन-सम्मत द्रव्यों में यह बात नहीं है। उस में न तो कोई ऐसा द्रव्य है जो अन्य द्रव्यों के संयोग से

उत्पन्न होने के कारण मौलिक न हो और न यही बात है, कि किसी वास्तविक द्रव्य का उन में समावेश न हो सकता हो। इस प्रकार जैनों का पदार्थ-विज्ञान उच्चतम कोटि का सिद्ध होता है।

नव तत्त्व- हम यह पहले ही कह चुके हैं, कि भगवान् महावीर स्वामी का प्रधान लक्ष्य अध्यात्म था। उनके उपदेश में आध्यात्मिकता का लक्ष्य प्रधान ही रहता है। यही कारण है, कि जहां उन्होंने पदार्थ-विज्ञान की स्थापना करके जगत् का चित्र सन्मुख रखा, वहां मुमुक्षु जनों के कल्याण के लिए उन पदार्थों--द्रव्यों--में से आत्म-विकास में अनिवार्य उपयोगी सारभूत वस्तुओं से अपने तत्त्वज्ञान-प्रासाद का एक नया स्तम्भ खड़ा कर दिया। छह द्रव्य यद्यपि वास्तविक हैं; पर उन में धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ऐसे द्रव्य हैं जो अन्यान्य दृष्टियों से ज्ञातव्य होने पर भी शुद्ध आत्म-हितैषी जनों के लिए उतना अधिक मूल्य नहीं रखते। उनके लिए तो प्रधानतया वही ज्ञातव्य है जिस के बिना आत्म-विकास हो ही नहीं सकता। अतएव भगवान् ने द्रव्यों का सार लेकर दूसरे प्रकार से भी पदार्थों का वर्णन किया और इसी कारण उन का तत्त्व (सार) नाम पड़ा। द्रव्य और तत्त्व में यही विशेषता है। तत्त्वों की संख्या नौ हैं। जैसे-(१) जीव (२) अजीव (३) पुण्य (४) पाप (५) आश्रव (६) संवर (७) निर्जरा (८) बंध (९) मोक्ष।

जीव और अजीव का संक्षिप्त वर्णन किया जा चुका है। अतः शेष तत्त्वों का स्वरूप ही बतलाया जाता है।

पुण्य और पाप—पुण्य और पाप का आस्रव और बंध में समावेश हो जाता है। शुभ आस्रव और शुभ बन्ध में पुण्य तथा अशुभ आस्रव और अशुभ बन्ध में पाप का अन्तर्भाव होता है। शुभ कर्मों को पुण्य और अशुभ कर्मों को पाप कहते हैं। सम्पत्ति, आरोग्य, सुन्दरता, यश, कीर्त्ति, दीर्घजीवन, अच्छा कुटुम्ब, शुभ गति आदि संसार संबंधी सुख और उसके साधन जिन शुभ कर्मों से प्राप्त होते हैं, वे पुण्यकर्म हैं। इससे विपरीत कर्म दुःख के साधन जिन से प्राप्त हों वे पाप कर्म हैं। चारों घनघातिया कर्म पाप कर्म हैं। क्योंकि वे आत्मा के स्वरूप को एकान्त रूप से घात करते हैं। चार अघातिया कर्मों में से उच्च गोत्र, साता वेदनीय, नामकर्म की शुभ प्रकृतियां,

और तीन आयुष्य ये शुभ हैं। शेष सब अशुभ।

यों तो जीवों के अध्यवसायों की कुछ गणना ही नहीं है। परन्तु स्थूल दृष्टि से वे तीन श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं:—(१) अशुभ (२) शुभ और (३) शुद्ध। अशुभ भावों से पाप का और शुभ भावों से पुण्य का बंध होता है। शुद्ध भावों से संवर—कर्मों की रुकावट—होता है। अशुभ भावों को दूर करने के लिए शुभ भावों की आवश्यकता होती है और अन्त में शुभ कर्मों को पैदा करने वाले शुभ भावों का विनाश करने के लिए शुद्ध भावों का अवलम्बन लेना पड़ता है। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का क्षय होने पर ही मुक्ति प्राप्त होती है, अतएव शुभ कर्मों का भी नाश करना अनिवार्य होता है। जो लोग अशुभ भावों का नाश होने से पहले ही शुभ भावों को अग्राह्य बताते हैं, पुण्य को हेय कहते हैं, वे भूल करते हैं। क्योंकि अशुभ भावों पर विजय किये बिना शुद्ध भावों की प्राप्ति होना सर्वथा असंभव है। जब शुद्ध भाव प्राप्त न होंगे और शुभ भावों को हेय समझ कर उन्हें प्राप्त करने का प्रयास ही नहीं करेंगे तो अशुभ भावों की ही प्राप्ति होगी। विकास क्रमशः होता है, क्रमभंग होने से उलटा आत्मा का पतन—ही होता है। अतः किसी सीमा तक शुभ भाव और उसे उत्पन्न करने वाले पुण्यकर्मों को ग्राह्य मानना चाहिए। इसी से पुण्य को मोक्ष का परम्परा—कारण कहा है। पुण्य के उदय से मनुष्य गति प्राप्त होती है। यदि पुण्य को एकान्ततः त्याज्य मान लिया जाय तो पुण्य का फल मनुष्यगति भी प्राप्त नहीं होगी और मनुष्यगति प्राप्त न होने से मोक्ष कदापि संभव नहीं है। अतः पुण्य परम्परा से मोक्ष का कारण है और इसी से 'पुण्य' शब्द की व्युत्पत्ति यह की गई है, कि—"जो आत्मा को पवित्र बनावे उसे पुण्य कहते हैं।"

अस्रवतत्त्व—आत्मा के साथ कर्मों का संबंध जिन कारणों से होता है, वह आस्रवतत्त्व है। जीव के शुभ या अशुभ कृत्यों से कर्म आते हैं और वही आस्रव हैं। यदि कृत्य शुभ हुआ तो शुभ कर्मों का और यदि अशुभ हुआ तो अशुभ कर्मों का आस्रव होता है; लेकिन शुभाशुभ कृत्य भी मुख्य रूप से मनोयोग पर अवलम्बित रहते हैं अतः आस्रव का मुख्य कारण मनोयोग है। अशुभ कर्मों का विपाक दुःखप्रद है। पर शुभ कर्म भी आत्मा के वास्तविक स्वरूप की

प्राप्ति में किंचित् बाधा डालते हैं। ऐसा होने पर भी अशुभ कर्मों को रोकने के लिए शुभ कर्मों की आवश्यकता होती है। पूर्ण आत्मविकास-मुक्ति-के लिए पहले शुभ कर्मों के द्वारा अशुभ कर्मों का नाश करना और फिर संवर तथा निर्जरा के द्वारा शुभ कर्मों का नाश करना उपयोगी होता है। यहां यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि आगे चलकर जब शुभ कर्मों का नाश करना ही पड़ता है तो पहले उनका उपार्जन ही क्यों किया जाय? इस प्रश्न का समाधान कठिन नहीं है। बात यह है कि शुभ कर्मों के उपार्जन किये बिना भी मोक्ष नहीं मिल सकता और उनके नाश किये बिना भी मोक्ष नहीं मिल सकता। मोक्ष-प्राप्ति के लिए पहले उनका उपार्जन करना और फिर नाश करना, दोनों ही आवश्यक हैं। कल्पना कीजिए, हमें भारत वर्ष से लण्डन शहर जाना है। रास्ते में जहाज़ पर बैठे बिना हम वहां पहुँच नहीं सकते और यदि जहाज़ पर सवार होकर फिर उसका त्याग न करें--उससे नीचे न उतरें तो भी लण्डन शरह में नहीं पहुँच सकते। अर्थात् वहां तक पहुँचने के लिए जैसे जहाज़ का ग्रहण और त्याग आवश्यक हैं उसी प्रकार मोक्ष रूपी नगर तक पहुँचने के लिए शुभ कर्म का ग्रहण (शुभास्रव) और त्याग भी आवश्यक हैं।

दूसरा उदाहरण लीजिए। जैसे पैर में चुभे हुए कांटे को निकालने के लिए ऊपर से फिर दूसरा कांटा पैर में चुभोना पड़ता है और पहला कांटा निकल जाने पर वह दूसरा कांटा भी निकाल लिया जाता है, उसी प्रकार अशुभ कर्मों का नाश करने के लिए शुभ कर्मों का उपार्जन करना भी उपयोगी है और फिर अधिक उन्नत दशा में पहुँच जाने पर उनका त्याग करना भी उचित है। उन्हें एकान्ततः त्याज्य नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार आस्रव के दो भेद होते हैं-(१) शुभास्रव और (२) अशुभास्रव।

संवर तत्त्व-जैसे नल का पेच घुमा देने से पानी का आना बन्द हो जाता है, वैसे ही आते हुए कर्मों को गुप्ति, समिति, दस धर्म, भावना (अनुप्रेक्षा) तपस्या और परिषहजय आदि के द्वारा रोक देने को संवर तत्त्व कहते हैं

निर्जरा तत्त्व-आत्मा के साथ बंधे हुए कर्मों में से कुछ थोड़े से कर्मों के क्षय होने को निर्जरा कहते हैं। कर्मों का प्रवाह महागंगा नदी के प्रवाह की तरह है। जैसे गंगा के प्रवाह में प्रति समय जल का गमन-आगमन होता

रहता है, वैसे ही आत्मा में प्रत्येक समय कर्मों का आना--जाना बराबर जारी रहता है। कर्म अपना आबाधा काल--कर्मबन्ध और उदय के बीच का समय समाप्त होने पर आत्मा से खिर जाते हैं, वह निर्जरा है। कभी-कभी विशिष्ट भाव-तपस्वी योगी अपनी तपस्या और ध्यान के द्वारा सुदीर्घ काल पश्चात् उदय में आने योग्य कर्मों को शीघ्र उदय में ले आते हैं और तत्काल ही उनका क्षय कर देते हैं।

बन्ध तत्त्व—आत्मा के साथ कर्मों का दूध और पानी की भांति संबंध हो जाने को बन्ध कहते हैं। हम कह चुके हैं, कि कर्म एक प्रकार के पुद्गल हैं। वे समस्त लोकाकाश में भरे पड़े हैं। उन्हें कार्माण वर्गणा कहते हैं। आत्मा में राग द्वेष आदि विकार रूप परिणत होने की और कार्माण वर्गणा में विकार रूप परिणत करने की शक्ति है। जैसे शराब पीने वाले में उन्मत्त होने की शक्ति है। एवं शराब में उन्मत्त कर देने की शक्ति है। इस प्रकार कर्म रूप परिणत होने वाली कर्म वर्गणाओं को और नोकर्म रूप परिणत होने वाली नोकर्म वर्गणाओं को प्रत्येक समय, सर्वाङ्गों से जीव ग्रहण करता रहता है। कर्मों को ग्रहण करने का व्यापार आज से नहीं, बल्कि अनादि काल से हो रहा है। इन अनादि कालीन कर्मों के कारण ही आत्मा अपने स्वाभाविक ज्ञान, दर्शन, अव्याबाध सुख आदि गुणों से च्युत हो रही है और विविध प्रकार की योनियों में परि-भ्रमण कर रही है।

कर्म मुख्यतया दो प्रकार के हैं-(१) द्रव्यकर्म और (२) भावकर्म। दोनों प्रकार के कर्मों का परस्पर अविनाभाव संबंध है। जब द्रव्य कर्म उदय में आते हैं तब उनसे राग द्वेष आदि भावकर्म उत्पन्न हो जाते हैं और रागादि भावकर्मों का उदय होते ही द्रव्यकर्म आत्मा के साथ बंध जाते हैं। इस प्रकार भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्य कर्म से भावकर्म उत्पन्न होते रहते हैं। दोनों की परम्परा बीज और वृक्ष की भांति अनादि कालीन है।

यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है, कि यदि द्रव्य-भाव कर्म एक दूसरे को उत्पन्न किया करते हैं, तो फिर कर्मों का सर्वथा अभाव कैसे हो सकेगा? मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकेगी? परन्तु इस प्रश्न का समाधान बीज-वृक्ष की परम्परा से ही हो सकता है। जैसे यद्यपि बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज, इस

प्रकार दोनों की परम्परा अनादि कालीन है। फिर भी यदि बीज को अग्नि में डालकर भस्म कर दिया जाय तो, फिर उससे वृक्ष की उत्पत्ति संभव नहीं है। इसी प्रकार तपस्या की अग्नि में भावकर्मों को भस्म कर देने से फिर वे द्रव्य कर्मों को उत्पन्न नहीं कर सकते। उन की परम्परा वहीं समाप्त हो जाती है, और आत्मा मुक्त हो जाती है।

द्रव्यकर्म आठ प्रकार के हैं-(१) ज्ञानावरण (२ दर्शनावरण (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयु (६) नाम (७) गोत्र (८) अन्तराय।

(१) ज्ञानावरणकर्म—जो आत्मा के ज्ञान गुण को आवृत्त करे, असीम ज्ञान को सीमित बना दे।

(२) दर्शनावरण कर्म—वस्तु के सामान्य गुण को जानने वाला बोध दर्शन कहलाता है। उस दर्शन में जो विकार पैदा करे वह दर्शनावरण कर्म है।

(३) वेदनीय कर्म—यह दो प्रकार का है। साता और असाता। इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों का अनुभव करना (जानना) वेदनीय है। उन विषयों को दुःख रूप अनुभव करना असाता वेदनीय और सुखरूप अनुभव करना साता वेदनीय है।

(४) मोहनीय कर्म—यह आत्मा का सब से बड़ा शत्रु है। संसार का मूल कारण है। सम्यक्त्व और चारित्र को उत्पन्न नहीं होने देता। इसी के निमित्त से आत्मा में मिथ्यात्व उत्पन्न होता है और मिथ्यात्व से ही संसार परिभ्रमण होता है।

(५) आयुकर्म—जैसे पैरों में पड़ी हुई बेड़ियाँ कैदी को स्वच्छन्दता-पूर्वक विचरण करने में बाधक होती हैं और एक स्थान पर रोक रखती हैं, उसी प्रकार यह आयु कर्म आत्मा को शरीर रूपी कैदखाने में रोक रखता है।

(६) नामकर्म—चित्रकार जैसे भांति-भांति के चित्र बनाता है उसी प्रकार यह कर्म भांति-भांति के शरीरों का निर्माण करता है और आत्मा के अ-मूर्त्तत्व गुण का घात करता है।

गोत्रकर्म—विविध प्रकार के उच्च-लोक में प्रतिष्ठित और नीचलोक में निन्दित, कुलों में जन्म धारण कराता है।

(८) अन्तराय कर्म—यह कर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग और शक्ति, की प्राप्ति में बाधक होता है। आत्मा को अन्य निमित्त मिल जाने पर भी इन गुणों की प्राप्ति में विघ्न डालता रहता है।

आठों कर्म आत्मा के साथ प्रवाह की अपेक्षा अनादि काल से संबद्ध हैं। किन्तु यहां यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है, कि जैसे आकाश में प्रत्येक वस्तु ठहरी है, फिर भी आकाश के साथ किसी भी वस्तु का बंध नहीं होता; क्योंकि आकाश अरूपी है—अमूर्त्तिक है। इसी प्रकार आत्मा भी अरूपी है। अरूपी आत्मा के साथ रूपी कर्मों का बन्ध कैसे हो सकता है? और कैसे वे आत्मा पर प्रभाव डाल सकते हैं?

इस प्रश्न के समाधान के लिए कई बातें कही जा सकती हैं। पहली बात तो यह है कि आत्मा यद्यपि स्वरूप से अमूर्त्तिक है, परन्तु कर्मों के कारण वह मूर्त्तिक बन गयी है। आत्मा के साथ कर्मों का संबंध किसी खास समय में हुआ, ऐसा तो माना नहीं जा सकता, तब यही स्वीकार करना पड़ेगा कि कर्मों का संबंध अनादि काल से है। कर्मों के संबंध से ही आत्मा मूर्त्तिक बनता है और जब कर्मों का संबंध अनादि काल से है तो स्पष्ट है कि आत्मा अनादि काल से ही मूर्त्तिक है। तब यह प्रश्न ही नहीं उठता कि अमूर्त्तिक आत्मा के साथ मूर्त्तिक कर्मों का संबंध कैसे हुआ; क्योंकि दोनों मूर्त्तिक हैं और मूर्त्तिक का मूर्त्तिक के साथ संबंध होता ही है।

दूसरी बात यह है कि अमूर्त्तिक चेतना शक्ति पर मूर्त्तिक द्रव्यों का प्रभाव हम प्रत्यक्ष भी देखते हैं। मदिरा के प्रभाव से चेतना विलुप्त हो जाती है, यह एक सर्वप्रकट सत्य है। यदि कोई कहे कि मदिरा का प्रभाव चेतना शक्ति पर नहीं होता सिर्फ इन्द्रियों पर होता है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है। यदि केवल इन्द्रियों पर ही मदिरा का प्रभाव होता तो पीने वाले की स्मरण शक्ति कदापि विकृत न होती। स्मरण किसी इन्द्रिय से नहीं होता। फिर भी वह विकृत हो जाता है, इससे यह सिद्ध हो जाता है कि मदिरा का प्रभाव इन्द्रियों पर ही नहीं बल्कि चेतना पर भी होता है और यही कारण है कि पीने वाले की स्मरण शक्ति विलुप्त और विकृत हो जाती है। अब यह स्पष्ट है, कि कर्म मूर्त्तिक होने पर भी आत्मा पर अपना प्रभाव डालते हैं, उसे अपने स्वभाव से च्युत करते हैं और चौरासी लाख जीव योनियों में भ्रमण कराते हैं।

कर्मवाद एक व्यापक सिद्धान्त है। किसी न किसी रूप में, भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा इस सिद्धान्त को प्रायः सभी दर्शनों में स्वीकार किया गया है। वेदान्त दर्शन में माया 'अविद्या' सांख्य में प्रकृति, मीमांसा में अपूर्व, इसी प्रकार अदृष्ट वासना, आशय संस्कार आदि कितने ही शब्द 'कर्म' के लिए प्रयोग किए जाते हैं। मगर जैन-दर्शन में कर्म का विस्तृत सूक्ष्म और सर्वाङ्गीण वर्णन पाया जाता है। अन्य दर्शनों में से किसी ने ईश्वर के हाथ में सारी सत्ता सौंप दी है, किसी ने आत्मा को सर्वथा नित्य मान लिया है और किसी ने क्षण-भंगुर होने की कल्पना कर ली है। इन मान्यताओं के कारण उन दर्शनों में कर्मवाद लूला हो गया है। जगत् को ईश्वर का खिलौना मानने वाले, कर्म की अनन्त शक्तियों से अनभिज्ञ हैं। इसी कारण कर्मों का फल देने वाले ईश्वर की कल्पना उन्हें करनी पड़ी है। उनका आशय यह है कि बुरे कर्म तो प्रायः सभी प्राणी करते हैं, पर उनका बुरा फल एक भी भोगना नहीं चाहता। और कर्म जड़ होने के कारण किसी चेतन की सहायता लिए बिना फल देने में समर्थ नहीं हो सकते। अतः ईश्वर को ही कर्म-फलदाता मान लेना चाहिए। इसका समाधान जैनदर्शन के अनुसार सहज ही हो जाता है। प्राणी कर्म-फल नहीं भोगना चाहता और कर्म जड़ हैं, यह दोनों बातें ठीक हैं, परन्तु चेतना के साथ बद्ध कर्मों में, उसके निमित्त से एक विशेष प्रकार की शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे कर्म फल-प्रदान करने में समर्थ होते हैं। दूसरी बात यह है कि कर्मों का फल, भोगने वाले की इच्छा पर निर्भर नहीं है। कोई व्यक्ति प्राणसंहारक विष का पान तो करले पर वह मरना न चाहे, तो क्या विष उसे इसीलिए जीवित रख देगा, कि उसकी मरने की इच्छा नहीं है। ऐसा कदापि नहीं हो सकता। प्रत्येक पदार्थ में स्वतंत्र शक्तियाँ विद्यमान हैं, किसी पदार्थ की शक्ति-गुण-अन्य पर अवलम्बित नहीं है। अतएव वह अपनी शक्ति के अनुसार सकल सामग्री मिलते ही कार्य उत्पन्न करता है, वह किसी की इच्छा-अनिच्छा की चिन्ता नहीं करता। कर्म स्वतंत्र शक्ति रखते हैं और कार्योत्पादक निमित्त कारणों का समवधान होते ही अपना कार्य करते हैं-फल देते हैं। उस में भोगने वाले की इच्छा के लिए कोई स्थान नहीं है "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्" इस वाक्य का भी यही रहस्य है-अर्थात् कर्म करना तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है। पर फल भोगने में तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है। फल तो प्रत्येक दशा में भोगना अनिवार्य ही है

कर्मवाद मुमुक्षु जनों के लिए अनिवार्य रूप से उपयोगी है, क्योंकि वह आत्मा के बन्धन,मोक्ष आदि के उपाय बतलाता है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से भी कर्म सिद्धान्त बड़े उपयोग की वस्तु है। विविध संतापों से संतप्त प्राणी को प्रशम पीयुष पिलाने वाला,व्यावहारिक कार्यों में विघ्न उपस्थित हो जाने पर भी भविष्य के लिए सान्त्वना देने वाला और आधि-व्याधि हो जाने पर शान्ति प्रदान करने वाला यह सिद्धान्त अवश्य ही सूक्ष्म रूप से ज्ञातव्य है, पर यहां विस्तार-भय से हम अधिक नहीं लिखेंगे। इस प्रकार कर्मों का स्वरूप लेने से ही बन्ध तत्त्व का कारण स्वरूप स्पष्ट समझ में आ सकेगा।

मोक्ष तत्त्व—मोक्ष के विषय में साधारण उल्लेख किया जा चुका है, कर्मों का क्षय होते-होते जब उनका सर्वथा और आत्यन्तिक ध्वंस हो जाता है, उस समय समस्त बाह्य उपाधियों से रहित होने के कारण आत्मा अपने असली स्वरूप में प्रकट होती है। आत्मा की उसी अवस्था को मोक्ष कहते हैं। मुक्त दशा में आत्मा का जो निर्मलतम स्वरूप होता है वह वाणी के अगोचर और छद्मस्थों के ज्ञान से अतीत है। उस अव्याबाध, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से असीम, निरावरण, अनन्त ज्ञान और सुखमय स्वरूप को जो महान् आत्माएं जानती हैं वे कहती नहीं और कह सकती भी नहीं तथा जो कहना-सुनना चाहते हैं वे उसे जानते नहीं। फिर कहने सुनने से वह जाना भी नहीं जा सकता। मिश्री का मिठास चखने वाला ही समझ सकता है।

यद्यपि हम उस स्वरूप को स्पष्ट रूप से अनुभव नहीं कर सकते, तथापि महर्षियों द्वारा प्रतिपादित मार्ग से उसे प्राप्त कर सकते हैं और एक अस्पष्ट झलक थोड़े ही दिनों के समभाव और ध्यान से प्राप्त कर सकते हैं। जो महात्मा अपने आत्मा को शरीर से दूध और पानी की नाई पृथक् अनुभव करते हैं, आत्मा को शुद्ध चैतन्यमय, रागादि विकारों से रहित, सिद्ध भगवान् के समान समझते हैं, वही आत्म-तत्त्व में अपने उपयोग को स्थिर करके सिद्ध बन जाते हैं। समभाव का आभास करके आत्मा में तल्लीन होने वाले सच्ची समाधि को प्राप्त करके सिद्धि प्राप्त करते हैं। आत्मा यद्यपि अमूर्त्तिक है। फिर भी जो महापुरुष आत्मा रूपी गंगा के स्वच्छ जल के समान निर्मल स्वरूप में मन को गोता लगवाते हैं, वे अन्त में मानसिक निश्चलता प्राप्त करके शाश्वत सुखों के भोक्ता बनते हैं। अनादि काल से कर्मों ने आत्मा को अपना गुलाम बना रखा है, उस

पर अपना पूरा-पूरा साम्राज्य स्थापित कर रखा है, हमारी इन्द्रियों को, मनोवृत्ति को और विवेक को अपनी आसुरी शक्ति से कुचल डाला है। मैं क्या हूँ? मुझ में कितनी शक्ति भरी पड़ी है? इहलोक-परलोक में क्या मेरे लिए हितकारी है? क्या अहितकारी है? इस विशाल जगत् में वास्तव में मेरा कौन है या कोई नहीं? क्यों मैंने अब तक अनगिनते दुःख उठाए हैं? इन दुःखों से छूटने का कोई मार्ग है या नहीं? है तो कौनसा? किस उपाय से मैं सदैव के लिए सच्चा सुखी बन सकता हूँ? इत्यादि प्रश्नों का सच्चा समाधान होने में और समाधान हो जाने पर भी उस के अनुसार प्रवृत्ति करने में कर्मों की यह आसुरी शक्ति सदा अन्तराय डालती रहती है। इससे त्राण पाने के लिए अधिकतर निष्कषायता, निष्कामता और समता भाव की अनिवार्य आवश्यकता है। जिन्हें तीव्र पुण्यानुबन्धी पुण्य के उदय से यह सुन्दर मनुष्यभव, सत्य धर्म और संतों का समागम मिला है, वे इन प्रश्नों का समाधान करके चाहें तो सुख की ओर प्रयाण कर सकते हैं। जिन महात्मा पुरुषों ने धन-धान्य-परिपूर्ण गृहस्थी को तिनके की तरह त्याग दिया है, वैषयिक सुखों-सुखाभासों-को काला सर्प समझकर दूर कर दिया है, तेलबत्ती से बने हुए। दीपकों का त्याग कर आकाशदीप-चन्द्रमा-को ही अपना दीपक बनाया है, सरस और सुस्वादु पकवानों का परित्याग कर भिक्षावृत्ति का अवलम्बन करके नीरस आहार स्वीकार किया है, पलंग की जगह भूमि को ही अपना आश्रय माना है, जो साता और असाता उत्पन्न करने वाले संयोगों को कर्म की कूटनीति समझकर उनसे उपेक्षा रखते हैं, निरन्तर आत्मानन्द रूपी अमृत का पान करके परितृप्त रहते हैं, वे ही महापुरुष कर्म के शक्तिशाली साम्राज्य पर महान् विजय प्राप्त करके अपनी वियज-वैजयन्ती फहराते हैं। वे ही जगत् को शान्ति परिपूर्ण करने की विशुद्ध कामना से परम पवित्र प्रवचन-पीयूष की प्रशान्त प्रवाहमय मंदाकिनी बहाते हैं। और अशान्त, नाना प्रकारों की आधि-व्याधि-उपाधियों से भरे हुए जगत् में शान्ति की स्थापना करते हैं। उनके द्वारा प्रवाहित प्रवाह में निमग्न होने वाले पुण्यात्मा पुरुष अपनी आत्मा का कल्याण करते हैं, आत्मस्वरूप का अनुभव करते हैं और अन्त में सिद्ध बुद्ध होकर संसार से निवृत्त हो जाते हैं।

निवृत्ति प्राप्त करने के लिए चित्त की स्थिरता आवश्यक है और वह

स्थिरता ध्यान के द्वारा प्राप्त होती है। अतः मुमुक्षु जनों को सदा यह विचार करना चाहिए :—

तदेव चैतन्यमहं तदेव, तदेव जानाति तदेव पश्यति ।
तदेव चैकं परमास्ति निश्चयाद्, गतोऽस्मि भावेन तदेकतां परम् ॥१॥

तदेवैकं परं तत्त्वं, तदेवैकं परं पदम् ।
मयाराध्यं तदेवैकं, तदेवैकं परं महः ॥२॥
मुमुक्षूणां तदेवैकं, मुक्तेः पंथा न चापरः ।
आनन्दोऽपि न चान्यत्र तद्विहाय विभाव्यते ॥३॥
अक्षयस्याक्षयानन्द–महाफलभरश्रियः ।
तदेवैकं परं बीजं, निःश्रेयसलसत्तरोः ॥ ४ ॥

भावार्थ–जो चैतन्य स्वरूप है, जो ज्ञाता और दृष्टा है, वही मैं हूँ (मैं शरीर नहीं हूँ) वही उत्कृष्ट तत्त्व है। इसलिए मैं निश्चय से उसी में तल्लीन हो गया हूँ। वही सर्वोत्तम तत्त्व है, वही सर्वोत्तम पद है, वही भव्य जीवों को आराधना करने योग्य वस्तु है। वही परम ज्योति स्वरूप है। मुमुक्षु जनों के लिए वही मुक्ति का अद्वितीय मार्ग है, अन्य नहीं। उसे छोड़ कर और कहीं भी आनन्द का निवास नहीं है–वही परमानन्दमय है। अविनश्वर शोभायमान मोक्ष रूपी वृक्ष का, जो अविनाशी आनन्दमयी महाकाल के भार से चमकता रहता है वही एक बीज है।

बस, इस प्रकार की विशुद्ध भावनाओं के द्वारा आत्मा का जो असंग और सर्वथा निर्विकार अवस्था होती है, वही निर्वाण है, वही सिद्धि है, वही परम पद है, वही लोकाग्रनिवास है, वही चरमसीमा का आत्मविकास है, और वही मोक्ष तत्त्व है।

गुणस्थान

समस्त जीव स्वभाव से एक सरीखे अनन्त ज्ञान दर्शन सुख आदि के भण्डार हैं। पर कर्मादि विकारों के कारण उनके गुणों की कई अवस्थाएं होतीं हैं। जिस आत्मा को विकारों ने अत्यधिक ग्रसित कर रखा है, उसके गुण अधिक आच्छादित या विकृत हो जाते हैं, जिस आत्मा के विकार न्यून, न्यूनतर या न्यूनतम हो गये हैं उसके गुणों का विकास अधिक, अधिकतर और अधिकतम हो जाता है। इन्हीं अवस्थाओं को जैन परिभाषा में गुणस्थान कहते हैं। गुणों के अर्थात् आत्मा के विकास के स्थान सो गुणस्थान।

इस आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से सिद्ध भगवान् की आत्मा सब से अधिक विकसित है, क्योंकि वह समस्त प्रकार के बाह्य-संसर्गज विकारों से मुक्त है। उसने आध्यात्मिक महायुद्ध में पूर्णतम विजय प्राप्त कर ली है। और मिथ्या दृष्टि की आत्मा सब से अधिक अविकसित है, क्योंकि वह प्रबल विकारों से मलीमस है, विकारों ने उस पर अपना पूर्ण प्रभाव डाल रखा है। इनमें एक विकास की चरमसीमा है और दूसरी अविकास की चरमसीमा। इन दोनों प्रकर्ष-प्राप्त सीमाओं के मध्य में अपूर्ण विकसित आत्माओं की अनन्त अवस्थाएं होती हैं। परन्तु स्थूल वर्गीकरण करने से वे चौदह कक्षाओं में अन्तर्गत हो जाती हैं। इन्हीं को चौदह गुणस्थान कहते हैं। ये चौदह गुणस्थान मोक्ष रूपी सुरम्य भव्य भवन की चौदह पंक्तियों के समान हैं। जिन पर क्रमशः आरोहण करते-करते अन्त में मोक्ष-महल में प्रवेश होता है। किन्तु यह आरोहण निष्कण्टक नहीं होता। "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" श्रेय कार्यों में विघ्नों की भरमार होती ही है। इस नियम के अनुसार विविध योनियों में परिभ्रमण करता-करता जीव जब मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्ति करता है तो उसे बड़ा ही कौतूहल-जनक, अनिर्वचनीय और अद्भुत भावना मय-युद्ध करना पड़ता है। आत्मा सन्नद्ध होकर ज्योंही गमनोन्मुख होती है कि कोई अनन्तानुबंधी कषाय या मिथ्यात्व महासुभट उस पर झपाटा मारता है और उसकी तैयारी अस्तव्यस्त कर देता है। आत्मा कभी हार मान बैठती है और कभी अपनी विशिष्ट शक्ति

के द्वारा मिथ्यात्व--मल्ल को दबाकर या नष्ट कर आगे बढ़ जाती है। आगे भी क्रमशः नये-नये शूरमा आते हैं और शर्मा कर भाग जाते हैं। किस अवस्था में किस योद्धा के साथ आत्मा की भिड़न्त होती है और उसका क्या परिणाम निकलता है, बस यही गुणस्थानों का प्रतिपाद्य विषय है। हम भौतिक युद्धों के प्रति जितनी जिज्ञासा रखते हैं, उतनी यदि निरन्तर-प्रतिपल-छिड़े रहने वाले इस भीतरी युद्ध के प्रति रखें तो बेड़ा पार हो जाय। यह आध्यात्मिक-युद्ध बाह्य युद्धों से ज़रा भी कम कौतूहल--जनक नहीं है, आवश्यकता है अन्तर्दृष्टि की। जिसने अन्तर्दृष्टि प्राप्त करली है वह इस भीषण संग्राम को जब चाहे तभी देख सकता है। ऊपर कहे हुए चौदह गुणस्थानों के नाम इस प्रकार हैः—(१) मिथ्यात्व (२) सास्वादन (३) मिश्र (४) अविरतसम्यग्दृष्टि (५) देशविरत (६) प्रमत्त-संयत (७) अप्रमत्त संयत (८) अपूर्वकरण (९) अनिवृत्ति-बादर साम्पराय (१०) सूक्ष्म साम्पराय (११) उपशान्त कषाय (१२) क्षीण-कषाय वीतराग (१३) संयोगी केवली (१४) अयोगी केवली गुणस्थान।

चौदह गुणस्थानों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार हैः—

(१) मिथ्यात्व गुणस्थान-जैसे पित्त ज्वर वाले व्यक्ति को मधुर दुग्ध भी कटुक प्रतीत होता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जिस जीव की दृष्टि (प्रतिपत्ति) मिथ्या (उलटी) हो जाती है, उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। ऐसे जीव की अवस्था को मिथ्यात्व या मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहा गया है। यही अवस्था सर्वाधिक पतित अवस्था है, क्योंकि इस अवस्था वाला जीव कुदेव को सुदेव, कुगुरु को सुगुरु और कुधर्म को सद्धर्म समझता है। उसे वास्तविक कल्याण पथ का ज़रा भी दर्शन नहीं होता।

शंका-जीव की यह अवस्था यदि हीनतम अवस्था है, तो इसे 'गुणस्थान' क्यों कहा ? यह तो गुण का नहीं बल्कि अवगुण का स्थान है, अतएव इसे 'गुणस्थान' न कह कर 'अवगुणस्थान' कहना चाहिए।

समाधान-'गुण' सामान्य है और 'सद्गुण' या 'दुर्गुण' उसके विशेष हैं 'गुण' कहने से दोनों प्रकार के गुणों का ग्रहण होता है। तात्पर्य यह है कि 'गुण' शब्द से 'अवगुण' अर्थ भी समझा जाता है, अतएव योग्यता के अनुसार यहां 'गुण' का अर्थ अवगुण ही समझ लेना चाहिए। दूसरी बात यह है, कि

मिथ्यादृष्टि की आत्मा यद्यपि सर्वथा अविकसित है। तथापि उसके स्वाभाविक सब आत्मिक गुणों का सर्वथा नाश नहीं होता। उस अवस्था में भी ज्ञानावरण दर्शनावरण का क्षयोपशम विद्यमान रहता है। इसलिए यत्किंचित् मात्रा में ज्ञान और दर्शन उसे भी प्राप्त रहते हैं। मिथ्यात्व के संसर्ग से भले ही वे ज्ञान दर्शन मिथ्या हैं, तथापि वे विकृत रूप से मौजूद तो हैं ही। इन गुणों की विद्यमानता होने से भी इसे 'मिथ्यात्व गुणस्थान' कहा है। तीसरी बात यह है कि मिथ्यात्व दृष्टि बाह्य रूप से प्रत्येक विषय में मिथ्या नहीं होता, क्यों कि वह गाय को गाय, घोड़े को घोड़ा और घड़े को घड़ा ही समझता है। इसलिए भी 'मिथ्यात्वगुणस्थान' कहना अनुचित नहीं है।

(२) सास्वादन गुणस्थान—किसी विशाल शैल-शृङ्ग से पतित पत्थर पानी के प्रवाह में पड़कर अन्यान्य पाषाणों आदि से टकरा टकरा कर जैसे अपने आप ही चिकना और गोलमटोल हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा विभिन्न योनियों में नाना प्रकार के कष्ट झेलता-झेलता कभी ऐसी हालत में आ-जाता है, कि उसके परिणाम कोमल और कुछ शुद्ध होते हैं। इस परिणाम से वह जीव आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की स्थिति को पल्योपम के असंख्यात भाग कम कोटाकोटी सागरोपम की कर लेता है। इसे यथा प्रवृत्ति करण कहते हैं। इस परिणाम को पाते ही जीव आगे बढ़ कर राग द्वेष की अति कठोर ग्रंथी को भेदन करने के लिए तैयार हो जाता है। इस प्रकार तैयार जीवों में जो भव्य होते हैं वे कुछ और आगे बढ़ते हैं। एवं उस ग्रंथी को अपने विशिष्ट शुद्ध परिणामों को 'अपूर्व करण' (पहले कभी नहीं प्राप्त किये हुए परिणाम) कहते हैं। अपूर्व करण प्राप्त होने पर आत्मा की शक्ति कुछ बढ़ जाती है और मिथ्यात्व की शक्ति कुछ कम पड़ जाती है। अतः वह और अधिक शुद्धता प्राप्त करता है। इस अधिकतर शुद्धता को 'अनि वृत्ति करण' कहते हैं। यह करण होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति अवश्य ही होती है। किन्तु जब जीव मिथ्यात्व के पुञ्जों को सर्वथा क्षीण न करके सिर्फ उपशान्त करता है तो उस अवस्था में जिस सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, वह औपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। यह सम्यक्त्व अधिक देर तक नहीं ठहरता। उपशान्त किया हुआ मिथ्यात्व पुंज फिर अन्तर्मुहूर्त बाद उमड़ता है और वह सम्यक्त्व को

नष्ट कर डालता है। बस जैसे पर्वत से गिरा हुआ और पृथ्वी तक न पहुंचा मनुष्य न पर्वतस्थ कहलाता है न पृथ्वीस्थ; इसी प्रकार सम्यक्त्व से गिर चुकने पर और मिथ्यात्व दशा में पहुँचने से पूर्व जीव सास्वादन या सासादन सम्यग्दृष्टि कहलाता है। ऐसी अवस्था में कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवलि तक रहता है। इसी अवस्था को स्वास्वादन गुणस्थान कहते हैं।

(३) मिश्र (सम्यग्-मिथ्यादृष्टि) गुणस्थान—दर्शन मोहनीय कर्म की मिश्र प्रकृति (अर्द्ध-शुद्ध पुंज) के उदय से जीव के परिणामों में एक प्रकार की अस्थिरता उत्पन्न होती है। उस अस्थिरता के कारण जीव कल्याण पथ और अकल्याण पथ का विवेक नहीं कर पाता। अतएव वह कल्याण मार्ग के प्रति न श्रद्धा की भावना करता है न अश्रद्धा की भावना ही करता है। एक तरह से उदासीन रहता है। जैसे-दही-गुड़ मिला देने से न पूरी खटास होती है न (पूरी मिठास, इसी प्रकार मिश्र प्रकृति के उदय से जीव का जो मिश्रित और जात्यन्तर परिणाम होता है, उसी को मिश्रगुणस्थान कहते हैं। यह गुणस्थान भी अन्तर्मुहूर्त्त तक ही रहता है। बाद में या तो शुद्ध पुंज का उदय होने से वह सम्यग्दृष्टि बन जाता है या अशुद्ध पुंज के उदय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

(४) **अविरत सम्यग्दृष्टि**—जिन्हें दूसरे गुणस्थान में वर्णन किए हुए क्रम के अनुसार सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गई है, किन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होने से जो व्रतों का पालन नहीं कर सकते, वे जीव अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं। उनकी अवस्था-विशेष को अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में आत्मा खासी निर्मलता प्राप्त करती है। ये चार गुणस्थान दर्शन मोह रुपी विकट भट के साथ होने वाली खटपट के स्थान हैं। यहाँ तक आकर आत्मा उसे पछाड़ देता है! लेकिन यहाँ भी वह निष्कंटक नहीं है। चारित्र मोह के सेनापतित्व में अप्रत्याख्यानावरण कषाय की चौकड़ी रूपी चतुरंग सेना अब भी उसके सामने अड़ी खड़ी है। वह विरति पर अधिकार नहीं होने देती, अतएव वह अब तक सम्यक्त्वी होने पर भी अविरत ही है।

(५) **देशविरति गुणस्थान**—आत्मा, सामने आये हुए अप्रत्याख्याना-

वरण को मार भगाता है तो एकदेश-आंशिक-विरति अर्थात् चारित्र को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था का जीव ही श्रावक कहलाता है। श्रावकों में अपनी अपनी योग्यता और शक्ति के अनुसार कई श्रेणियाँ होती हैं। इस कथन से यह मालूम होगा कि 'श्रावकत्व' इतना सहज नहीं है, जितना साधारणतया लोग समझते हैं। 'श्रावकत्व' प्राप्त करने के लिए भी कितने ही जबर्दस्त संग्राम करने पड़ते हैं और उन में विजयी होने वाला शूरमा ही 'श्रावक' पद को पाता है। मगर, संग्राम यहां थोड़े ही समाप्त हो जाता है! वह तो अन्त तक चालू है। यह तो क्षणिक विश्राम का स्थल है। अब भी प्रत्याख्यानावरण का चतुष्क मार्ग रोके खड़ा है।

(६) प्रमत्त संयत गुणस्थान-आत्मा अपने प्रबल पुरुषार्थ से सर्व विरति को रोकने वाले प्रत्याख्यानावरण का सामना करके उसे भी जब तितरबितर कर देता है, तब वह सर्व विरति को प्राप्त करता है। इसी अवस्था को प्रमत्त संयत गुणस्थान कहते हैं; क्योंकि प्रत्याख्यानावरण का उदय न रहने से इस अवस्था में सर्व चारित्र तो हो जाता है। किन्तु प्रमाद दूर नहीं होता, इसलिए वे उसे प्रमत्त-संयत कहते हैं। इस अवस्था में जीव सावद्य व्यापारों का परित्याग कर देता है। यहीं से संयमीपना, साधुता या मुनित्व का आरंभ होता है।

(७) अप्रमत्त संयत गुणस्थान— जो संयमी निद्रा, विषय, और विकथा आदि प्रमादों का सेवन नहीं करते, जिन्होंने प्रमाद पर भी विजय प्राप्त कर ली है, वे अप्रमत्त संयत और उनकी अवस्था अप्रमत्त संयत गुणस्थान के नाम से विख्यात है। छठे और सातवें गुणस्थान में अधिक सामीप्य है अतः सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि जब निद्रा आहार आदि लेने को तत्पर होते हैं तो छठे में आजाते हैं और छठे गुणस्थानवर्ती मुनि जब विशिष्ट ध्यानादि में लीन होकर प्रमाद का परिहार कर देते हैं तो सातवें गुणस्थान में पहुँच जाते हैं। सातवाँ गुणस्थान ध्यान के समय में ही रहता है।

(८) अपूर्व करण गुणस्थान-इस गुणस्थान में पहुंचने पर आत्मा में और भी अधिक विशुद्धता का अनुभव होने लगता है। इस में कितनी ही बातें एकदम अपूर्व होती हैं, इसलिए इस गुणस्थान को अपूर्व करण गुणस्थान कहते हैं। इस में जीव (१) स्थितिघात (२) अनुभाग (रस) घात (३) गुण श्रेणि

(४) गुण संक्रमण और (५) अपूर्व स्थितिबन्ध, करता है। वह इस प्रकार-

(१) स्थितिघात-कर्मों की लम्बी स्थिति को अपवर्त्तनाकरण के द्वारा घटा देता है।

(२) रसघात—अपवर्त्तनाकरण के द्वारा कर्मों की तीव्र फल देने की शक्ति को कम कर देता है।

(३) गुणश्रेणि—जिन कर्मों की स्थिति को घटा दिया है,उन्हें इस प्रकार स्थापित कर लेना कि वे प्रथम अन्तर्मुहूर्त्त में ही उदय में आजाएं। इसे गुण श्रेणि कहते हैं। आठवें गुणस्थानवर्त्ती जीव गुणश्रेणि भी करता है।

(४) गुण संक्रमण-पहले बंधी हुई अशुभ कर्म प्रकृतियों को वर्त्तमान में बंधने वाली शुभ प्रकृतियों के रूप में परिणत कर लेता है।

(५) अपूर्व स्थिति बन्ध-पहले जितनी स्थिति वाले कर्मों का बन्ध हुआ करता था, उसकी अपेक्षा बहुत थोड़ी स्थिति वाले कर्मों का बंध होता है। इस प्रकार इस गुणस्थान में आने पर कर्मों की शक्ति बहुत ढीली हो जाती है और आत्मा की शक्ति बहुत बढ़ जाती है। यह गुणस्थान अन्तर्मुहूर्त्त तक ही रहता है।

(९) अनिवृत्तिबादर सम्पराय गुणस्थान-इस गुणस्थान में आठवें गुणस्थान की अपेक्षा और भी अधिक विशुद्धि होती है। यहां आठवें गुणस्थान की अपेक्षा कषायों की विशेष मन्दता हो जाती है और उत्तरोत्तर परिणाम भी विशुद्ध से विशुद्धतर होते चले जाते हैं। इस में वेद का सर्वथा अभाव हो जाता है। इसकी स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है। इस गुणस्थान वाले जीव दो प्रकार के होते हैं-एक चारित्र मोहनीय का उपशम करने वाले उपशमक और दूसरे चारित्र मोहनीय का क्षय करने वाले क्षपक।

(१०) सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान—इस गुणस्थान तक पहुंचते पहुंचते सिर्फ संज्वलन कषाय का सूक्ष्म लोभ उदय में रह जाता है और सब कषाय हट जाते हैं, इसीलिए इसे सूक्ष्मसम्पराय कहते हैं। उपशमकजीव, यहां लोभ कषाय को उपशान्त करते हैं और क्षपकजीव लोभ को क्षीण करते हैं।

(११) उपशान्त कषाय गुणस्थान-यह एक ऐसा गुणस्थान है, जहां से

आगे बढ़ने का कोई मार्ग ही नहीं है। अतएव ग्यारहवें गुणस्थान से जीव अवश्य नीचे गिरता है। कारण यह है कि पहले जो क्षपक और उपशमक दो प्रकार के जीव बताये हैं। उनमें से क्षपक तो सीधा दसवें से बारहवें गुणस्थान में जा पहुँचता है और उपशमक जीव इसमें आता है। यहां आने पर उपशान्त किया हुआ विकार फिर उमड़ आता है और वह आत्मा को विशुद्धि से हटाकर नीचे के गुणस्थानों में गिराता है।

(१२) क्षीण कषाय वीतराग–जिन्होंने मोह, रूपी मल्ल को बिलकुल ही क्षय कर दिया है, किन्तु जिनके शेष तीन घनघातिया कर्म अभी मौजूद हैं। वे क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ कहलाते हैं। इस गुणस्थान में क्षपक जीव दसवें से सीधे आते हैं। यहां समस्त कषायों का सर्वथा अभाव हो जाता है।

(१३) सयोगी केवली गुणस्थान–जिन्होंने चारों घनघातिया कर्मों का विध्वंस करके केवलज्ञान, केवल दर्शन, अनन्तसुख और अनन्त वीर्य प्राप्त कर लिया है, वे अर्हन्त भगवान् सयोगी केवली कहलाते हैं। उनकी इस अवस्था को सयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं। इसी गुणस्थान वाले अर्हन्त भगवान् संसार को कल्याण का पथ बतलाते हैं और पूर्ण ज्ञान एवं पूर्ण वीतरागता के कारण उनके द्वारा प्रदर्शित पथ सर्वथा ग्राह्य, निर्भ्रान्त और हितसाधक होता है। उन्हीं को परम आप्त, अपरमुक्त या जीवनमुक्त भी कहते हैं।

(१४) अयोगी केवली गुणस्थान–यह मोक्ष का निकटतम प्रवेशद्वार है। इस अवस्था में वे महान् विशुद्ध–आत्माएँ आती हैं, जिन्हों ने मन वचन काय के योगों का निरोध करके पूर्ण निश्चलता प्राप्त करली है। सयोगी अवस्था के अन्त में जो विशुद्धतम शुक्लध्यान होता है उससे आत्मा अत्यधिक, विशुद्ध हो जाती है और वही ध्यान योगों का सर्वथा क्षय कर देता है। पहले-पहल केवली भगवान् स्थूल काययोग का अवलम्बन करके स्थूल मनोयोग और स्थूल वचन योग का निरोध करते हैं। उसके अनन्तर सूक्ष्म काययोग के अवलम्बन से स्थूल काययोग का निरोध कर देते हैं। इस प्रकार तीनों तरह के स्थूल योगों का निरोध हो चुकने पर फिर सूक्ष्म योग का निरोध करना आरम्भ करते हैं। पहले सूक्ष्म काय योग के आश्रय से सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचन योग को रोकते हैं और तब शेष रहे हुए सूक्ष्म काययोग को शुक्ल ध्यान के तीसरे पाये सूक्ष्म

क्रियाऽनिवृत्ति के द्वारा रोक लेते हैं। इस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म दोनों तरह के योगों को रोकने से भगवान् अलौकिक स्थिरता प्राप्त करते एवं अयोगी बन जाते हैं। योगों से रहित हो जाने के अनन्तर अ, इ, उ, ऋ, लृ, इन पांच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतने समय तक 'शैलेशी करण' (सुमेरु की भांति निष्प्रकम्प परिणाम जिस में हो जाते हैं,) करते हैं। इस करण के अन्तिम समय में चारों अघातिया कर्म क्षीण हो जाते हैं और इनका क्षय होने के साथ ही एक समय मात्र में ऊर्ध्वगति करके सिद्धिक्षेत्र में जाकर विराजमान हो जाते हैं। बस, यही आध्यात्मिक युद्ध की चरम विजय है, यही आत्मा के अनादिकालीन पुरुषार्थ की परिसमाप्ति है, यही वास्तविक ध्येय की प्राप्ति है, और यही गुणस्थानों का प्रतिपाद्य विषय है!

ईश्वर कर्तृत्व

उपर्युक्त चौदह गुणस्थानों से अतीत होने के बाद आत्मा, परमात्मा या ईश्वर बन जाती है। कुछेक भारतीय दार्शनिकों के मत के अनुसार परमात्मा आवश्यकता होने पर फिर आत्मा बन जाता है, अर्थात् उनकी मान्यता के अनुसार परमात्मा का अधः पतन होता है और वह परमात्मा से पुनः आत्मा बन जाता है। परन्तु जैन धर्म के अनुसार आत्मा परमात्मा तो बन सकती है। लेकिन परमात्मा आत्मा नहीं बन सकता। जैन धर्म निम्न श्रेणी से उच्च श्रेणी में आत्मा को पहुँचाता है। जब कि कुछ दार्शनिक उच्च श्रेणी से निम्न श्रेणी में पहुँचाते हैं। जैन मान्यता के अनुसार परमात्मा वही हो सकता है जिसके समस्त कर्मों का क्षय हो चुका है। कर्म-क्षय हो जाने से समस्त विकार समस्त इच्छाएँ, समस्त संसार-संबंधी वासनाएँ, स्वयमेव विध्वस्त हो जाती हैं, क्योंकि वे सब कर्म जन्य हैं। जब ईश्वर सब प्रकार की इच्छाओं आदि से विहीन है तो वह संसार में कैसे आ सकता है? यह प्रश्न पुनरागमन-वादियों की मान्यता को ज़बर्दस्त धक्का पहुँचाता है। अस्तु।

कुछ लोगों का ऐसा खयाल है कि यह सारी सृष्टि परमात्मा के ही द्वारा उत्पन्न हुई है। मगर जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, सृष्टि अनादि कालीन है, अतः उसके बनाने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। फिर भी तर्क के लिए थोड़ी देर के लिए यह मान लिया जाय कि परमात्मा ही इसे बनाता और बिगाड़ता है। तो यह आशंका उत्पन्न होती है कि आखिर इन झंझटों में पड़ने में उसका क्या अभिप्राय है? ईश्वर बालक तो है नहीं कि अपने मनोरंजन के लिए सृष्टि को कभी-बनावे और कभी बिगाड़े। फिर यदि सृष्टि बनाने का उसका स्वभाव है तो वह बिगाड़ता क्यों है? बिगाड़ने का स्वभाव है तो बनाता क्यों है? बनाने और बिगाड़ने के दोनों स्वभाव परस्पर विरोधी हैं, अतः दोनों एक ही परमात्मा में हो नहीं सकते। परमात्मा सब प्रकार की इच्छाओं से मुक्त है। उसे सृष्टि बनाने की इच्छा नहीं हो सकती। तब कौन बलात्कार उससे बनवाता होगा? यदि कोई बलात्कार से बनवाता हो तो ईश्वर बेचारा ईश्वर ही कैसे रहा, वह बलात्कार करने वाली शक्ति

ही ईश्वर कहलायी। ईश्वर तो उसके हाथ का कठपुतला हुआ। इस प्रकार ईश्वर के ईश्वरत्व में ही बट्टा लगता है।

ईश्वर को दयालु भी माना जाता है। यदि वह दयालु भी है और कर्त्ता भी है तो उसने भाँति भाँति के दुःखों का सृजन क्यों किया? अपने माता-पिता के सर्वस्व, जीवनाधार पुत्र को असमय में ही मार कर उन्हें असह्य वेदनाओं के असीम सागर में पटक कर उनकी छटपटाहट देखता रहता है तब ईश्वर की दयालुता कहां चली जाती है? जिसके यौवन की कली अब तक खिली भी नहीं, उस नव युवती के प्राणाधार पति को छीन कर ही क्या वह अपनी दयालुता की घोषणा करता है? विधवा के एकलौते परित्राण पुत्र का असमय में अन्त करके उस के जीवन को भार बना कर ही क्या वह उस पर करुणा की वर्षा करता है? क्या ईश्वर सचमुच ऐसा ही दयालु है?

यहाँ यह कहा जा सकता है कि उनके पूर्वोपार्जित कर्मों का फल उन्हें मिला है। न पहले पाप करते न ऐसा दुखमय परिणाम भोगना पड़ता। इस में ईश्वर क्या कर सकता है? मगर यह बचाव भी विचार करने से छिन्नभिन्न हो जाता है। ईश्वर सर्वज्ञ है और सर्व शक्ति-शाली भी माना जाता है। जब उन जीवों ने पाप करने का विचार किया तो ईश्वर को उसी दम मालूम हो गया था। वह दयालु था इसलिए उन्हें पाप से बचाने का प्रयत्न करता और वह सर्व शक्तिमान् था इसलिए किसी प्रकार उन्हें पाप से रोक भी लेता। परन्तु उसने पहले कुछ नहीं किया—टुकुर-टुकुर देखता रहा, और जब उन्होंने पाप कर लिया तो दण्ड देने के लिए तैयार हो गया! यह कहां तक उचित है, विचारशील पाठक स्वयं सोचें। किसी व्यक्ति का पुत्र, उसी के सामने कुँए में गिरने जा रहा हो। वह पहले जान-बूझकर उसे गिर जाने दे और बाद में कुए में से निकाल कर उसे कहे कि तू कुए में क्यों गिरा? ले मैं दण्ड देता हूँ। फिर उसे दण्ड भी दे। कहिए, उस पिता को कौन सहृदय, पिता कहेगा? इस प्रकार के व्यवहार को कौन दयालुतापूर्ण व्यवहार मान सकता है? ऐसा करने वाला दयालु नहीं किन्तु क्रूर गिना जायगा। अतएव जैनसिद्धान्त ईश्वर को इन प्रपंचों से इस क्रूरता से, मुक्त रखता है। वह ईश्वर को इन कलंकों से बचाता है। वह मानता है कि ईश्वर सर्वज्ञ है, पूर्ण वीतराग है, कृतकृत्य है, अपुनरावृत्ति है, दुनियावी झंझटों से उसका कोई वास्ता नहीं है।

शंका—यदि ईश्वर वीतराग है, निग्रह और अनुग्रह नहीं करता, रुष्ट और तुष्ट नहीं होता, तो वह अपने भक्तों की भलाई नहीं करेगा। तब उसकी आराधना करने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—ईश्वर हमारी भलाई करे, इसलिए हम उसकी आराधना करें यह स्वार्थपूर्ण हृदय की वासना है। ऐसी भावना के साथ ईश्वर की भक्ति करना, वास्तविक भक्ति नहीं है बल्कि घूस (रिश्वत) देकर उसे फुसलाना है। भक्ति में आदान की भावना नहीं होती, बल्कि सर्वस्व प्रदान करने की कामना होती है। भक्त सब कुछ तिनके की तरह त्याग कर उसके बदले में सिर्फ भक्ति ही चाहता है। जो लोग भक्ति के बदले में सांसारिक कल्याण चाहते हैं वे एक प्रकार का व्यापार करते हैं। ऐसे व्यापारी 'भक्त' के महान् पदको कदापि प्राप्त नहीं कर सकते। अतः निष्काम भक्ति ही वास्तविक भक्ति है, उससे स्वयमेव कल्याण सम्मुख आकर चरणों पर लौटता है। देवता उसके दास हो जाते हैं, ऋद्धि-सिद्धि उसके पीछे-पीछे फिरा करती है। तभी तो कहा है—

"देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो।"

अर्थात्—जिसका मन सदा धर्म में लीन रहता है, देवता भी उसके चरणों पर लौटते हैं।

अतएव भक्ति में किसी प्रकार की कामना के लिए स्थान नहीं होना चाहिए। इसका यह आशय नहीं है कि वीतराग की भक्ति से कुछ लाभ नहीं होता। मानस शास्त्र का यह एक नियम है कि जो व्यक्ति सदैव जिसका स्मरण करता है, जैसा बनने की भावना करता है, वह कालान्तर में वैसा बन सकता है। इस नियम के अनुसार वीतराग का स्मरण करने से और वीतराग बनने की प्रबल भावना भाने से भक्त भी वीतराग बन जाता है। फिर वीतराग भगवान् आत्मविकास के सर्वोत्तम आदर्श हैं। हमें उस आदर्श तक पहुंचाना है अतः आदर्श पर हमारा ध्यान सदैव रहना चाहिए। यदि हम आदर्श पर लक्ष्य न रखेंगे, तो लक्ष्य भ्रष्ट होकर ठोकरें खाते फिरेंगे। तीसरी बात यह है कि वीतराग भगवान् के द्वारा ही हमें अपने कल्याण का मार्ग ज्ञात हुआ है। उनका हमारे ऊपर असीम उपकार है। उन उपकारों से प्रेरित होकर हमारा हृदय स्वयमेव वीतराग भगवान् की ओर आकर्षित होना चाहिए। चौथी बात यह है कि जैसे जड़ होने के कारण अंजन की इच्छा नहीं होती कि अमुक व्यक्ति मुझे सेवन

करता है इसलिए मैं उसकी दृष्टि निर्मल कर दूं। तो भी अंजन के सेवन करने वाले की दृष्टि निर्मल हो जाती है। उसी प्रकार वीतराग होने के कारण भगवान् की यह इच्छा नहीं होती कि मैं अपने भक्त का कल्याण करूं, तो भी उनकी भक्ति करने वाले का कल्याण अवश्य होता है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि, किसी कार्य का कर्त्ता हो या न हो परन्तु कारणों की पूर्णता होने पर कार्य की निष्पत्ति हो ही जाती है। अतः वीतराग भगवान् की भक्ति अवश्य करना चाहिए और वह निष्फल नहीं किन्तु सफल ही होती है।

मुक्ति का मार्ग

संक्षेप में हम यह प्रतिपादन कर चुके कि यह जगत् क्या है, आत्मा क्या है, वह क्यों बद्ध होती है और मुक्त होने पर किस अवस्था में रहती है ? अब हम थोड़े में ही यह बताने का प्रयास करेंगे कि भगवान् महावीर ने मुक्ति का क्या मार्ग बताया है ?

जैन सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान और क्रिया-दोनों ही का सम्मिलन मोक्ष का मार्ग है। ज्ञान और दर्शन के भेद की विवक्षा से,सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र, मोक्ष के मार्ग हैं। कहीं कहीं तप को प्रधानता देने के लिए चारित्र से उसे पृथक् निर्दिष्ट किया है। उस दृष्टि से सम्यक् तप भी मोक्ष का मार्ग है। इन विभिन्न विवक्षाओं में कोई वास्तविक भेद नहीं है, केवल शाब्दिक भेद ही है।

किसी रोगी को नीरोग करने के लिए पहले उस रोग का परिज्ञान हो जाना अनिवार्य है। यदि रोग का ठीक ज्ञान न हो तो अज्ञानता पूर्वक किया हुआ उपचार सफल न होगा। इतना ही नहीं, बल्कि वह रोग की वृद्धि का भी कारण हो सकता है। इसी भांति यदि रोग का यथार्थ परिज्ञान तो हो जाय परन्तु किसी प्रकार का उपचार न किया जाय तो भी रोग नहीं मिट सकता। अतएव नीरोगता-लाभ के लिए यथार्थ-ज्ञान और यथार्थ क्रिया या चारित्र ये दोनों ही अनिवार्य हैं। बस आत्मिक रोगों का विनाश करने के लिए भी सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र दोनों होने चाहिए इसीलिए कहा है:—

" हतं ज्ञानं क्रियाहीनं, हता चाज्ञानिनां क्रिया। "

अर्थात् क्रिया-हीन ज्ञान और ज्ञान हीन क्रिया दोनों परस्पर निरपेक्ष हैं तो निकम्मे हैं।

कई लोगों ने सिर्फ ज्ञान से और कई ने सिर्फ चारित्र से मुक्ति की प्राप्ति मानी है वह ठीक नहीं है। परन्तु यहां हम उस पर विचार नहीं करेंगे,केवल उल्लिखित उदाहरण पर ही विचार करने की पाठकों को सिफारिश करके आगे बढ़ेंगे।

सम्यग्दर्शन

सच्चे देव, शास्त्र और गुरु पर पूर्ण श्रद्धा की भावना रखना सम्यग्दर्शन है। इसे व्यवहार-सम्यग्दर्शन कहते हैं। आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुभव होना निश्चय सम्यग्दर्शन है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन सब से प्रथम और सब से अधिक महत्वपूर्ण कारण है। जैन शास्त्रों में इस की बड़ी महिमा है। कहा गया है—

पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्व व्यक्त चेतनाः।
नरत्वेऽपि पशूयन्ते मिथ्यात्वग्रस्त चेतनाः।

अर्थात्—सम्यक्त्व के द्वारा जिनकी आत्मा निर्मल हो गई है वे पशु हों तो भी मनुष्यों के समान हैं और जिन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हुई—जो मिथ्यात्व में फंसे हुए हैं वे मनुष्य होने पर भी पशुओं के समान हैं।

कदाचित् चारित्र से भ्रष्ट होने वाला अपना कल्याण पुनः शीघ्र कर सकता है। पर जो सम्यक्त्व से गिरा सो गिरा ही समझिए—उसके लिए फिर कहीं ठिकाना नहीं। कहा भी है—

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स नत्थि निव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा न सिज्झंति॥

इसका भाव ऊपर आ चुका है। इन उद्धरणों से सम्यक्त्व की प्रधानता एवं महत्ता का किंचित् अनुमान किया जा सकता है। वस्तुतः सम्यक्त्व की महिमा अपार है। जिसकी दृष्टि ही निर्मल न हुई हो, जिसे अपने कर्त्तव्य-मार्ग का निश्चय ही न हो, कल्याण-मार्ग की प्ररूपणा करने वाले सर्वज्ञ और वीतराग के वचनों पर जिसे सुमेरु की तरह निश्चल श्रद्धा न हो, वह अपने कल्याण मार्ग में कैसे प्रस्थान करेगा? कैसे श्रेय साधन कर सकेगा? किसी प्रकार भी नहीं।

शंका—सम्यग्दर्शन अर्थात् श्रद्धा तो अपने सम्प्रदाय में बन्द रखने का एक तरीका है। जो विद्वान् हैं उनके लिए श्रद्धा की आवश्यकता नहीं। वे अपनी तर्क-शक्ति से अपने श्रेय अश्रेय का निश्चय कर सकते हैं। फिर श्रद्धा को इतना महत्त्व देने की क्या आवश्यकता है।

समाधान—जगत् केवल प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले पदार्थों का समुदाय नहीं है। इस में ऐसे सूक्ष्म सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम पदार्थ भी हैं जिनका आभास तक बड़े से बड़े विद्वानों को नहीं हो सकता। छद्मस्थों का समस्त ज्ञान इन्द्रियों पर निर्भर है। इन्द्रियाँ इतनी स्थूल हैं कि उनसे सब वस्तुएं कदापि नहीं जानी जा सकतीं। अतएव चाहे मूर्ख हो चाहे विद्वान्, सूक्ष्म पदार्थों के लिए उन्हें अपने से विशिष्ट ज्ञानी जनों का आश्रय लेना ही पड़ता है। अतः श्रद्धा की आवश्यकता है। रही तर्क-शक्ति की बात। सो तर्क बिना पैंदी का लोटा है। वह फुट बॉल की तरह अस्थिर है। तर्क को, जो जिस ओर लुढ़काना चाहे, लुढ़का सकता है। संशय, तर्क का सहचर सखा है। जहां तर्क है वहां संशय होगा और जहां संशय है वहां निश्चलता पूर्वक प्रवृत्ति नहीं हो सकती। जहां निश्चलता पूर्वक प्रवृत्ति नहीं वहां किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिल सकती। फिर आत्मविकास जैसे निष्ठामय कार्य तर्क के द्वारा किस प्रकार सध सकते हैं ? इस के अतिरिक्त तर्क कभी शान्त नहीं होता—वह सदा तरह-तरह के संकल्प विकल्पों में, विविध प्रकार की उधेड़-बुन में लगा ही रहता है। वह मानसिक एकाग्रता को कायम नहीं रहने देता और मानसिक एकाग्रता के बिना ध्यान-समाधि आदि असंभव हैं। ध्यान आदि के बिना सच्ची शान्ति एवं सुख की प्राप्ति होना अशक्य है। इसके सिवाय तर्क मस्तिष्क से उत्पन्न होता है। मस्तिष्क एक ऐसा मूर्तिक यंत्र है जिसमें अमूर्तिक पदार्थ कभी प्रतिबिम्बित नहीं हो सकते। ऐसी दशा में यदि हम तर्क के अनुचर बन जाएं, तो केवल स्थूल पदार्थों के सहारे किये गये निर्णय तक पहुंच सकेंगे। और परिणाम यह होगा कि हम वास्तविकता से हाथ धो बैठेंगे। इसीलिए महापुरुषों ने श्रद्धा का तत्त्व हमारे सामने रखा है और उसे सर्वप्रथम आवश्यक बताया है। अतः तर्क को नास्तिकता की जननी और श्रद्धा—सच्ची निष्ठा को आस्तिकता की जननी मान कर आत्मकल्याण में प्रवृत्त होना चाहिए।

शंका—श्रद्धा और विवेक परस्पर विरोधी हैं। यदि श्रद्धा रखें तो विवेक को त्यागना पड़ेगा, विवेक रखें तो श्रद्धा को त्यागना पड़ेगा। तब किसे ग्रहण किया जाय ? क्या विवेक को तिलाञ्जलि देदी जाय ?

समाधान—श्रद्धा और विवेक को विरोधी मानना ही ठीक नहीं है। वे विरोधी नहीं प्रत्युत सहचर मित्र है। दोनों साथ रहें तभी ध्येय सिद्ध होता है। श्रद्धा-पूर्वक

विवेक होना चाहिए। और विवेक पूर्वक श्रद्धा होना चाहिए परस्पर सापेक्ष न होने में ही दोष है। ऊपर जो तर्क के विषय में लिखा गया है, वह श्रद्धा-हीन तर्क के लिए ही समझना चाहिए। श्रद्धा-युक्त तर्क हानि कारक नहीं होता है। श्रद्धा और विवेक दोनों, पक्षी के दो पंखों के समान हैं। जैसे पक्षी के दो पंखों में से किसी एक का अभाव होने पर ऊर्ध्व-गमन-आकाश में गति नहीं कर सकता, उसी प्रकार श्रद्धा और विवेक (तर्क) इन दोनों में से किसी भी एक का अभाव होने पर आत्मा भी ऊर्ध्वगमन-आत्मविकास या मोक्षधाम में निवास-नहीं कर सकती।

सम्यग्ज्ञान

मुक्ति के लिए सम्यग्ज्ञान की भी अनिवार्य आवश्यकता है। ज्ञान की महत्ता के विषय में कुछ भी लिखना आवश्यक नहीं। उसके प्रभाव को हम पद-पद पर अनुभव करते हैं। सम्यग्दर्शन जब प्राप्त हो जाता है तो ज्ञान, सम्यग्ज्ञान होता है। मिथ्यात्व मोहनीय रूपी मेघ जब आत्मा रूपी आकाश से विलीन हो जाते हैं तब सूर्य के प्रकाश और प्रताप की तरह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का उदय होता है। सम्यग्ज्ञान को मुख्य दो विभागों में बांटा जा सकता है—(१) प्रमाण और (२) नय। प्रत्येक वस्तु अनन्त गुणों का पिण्ड है, उसके किसी एक विवक्षित गुण को ग्रहण करने वाला—वस्तु के एक अंश को जानने वाला—ज्ञान नय कहलाता है और सम्पूर्ण अंशों को जानने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है। इससे यह बात अपने-आप स्पष्ट हो जाती है कि नय, प्रमाण का एक अंग है और प्रमाण अंगी है।

ज्ञान का विवेचन जैन शास्त्रों में दो प्रकार से किया गया है। एक सैद्धान्तिक प्रकार है और दूसरा दार्शनिक प्रकार है। सैद्धान्तिक शैली से ज्ञान के पांच भेद हैं-(१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मनःपर्यायज्ञान और (५) केवलज्ञान। इन्हीं पांच ज्ञानों को जैन नैयायिक आचार्यों ने प्रत्यक्ष और परोक्ष, इस प्रकार दो वर्गों में वर्गीकरण किया है। अर्थात् मति ज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष की कोटि में और शेष तीन अतीन्द्रिय ज्ञानों को प्रत्यक्ष की कोटि में स्थापित किया है। इन प्रकारों में विरोध के लिए जरा भी अवकाश नहीं है, सिर्फ वर्तांव करने की शैली जुदी-जुदी है।

इन्द्रियों और मन से उत्पन्न होने वाला मतिज्ञान है इसके चार भेद हैं– अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा। इन भेदों से छद्मस्थों को होने वाले ज्ञान का क्रम भली भाँति बताया गया है। हम किसी पदार्थ को यकायक स्पष्ट नहीं जान लेते हैं, वरन् धीरे धीरे— क्रमशः ज्ञान उत्तरोत्तर स्पष्ट होता हुआ चला जाता है और कई एक अवस्थाएँ पार करने के बाद हम पदार्थ को निश्चित रूप से जान पाते हैं। साधारणतया लोग समझते हैं कि हमने किसी पदार्थ की ओर दृष्टि फेरी कि फौरन उसका निश्चित ज्ञान हो जाता है, पर वास्तव में ऐसा समझना भ्रमपूर्ण है। सब से पहले पदार्थ की एक मामूली सी झलक पड़ती है, उसे दर्शन कहते हैं। उसके बाद फिर एक प्रकार का अस्पष्ट सा प्रतिभास होता है, उसे अवग्रह कहते हैं। अवग्रह के पश्चात् संशय होता है और तत्पश्चात् संशय को दूर कर ने के लिए ईहा ज्ञान उत्पन्न होता है। ईहा में भी एकान्त निश्चय नहीं हो पाता लेकिन वह निश्चय की ओर बहुत कुछ झुका हुआ होता है। ईहा के अनन्तर निश्चयात्मक अवाय (अपाय) पैदा होता है। इसी ज्ञान से हम पदार्थ के विशिष्ट रूप को जान पाते हैं। ज्ञान के इस क्रम को लिखने या कहने में तो काफ़ी समय लगता हैं। परन्तु उसके होने में इतना विलम्ब नहीं लगता। ज्ञान धारा अपने तीव्रतर वेग के साथ आगे बढ़ती है और उसमें इतनी शीघ्रता से परिवर्त्तन होता जाता है कि अकसर हम उसका साफ तौर से अनुभव नहीं कर पाते। फिर भी प्रत्येक ज्ञान का क्रम यही है और यह एकदम बुद्धि संगत भी है। यदि कोई व्यक्ति कमल के नरम-नरम सौ पत्तों को एक दूसरे के ऊपर रख कर उनमें पूरी ताकत लगाकर एक भाला घुसेड़ दे तो साधारणतया यह प्रतीत होगा कि सब पत्ते एक ही साथ छिद गए हैं। पर क्या यह ठीक है? नहीं! भाला, पहले एक पत्ते में घुसा, उसमें से बाहर निकला, फिर दूसरे में घुसा, उसमें से बाहर निकला, तब तीसरे में घुसा। इसी क्रम से उस ने सौ पत्तों को छेदा है। पर छेदने का कार्य इतनी शीघ्रता से हुआ कि हम उसमें क्रम का अनुभव नहीं कर सकते। ठीक यही बात ज्ञान के क्रम के संबंध में समझनी चाहिए। अस्तु। अवाय के बाद धारणा ज्ञान उत्पन्न होता है। धारणा में वह शक्ति है कि इसीके कारण हम कालान्तर में किसी पदार्थ का स्मरण करने में समर्थ होते हैं।

मतिज्ञान के बाद श्रुतज्ञान होता है। यह मतिज्ञान से ज्ञात विषय को और अधिक स्पष्टता से जनाता है। इसके भी नाना विवक्षाओं से कई भेद हैं, जिनका विस्तार भय से यहां उल्लेख नहीं किया जाता। अवधिज्ञान अतीन्द्रियज्ञान है। वह अन्तःकरण या इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होता। बल्कि आत्मा से ही उत्पन्न होता है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा में रहकर रूपी पदार्थों को विषय करता है। मनः पर्याय ज्ञान इस से भी सूक्ष्म और निर्मल है। वह दूसरे के मन की बात को भी विषय करता है। केवलज्ञान, समस्त द्रव्यों पर्यायों और गुणों को युगपद् स्पष्ट जानता है। यही आत्मा के ज्ञान गुण का चरम विकास है और ज्ञानावरण कर्म के आत्यन्तिक क्षय से इसका प्रादुर्भाव होता है।

संसार के किसी भी दर्शन शास्त्र में नय का नामोनिशान तक नहीं मिलता। नय सिद्धान्त जैनदर्शन की असाधारण सम्पत्ति है और यही सिद्धान्त अनेकान्त दृष्टि का जनक है। अपूर्णता में पूर्णता, विकल में सकल, या एक-देश में सर्वदेश, के होने वाले भ्रम से दर्शन शास्त्रों में पारस्परिक वैषम्य का विष पैदा होता है। नय-सिद्धान्त उस विष के बीजका समूल उन्मूलन करता है और साम्य रूपी सुधा का सुखद शान्तिप्रद प्रवाह बहाता है। नयसिद्धान्त प्रत्येक दर्शन को अपने विशाल उदर में एक सीमित स्थान देता है और इस प्रकार निष्पक्ष व्यवहार के द्वारा जगत् को संतुष्ट करता है। वह विभिन्न दर्शन-शास्त्रों के मन्तव्य रूपी अंशों को यथोचित रीति से सन्निविष्ट करता है और सब के समुदाय से एक महान् सम्पूर्ण और सत्य सिद्धान्त का आविष्कार करता है। जैन शास्त्रों में इस सिद्धान्त का विशाल विवेचन और विश्लेषण किया गया है। अनेक शास्त्रों की रचना केवल इसी सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए की गई है। यहां हम सिर्फ थोड़ा सा कथन करके ही पाठकों से अवकाश ग्रहण करेंगे।

नय के सात भेद हैं—(१) नैगम (२) संग्रह (३) व्यवहार (४) ऋजुसूत्र (५) शब्द (६) समभिरूढ़ और (७) एवम्भूत। इन में प्रारंभ के चार नय पदार्थ को मुख्य रूप से विषय करने के कारण अर्थनय कहलाते हैं और शेष मुख्यतया शब्द विषयक होने के कारण शब्दनय हैं। अन्य अपेक्षाओं से अन्यान्य भेद भी नय के होते हैं, पर वे सब पृथक् ग्रंथों से ही जानना चाहिए।

प्रश्न—आपने ज्ञान को मोक्षका कारण कहा है, परन्तु ज्ञान आत्मा का गुण है और वह सदा आत्मा में विद्यमान रहता है। तब प्रत्येक आत्मा मुक्त क्यों नहीं होती? संसार में क्यों भटकती फिरती है?

उत्तर—दूध स्वभाव से मधुर होता है परन्तु कडुवी तूंबी में रख देने से वह कडुवा हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान मिथ्यात्व के संसर्ग से मिथ्याज्ञान हो जाता है और मिथ्याज्ञान मोक्ष का नहीं वरन् संसार का कारण है। इसी कारण आत्मा को मोक्ष नहीं प्राप्त होता और वह संसार में भ्रमण करता है। सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञान में से भी मिथ्यापन दूर हो जाता है और तब सम्यग्दर्शन के साथ वह मोक्ष का कारण होता है। अकेला ज्ञान मोक्ष का कारण नहीं हो सकता, यह पहले स्पष्ट कर दिया गया है। फिर मोक्ष का कारण ज्ञान नहीं, बल्कि सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान चौथे गुणस्थान से आरंभ होता है और तभी से आत्मा मुक्ति के मार्ग में प्रयाण करने लगता है। तेरहवें गुणस्थान में ज्ञान का पूर्ण विकास हो जाता है, मगर चारित्र की पूर्णता वहां नहीं होती। इसलिए तेरहवें गुणस्थान में भी मोक्ष नहीं होता। चौदहवें गुणस्थान के अन्त्य समय में चारित्र की परिपूर्णता होने पर आत्मा मुक्त हो जाता है।

सम्यक्-चारित्र

भगवान् महावीर ने चार संघों की स्थापना की थी-साधु, साध्वी, श्रावक श्राविका-संघ। इनमें साधु और साध्वी, सब प्रकार के सांसारिक व्यवहारों से विरत और केवल आत्मसाधना में निरत होते हैं। वे न तो किसी प्रकार का आरंभ करते हैं और न परिग्रह रखते हैं। आरम्भ परिग्रह ही पापों के मूल कारण हैं। जहां आरंभ परिग्रह नहीं, विषयों के प्रति लालसा नहीं, शरीर के प्रति ममता नहीं, जीवन-यापना के लिए कोई सावद्य कर्म नहीं वहां पापों का कोई संबंध भी नहीं। अतःसाधु और साध्वी का चारित्र बहुत ऊँचे दर्जे का होता है। श्रावक संघ और श्राविकासंघ सांसारिक झंझटों में फंसा रहता है। उसे तरह-तरह के सावद्य कर्म करने पड़ते हैं। भोजन, व्यापार, आदि सावद्य कार्यों से उसे छुटकारा नहीं मिल सकता। अतः श्रमण भगवान् महावीर ने श्रावक श्राविकाओं के लिए, साधु साध्वियों की अपेक्षा कुछ हलके दर्जे का चारित्र बताया है। साधु साध्वियों के चारित्र को सर्व विरति और श्रावक श्राविकाओं के चारित्र को देशविरति कहते हैं। अर्थात् साधु जिन पवित्र व्रतों को पूर्ण रूपेण पालन करते हैं उन्हें श्रावक कुछ अंशों में पालन करते हैं। संसार संबंधी समस्त कार्यों को, समस्त पदार्थों को साधु-तिनके की तरह त्याग देते हैं। उनके जीवन का एक मात्र ध्येय आत्मा का वास्तविक कल्याण करना ही होता है। परन्तु वे आत्म कल्याण के अविरोधी परहित साधक कार्य अवश्य करते हैं। धर्मोपदेश देकर पथभ्रष्ट पामर प्राणियों को कर्तव्य के मार्ग में लगाना, मूल महापुरुषों के अलौकिक उपदेशों को स्वयं हृदयङ्गम करके सर्व साधारण के समक्ष प्रस्तुत करना, और अपने आदर्श चरित्र के द्वारा जगत् को सदाचार का पाठ पढ़ाना, इत्यादि ऐसे परहित कारक कार्य हैं जिन्हें साधु निरन्तर करते रहते हैं। अतः साधु स्वकल्याण के साथ पर कल्याण भी करते हैं-मनुष्य समाज का सच्चाहित भी ऐसे ही महापुरुषों से हो सकता है। किन्तु समाज के लिए इतना करने पर भी जैन साधु समाज से किसी प्रकार का प्रत्युपकार नहीं चाहते। वे अपने निमित्त किसी भी गृहस्थ को जरा भी परेशानी में डालकर समाज के भार नहीं बनते। यहाँ तक कि अपने लिए बनाया हुआ

आहार तक ग्रहण करना उनके लिए निषिद्ध है। बचा-खुचा, रूखा सूखा, जैसा भी आहार भिक्षावृत्ति के द्वारा उन्हें प्राप्त हो जाता है, उसी से वे शरीर की आवश्यकता को पूर्ण कर लेते हैं। शारीरिक ममता लेश मात्र न होने पर भी केवल संयम—यात्रा की निर्विघ्न समाप्ति के लिए वे आहार को ग्रहण करते हैं। आहारदाता को किसी किस्म की असुविधा न हो, इस विचार से वे आहार भी एक घर से नहीं लेते। आचार शास्त्र में पहले पहल यह आदेश किया गया है।

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं।
न य पुप्फं किलामेइ, सो वि पीणेइ अप्पणं ॥

अर्थात् जैसे भ्रमर वृक्ष के पुष्पों से थोड़ा-थोड़ा रस इस प्रकार ग्रहण करता है कि पुष्प को किसी प्रकार हानि न पहुंचे और भ्रमर भी सन्तुष्ट हो जाय। इसी प्रकार साधु गृहस्थों के घर से थोड़ा-थोड़ा आहार लेते हैं। इससे सहज ही पता लग जाता है कि जब भोजन जैसी मामूली बात को इतने सुन्दर और दूरदर्शितापूर्ण नियमों की शृङ्खला में आबद्ध किया है तब अन्यान्य भारस्वरूप बातों की संभावना ही कैसे की जा सकती है। सचमुच, श्रमण भगवान् महावीर ने जैनसाधु के लिए जिस उच्चश्रेणी के आचार विचार का निरूपण किया है वह संसार भर के धर्मों में बेजोड़ है! यहां इतना स्थान नहीं कि जैनसाधुओं के आचार को विस्तार से वर्णन कर सकें, तथापि उसकी मूल-मूल बातों का दिग्दर्शन मात्र इस प्रकार है।

साधुओं के मूल पांच महा व्रत हैं-(१) अहिंसा महाव्रत (२) सत्य महाव्रत (३) अस्तेय महाव्रत (४) ब्रह्मचर्य महाव्रत (५) परिग्रहत्याग महाव्रत

(१) **अहिंसा महाव्रत**—मन, वचन, काय से, त्रस स्थावर, अपराधी निरपराधी जीव को स्वयं किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाना, दूसरे से कष्ट न पहुँचवाना और कष्ट पहुँचाने वाले की अनुमोदना न करना। यह अहिंसा महाव्रत है। इसका पूर्ण रूप से पालन करने के लिए मुनि सचित्त पृथिवी, पानी, वनस्पति आदि का सेवन नहीं करते।

(२) **सत्य महाव्रत**—मन वचन काय से किसी प्रकार का असत्य या सत्यासत्य (मिश्र) वचन प्रयोग न करना। इस व्रत का पालन करने के लिए मुनिजन हित, मित, प्रिय, मधुर, निरवद्य, सत्य एवं तथ्य भाषा का प्रयोग करते

हैं। कर्कश कठोर, सावद्य, आदि वचन नहीं बोलते। भविष्यवाणी निश्चयात्मक रूप से नहीं बोलते ।

(३) अस्तेय महाव्रत-विना स्वामी की आज्ञा प्राप्त किए, किसी छोटे से छोटे और तुच्छ से तुच्छ पदार्थ को भी ग्रहण न करना ! इस व्रत का प्रतिपालन करने के अभिप्राय से श्रमण मिट्टी और सूखा घास-पात भी बिना आज्ञा के नहीं उठाते। जहाँ कोई आज्ञा देनेवाला न हो ऐसे निर्जन वनप्रान्त आदि स्थानों में यदि मिट्टी कंकर आदि की आवश्यकता हो तो इन्द्र की मानसिक आज्ञा प्राप्त करके उसे ग्रहण करते हैं।

(४) ब्रह्मचर्य महाव्रत-स्त्री जाति के प्रति माता और पुत्री की भांति विशुद्ध भावना रखना। यह इस व्रत का स्थूल लक्षण है। पांचों इन्द्रियों और अन्तःकरण को आत्मा के आधीन करना, आत्मा में ही तल्लीन करना, यह इसका व्यापक स्वरूप है और मुनिगण इसी व्यापक स्वरूप के साथ इस व्रत का पालन करते हैं।

परिग्रहत्याग महाव्रत-पूर्ण रूप से ममत्व बुद्धि का त्याग करना परिग्रह त्याग महाव्रत कहलाता है। जैन मुनि इसका परिपालन करने के लिए एक फूटी कौड़ी भी अपने पास नहीं रखते हैं।

इन महान् व्रतों का अविकल पालन करने के लिए श्रमण भगवान् महावीर ने विविध प्रकार के उत्तर नियमों का निरूपण किया है। जैसे तीन गुप्ति, ५ समिति आदि मन वचन और काय की प्रवृत्ति को सर्वथा निरोध कर देना, यही तीन गुप्तियाँ है। यह बड़ी कठोर साधना है। शरीर और वचन की प्रवृत्ति कुछ समय के लिए निरुद्ध कर लेना सहज है। परन्तु जल की उत्ताल तरंगों से भी अधिक चपल, विद्युत् से ज्यादा आशुगामी, कपूर से भी अधिक अज्ञात रूप में ही इधर-उधर उड़ जाने वाले, मन की प्रवृत्ति को निरोध कर सकना बड़ा दुष्कर कार्य है। परन्तु महावीर के अनुयायी वीर श्रमण आत्मा में निरन्तर जागृत रहकर इस दुष्कर साधना में लीन रहते हैं। मगर इन गुप्तियों का पालन दीर्घकाल तक नहीं हो सकता। अतएव इनके अपवाद स्वरूप पाँच समितियों का यतना पूर्वक प्रवृत्ति का प्रतिपादन किया गया है। वह इस प्रकार है-

(१) ईर्या समिति—चलते समय चार हाथ ज़मीन देखते हुए चलना ताकि कोई छोटामोटा जीव पैर के नीचे न आजाए। रात्रि में थोड़ा-बहुत

इधर-उधर चलने का काम पड़े तो ज़मीन पूँज-पूँज कर (साफ़ करके) चलना

भाषा समिति—बोलते समय खूब सावधानी रखना । किसी प्रकार असत्य, या अनुचित शब्द मुख से न निकलने पाए ।

एषणा समिति—आहार संबंधी यतना रखना । शास्त्रोक्त समस्त दोषों को टालकर निर्दोष भिक्षा ग्रहण करना । राग-द्वेष रहित होकर केवल शरीर से संयम पालन में सहायता लेने के लिए आहार करना ।

(४) निक्षेपणा समिति—जैसा कि पहले कहा गया है, साधु किसी प्रकार का परिग्रह नहीं रखते । अलबत्ता संयम के सहायक पात्र पुस्तक आदि निर्मम रूप से रखते हैं, उन्हें रखते उठाते समय देख भाल कर रखना, यह निक्षेपणा समिति है ।

(५) परिष्ठापना समिति—जन्तु रहित स्थान में, मल मूत्र आदि परिष्ठापन करना-डालना । यह समिति भी अहिंसा महाव्रत में सहायक है ।

इनके अतिरिक्त और भी सैंकड़ों नियम जैन मुनि के लिए बनाए गए हैं । जैसे-ज़मीन पर सोना, केशों का लोच करना, जूता न पहनना, छत्ता आदि न ओढ़ना, शरीर-संस्कार न करना, भोजन का निमन्त्रण न स्वीकार करना, क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, आदि २२ परिषहों को समता भाव से सहन करना, उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दस धर्मों का पालन करना, अनित्यता, अशरणता, संसार, एकत्व आदि बारह भावनाओं का चिन्तन करना आदि ।

श्रावक के लिए भगवान् ने अणुव्रतों गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का उपदेश दिया है । यही बारह व्रत कहलाते हैं । उनका संक्षिप्त रूप इस प्रकार है ।

(१) अहिंसाणुव्रत-निरपराधी त्रस जीव की संकल्पी हिंसा न करना और यथा-संभव स्थावर जीवों की हिंसा से बचते रहना । इस अणुव्रत के स्व-रूप को ज़रा सावधानी पूर्वक सोचने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् महा-वीर ने अहिंसा को व्यवहार्य बनाने का सफल प्रयत्न किया है । किस श्रेणी का मनुष्य, कितनी हिंसा से बच सकता है । इस का पूर्ण ध्यान रखा गया है । और क्रमशः उच्च श्रेणी पर चढ़ने का मार्ग बताया गया है । अहिंसा के विषय में अन्यत्र विस्तार पूर्वक विचार किया गया है, अतएव यहाँ इतना ही कहकर आगे बढ़ते हैं ।

(२) सत्याणुव्रत— जिस असत्य से राजा या पंचायत दण्ड दे सके अर्थात् जिससे सार्वजनिक हानि होती हो, ऐसा असत्य भाषण न करना। यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि सत्य आदि व्रत अहिंसा के पोषक हैं। अतः जब इनसे अहिंसा का विरोध होता हो— जिस सत्य से किसी के प्राणों का हनन होता हो, वह शाब्दिक सत्य कहलाने पर भी वास्तविक सत्य नहीं है। अन्य के ऊपर भारी विपत्ति डालने वाला–दुःखप्रद–सत्य भी असत्य ही है, और श्रावक ऐसा सत्य बोलने के लिए प्रतिज्ञा बद्ध नहीं होता।

(३) अस्तेयाणुव्रत— ऐसी चोरी न करना, जो दण्डनीय हो।

(४) ब्रह्मचर्याणुव्रत—अपनी विवाहिता पत्नी के अतिरिक्त अन्य समस्त स्त्रियों में मां–बहिन जैसी विशुद्ध भावना रखना।

(५) परिग्रहपरिमाणव्रत—परिग्रह की मर्यादा कर लेना। संसार में अनन्त धन है। प्राणी की लालसा इतनी जबर्दस्त है कि वह निरन्तर आगे बढ़ती रहती है। वह सब का सब पाना चाहती है। जिसके पास आज हजार रुपये हैं वह लक्षाधीश होने की चिन्ता में रहता है, कल लक्षाधीश हो जाता है तो लालसा उसे और आगे घसीट ले जाती है और कोट्यधीश बनने का फ़िक्र लगता है। फिर भी वह कभी तृप्त नहीं होती। जब तक तीन लोक के समस्त भोगोपभोग के साधन, धन–सम्पत्ति, आदि एक ही प्राणी को प्राप्त न हो जावें तब तक उसकी लालसा मिटने की नहीं। फिर भी कौन जानता है कि तीन लोक की सम्पत्ति मिलने पर वह लालसा सन्तुष्ट हो ही जायगी। अतएव सबसे अच्छा मार्ग यह है कि मनुष्य लालसा के पीछे–पीछे न दौड़ता फिरे, बल्कि उसे ही अपने अधीन बनावे। लालसा घोड़े के समान है। यदि हमने उस पर सवारी कर ली तब तो चैन पा सकते हैं, और यदि अभाग्य से लालसा रूपी घोड़ा हमारे ऊपर ही चढ़ बैठा तो सिवाय विपत्ति और मुसीबत के और कुछ हाथ नहीं लग सकता। इसलिए इच्छाओं को वशीभूत करना, निरंकुश होकर अमर्याद भटकने वाली लालसाओं को शनैः शनैः सीमित क्षेत्र में ले आना, यही सुख का प्रधान कारण है। पांचवें अणुव्रत में इसी उद्देश्य का पोषण किया गया है।

(६) दिग्व्रत —चारों दिशाओं, चारों विदिशाओं तथा ऊर्ध्व और अधोदिशा–में जाने का परिमाण कर लेना।

(७) उपभोगपरिभोग परिमाण-जो वस्तु एक बार भोगी जा सके, उसे उपभोग और जो बारबार भोग में आवे उसे परिभोग कहते हैं। इन दोनों में सभी भोग्य पदार्थों का अन्तर्भाव हो जाता है। अन्न, जल, जैसे पदार्थ उपभोग हैं और वस्त्र, आभूषण; सवारी, आदि परिभोग हैं। श्रावक इनकी भी मर्यादा करता है। जिससे कि उसकी भोगाकांक्षा अमर्याद होकर उच्छृंखल न बन जाए। वरन् एक सीमा में रहे और विषयों के प्रति उदासीनता की वृत्ति नष्ट न हो पाए।

(७) अनर्थदण्डविरमणव्रत—निष्प्रयोजन पाप-कार्य से सदा बचते रहना। इसके चार भेद हैं-(१) अपध्यान (२) प्रमादचर्या (३) हिंसादान और (४) पापोपदेश। दूसरों को किस प्रकार हानि पहुँचे, ऐसा विचार-करने को अपध्यान कहते हैं। असावधानी से-बिना देखे-भाले, सोचे-समझे प्रवृत्ति करना प्रमादचर्या है। हिंसाजनक शस्त्रास्त्र बिना प्रयोजन दूसरों को देना हिंसादान है और जगत् को पाप का उपदेश देना, हिंसा, झूठ आदि के लिए दूसरों को उकसाना पापोपदेश है। श्रावक इन अनर्थक बातों से अपनी रक्षा करता है। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि इस व्रत को पालन करने वाले के लिए अपनी, अपने कुटुम्ब की, जाति आदि की रक्षा करने के लिए शस्त्र आदि के ग्रहण का त्याग करना अनिवार्य नहीं है। हां, उच्च श्रेणी का श्रावक उसे भी त्याग देता है। परन्तु साधारण कोटि के श्रावकों के लिए यह बन्धन नहीं है।

(६) सामायिक व्रत—एक मुहूर्त्त पर्यन्त आत्मा को सब प्रकार की सांसारिक उपाधियों से अलग रखना-समभाव में लीन रहना सामायिक है। सामायिक व्रत का पालन श्रावक दो करण तीन योग से करता है। यह श्रावक का दैनिक कर्त्तव्य है। आत्मा को निर्मल बनाने के लिए सामायिक ही एक महत्वपूर्ण कारण है।

(१०) देशावकाशिक व्रत—छठे व्रत में दिशाओं संबंधी की हुई मर्यादा को प्रतिदिन संकोच करने के लिए श्रावक प्रातःकाल यह प्रतिज्ञा कर लेता है कि "आज मैं अमुक नदी, पर्वत, खेत, वृक्ष या नगर तक ही जाऊँगा-इससे आगे नहीं जाऊँगा और न वहां से आगे के क्षेत्र से संबंध करूँगा। इसे देशावकाशिक कहते हैं। इससे भी मनोवृत्ति सीमित होती है और सर्वव्यापिनी लालसा केन्द्रित हो जाती है।

(११) प्रतिपूर्ण पौषध व्रत—इस व्रत में एक अहोरात्र के लिए अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य-अर्थात् सब प्रकार के भोजन का परित्याग किया जाता है और वह दिन-रात धर्मध्यान पूर्वक बिताया जाता है। शास्त्रों में श्रावकों का जो वर्णन आता है उससे पता चलता है कि प्राचीन काल में श्रावक अपने मकान में ही एक ओर पौषधशाला बनाते थे। पर आजकल प्रायः यह प्रथा लुप्त सी हो गई है और उपाश्रय में जाकर श्रावक पौषध (पोसा) करते हैं। यह अष्टमी, चतुर्दशी, और पक्खी के दिनों में पाला जाता है, अन्य समय भी किया जा सकता है।

(१२) अतिथि संविभाग व्रत—अतिथियों को विशेषतः मुनियों को उनके अनुकूल निर्दोष अशन, पान औषधि आदि दान देना। यह व्रत श्रावक की उदारता का परिचायक है। प्राचीन काल के श्रावकों के वर्णन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे बड़े उदार और दानी होते थे और इसी कारण शास्त्रों में उन्हें "अप्पडिहयदुवारे" विशेषण लगाया गया है। अर्थात् वे ऐसे दानवीर थे कि दान के लिए उनका द्वार सदा खुला रहता था।

यही श्रावक के बारह व्रतों का संक्षिप्त दिग्दर्शन है और इसी के साथ सम्यक चारित्र का वर्णन समाप्त होता है इस दिग्दर्शन से इतना तो स्पष्ट हो जायगा कि दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीर ने श्रावकों की ओर से उपेक्षा नहीं की थी। उन्हें न केवल संघ में स्थान ही दिया था, बल्कि उनके लिए नियमों का भी निर्धारण कर दिया था। हमारे विचार से जहाँ बौद्ध धर्म भारत से विलीन हो गया वहाँ जैनधर्म की अखंड सत्ता कायम रखने में इस विशेषता का भी पर्याप्त स्थान है।

तप का वर्णन चारित्र के अन्तर्गत है, क्योंकि तपस्या चारित्र का ही एक अंग है। तपस्या के जैन ग्रंथों में सैकड़ों प्रकार बताये गए हैं और उनका क्रम देखने से उनकी वैज्ञानिकता का साफ साफ पता चल जाता है। विस्तारभय से उसका वर्णन न कर सकने के कारण पाठकों से क्षमा—याचना करते हैं।

卐

प्रकरण—ग्यारहवां

स्याद्वाद

यदि जैन दर्शन को शरीर माना जाय तो स्याद्वाद उसकी आत्मा है। यदि आत्मा जुदा कर दिया जाय तो शरीर किसी काम का नहीं रह जाता। इसी प्रकार यदि स्याद्वाद को अलग कर दिया जाय तो जैनदर्शन, दर्शन ही न रह जाय अथवा चेतना-हीन शरीर की भाँति अनुपयोगी हो जाय। वस्तु का सच्चा स्वरूप प्रकट करने के लिए स्याद्वाद ही एक उपाय है। इसका सहारा लिये बिना कोई सत्य को व्यक्त कर ही नहीं सकता। यही कारण है कि जैनेतर दर्शनों ने जब 'सर्वथावाद' से काम चलते न देखा तो स्याद्वाद का सहारा लिया, यद्यपि उसे स्पष्टतया स्वीकार नहीं किया। कुछ दार्शनिकों ने उसे दूषित ठहराने का भी प्रयत्न किया है, परन्तु उनका वह प्रयास विद्वन्मण्डली में उपहासास्पद ही माना गया है।

स्याद्वाद का स्वरूप—प्रत्येक वस्तु को ठीक तरह समझने के लिए, उसे विभिन्न दृष्टियों से देखना उसके अलग अलग पहलुओं से विचार करना—स्याद्वाद है और उसे ही अनेकान्तवाद या अपेक्षावाद भी कहते हैं। हम जिस किसी भी वस्तु को देखते हैं, उस में अनन्त धर्म हैं। अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड ही द्रव्य कहलाता है। उन सब अनन्त धर्मों में विरोध नहीं है, यह बात स्याद्वाद से ही जानी जाती है। उन सब धर्मों का अधिक से अधिक सात प्रकार से विवेचन किया जा सकता है। वे प्रकार यह हैं—(१) स्यादस्ति

(२) स्यान्नास्ति (३) स्यादस्तिनास्ति (४) स्यादवक्तव्य (५) स्यादस्ति अवक्तव्य (६) स्यान्नास्ति अवक्तव्य (७) स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य। जैन दर्शन में इसे सप्तभंगी न्याय कहते हैं। यही सप्तभंगी स्याद्वाद का मूल है। अर्थात् एक ही वस्तु में विवक्षावश विधि निषेध आदि द्वारा, परस्पर अविरुद्ध धर्मों का जिससे ज्ञान हो उसे सप्तभंगी कहते हैं। यहाँ 'अविरुद्ध' यह खास ध्यान में रखने योग्य है। 'रामरत्न' 'रमेश' से बड़ा है और उससे छोटा भी है। इस वाक्य में बड़ेपन और छोटेपन, इन दोनों धर्मों का समावेश एक 'रामरत्न' में किया गया है। परन्तु यह समावेश प्रमाणिक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इस प्रकार का बड़ापन और छोटापन परस्पर विरुद्ध है। जो जिससे बड़ा है वह उसी से छोटा नहीं हो सकता। अतः अनेक धर्मों का एक ही वस्तु में समावेश होने पर भी इसे सम्यक् अनेकान्त नहीं कह सकते-यह मिथ्या अनेकान्त है।

अच्छा, अब उपर्युक्त वाक्य को यों बदल दीजिये-"रामरत्न रमेश से बड़ा है और हीरालाल से छोटा है।" तो कुछ भी विरोध या असंगति इस वाक्य मे नहीं रह जाती। इसका अर्थ यह हुआ कि रामरत्न में रमेश की अपेक्षा बड़ापन और हीरालाल की अपेक्षा छोटापन पाया जाता है। यह बात लोक में प्रसिद्ध है, सत्य है, यही उक्त सप्तभंगी के स्वरूप में 'अविरूद्ध' पद रखने का रहस्य है।

पाठक सोच सकते हैं कि बड़ापन और छोटापन परस्पर विरुद्ध से मालूम होते हुए भी कितनी स्पष्टता से एक जगह रहते हैं। यही हाल अन्य गुणों धर्मों का भी है। पहले पहल वे विरुद्ध जंचते हैं। पर गहरा विचार करने से एवं अपेक्षा को ध्यान में रखने से,अविरुद्ध हो जाते हैं। यहाँ यह कहा जा सकता है, कि छुटपन और बड़प्पन तो आपेक्षिक धर्म हैं, अस्तित्व आदि नहीं। वे एक जगह कैसे रह सकते हैं? यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि धर्म सभी आपेक्षिक होते हैं। जब हम कहते हैं:-

(१) स्यादस्ति घटः (घड़ा है)—तो इसका अर्थ यह है कि घट अपने स्वरूप की अपेक्षा से है-घट विषयक अस्तित्व घट में पाया जाता है। यदि उस में

घट संबंधी अस्तित्व न माना जाय तो घड़ा गधे के सींग की नांई नाचीज़ (अभावरूप) ठहरेगा, क्योंकि उस में अस्तित्व नहीं है ।

(२) स्यान्नास्ति घटः (घड़ा नहीं है)—इसका अर्थ यह है कि घट में, घट के अतिरिक्त अन्य पटादि पदार्थों का अस्तित्व नहीं है। अर्थात् पट आदि पदार्थों में जो अस्तित्व पाया जाता है वह अस्तित्व घट में नहीं है । यदि पट आदि के अस्तित्व का निषेध घट में न किया जाय तो घड़ा, पट भी हो जायगा । इसी प्रकार किसी भी एक वस्तु में, अन्य तमाम वस्तुओं की सत्ता मान लेने से किसी का भी स्वरूप स्थिर न हो सकेगा--"सर्व सर्वात्मकं जगत्" हो जायगा । अतः हरएक वस्तु में, उसके अतिरिक्त दूसरी वस्तुओं की असत्ता माननी पड़ती है।

(३) स्यादस्तिनास्ति घटः-(घड़ा है और नहीं भी) क्रमशः दोनों रूपों की अपेक्षा रख कर वस्तु का विधान किया जाय तो पहले और दूसरे वाक्य का जो निष्कर्ष निकलता है, वही यह तीसरा भंग है । इस में क्रम से दोनों की अपेक्षा रखी गई है ।

(४) स्यादवक्तव्यो घटः (घड़ा अवक्तव्य है)-वस्तु में अनन्त धर्म हैं । उन सब का भाषा द्वारा एक साथ कथन नहीं किया जा सकता है, इस अपेक्षा से वस्तु का पूर्ण स्वरूप कहा नहीं जा सकता-वह अवक्तव्य है तात्पर्य यह है कि शब्द प्रायः धातुओं से बनते हैं और एक धातुका, एक जगह, एक ही अर्थ संभव होता है । वह एक ही गुण का कथन कर सकता है । ऐसा कोई शब्द ही नहीं है जिससे पृथक् पृथक् सब धर्मों का कथन किया जा सकता हो, अतएव इस दृष्टि से वस्तु को अवक्तव्य शब्द से कह देना ही उपयुक्त होता है ।

पर जैसे अवक्तव्य न मानना भूल है, उसी प्रकार एकदम (सर्वथा) अवक्तव्य मान लेना भी भूल ही है । क्योंकि यद्यपि वस्तु अवक्तव्य है, फिर भी वह 'अवक्तव्य' शब्द से तो कही ही जाती है । अवक्तव्य शब्द के द्वारा वक्तव्य होने के कारण वस्तु को कथंचित् अवक्तव्य कथंचित् वक्तव्य कहना चाहिए । वस्तु को अवक्तव्य भी मानें और अवक्तव्य शब्द से उसे कहते भी जाएं तो "मैं मौनी हूँ" इस कथन की तरह स्ववचन से ही बाधा आवेगी ।

इस प्रकार एक ही वस्तु में अस्तित्व, नास्तित्व, अस्तित्वनास्तित्व और अवक्तव्यत्व रहना सिद्ध होता है । आगे के तीन भंग भी विवक्षा भेद से समझ

लेना चाहिए। विस्तार भय से उनका स्पष्टी करण नहीं किया जाता। इस प्रकार सप्तभंगी न्याय स्पष्ट हो जाता हैं।

ऊपर से यह सिद्धांत बड़ा ही विचित्र प्रतीत होता है, परन्तु वास्तविक सत्य इसी में है। हाँ इस में प्रयुक्त होने वाले अस्तित्व नास्तित्व आदि के अर्थों का ध्यान रखना चाहिए। सुप्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने कहा है—

',When we speak of not being we speak, I suppose not of some thing apposed to being but only different.

अर्थात् "जब हम असत्ता (नास्तित्व) के संबंध में कुछ कहते हैं, तो मेरा खयाल है कि हम सत्ता के विरुद्ध नहीं कहते- सिर्फ अन्य के अर्थ में कहते हैं।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि अस्तित्व और नास्तित्व परस्पर सर्वथा विरोधी धर्म नहीं हैं।

एक उदाहरण लीजिए-एक पाठशाला में दो विद्यार्थी पढ़ते हैं। उन में से एक ने दूसरे की किताब उठा ली। पढ़ते-पढ़ते पन्ना पलटा। पन्ना फट गया। वह लड़का, जिसकी वह किताब थी, अब उसे नहीं लेता। क्यों? एक पन्ना फटने से क्या वह किताब नहीं रही? बेशक, किताब तो वही है, पर उसकी वह हालत नहीं रही। अर्थात् किताब की पहली हालत (पर्याय) नष्ट हो गई और एक नयी हालत उत्पन्न हो गई, किन्तु किताब का अस्तित्व बना रहा। इसी बात को स्याद्वाद कहता है कि— किताब कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है, नित्यत्व और अनित्यत्व की तरह एकत्व, अनेकत्व, सत्व असत्व आदि अनन्त धर्म एक ही वस्तु में मित्रभाव से रहते हैं।

मान लीजिए किसी जगह तीन आदमी हैं। एक सोने का घड़ा चाहता है। दूसरा सोने का मुकुट चाहता है और तीसरा सोना चाहता है। तीनों व्यक्ति अपने-अपने इष्ट की खोज में निकले। भाग्य से कहीं घड़ा मालूम हुआ। मगर वहाँ तक पहुँचने से पहले ही घड़ा तोड़-फोड़ कर मुकुट बना दिया गया। अब जो घड़ा। चाहता था उसे दुख होता है। जो मुकुट चाहता था उसे प्रसन्नता होती है और जो सोना चाहता था उसे न हर्ष होता है न विषाद ही वह मध्यस्थ रहता है। इस उदाहरण से हम समझ सकते हैं कि पहले दो पुरुषों की दृष्टि में घट और मुकुट पृथक् पृथक् पदार्थ हैं और तीसरे की दृष्टि में दोनों एक। अर्थात्

सुवर्ण में कथंचित् एकत्व है । कथंचित् अनेकत्व है । इसी को पर्यायदृष्टि और द्रव्यदृष्टि कहते हैं ।

बस, स्याद्वाद इस प्रकार परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले किन्तु वास्तव में अविरोधी, धर्मों का एकत्र समन्वय करता है और इसीलिए कहा गया है कि जो विरोध का मथन करे वही स्याद्वाद है-" विरोधमथनं हि स्याद्वादः ।"

आक्षेप परिहार-स्याद्वाद के वास्तविक स्वरूप की अनभिज्ञता एवं साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण स्याद्वाद जैसे सार्वसिद्धान्त पर भी आक्षेप किये गये हैं । अब हम संक्षेप में उन का दिग्दर्शन करावेंगे ।

अनेकान्त सर्वथा अनेकान्त है या किसी अपेक्षा एकान्त भी है ? यदि सर्वथा अनेकान्त रूप ही हो तो यही एकान्त हो गया । फिर यह सिद्धान्त, कि प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक ही, ठीक नहीं अनेकान्त स्वयं अनेकान्त रूप नहीं है । यदि अनेकान्त को किसी अपेक्षा एकान्त भी मान लिया जाय तो एकान्त में जो दोष आते हैं वे सब यहां आजाएँगे । इतना ही नहीं, बल्कि सवाल फिर भी खत्म न होगा-अर्थात् आपने जो एकान्त अभी स्वीकार किया वह भी एकान्त रूप है या अनेकान्त रूप ? इस प्रकार प्रश्न उठते ही चले जाएँगे । यह अनवस्था दोष अनेकान्त में आता है ।

इसका समाधान यह है कि अनेकान्त न तो सर्वथा अनेकान्त रूप है न सर्वथा एकान्त रूप ही । बल्कि कथंचित् अनेकान्त रूप और कथंचित् एकान्त रूप है । अनेकान्त दो प्रकार का है (१) सम्यगनेकान्त और (२) मिथ्या अनेकान्त । इसी प्रकार एकान्त भी सम्यगेकान्त और मिथ्या एकान्त के भेद से दो प्रकार का है । जो प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों से अविरुद्ध अनन्त धर्मों का एक वस्तु में प्रतिपादन करे वह सम्यक्-अनेकान्त है । तथा जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से विरुद्ध अनेक धर्मों का प्रतिपादन करे वह मिथ्या-अनेकान्त है (देखो रमेश और रामरत्न का उदाहरण) प्रमाण से जानी हुई अनन्त धर्मात्मक वस्तु में से किसी भी एक धर्म को दूसरे धर्मों का निषेध न करके--उपेक्षा-करके-जो बताता है वह सम्यक्--एकान्त है । दूसरे धर्मों का निषेध करके सिर्फ एक धर्म का विधान करने वाला मिथ्या-एकान्त है ।

जब नय के द्वारा वस्तु को जानते हैं तब वह सम्यक्-एकांत रूप होती है, क्यों कि नय का कार्य वस्तु के समस्त धर्मों को जानना नहीं अपितु किसी विवक्षित एक ही धर्म को जानना है। अतः सनय की अपेक्षा वस्तु सम्यक् एकान्त रूप है। जब प्रमाण से किसी वस्तु को जानते हैं तब वह अनेकांत रूप होती है, क्यों कि प्रमाण सब धर्मों के समुदाय रूप पदार्थ को जानता है। अतः प्रमाण की अपेक्षा वस्तु अनेकांत रूप है। कहा भी है—

"अनेकान्तोऽप्यनेकांत प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते, तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥"

दूसरी आशंका स्याद्वाद के विषय में यह उपस्थित की जाती है कि सत्ता और असत्ता, एक साथ, एक ही वस्तु में नहीं रह सकती। स्वामी शंकराचार्य ने शांकरभाष्य अ० २ पा० २ सूत्र ३३ में यही आक्षेप लगाया है। पर स्याद्वाद को अच्छी तरह समझ लेने से यह आक्षेप व्यर्थ हो जाता है। अस्तित्व और नास्तित्व को परस्पर विरोधी बतलाते समय 'स्वरूप से' और 'पर रूप से' इन दो महत्त्वपूर्ण पदों को छोड़ देने से ही घोटाला होता है। प्रत्येक पदार्थ में स्वरूप से सत्ता और पर रूप से असत्ता मानने से विरोध अपने आप हट जाता है। प्रोफेसर ध्रुव कहते हैं:—

"स्याद्वाद हमारे सम्मुख एकीभाव की दृष्टि उपस्थित करता है। शंकराचार्य ने स्याद्वाद पर जो आक्षेप किया है, उसका मूल तत्त्व के साथ कोई संबंध नहीं है। यह निश्चय है कि विविध दृष्टिबिन्दुओं द्वारा निरीक्षण किये बिना किसी वस्तु का सम्पूर्ण स्वरूप समझ में नहीं आ सकता, इसलिए स्याद्वाद उपयोगी और सार्थक है। महावीर के सिद्धान्तों में बताए गए स्याद्वाद को कोई संशयवाद बतलाते हैं, मगर मैं यह बात नहीं मानता। स्याद्वाद संशयवाद नहीं है। वह हमको एक मार्ग बतलाता है, वह हमें सिखलाता है, कि विश्व का अवलोकन किस प्रकार करना चाहिए।"

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्याद्वाद में विरोध के लिए कोई स्थान नहीं है।

ध्रुव साहब ने स्याद्वाद को संशयवाद कहने का विरोध किया है। वास्तव में संशयवाद मानने की भूल, एक गहरी भूल है। कुछ लोगों का कहना है

कि जो वस्तु नित्य है, वह अनित्य भी है, इस प्रकार मानने से संशय उत्पन्न होता है। इसी से स्याद्वाद को कुछ लोग स्याद्वाद को डा० ह्यूम के संशय वाद का रूपान्तर मान बैठे हैं। किन्तु जरा सा विचार करते ही यह भ्रान्ति दूर हो सकती है। आइए थोड़ा सा विचार करें।

एक वस्तु में परस्पर विरुद्ध अनेक कोटियों का अनिश्चित ज्ञान संशय माना गया है। जैसेः—यह सीप है या चांदी? वस्तु एक ही है, उसमें सीप और चांदी रूप दो कोटियों का अनिश्चित ज्ञान होता है, अतः यह ज्ञान संशय रूप है। क्या स्याद्वाद इसी प्रकार का है? कदापि नहीं। स्याद्वाद की दृष्टि में वस्तु का स्वरूप निश्चित है, परन्तु एकान्त रूप नहीं—अनेकान्त रूप में ही निश्चित है। यह निश्चय है कि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा वस्तु नित्य है। और यह, भी निश्चय है कि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा वस्तु अनित्य है। ऐसी अवस्था में स्याद्वाद को संशयवाद बनाना यही साबित करता है कि बताने वाला स्याद्वाद का स्वरूप ही नहीं समझता। संभवतः संशयवाद बताने की भूल का आधार 'स्यात्' पद हो। लोग 'स्यात्' का अर्थ शायद कर लेते हैं और स्याद्वाद को संशयवाद कह बैठते हैं। परन्तु 'स्यात्' का अर्थ 'इस अपेक्षा से' 'अमुक दृष्टिबिन्दु से' इतना होता है। इस प्रकार स्याद्वाद के विषय में किये जाने वाले आक्षेप, उसका ठीक अर्थ समझ लेने के बाद वृथा हो जाते हैं।

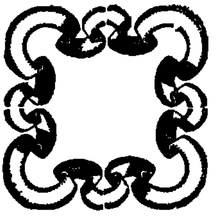
स्याद्वाद की उपयोगिता—सुख और शान्ति के लिए धर्म का आविष्कार हुआ है। परन्तु संसार में जब जहां, अशान्ति मची है, यदि उस के कारणों पर विचार किया जाय तो उनमें धर्म भी एक प्रधान कारणों में पाया जाता है भूत काल में धर्म के नाम से जो अन्याय, अत्याचार, और रक्तपात हुए हैं उन से इतिहास के पृष्ठ रँगे पड़े हैं। वर्त्तमान में भी आयेदिन यही दुखद संवाद सुनने को मिलते हैं। इसका मूल कारण धार्मिक विद्वेष है। अपने और अपने धर्म के अतिरिक्त दूसरों को और दूसरों के धर्म को सर्वथा मिथ्या मानने की संकुचितता रूपी खड्ग ही ने विवेक को भुला कर निर्दय प्रहार करना सिखाया है। यही धार्मिक-कलह का कारण है।

स्याद्वाद इस कलह को समूल उन्मूलन करने का मार्ग बतलाता है।

जैसे कि पहले कह चुके हैं, वह सत्य को विभिन्न दृष्टिबिन्दुओं द्वारा अवलोकन करने की प्रेरणा करता है। वह सहिष्णुता की शिक्षा देता है। विशाल-हृदय और विशाल-मस्तिष्क बनने का आदर्श सामने रखता है। वह हमें सिखाता है—तुम सच्चे हो तुम्हारा धर्म सच्चा है, पर दूसरों को मिथ्या मत कहो। ज्यों ही तुमने दूसरे को मिथ्या माना त्यों ही तुम स्वयं मिथ्यावादी हुए। अहा कैसा सुनहरा सिद्धान्त है! दूसरों को सच्चा समझो तो तुम सच्चे हो और दूसरों को मिथ्या मानो तो तुम भी मिथ्या! वास्तव में संसार के इतिहास में इससे सुन्दर तो क्या, इसके मुकाबिले का भी सिद्धान्त दूसरा नहीं मिल सकता इसी बात को एक उदाहरण से और स्पष्ट कर देना ठीक होगा। बौद्ध सब वस्तुओं को अनित्य मानते हैं और सांख्य नित्य मानते हैं। दोनों की मान्यताएँ भिन्न-भिन्न दृष्टियों से युक्तिसंगत सिद्ध होती है। ऐसी अवस्था में यदि बौद्ध, सांख्य को सच्चा मान लें और सांख्य, बौद्ध को सच्चा मान लें तो दोनों ही सच्चे सिद्ध होंगे। क्यों कि वस्तु दोनों प्रकार की है। और यदि दोनों, एक दूसरे को झूठा कहें तो दोनों झूठे हो जाएंगे, क्यों कि ऐसा करने से वस्तु के दूसरे धर्मों को वे त्याग देते हैं।

इस प्रकार की विशालता स्याद्वाद में ही है। स्याद्वाद, संसार के लिए सुन्दर से सुन्दर पुरस्कार है—बड़ी से बड़ी देनगी है। स्याद्वाद के प्रति यदि जनता में श्रद्धा की भावना उदित हो जाय तो धर्मान्धता, अनुदारता, अशान्ति और विद्वेष-सब छुमन्तर हो जाय। संसार में फिर एक बार शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाय। मनुष्य, मनुष्य का बन्धु बन जाय। तथास्तु।

इसी स्याद्वाद की बदौलत जैनधर्म अत्यन्त व्यापक हो गया है और "सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः" अर्थात् सभी पैर हाथी के पैर में समा जाते हैं, इस लोकोक्ति के अनुसार तमाम धर्म अपेक्षाओं से जैनधर्म में समाविष्ट हो जाते हैं।



सोचा य धम्मं अरहन्तभासियं,

समाहितं अट्ठपदोपसुद्धं ।

तं सद्दहाणा य जणा अणाऊ,

इंदा व देवाहिवइ आगमिस्सन्ति

त्तिबेमि

सूत्रकृताङ्ग

अर्थात्—महावीर स्वामी ने किस प्रकार तपस्या कर अहिंसा धर्म का प्रचार किया और उस से उन को कैसा अलौकिक ज्ञान दर्शन प्राप्त हुआ जिसका उल्लेख पाठकों ने पढ़ ही श्रवण कर ही लिया है। अतः उन्हीं के कहे हुए सिद्धान्त के अनुसार अपने जीवन को बना लेने के लिए आवश्यक चेष्टा करने का काम है। जिससे हम भी वही अपूर्व ज्ञान दर्शन प्राप्त कर सकें।

* ॐ *

जैनेतर विद्वानों की दृष्टि में प्रभु महावीर

(१)

अहमदाबाद में वि. सं० १९७९ की जयन्ति के उत्सव पर **महात्मा गांधीजी** ने कहा है —

मैं आप लोगों से विश्वास पूर्वक यह बात कहूंगा कि **महावीर स्वामी** का नाम इस समय यदि किसी भी सिद्धान्त के लिए पूजा जाता हो तो वह अहिंसा है। मैंने अपनी शक्ति के अनुसार संसार के जुदे जुदे धर्मों का अध्ययन किया है और जो जो सिद्धान्त मुझे योग्य मालूम हुए हैं उन का आचरण भी मैं करता रहा हूं। मैं अपने को एक पक्का सनातन हिन्दू मानता हूँ। परन्तु मैं नहीं समझता कि जैन दर्शन दूसरे दर्शनों की अपेक्षा हलका है अथवा उस की हिन्दू धर्म में गणना न हो सके, और इसी लिए मैं मानता हूं कि जो सच्चा हिन्दू है वह जैन है और जो सच्चा जैन है वह हिन्दू है। प्रत्येक धर्म की उच्चता इसी बात में है कि उस धर्म में अहिंसा का तत्व कितने परिमाण में है और इस तत्व को यदि किसी ने भी अधिक से अधिक विकसित किया हो, तो वे **महावीर** स्वामी थे।

जैन जगत् ता० १ अप्रेल सन् १९२७ से

[२]

Sahitya Ratna Doctor Ravindra Nath Tagore has said.

Mahavir Proclaimed in India the message of salvation that religion is a reality and not a mere social convention that Salvation comes from taking refuge in that true religion and not from observing the external ceremonies of the community that religion can not regard any barrier between man and man as aneternal verity. Wondrous to relate this teaching rapidly overtopped the barriers of the race's abiding instinct and conqured the whole country. For a long period now the influence of Kshatriya teachers completely suppressed the Brahmin power.

साहित्य रत्न डाक्टर रविन्द्रनाथ टैगोर ने कहा है

महावीर ने डींडींग नादसे हिन्द में ऐसा संदेश फैलाया कि:—धर्म यह मात्र सामाजिक रूढ़ी नहीं है परन्तु वास्तविक सत्य है मोक्ष यह बाहरी क्रिया कांड पालने से नहीं मिलता, परन्तु सत्य धर्म स्वरूप में आश्रय लेने से ही मिलता है। और धर्म और मनुष्य में कोई स्थाई भेद नहीं रह सकता। कहते आश्चर्य पैदा होता है कि इस शिक्षाने समाज के हृदय में जड़ कर के बैठी हुई भावना रूपी विघ्नों को त्वरा से भेद दिया और देश को वशीभूत करलिया, इसके पश्चात् बहुत समय तक इन क्षत्रिय उपदेशकों के प्रभाव बल से ब्राह्मणों की सत्ता अभिभूत हो गई थी।

महावीर जीवन विस्तार से

(३)

इतिहासज्ञ, माननीय पं० बाल गंगाधर तिलक

(४) गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी (जैन तीर्थंकर) का शिष्य था जिससे स्पष्ट जाना जाता है कि बौद्ध धर्म की स्थापना के प्रथम जैन धर्म का प्रकाश फैल रहा था। चौवीस तीर्थंकरों में महावीर स्वामी अन्तिम तीर्थंकर थे। इससे भी जैनधर्म की प्राचीनता जानी जाती है।

बौद्धधर्म पीछे से हुआ, यह बात निश्चित है। बौद्धधर्म के तत्व जैन धर्म के तत्वों के अनुकरण हैं।

× × × ×

(६) महावीर स्वामी का उपदेश किया हुआ धर्म तत्व सर्व मान्य होगया।

× × × ×

जैनधर्म के विषय में
अजैन विद्वानों की सम्मतियां से

साधु श्री टी. एल. वास्वानी-

(१)

चैत्र का परम पावन महीना महावीर का स्मारक है। इस पुण्य मास में वे आज से २५ शताब्दी पहले अवतीर्ण हुए। उन्होंने पटना के समीप में एक स्थान को अपनी जन्म भूमि बनाया।

परंपरा से उन महाभाग की जन्म-तिथि चैत्र शुक्ला त्रयोदशी मानी जाती है। यह दिन-महावीर की वर्ष गांठ का दिन-युवकों के कैलेण्डर में स्मरणीय है। युवकों को याद रहे, यह तिथि अनेक महावीरों की जननी है।

ये महावीर-अर्थात् विजयी-ही इतिहास के सच्चे महापुरुष हैं। ये उद्धतता और हिंसा के नहीं, किन्तु निरभिमानता और प्रेम के महावीर थे।

रूस के महान् ऋषि टॉल्स्टॉयने इस राग को बार बार अलापा है कि " जिस प्रकार अग्नि अग्नि का शमन नहीं कर सकती; उसी प्रकार पाप पापका शमन नहीं कर सकता "। कहा जाता है कि इस पर ईसा के इस प्रवचन की कि ' पाप का प्रतिकार मत करो ' छाप है, परन्तु ईसा से भी पांच शताब्दी पहले अहिंसा की यह शिक्षा भारत को दो आत्मज्ञों और ऋषियों-बुद्ध और महावीर-द्वारा उपदिष्ट और आचरित हो चुकी थी। जैन लोग भगवान्, ईश्वर, महाभाग इत्यादि कह कर महावीर को पूजते हैं।

वे उन्हें तीर्थंकर भी कहते हैं। मैं जिसका अर्थ करता हूं " सिद्ध पुरुष "। महावीर का स्मरण उन्हें चौवीसवें तीर्थंकर मान कर किया जाता है। उनके प्रथम तीर्थंकर का नाम ऋषभनाथ-अथवा आदिनाथ है, जो अयोध्या में जन्मे और कैलास पर्वत पर महत्तम आत्म ज्ञान (कैवल्य) के अधिकारी हुए। वे उस धर्म के सब से प्रथम प्रवर्तक थे, जिसे इतिहास में जैन धर्म कहा है। महावीर जैन धर्म के प्रवर्तकों की लम्बी सूची में चौवीसवें हैं। उन्होंने इस बौद्ध धर्म से भी प्राचीनतर धर्म की पुनर्घोषणा की और उसका पुनर्निर्माण किया।

महावीर के विषय में मैंने जो कुछ जाना है, उससे मुझ पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है। उनका जीवन अद्वितीय उदारता और अद्वितीय सौन्दर्य से परिपूर्ण था।

वे ईसासे ५९९ वर्ष पूर्व विहार-प्रान्त के एक शहर में जन्मे थे। उनके पिता 'सिद्धार्थ' एक क्षत्रिय राजा थे। उनकी जननी 'त्रिशला' प्रियकारिणी वज्जियों के प्रजातन्त्र के मुखिया चेटक की पुत्री थी। महावीर अन्य लड़कों के समान पाठशाला में भेजे जाते थे, परन्तु उन्हें शिक्षक की आवश्यकता नहीं थी, उनके हृदय में यह ज्ञान विद्यमान था, जिसे कोई भी विद्यालय नहीं प्रदान कर सकता।

कुटुम्ब को त्यागने के दिन वे अपना सारा राज्य अपने भाइयों को और सारी सम्पत्ति गरीबों को देदेते हैं। फिर वे तपश्चर्या और ध्यान का जीवन व्यतीत करते हैं।

महावीर को वह ज्योति १२ वर्ष के अन्तर्ध्यान और तपस्या के बाद दीखती है। ऋजुकूला नदी के किनारे जृम्भक-गांव में वे परम-आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं। ग्रन्थों की भाषा में अब वे तीर्थंकर, सिद्ध, सर्वज्ञ अथवा महावीर हो जाते हैं। वे अब उस अवस्था को प्राप्त करते हैं, जिसे उपनिषदों में कैवल्यदृष्टा की अवस्था कहा है। जैन ग्रन्थों के अनुसार अब उन का नाम 'केवली' हो जाता है।

वे गुरु हैं और व्यवस्थापक भी हैं। उन के ग्यारह प्रधान शिष्य हैं। चारसौ से ऊपर मुनि और अनेक श्रावक उन के धर्म को धारण करते हैं। ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनों ही उन के समाज में शामिल होते हैं। उन का विश्वास वर्ण और जाति में नहीं है। वे दीवाली के दिन पावापुरी (विहार) में ७२ वर्ष की आयु में ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व निर्वाण प्राप्त करते हैं।

इन महावीर का—जैनियों के इस महापुरुष का—चरित्र कितना सुन्दर है! वे धनवान क्षत्रिय कुल में जन्म लेते हैं, और गृह को त्याग देते है। वे अपना धन दरिद्रों में दान कर देते हैं, और विरक्त होकर जंगल में अन्तर्ध्यान और तपस्या के लिये चले जाते हैं। कुछ लोग उन्हें वहां ताड़ना देते हैं, परन्तु शान्त और मौन रहते हैं।

वे एक महावीर—एक विजेता—एक महा पुरुष हो जाते हैं, क्योंकि वे शान्ति की शक्ति का विकास करते हैं।

निःसन्देह ही उन के जीवनने उनके भक्तों पर गहरा प्रभाव डाला। उन्होंने उनके संदेश को सब तरफ फैलाया। कहा जाता है कि पायरो (Pyrrho)

नामक यूनानी विचारक ने जिमिनोसोफिस्टों के चरणों में दर्शन-शास्त्र सीखा। मालूम होता है कि ये जिमिनोसोफिस्ट लोग जैन योगी थे, जैसा कि उन का यह नाम निर्देश करता है।

बचपन में उन का नाम 'वीर' रक्खा गया। उस समय वे 'वर्द्धमान' भी कहलाते थे, परन्तु आगे चल कर वे 'महावीर' कहलाये। महावीर शब्द का मूल अर्थ महान् योद्धा है। कहा जाता है कि एक दिन जब कि वे अपने मित्रों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे, उन्हों ने एक बड़े काले सर्प को उस के फन पर पैर रख कर बड़े गौरव से वश में किया और तभी से उन्हें यह विशेषण मिला। मुझे यह कथा एक रूपक मालूम पड़ती है, क्योंकि महावीर ने सचमुच कषाय रूपी सर्प को वश में किया था। वे दर असल एक महान् वीर-महान् विजेता-थे उन्होंने राग और द्वेष को जीत लिया था। उनके जीवनका मुख्य उद्देश्य चैतन्य था ❀ वह जीवन परम शक्ति का था। 'पीत वर्ण' और 'सिंह' ये दो उनके प्रिय चिह्न हैं। आधुनिक भारत को भी महान् वीरों की आवश्यकता है। सिर्फ धन या ज्ञान बहुत कम उपयोगी है। आवश्यकता है ऐसे पुरुषार्थी पुरुषों की, जो अपने हृदय से डर को निर्वासित कर स्वातन्त्र की सेवा करे। महावीर की वीरता उनके जीवन और उन के उपदेशों में प्रतिबिम्बित है। वह जीवन अद्वितीय आत्म-विजयका है। उनका उपदेश भी वीरता-पूर्ण है। "सब जीवों को अपने समान समझो और किसी को कष्ट न पहुंचाओ" इन शब्दों में अहिंसा के द्विगुण सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। एक स्पष्ट है और दूसरा गूढ़। इन में 'स्पष्ट' ऐक्य के सिद्धान्तों का अनुसरण करता है, अर्थात् अपने को सब में देखो; और, 'गूढ़' उस में से विकसित होता है, अर्थात् किसी की हिंसा मत करो। सब में अपने आप का दर्शन करने का अर्थ ही किसी को कष्ट देने से रुकना है। अहिंसा सब जीवों में अद्वैत के आभास से ही विकसित होती है।

हमारे इतिहास के इस महान् वीर का जीवन और उनका संदेश तीन बातों पर जोर देता है:-

(१) ब्रह्मचर्य-बहुत से साधु गोशालके नेतृत्व में नीति—भ्रष्ट जीवन व्यतीत करते थे। वे औरतों के गुलाम थे। यह गोशाल उनका एक भागा हुआ

कषाय-हिंसा का भाव--क्रोध, मान, माया, लोभ।
The Central note of his life was Virga Vitality

शिष्य था, जो पीछे से पागल होकर मरा। जो लोग सच्चा आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करना चाहें, उन के लिये महावीर ने ब्रह्मचर्य-व्रत अनिवार्य कर दिया है, इस लिये जो युवक भारत का पुनर्निर्माण एक महान् देश के रूप में करना चाहें, उन्हें ब्रह्मचर्य की शक्ति से पूर्ण होना चाहिए।

(२) **अनेकान्तवाद या स्याद्वाद**-महावीर ने सिखाया कि विश्वका कोई भी एक स्वरूप सत्य का पूर्ण प्रतिपादन नहीं कर सकता, क्योंकि सत्य अनन्त है। इस से मुझे आइन्स्टेन के सापेक्षवाद (Doctorine of relativity) के आधुनिक सम्प्रयोग का स्मरण हो आता है। हमने अभी कुछ वर्षों में धर्म के नाम से वाद-विवाद और घृणा के कारण काफी कष्ट उठाया है। महावीर की वाणी युवकगण सुनें और उनका सहानुभूति एवं समानता का संदेश ग्रामों और नगरों में ले जावें। विभिन्न धर्मों ने भेदों और झगड़ों का सृजन किया है। वे आध्यात्मिक जीवन-सम्बन्धी नये विचार, नूतन देशभक्ति और नवीन राष्ट्रीय जीवन का सृजन करें, क्योंकि सत्य असीम है और धर्म का उद्देश्य भिन्नता और झगड़ों का उत्पादन करना नहीं, किन्तु उदारता और प्रेम का पाठ पढ़ाना है।

(३) **अहिंसा**-यह वस्तु आलस्य और कायरता के परे है। अहिंसा सत्तात्म है, निरी कल्पना नहीं। यह साधारण गुणों से उच्च श्रेणी की वस्तु है। यह एक शक्ति है। यह शक्ति शान्ति की है-लड़ाकू दुनियां में शान्ति की अन्तः प्रेरणा है।

बहुत दिनों से यूरोप में नित्य ही बलात्कार और हिंसा के नये-नये कार्यक्रम स्वीकृत हो रहे हैं। आज भारत में भी बहुत लोगों के लिए वे आकर्षक सिद्ध हुए हैं। एक फरासीसी ने अभी हाल में ही प्रकाशित पुस्तक में लिखा है—"हमें जर्मनी के नाश की जरूरत है।" एक भारतीय ने भी रशियोद्धार फण्ड में सहायता करने के लिए आग्रह किये जाने पर कहाथा—"हमें आवश्यकता है यूरोपियनों के नाश की।" इस तरह की बातें मेरे हृदय को पीड़ा पहुंचाती है। फिर मैं भारत के ज्ञानी महात्माओं का चिन्तन करता हूं, जिन्हों ने आज से २५ शताब्दी पहले हिन्दुस्तान के लोगों को वह महान् संदेश—द्वेष को सहानुभूति और निःस्वार्थता से जीतो-दिया था।

अनेकान्त सं० १९८७ के पृष्ठ ३३७
"मंगल मय महावीर"
शीर्षक लेखसे

अहिंसा का पैगम्बर

(२)

ऐशिया और यूरोप में अशान्ति विस्तृत है। भिन्न २ देशों में भिन्न २ मत रखने वाले मनुष्य सुव्यवस्था की आशा रखते हैं। उनका विश्वास समाज साम्यवाद में नहीं रहा, समाज साम्यवाद का जन्म भूखमरी के कारण हुआ है। उन्हें आशा Bolshevism से भी नहीं-बोलशेविज्म ने एक क्रांति उत्पन्न कर दी परन्तु क्या २ खो कर ? वे Sinn Feinism से भी निराश हो चुके-सिनफिनिज्म में अनेक गुण होते हुए आत्मा के प्रति श्रद्धा नहीं-निरादर है। भिन्न २ देशों में कुछ छोटे २ गुट्ट (समूह) ऐसे भी हैं जो सुव्यवस्था की आशा अहिंसा द्वारा करते हैं। अहिंसा पर उनका विश्वास है। पश्चिमीय प्रदेशों की धारणा के अनुसार इस मत के लोग भारतवर्ष में अधिक हैं। मेरे विचारानुसार भारतवर्ष में भी ऐसे विचार वाले राजनैतिक पुरुषों की कमी ही है। (जो अहिंसा पर विश्वास करते हों) आज संसार के राजनैतिक नेताओं में महात्मा गांधी ही सबसे बड़े अहिंसा के उपदेशक हैं। और महात्मा गांधी का सिद्धान्त टॉल्सटॉय की शिक्षाओं का अनुकरण ही है। रूस के महात्मा (टॉल्सटॉय) का आदेश 'अग्नि अग्नि से नहीं बुझ सकती, इसी प्रकार बुराई, बुराई से नहीं मिटाई जा सकती' है जो महात्मा ईसा के 'बुराई को दुत्कारो मत' का अनुकरण है। परन्तु ईसा से सदियों पूर्व भारतवर्षीय दो ऋषियों-बुद्ध और उनके समकालीन जैनियों के अंतिम तीर्थंकर महावीर-द्वारा यह पाठ (अहिंसा) पढ़ाया जा चुका था। भारतीय उन्हें महावीर कहते हैं-उन्हें वे भगवान्, मुक्त और स्वामी की भांति पूजते हैं।

प्राचीन ग्रन्थों में उनके जीवन-सम्बन्धी घटनाओं का विवरण अधिक नहीं मिलता ! क्याही अच्छा होता यदि प्राचीन-भारत के इस महान् पुरुष के विषय में अधिक विस्तार मिलता ! जितना भी मुझे उनके सम्बन्ध में ज्ञात हुवा है उसने मुझे अत्यन्त प्रभावित किया है। उनका जीवन अनुपम सौंदर्य और अनुपम निर्मलता पूर्ण था।

जैन गजट के एक अंग्रेजी लेख से अनुदित
वर्ष ११ अंक ६

(५)

राधा स्वामी महर्षि शिवव्रतलालजी एम. ए. एल. एल. डी.

(१)

'जैन' शब्द संस्कृत धातु 'जिन' (जीतने) से निकलता है, मेरी समझ में इस लिए यह संसार का अति उत्तम और सब से प्राचीन मत है; जिसने मनुष्य मात्र को सूचित किया कि उस के जीवन का उद्देश्य क्या है ? और क्या होना चाहिये ? उसके नाम ही से साधारण रीति से विदित है कि मनुष्य का कर्तव्य केवल जीतना है—जय प्राप्त करना है और किसी पदार्थ को अपने वशीभूत बनाना है । यहां रुक कर सोचना पड़ता है कि किस वस्तु को जीतना है और किस पर विजय पाना है ? वह क्या है और उस पर विजय पाने का उपाय क्या है ? इन्हीं प्रश्नों पर मेरे अपने निज मतानुसार जैन धर्म की नींव पड़ी होगी । यदि ऐसा न होता तो इसका यह नाम कदापि न पड़ता ।

विजय प्राप्त करना वीर का काम है। वीर साधारण मनुष्य नहीं होते, किन्तु वह असाधारण होते हैं । और इस दृष्टि से इन विजय करने वाले वीरों के मुख्य आचार्य वीरों में वीर महामुनि स्वामी महावीर जी हुये हैं । यथा नाम तथा गुण । जैसा नाम था वैसा काम भी था । महावीरजी का दूसरा नाम वर्धमान था, वह संस्कृत धातु 'वृद्धि' (बढ़ने) से निकला है जो बढ़ता हो—जिसे यह कीर्ति प्राप्त हुई हो—जो जीवन के तमाम तीर्थों अथवा मन्जिलों को लांघ कर तीर्थङ्कर बना हो, वह वर्धमान है । 'मान' शब्द संस्कृत धातु 'मा' (मापने) से निकलता है अर्थात् जिसने वृद्धि की माप तोल करली है और माप तोल करते हुए जिसने उसे अपने आधीन कर लिया है । मेरी समझ में केवल वही पुरुष वर्द्धमान कहा जा सक्ता है । जैन धर्म का चौबीस वां तीर्थङ्कर इस मत के अनुसार मुख्य और अनुपम आचार्य है । इससे पहले तेईस तीर्थङ्कर हुवे हैं-मुझे उनसे कोई प्रयोजन नहीं है । प्रयोजन केवल वर्द्धमान महावीर से है । यह महा पुरुष निर्ग्रन्थी अथवा निर्ग्रंथ था । इसकी शिक्षा किसी ग्रन्थ में नहीं लिखी गई

थी। किन्तु इसने जन्म जन्मान्तर की सिद्धियों से जो अवस्था अपने अनुभव से प्राप्त की, केवल उसी की शिक्षा दी है। एक अर्थ निर्ग्रन्थ होने का यह है। दूसर अर्थ यह है कि वह ग्रन्थि बद्ध नहीं था। उसने तमाम बन्धनों को तोड़ दिया था। शुद्ध था, मुक्त था और जीते जी उसने निर्वाण (कैवल्य) पद की प्राप्ति करली थी ! इस लिये उसकी शिक्षा आप्तऋषि के शब्द के रूप में स्वीकृत और प्रमाणिक है। जो मुक्त है, वही मुक्ति दे सक्ता है। जो बद्ध है उससे मुक्ति की आशा रखना भूल और चूक है। पुस्तकों को पढ़ कर शिक्षा देना साधारण मनुष्यों का कर्तव्य तो हो सकता है, परन्तु वह उतनी प्रभावशाली नहीं हो सक्ती ! प्रभावशाली विशेष कर अनुभवी पुरुषों ही की शिक्षा होती है। ग्रन्थि बद्ध पुरुष ग्रन्थों के बन्धन में फँसे हुए उन्हीं के प्रमाणों के खूंटे से बंधे रहते हैं। जब तक वह निर्ग्रन्थ और अनुभवी नहीं तब तक संसार उन को जैसा चाहे वैसा माने उसे अख्तयार है। मैं तो केवल ऐसे गुरु का सेवक हूं जो अनुभवी और सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की झलकती हुई मूर्ति हो !

जैन धर्म सिद्धान्त नामक पुस्तक से

—❀—

(२)

(१) "गए दोनों जहान नज़र से गुज़र तेरे हुस्न का कोई बशर न मिला।"

(२) ये जैनियों के आचार्य गुरू थे। पाकदिल, पाक खयाल, मुजस्सिम पाकी व पाकीज़गी थे। हम इनके नाम पर इनके काम पर और इनकी बेनज़ीर नफ़्स कुशी व रिआज़त की मिसाल पर, जिस क़दर नाज़ (अभिमान) करें बजा (योग्य) है।

(३) हिन्दुओ ! अपने इन बुजुर्गों की इज़त करना सीखो ....तुम इनके गुणों को देखो, उनकी पवित्र सूरतों का दर्शन करो, उनके भावों को प्यार की निगाह से देखो, यह धर्म कर्म की झलकती हुई चमकती दमकती मूर्तें हैं .... उनका दिल विशाल था, वह एक बेपायकिनार समन्दर था जिसमें मनुष्य प्रेमकी लहरें ज़ोर शोर से उठती रहती थीं और सिर्फ मनुष्य ही क्यों उन्होंने संसार के प्राणीमात्र की भलाई के लिए सब को त्याग किया, जानदारों का खून बहाना रोकने के लिए अपनी जिन्दगी का खून कर दिया। यह अहिंसा की परम ज्योति वाली मूर्तियां हैं। वेदों की श्रुति "अहिंसा परमोधर्मः" कुछ

इन्हीं पवित्र महान् पुरुषों के जीवन में असली सूरत इख्तियार करती हुई नजर आती है।

ये दुनियां के ज़बरदस्त रिफार्मर जबरदस्त उपकारी और बड़े ऊँचे दर्जे के उपदेशक और प्रचारक हो गुजरे हैं। यह हमारी कौमी तवारीख(इतिहास)के कीमती (बहुमूल्य) रत्न हैं। तुम कहाँ और किन में धर्मात्मा प्राणियों को खोज करते हो इन्हीं को देखो, इनसे बहतर (उत्तम) साहबे कमाल तुमको और कहाँ मिलेंगे। इनमें त्याग था, इनमें वैराग्य था, इनमें धर्म्म का कमाल था, यह इन्सानी कमजोरियों से बहुत ही ऊंचे थे। इनका खिताब " जिन " है, जिन्हों ने मोहमाया को और मन और काया को जीत लिया था, यह तीर्थंकर हैं, इनमें बनावट नहीं थी, दिखावट नहीं थी, जो बात थी साफ साफ थी। ये वह लासानी (अनोपम) शख्सीयतें हो गुजरी हैं जिनको जिस्मानी कमज़ोरियों व ऐबों के छिपाने के लिए किसी ज़ाहिरी पोशाक की जरूरत लाहक नहीं हुई। क्यों कि उन्हों ने तप कर के, जप करके, योगका साधन करके, अपने आपको मुकम्मिल और पूर्ण बना लिया था....इत्यादि....इत्यादि–

जैन धर्म के विषय में,
अजैन विद्वानों की सम्मतियाँ–

(६)

पण्डित माधवाचार्य्य रिसर्च स्कॉलर

भगवान् ऋषभ देव ने सुख प्राप्ति का जो रास्ता बताया था वह हिंसा आदि भयंकर पापों के सघन तिमिर में अदृष्ट सा हो गया। उस के शोधन के लिये अहिंसा धर्म के अवतार भगवान् महावीर स्वामी का आविर्भाव हुआ जिन्हें जैन लोग श्री वर्धमान प्रभु कह कर श्रद्धांजलि समर्पित करते रहते हैं।

महावीर स्वामी के उपदेशों को सूत्रों के रूप में ग्रथित करने वाले आचार्यों ने महावीर स्वामी के अवतरित होने का प्रयोजन बताया है कि, " सव्व जगा रक्खाण दयाट्ठयाए पवयणं सुकहियं भगवया "—भगवान् महावीर स्वामी ने व्यथित जीवों के करुण-क्रन्दन से करुणाद्रवित्त हो कर सब दुखी जीवों की

रक्षा रूप दया के लिये सार्वजनिक उपदेश देना प्रारम्भ किया था।

जैन धर्म के परीक्षकों ने जैसा पदार्थ के सूक्ष्म तत्व का विचार किया है उसे देख कर आज काल के फिलासफर बड़े विस्मय में पड़ जाते हैं। वे कहते हैं, कि महावीर स्वामी आज कल की साइंस के सब से पहले जन्म--दाता थे। जैन धर्म की समीक्षा करती वार कई एक प्रोफेसरों ने ऐसा ही कहा है। महावीर स्वामी ने गोशाला जैसे विपरीत व्यक्तियों को भी उपदेश दे कर हिंसा का काफी निवारण किया।

अनेकान्त सं. १९८६ पृ. १७२-३
भारतीय दर्शन शास्त्र शीर्षक लेख पर से

(७)

श्री विजय राघवाचार्य

(१) श्री महावीर स्वामी बड़े भारी विचारक तीर्थंकरों में से आखरी थे।

(२) प्राचीन भारत के निर्माता पुरुषों में श्री महावीर स्वामी एक थे। उस समय जीवन के सर्वोच्च विषयों पर विचार किया जाता था और मानव लाभ के लिए सिद्धान्त बताए जाते थे। उन सिद्धान्तों पर वर्तमान समय के सभ्य देशों का ध्यान आकर्षित हुआ।

जैन धर्म के विषय में अजैन विद्वानों
की सम्मतियं भाग २ से

(८)

बौद्ध धर्मानुयायी धर्मानंद कोसंबी

महावीर ने बारह वर्ष के तप और त्याग के पीछे अहिंसा का खूब संदेश दिया। उस समय देश में खूब हिंसा होती थी हर एक घर में यज्ञ होता था अगर उन्हों ने अहिंसा का संदेश न दिया होता तो आज हिन्दुस्थान में अहिंसा का नाम भी न लिया जाता।

"सुघोषा" सं० १९८४—५ के आश्विन
कार्तिक मास के पत्र से अनूदित

(६)

अनेस्ट लायमेन जर्मनी

वीर महान् तपस्वी थे। उन्होंने कीर्ति और लौकिक लाभ को छोड़ कर मोक्ष प्राप्ति के लिये महान तपस्या की थी। उस तपस्या में वे सफल हुए और उसके आधार पर उन्होंने अपने धर्म की पुनः रचना की। उनके नैतिक और धार्मिक प्रयत्नों का आधार तपस्या था। उन्हें सांसारिक प्रलोभनों और शारीरिक बंधनों से मुक्त होना था। इससे उन्होंने विनय, सदाचार आदि नैतिक और मानव धर्म को भी आत्म संयम, आत्म भोग, आत्मशासन आत्म त्याग की प्राप्ति के साधन रूप उपदेश किया था।

× × × ×

अहिंसा के विषय में दोनों की (बुद्ध और महावीर) आज्ञाएँ समान हैं। परन्तु उनकी भावनाओं में अंतर है। श्री महावीर की भावना जीव रक्षण की है इस लिए सभी जीव समान है इस प्रकार सृष्ट जगत से सम्बन्ध जोड़ कर पांच महाव्रत का उपदेश करते हैं। बुद्ध आत्मभोग के आधार रूप दया और सहानुभूति की भावना को सम्बन्धित कर दुःख का उपदेश करते हैं। इस प्रकार महावीर की अहिंसा बुद्ध की अहिंसा से आगे बढ़ जाती है। वे समस्त प्रकृति में जीव का आरोपण कर के उस की रक्षा का आदेश करते हैं। मनुष्य, पशु आदि जीव, पृथ्वी, जल, अग्नी, वायु और वनस्पति के जीवों की रक्षा के उपरांत वे समस्त अजीव पदार्थों का भी आवश्यकतानुसार ही उपयोग करने का आदेश करते हैं।

महावीर अलौकिक पुरुष थे। प्रबल विचारक, महान् तपस्वी और सहन शील होने के उपरांत वे सांसारिक बंधनों में बांध रखने वाले कर्म सिद्धान्त के रचयिता (बताने वाले) थे। वे तपस्वियों में आदर्श, विचारकों में महान, आत्म विकास में अग्रसर दर्शनकार और उस समय की प्रचलित सभी विद्याओं में पारङ्गम थे। उन्होंने अपनी तपस्या के बल से उन विद्याओं को रचनात्मक रूप देकर जन–समूह के समक्ष उपस्थित किया था पांच द्रव्य (धर्मास्तिकाय, Fulcrum of motion अधर्मास्तिकाय Fulcrum of Stationariness, आकाश space, पुद्गल matter और जीव Atman) और उनका स्वरूप, तत्वविद्या (ontology सात नर्क, पृथ्वी और नक्षत्र प्रदेश, बारह देवलोक, नौ ग्रैवेयक, पांच अनुत्तर विमान आदि ३३ माल के प्रदेश रूप विश्व विद्या Kosomo-

logy, दृश्य और अदृश्य जीवों की स्वरूप रूप जीव विद्या Biology, चैतन्य रूप आत्मा का उत्तरोत्तर अध्यात्मिक विकास स्वरूप मानस शास्त्र Psychology, आदि विद्याओं को उन्होंने रचनात्मक रूप दे कर जनता के समक्ष उपस्थित किया। उन्होंने परिधि और व्यास के सम्बन्ध (व्यास १० वर्ग मूल=परिधि) नियम का आविष्कार किया जो आधुनिक ३ १/७ के बराबर है। यह आविष्कार उनके आगाध चिंतन का फल था जो उनके जैसे महान् विचारक को ही शोभित होता है। उन्होंने तपस्वी जीवन के लिये नियमों की, तथा दर्शन शास्त्र की रचना की। इस प्रकार वीर केवल साधु अथवा तपस्वी ही नहीं थे बल्कि वे प्रकृति के अभ्यासक थे और उन्होंने विद्वता पूर्ण निर्णय दे कर वस्तु स्थिति का विचार अपनी साधु भावना के साथ जोड़ दिया था उन्होंने अनेक कल्पना चलाने वाले विद्वानों को भी अपने निर्णयात्मक और व्यवस्थित विचारों से आश्चर्य चकित कर दिया।

'बुद्ध और महावीर' शीर्षक लेख से
'जैन युग' गुजराती अनुवाद से अनूदित
अंक ८ पुस्तक १

(१०)

मिस सुभद्रा देवी*(मिए शार्लोटे क्राउजे) Ph. D. प्रो. प्रोफेसर लीपज़िग युनिवर्सिटी जर्मनी.

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये जैन मुनि के परमव्रत हैं और यही धर्म का मूल है। चोर को सभी देशों में सजा मिलती है। इन मोटे नियमों के बिना इस संसार में कोई धर्म नहीं। देवताओं के पास बकरे मार कर बलि देने वाले इतना भी नहीं समझते कि माता अपने बच्चों का ही भोग कैसे मांगती है ? माता मद्य मांस नहीं मांगती। परन्तु ऐसे कार्यों में मनुष्य का लोभ और स्वार्थ ही समाया हुआ होता है। त्याग ही एक पवित्र नियम है यही कल्याणकारी है। स्वार्थ में कल्याण नहीं। क्राइस्ट कहते हैं कि ' सुई के नाके में से ऊंट का निकलना संभव हो सकता है परन्तु परिग्रह वाला नहीं चल सकता। परिग्रह चिंता का मूल है तो फिर उसमें आत्मकल्याण होना संभव होसकता है ? स्त्री, बच्चे अथवा शत्रु पर प्रेम मोह नहीं। प्रेम में मनपर अधिकार रखना ही वास्तविक तत्व है। इस प्रकार विचार करने पर ज्ञात होगा कि सारी सृष्टि साम्राज्य का सम्राट् जैन धर्म है। किसी परमात्मा को पृथ्वी के पालन करने

* नोट—जैनधर्म से आकर्षित होकर आप ने जैन धर्म को स्वीकार कर लिया है।

की चिंता है तो किसी को उसके संहार की। परन्तु जिनप्रभु (महावीर) तो वीतराग हैं और वेही सम्राट् हैं। उनकी किसी से मित्रता अथवा तो शत्रुता नहीं वे तो केवल ज्ञान और सत्यानंद में ही लीन हैं। जैनधर्म के तत्वों की परीक्षा करने पर उसमें विश्व-धर्म की विशेषताएं भरी पड़ी मिलेंगी। पांच नियम प्रत्येक धर्म में माने गए हैं परन्तु जैनधर्म में उनकी योजना अति न्यायपूर्वक की गई है। मेरे देश में जब मैं थी तब इस धर्म के तत्वों पर विचार करती थी कि क्या इन सभी नियमों का हिन्दुस्तान के जैनों-द्वारा नियम पूर्वक पालन किया जाता होगा ? परन्तु हिन्दुस्तान में आने पर मैंने उनका पालन भली प्रकार से होता देखा। पूर्व समय में इस देश में जैनों की संख्या अधिक थी परन्तु इस समय उनकी संख्या घटरही है फिर भी जैनधर्म उसी प्रकार जीवित है। यदि जैनधर्म को विश्वधर्म होने का अवसर मिले तो हिंसा मद्य-मांस सेवन विश्वसे विलीन हो सकते हैं।

सुघोषा पुस्तक २ अंक ६

(११)

प्रसिद्ध ऐतिहासिक श्रीयुक्त जोहरी एम. ए. (१८ भाषा)

प्रोफेसर इतिहास क्रिश्चियन कालेज इन्दौर

जिस समय भगवान् महावीर उत्पन्न हुए थे उस समय उनकी आवश्यकता थी। क्योंकि उस समय हिंसा बहुत थी जो कि कृषि प्रधान देशके-भारत के लिए हानि कारक है तथा राजाओं में परस्पर युद्ध भी बहुत होते थे। वर्धमान स्वामी ने इनको दूर करने का प्रयत्न किया। मनुष्य को प्रधानता दी अर्थात् बिना मनुष्य हुए कोई प्राणी मोक्ष नहीं जा सकता। महावीर का यह कहना बहुत उचित है हमारे क्राइस्ट को भी मोक्ष जाने के पहले मनुष्य होना पड़ा था।

(१२)

हेम्बर्ग युनिवर्सिटी के संस्कृत प्रोफेसर डा. वाल्टर शुब्रिंग

संसार सागर में डूबते हुए मानव इसका जवाब श्री महावीर ने खरे प्राणियों ने अपने उद्धार के लिये पुकारा उद्धार का मार्ग बतला कर दिया।

दुनियां में एक्य और शान्ति चाहने वालों का लक्ष श्री महावीर की उदत्त शिक्षामय तरफ गये बिना नहीं रह सकता।

जैन धर्म के विषय में अजैन विद्वानों की सम्मतियां भाग दूसरे पर से

(१३)

From 'Vir'

THE MESSAGE OF MAHAVIR

(by Dr. Albert Paggi-Genova-Italy)

And when the material outer world exists no more for the man who has followed His doctrine, he still learns from him how to get rid of his own body, to conquer it, getting by so doing, over the last barrier Separating his Soul from happiness.

The Soul is the only treasure man possesses, and to man MAHAVIR allots his duty, which consists of in getting rid of his inpurities in order that he may shine of his own light in the universe.

बाह्य जड़ जगत से विच्छेद कर लेने पर उसका (महावीर) का अनुयायी उसके आदेशानुसार चल कर अपने आत्मा को भी शरीर से, जो कि परम सुख की प्राप्ति में अंतिम बाधा रूप रह जाता है-मुक्त होना सीखता, उस पर विजय प्राप्त करना सीखता है।

मनुष्य के पास 'आत्मा' ही धन है। महावीर मनुष्य को अपना कर्तव्य बतलाते हैं कि वह आत्माको अपवित्रताओंसे मुक्त करे ताकि वह सृष्टि में अपने ही प्रकाश से प्रकाशित हो जाय।

whilst Buddha takes no interest about the body, and Simply ignores flesh, MAHAVIR felt how great hindranee to bliss is the body. The body is a material thing, it is the place where the Soul is kept in captivity, it is the receptacle of all physical, materialistic impressions, it is the synthesis of the worldly nature, and such it is 'the enemy of the Soul.'

\+ + +

A real conqueror is the man that having withstood all pains and sorrows has got over them, and take with him high up, above all worldly miseries, pure, and unsoiled his most precious treasure.........Soul

बुद्ध शरीर के विषय में उदासीन रहकर मांस निषेध का उपदेश करते हैं जब महावीर ने ज्ञातकिया कि यह शरीर ही मोक्ष प्राप्ति में कितना बाधक है। शरीर जड़ पदार्थ है यह आत्माको बंधन में बांध रखता है, यही जड़ता और प्रकृति का ग्राह्य पात्र है यही सांसारिक जड़ पदार्थों का योग करता है और

इसी कारण यह आत्मा का शत्रु है।

× + ×

वह वास्तविक 'विजयी' पुरुष है जिस ने दुःख और शोक पर विजय प्राप्त की है। और जिसने सांसारिक सभी वेदनाओं, दुःखों से मुक्त हो निर्मल और पवित्र आत्मा रूपी अमूल्य धन को प्राप्त करलिया है।

Vardhman set Straightly the solution of the problem, polarizating, impersonating in Himself, very sensible Creature the spontaneous genuine tendencies of the soul and its Capital needs. The Religion so modified became the religion of absolute coherence, the most precise, straight, perfect doctrine.

वर्धमान् ने आत्मा की स्वभाविक एवं निर्मल प्रवृत्तियों और उसकी आत्यंतिक आवश्यकता (मुक्ति) की समस्या का स्वतः भेद-विज्ञान तथा अनुभव द्वारा पूर्ण समाधान किया। और उस समाधान से एक ऐसे धर्म का जन्म हुआ जो पूर्ण सम्बद्ध वास्तविक सरल था और जिसके सिद्धान्त परिपूर्ण थे।

महावीर का संदेश ('वीर' से)

(१४)

From 'Vir'

MAHAVIR THE WORLD & SPIRITUAL POWER

[by P. Joseph Mary A B S., B D N N. Germany]

But then Came mahavir, with His Ideal teachings, which is the strongest spiritual reactionary against this materialistic Creed & ethic He has proved through His life that there exists a spiritual power-Stronger than the strongest material power, He did prove that soul is not the slave of body, that mind is Stronger than flesh, that command the bondages of nature Therefore He is called the Nigg-antha:- the liberated from the bonds of passions & existences. He conquered not only the outer world, but He Conquered Himself, His purush, jiva or Atman was prevailing over prakriti. And so He reached the State of 'Ajitats-antim,' the real place. He was in the 'keval' and became the 'kevalin' the conqueror of the real world through His spirituality. And to His Gyan, he brought the Dharm of the Ahinsa the great ethic of the Jainism; 'Live

and let live and help others to live'. Perhaps the whole of India owes to Mahavir this essential ethic, which is in one sense is superior to the 'thou shalt not kill' of the Christian world, in so far as *it only forbids the killing of* man but of life- jiva-be it of the animal or of the plant life.through his Gyan and the creed of Ahinsa Mahavira destroyed the world of this mahrialistic creed & ettic in a way that we may call him a Superman of the finest kind.

\+ × +

We claim for him the verses of the German thinker Herder–

He's hero the conqueror of Battle fields,

He's hero the conqueror in Lion hunting !

But he's hero of heroes, the conqueror of himself.

महावीर का आविर्भाव हुआ जिन्होंने अपने आदर्श उपदेशों द्वारा अनात्मवाद का सबसे अधिक और पूर्ण रूपेण खंडन किया, उन्हों ने अपने जीवन द्वारा सिद्ध करदिया कि जड़ शक्ति से भी शक्तिमान एक शक्ति है वह है आध्यात्मशक्ति । उन्हों ने सिद्ध कर दिया कि आत्मा शरीर का दास नहीं है, उन्हों ने सिद्ध करदिया कि ज्ञान, बल से अधिक शक्तिमान है–मनुष्य प्रकृति की बेड़ियों को तोड़ सकता है । उसपर शासन कर सकता है । इसी लिए वे निर्ग्रंथ अर्थात् मोह रहित व जीवन्मुक्त कहलाते हैं । उन्हों ने केवल बाह्य जगत परही विजय प्राप्त नहीं की, बल्कि उन्हों ने अपने आप पर भी विजय प्राप्त करली-उनका पुरुष–जीव अर्थात् आत्मा प्रकृति पर विजयी हो चुका था । और इसी प्रकार वे '*Ajitatasantın*' अर्थात् परम शांति को प्राप्त हुए । उन्हों ने केवल ज्ञान प्राप्त किया अर्थात् आध्यात्म-शक्ति द्वारा जगत को जीत लिया । अपने ज्ञान द्वारा उन्हों ने जैनधर्म के मुख्य सिद्धान्त 'अहिंसा'—'स्वयं जीवित रहो और अन्य को जीवित रहने दो तथा उन्हें जीवित रहने में सहायता दो' का उपदेश किया, इस सिद्धान्त के लिए सारा भारतवर्ष महावीर का ऋणि है । यह सिद्धान्त ईसाई–संसार के 'Thou Shalt not kill' अर्थात् तूं हिंसा न कर' से कहीं उच्च है (उस अवस्था तक जबकि इसका अर्थ मनुष्य–की हत्या न करने तक ही लिया जाता है) अपने ज्ञान और अहिंसा–सिद्धान्त द्वारा महावीर ने जड़–अनात्मवाद का इस प्रकार नाश किया कि हम उन्हें संसार का सर्वश्रेष्ट अथवा शिरोमणि कहसकते हैं, जर्मन के एक प्रसिद्ध विचारक Herder के कथनानुसार महावीर सर्व श्रेष्ठ वीर हैं उसका कथन है कि—

'वह वीर है जो रण क्षेत्रों में विजय प्राप्त है,
'वह वीर है जो सिंहों के शिकार कर चुका है
'परन्तु वह वीर शिरोमणि है ,
जो अपनी आत्मापर विजय प्राप्त करता है ।

'वीर' से

(१५)

From 'Vir'

THE MESSAGE OF MAHAVIR & KRISHNA

[by Harisatya Bhattacharya M. A., B. L.]

Vira was the fore most of the Jains of His age and had the softest & the most compassionate heart. He saw around Him a whole world of creatures, suffering & struggling. His vision went beyond the near and the present and He was mortified to see, how in all ages & all places, to suffer was the doleful lot of mortals. Much as He sought His own liberation, We could not be content unless something was done for these unfortunate fellowcreatures. Accordingly, He declared that Duty of man consists of in the strict observance of Ahinsa.

वीर अपने समय के सबसे महान् दयाशील एवं कोमल हृदय जैन थे उन्हों ने अपने चारों ओर सांसारिक जीवों को दुखी एवं पीड़ित देखा। उनकी दृष्टि वर्तमान् से परे पहुंची और यह जानकर-कि मर्त्य (जीव) प्रत्येक आयु व स्थान पर कितने दुख का भागी है-बड़ी वेदना हुई। उन्हों ने अपनी मुक्ति के सतत् प्रयत्न के साथ इन अभागे जीवों के उद्धार के लिये भी मार्ग निकाला परिणामतः उन्हों ने प्राणियों को आदेश किया कि मनुष्य कर्तव्य शुद्ध अहिंसा का पालन करना है।

'वीर' से

(१६)

आयुर्वेदाचार्य प्रोफेसर श्रीचतुरसेनजी शास्त्री

भगवान महावीर

जैन धर्म के ये अन्तिम तीर्थंकर-धर्म--प्रवर्तक--थे। वर्तमान 'वीर-शासन' इन्हीं के नाम पर प्रचलित है। भगवान् महावीर को हुए आज लग भग २४५० वर्ष हो गये। इनके समय भारत की स्थिति बड़ी बुरी थी। वैदिकी हिंसाने

पवित्र आर्य भूमि पर खून की नदियां बहा दी थी। प्रति दिन हजारों मूक पशुओंका धर्म के नाम पर बलिदान होता था। जाति-भेद और नीच ऊंच के भेद भावने लोगों के हृदय घृणासे भर दिये थे। धर्मकी ठेकेदारी उन दिनों एक खास जाति ही के हाथों में थी। मनुष्य जाति के एक विशिष्ट भाग को अछूत कह कर उसने अपने से जुदा कर दिया था। वे कुत्तों की तरह अपने ही भाइयों द्वारा दुर्दुराये जाते थे। क्या सामाजिक और क्या धार्मिक दोनों प्रकारों के अत्याचारों की उन दिनों सीमा न थी। और यह सब होता था पवित्र धर्म के नाम पर! उस समय एक ऐसी महान् शक्ति के अवतीर्ण होने की अत्यन्त आवश्यकता थी जो इन सारी विषमताओं को जड़ मूल से उखाड़ कर फेंक दे। सारी मनुष्य जातिके लिए समान-रूप से धर्म का द्वार खोल दे और भाई-भाई को गले से गले लगा कर राक्षसी छूआ-छूत के भाव को नष्ट कर दे। वही हुआ। भगवान् महावीर धरा-धाम पर इसी महान् कार्य के लिये अवतीर्ण हुए। लोगों के हृदय में उन्होंने प्रेम-जल सींचना आरंभ किया। प्रेमके महामहिम सिद्धान्त को सामने रख कर इन धार्मिक और सामाजिक अत्याचारों का उन्होंने बड़े जोरों पर विरोध किया। उनके इस विरोध में द्वेष को तनिक भी जगह न थी। वह बड़ा शान्त और प्रेम की नींव पर स्थित था। सत्य का उस में इतना आग्रह था कि लोग जो कि धर्म के नाम पर मर मिटने को तैयार रहते थे, इनके विरोध से पाप-पथका परित्याग कर इनके दिव्य, उज्वल 'अहिंसा-धर्म' के झंडे के नीचे आ जाते थे भगवान् महावीर ने इस सत्याग्रह में संसार के साथ जो अपूर्व विजय लाभ की-उसका परिणाम यह हुआ कि सारी ब्राह्मण जाति पर अहिंसा-धर्म की अमिट छाप बैठ गई। और वह आज तक अपना बहुत कुछ प्रभाव बनाये हुए हैं। महाकवि रवीन्द्र नाथ टागोरने भगवान् महावीर की इस विजय पर इन शब्दों में लिखा है कि-"महावीर ने भारत में ऐसा संदेश फैलाया-कि धर्म केवल सामाजिक रूढ़ि नहीं, किंतु वास्तविक सत्य है। मोक्ष बाहिरी क्रिया कांड के पालने से नहीं, किन्तु सत्य धर्म का आश्रय लेनेसे मिलता है। धर्म में मनुष्य के प्रति कोई स्थायी भेद भाव नहीं रह सकता। कहते हुए आश्चर्य होता है कि महावीर की इस शिक्षा ने समाज के हृदय में जड़ जमा कर बैठी हुई इस भेद-भावना को बहुत शीघ्र-नष्ट कर दिया और सारे देशको अपने वश कर लिया। और अब इन क्षत्रिय उपदेशक के प्रभाव ने ब्राह्मणों की सत्ता-को पूर्ण रूपसे दबा दिया है।"

यह तो महावीर भगवान के सामाजिक सत्याग्रहका उत्कृष्ट उदाहरण है। अब उनके व्यक्तिगत सत्याग्रह की एक खास घटना का उल्लेख करते हैं। वे छोटी ही अवस्था में योग धारण कर पृथ्वी परके सामाजिक और धार्मिक अत्याचारों को नष्ट करदेने के लिए देश में सब ओर विहार करने लगे। लोगों को प्रेम और शान्तिका उपदेश देकर सत्पथ पर लाने लगे। एक दिन भगवान् एक बन में तपश्चर्या कर रहे थे। उनकी परम शान्त मुद्रा अलौकिक दिव्य तेज से प्रकाशित हो रही थी। नासादृष्टि लगाये प्रभु आत्माराधन में लीन थे। इसी समय एक ग्वाला अपने बैलों को चराता हुआ इधर आ निकला वहां उसने महावीर को देखा। अपने बैलों को वह वहीं महावीर के भरोसे छोड़ कर किसी कामके लिए घर चला गया। थोड़ी देर बाद जब वह वापस लौटा तो देखता क्या है कि वहां पर बैल नहीं हैं। वे चरते चरते कुछ दूर निकल गये थे और उसे दिखाई नहीं पड़ते थे। तब उसने महावीर से पूछा कि मेरे बैल कहां गये? ध्यानी प्रभुने उसकी बातका कोई उत्तर नहीं दिया। इससे उसे बड़ी निराशा हुई। इसके बाद वह खुद उन्हें ढूंढने को चला। पर बैलों का उसे कुछ पता नहीं लगा। वह वापस महावीर के पास आया देखा तो वहां बैल खड़े हुए हैं। यह देख उसने सोचा कि यह सब इसीकी साजीश है। यह बड़ा ढोंगी है। इसकी नीयत अच्छी नहीं है। बैलों को-चुरा ले जाने के लिए ही इसने उन्हें इधर उधर करदिया था और मुझे चला गया देख कर बैलों को वापस ले आया है। इतना उसका सोचना था कि लगा वह महावीर की खबर लेने। उसने उन्हें हजारों गालियां दी, उनकी निन्दा की, उन्हें धिक्कारा और बाद अपनी कुल्हाड़ी उठा मारने दौड़ा। इसी समय इन्द्रने आकर उसे रोका और समझाया-भाई, ये तो महा तपस्वी योगी हैं। इन्हें तेरे बैलों की क्या जरूरत है। ये तो खुद ही एक राजा के लड़के हैं और अपनी विशाल राज सम्पदा को छोड़ कर संसार की भलाई के लिए योगी हो गये हैं। ग्वाला इन्द्र के वचनों से शान्त होकर अपने घर चला गया। इसके बाद इन्द्र ने प्रभु से प्रार्थना की कि भगवान्,

भविष्यति द्वादशाब्दा न्युपसर्गपरम्परा।
तां निषेधितुमिच्छामि, भूत्वाहं पारिपार्श्वकः

इसी तरह बारह वर्ष पर्यन्त एक के बाद एक घोर उपसर्ग आप पर होते रहेंगे। मैं आपका पारिपार्श्वक-शरीर रक्षक-होकर उन्हें निवारण करना चाहताहूं। इसके उत्तर में भगवान् ने जो उत्तर दिया वह उनके आत्म बल

की दृढ़ता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। और पराधीनता की गुलामी में फँसा-हुआ आज का भारत आत्मा में संजीवनी शक्ति फूंकने वाले उस महा मंत्र को हृदयंगम कर आचरण में ले आव तो उसे स्वाधीन होने में जरा भी देर न लगे। भगवान् ने बड़ी ओजस्वी भाषा में इन्द्र की बात का उत्तर दिया कि—

नापेक्षांचक्रिरेऽर्हन्तःपरसाहाय्यिकंक्वचित्।
नैतद्भूतं भवति वा भविष्यति जातुचित्।
यदर्हन्तोऽन्यसाहाय्यादर्जयन्तिहिकेवलम्।
केवलं केवलज्ञानं प्राप्नुवन्ति स्ववीर्यतः।
स्ववीर्येणैव गच्छन्ति जिनेन्द्राःपरमं पदम्।

अर्थात्—"अर्हन्त लोग कभी दूसरों की सहायताकी अपेक्षा नहीं करते। ऐसा न हुआ, न है और न होगा। जो अर्हन्त दूसरों की सहायता से केवल-ज्ञान लाभ करें। वे अपने आत्म बल से केवलज्ञान लाभ करते हैं और आत्म बलसे ही परम-पद को प्राप्त होते हैं।" आत्मा में स्वाधीनता की परम ज्योति प्रज्ज्वलित करने वाला कैसा दिव्य मंत्र है! स्वाधीनता की हद हो गई!

इसके बाद भगवान् ने बारह वर्ष तक घोरसे घोर उपसर्गों को परम धीरता परम शान्ति के साथ सहा और जीव मात्र के लिए परम कल्याण कारी 'अहिंसा-धर्म' का प्रचार किया। और अपने महान् सत्याग्रह के बल पर संसार के एक बहुत बड़े भागको वे 'दयाधर्म' के झंडे के नीचे ले आये।

'सत्याग्रह और असहयोग' नामक पुस्तक से

(१७)

श्रीयुत नंदलाल केदारनाथ दीक्षित

B. A. M. C. P.

(भूत पूर्व विद्याधिकारी बड़ोदरा राज्य)

प्राचीन जैनधर्म का उन्होंने पुनरुद्धार किया, ब्राह्मण धर्म में अहिंसा धर्म के तत्वों को प्रवेश का श्रेय महावीर स्वामी ही को है। गौतम बुद्ध भी अहिंसा के बड़े आग्रही थे परन्तु उन्होंने बहुधा तभू और भविष्य की चर्चा में न पड़कर वर्तमान स्थिति में सुधार करने का उपदेश दिया था। वर्तमान स्थिति में दुःखों का नाश कैसे हो—उस का उपदेश करते थे। उन के अनुयायी संसार में आज लगभग ४० करोड़ होंगे परन्तु उनके उपदेश कार्य रुप में परिणित हुए कहीं दृश्यमान

नहीं होते। चालीस करोड़ बौद्ध जनता का अधिकांश भाग मांस भक्षण में कोई बाधा नहीं मानता। इस के विरुद्ध महावीर के अनुयायी केवल मांस ही नहीं बल्कि कितनीही वनस्पतियोंको भी वर्जित समझ कर उनका भी उपयोग नहीं करते। गुजरात को अभिमान—गौरव है कि बौद्ध की अपेक्षा महावीर के अनुयायी अधिक अहिंसा व्रती हैं।

\+ + + +

महावीर स्वामी ने अहिंसा का सुंदर तत्त्व सिखाया और संसार को विश्व प्रेम का पाठ पढ़ाया। जैनधर्म में धर्म—भक्ति का मार्ग जितना सुंदर है उससे भी अधिक स्यादवाद का सिद्धान्त आकर्षक है। परन्तु उसके विषय में विवेचन करने का अभी समय नहीं। भगवान महावीर के उपदेशों का महत्त्व व्यवहार में अधिक है। अपने जीवन में उन का उपयोग करने की इसलिए आवश्यकता है कि उन्होंने कर्तव्य करके ही उन्नति प्राप्त करने का हमें पाठ दिया। उन्होंने ज्ञान अर्थात् प्रकाश के सनातन स्थान को प्राप्त किया—व्यवहार के सब बंधनों से वे मुक्त हुए।

\+ + + +

महावीर स्वामी ने वास्तविक-सत्य-शोधक तरीके प्राणीमात्र का महान् हित किया है, प्राणीमात्र की सेवाकर जनता का बड़ा उपकार किया है इसी कारण उनकी जयंति उत्सव में आज जैन तथा जैनेतर समाज भाग लेकर अपनी श्रद्धांजली अर्पण करते हैं। उन्होंने लोक कल्याण का सच्चा मार्ग बताया और उसी मार्ग में प्रयाण करना हमारा मुख्य कर्तव्य है।

(१८)

आर्य—मार्तण्ड—साप्ताहिक पत्र अजमेर के कार्तिक विदि ५ संवत् १९८० के अंक में "साहस की खोज" नामक लेख में छपे हुए वाक्यों में से उद्धृतः—

(१) जैनियों के तीर्थंकर महावीर स्वामी उन साहसी आत्माओं में से एक हैं कि जिन्होंने अपने धर्म और कर्तव्य को आगे रखकर असंभव को संभव कर दिखाया।

(२) महावीर की पवित्र आत्मा शान्ति और प्रेम की मशाल लेकर अन्धकार आच्छादित देश को उबारती है और सदैव के लिये "अहिंसा परमो धर्म" का ठप्पा हिन्दू धर्म पर लगा देती है।

(३) जिस पुरुष ने भय पर यहां तक विजय प्राप्त करली, कि शत्रु चम-चमाती हुई खड्ग लिये सामने शिर से

धड़ अलग करना चाहता है परन्तु शान्ति मुद्रा धारण किये हुए, स्वामी अपनी आंखों के कोमल पटल टमकारते तक नहीं, जिस के सामने साक्षात् इन्द्र नतशीर और कर बद्ध होकर प्रार्थना करता है कि भगवन् यह दास श्रीचरणों की सेवा में रह कर आप की रक्षा का भार अपने ऊपर लेकर कृत कृत्य होगा। और सदैव ऐसे विघ्न बाधाओं से रक्षा करेगा। परन्तु उत्तर पाता है "स्ववीर्येणैव गच्छन्ति जिनेन्द्रा परमं पदम्" अर्हत् अपने आत्मिक बल के भरोसे ही परम पद को प्राप्त करते हैं। उस महावीर के लिये अपना सिक्का हिन्दू जनता पर चिर काल के लिये जमाना कौन अचरज की बात है।

(१९)

भगवान् महावीर की शिक्षा

श्रीमति उत्कल भारत भूषण डा. कुन्तल कुमारी देवी

सब से पहले मैं बिना किसी संकोच के स्पष्टतया यह बतला देना चाहती हूँ कि मैं एक अजैन व्यक्ति हूँ परन्तु फिर भी भारतवर्ष के महान् नेता स्वामी महावीर के प्रति मेरे हृदय में भक्ति भाव की जो मात्रा है वह बढ़ी चढ़ी है।

संसार इस समय एक सत्यको—वस्तुतः एक महान् सत्य को—अनुभव करने के लिये जागृत हो रहा है, जिस के मूल तत्व (सिद्धान्त) भारत माता के हृदय में शताब्दियों से गुप्त पड़े हैं। लोगों को इन तत्वों के जानने और उन की विस्तृत व्याख्या करने का कोई बहुत बड़ा अवसर प्राप्त नहीं हुआ, उन्होंने इस के लिये न तो इच्छा ही की और न आवश्यक बलिदान—स्वार्थत्याग—ही किया। वे केवल इसे समय तथा शक्ति का दुरुपयोग ही समझते रहे परन्तु अब समय बदल गया है। संसार ने शताब्दियों के दुःख, कष्ट तथा विषयवासनाओं की पूर्ति—द्वारा हर्ष और आनन्द की निरर्थक चेष्टा के बाद महान् सत्य के उन सिद्धान्तों की ओर अपनी आँखें फेरली हैं, जिन पर सैकड़ों वर्ष हुए, वर्तमान वैज्ञानिक युग के

प्रारम्भ से पहले, आत्म-संयमी, सर्व संगत्यागी, दिव्यदृष्टि, सृष्टि में सर्वानन्दमयी, पूर्ण तथा स्वतंत्रात्मा, तीर्थंकर, महान् तथा सुकृती, श्रेष्ठ और दिव्य स्वामी महावीर ने आचरण और उपदेश किया था, और जो आज भी विज्ञान के सारभूत विषयों तथा मानवीय ज्ञान के साथ टक्कर लेने की वास्तविक शक्ति को लिये हुए हैं।

महान् सत्य के उन्हीं सार सिद्धान्तों पर आज कुछ विचार किया जाता है। वस्तुतः सत्य संसार की मूल वस्तु है, सत्य पर ही अखिल सृष्टि निर्भर है और सत्य ही हमारा अंतिम लक्ष्य है और वह सत्य है स्वात्मानुभव। यह स्वात्म-अनुभव, जिसे हजरत ईसा ने कहा है कि "Know thyself" "अपने आपको जानो" कदापि प्राप्त नहीं होगा जब तक कि हम उन महान् सिद्धान्तों का अनुष्ठान नहीं करेंगे जो कि संख्या में तीन हैं। इन में से पहला सिद्धान्त है अहिंसा, दूसरा है नश्वर वासनाओं का जीतना, और तीसरा है आत्मा का परमात्म पद को प्राप्त होना अथवा सिद्ध करना।

अब मैं इन तीनों को एक एक कर के लेती हूं:-

१ अहिंसा

अहिंसा के विषय में मैं कह सकती हूँ कि पृथ्वी-तल पर कोई भी धर्म ऐसा नहीं है जिसने अहिंसा का व्यवहार अथवा उसके व्यवहारका उपदेश ऐसी पूर्णता तथा उत्तमताके साथ किया हो जैसा कि जैनियों के धर्म (जैन धर्म) ने किया है। हम इस के साथ ही बौद्ध धर्म को देखते हैं जिसका सिद्धान्त इस विषय में वस्तुतः जैन धर्म के समान है. कदाचित् मनुष्य के अन्तिम लक्ष्य और कर्म-सिद्धान्त की अपेक्षा दोनों में थोड़ा भेद है; परन्तु क्या यह सत्यार्थ नहीं है कि बौद्ध धर्म अहिंसा में सत्य संनिहित है उस के व्यवहार की सीमा से दूर चला गया है? बौद्ध धर्म में यद्यपि सभी छोटे २ जीवों के लिये भी दया करने का विधान हैं किन्तु बौद्ध लोग इस नीति का उस प्रकार से अनुसरण नहीं करते जैसा कि जैन धर्म में इस का अनुष्ठान किया जाता है। सभी बौद्ध देशों में लोग मांस और मछली खाते हैं और इस प्रकार वे अहिंसा के वास्तविक आचार को दूषित करते हैं। परन्तु जैन धर्म में ऐसी विधि कहीं भी नहीं पाई जाती। यह विधि कैसे बन सकती है जब कि दूसरा ही पद नश्वर वासनाओं को जीतना है। यदि मनुष्य अपने सजातीय प्राणियों के मारने से अपने को नहीं रोक सकता तो वह नश्वर विषय-वासनाओं को क्यों कर जीतेगा? लोग जैनियों की हंसी उड़ाते हैं--कहते हैं कि ये अति को लिये हुए हैं,

ये निरर्थक घोर तपस्यायें करते हैं, ये नास्तिक हैं, ये हमारी तरह किसी एक नित्य परमात्मा पर श्रद्धा नहीं रखते। और ये ही ईश्वर को न मानने वाले लोग कहते हैं कि केवल एक खटमल को मारना भी पाप है। परन्तु मैं कहती हूं कि हां, यह वस्तुतः पाप है। जो मनुष्य एक छोटे से असहाय कीड़े को मरने में संकोच नहीं करते वे वस्तुतः एक दूसरे की घात करने में कोई संकोच नहीं कर सकते। इसी से तो ईश्वर के नाम पर हिंसा करते हैं- बलि चढ़ाते हैं, धर्म के नाम पर एक दूसरे का रक्त पात करते हैं। ईश्वर के नाम पर नगर के नगर उजाड़ दिए गए, बच्चों तथा स्त्रियों को घर-द्वार से विहीन और अनाथ कर दिया गया!-- असंख्य शताब्दियों में संसार के इतिहास में धर्म का आचार हिंसा के आधार पर होता रहा है और उस धर्म के व्याख्याताओं ने अपने परमात्मा को परम दयालु, विश्वप्रेमी तथा न्याय और कृपा का सातिशय अवतार बतलाया है!

ईसाई मत के सिद्धान्तों और वर्तमान ईसाई संसार के व्यवहार को देखिए! आपको अवश्य ऐसे स्वर्गीय ईश्वर से भेंट होगी जो समस्त साधारण पातकियों को दहकती हुई अग्नि में तथा गंधक के शाश्वत नरक में डालने के लिए सदैव क्रोधातुर रहता है ऐसे भय-संघर्षों में से अहिंसा अपना मधुर तथा कोमल मार्ग कैसे पा सकती है?

यदि संसार को स्थिर रखना है, यदि दुर्बल प्राणियों को सुरक्षित और सबल बनाना है तो अहिंसात्मक व्यवहार के अतिरिक्त दूसरा इसका और कोई उपाय नहीं है। अहिंसा संसार को पोषण करने वाली माता है। यही वास्तविक बल है। यही उन मनुष्यों का पराक्रम है जिनमें पाशविकता नहीं है। यही आत्मा की वास्तविक सामर्थ्य और शक्ति है।

अब आप जगन्मूर्ति महात्मा गांधी पर दृष्टि डालिए। वे किस शक्ति के आधार पर काम करते हैं, कौनसे मूल सिद्धान्त पर उन्हों ने अपने आपको और अपने हजारों अनुयायियों को प्राणोत्सर्ग के लिए शक्तिशाली बना लिया है? यह केवल अहिंसा है। इसी लिए मैं कहती हूं कि संसार इस महान् सत्य का अनुभव करने के लिए जाग उठा है कि शक्ति कदापि हिंसा में नहीं, किंतु वह अहिंसा में संनिहित है। अहिंसा मानवीय धर्म का सब से अधिक सुंदर और सब से अधिक दिव्य भाग है। बिना अहिंसा के कोई धर्म 'धर्म' ही नहीं हो सकता है और न बिना अहिंसा के कोई ऊंचा भाव ही बन सकता है। यह अहिंसा ही वास्तविक प्रेम है, यही

वास्तविक दया है, यही वास्तविक धर्म है।

२ नश्वर वासनाओं का विजय--

और इस धर्म पर आचरण करने के लिए हमें सैंकड़ों नश्वर वासनाओं तथा शारीरिक विषय लालसाओं का त्याग करना होता है। यही कारण है कि जैन धर्म इतना कठिन है और जो मनुष्य उसे प्राप्त करता है वह वास्तव में एक जैन है, एक वीर पुरुष है। इच्छाओं तथा इन्द्रिय-जनित आनन्द पर विजय प्राप्त करना कोई साधारण तथा सुगम कार्य नहीं है। यह एक बड़ा भयंकर युद्ध है और वही मनुष्य वास्तविक वीर-यथार्थ योद्धा है जो इस विषम कंटकाकीर्ण मार्ग में गमन करता है। संसार नाना प्रकार के प्रलोभनों से भरा हुआ है, इंद्रियाँ सर्वत्र आसक्ति शीलता को लिए हुए हैं-आंखें, कान, मनोवृत्तियाँ विषय सुखों का आस्वादन चाहती हैं, परन्तु एक जैनी, जो महावीर स्वामी की शिक्षाओं के सत्य का यथार्थ अनुगामी है, इन उन्मादिनी इच्छाओं का नियंत्रण करता है, क्यों?

३ परमात्म पद की प्राप्ति

यहीं से तीसरी अवस्था का आरंभ होजाता है। यह अवस्था परमात्म पद का प्राप्त करना है, यह अन्तरात्मा का अनुभवन है।

यदि एक मनुष्य अपने आपको संसार के क्षणवर्ती पदार्थों में भ्रष्ट करता है तो वह अपने शाश्वत लाभों को नष्ट कर देता है। बाह्य मिथ्या और अनन्तर सत्य तथा यथार्थ है। इसीमें आत्मा के आनन्द का वास है, और बाह्य पदार्थों में अकथनीय दुःख बंधन तथा प्रपञ्च भरे हुए हैं।

सर्वानन्दमय आत्मा को स्वतंत्र मुक्त करने के लिए जैन शास्त्र यह उपदेश देते हैं कि 'संसार से अलग हो जाओ, सर्वसंग का परित्याग करदो, शरीर से भी अनुराग मत रक्खो, विषयासक्ति को छोड़दो,-तभी तुम 'वीर' एवं 'जिन' होग।

वीर होना तथा विषयासक्ति पर विजय प्राप्त करना कैसा सुन्दर तथा सुहावना शब्दनाद है। किसी भी दूसरे धर्म में यह सिद्धान्त ऐसे समुचित रूप से तथा सुविचारता के साथ निरूपण नहीं किया गया है।

बौद्ध धर्म में हम यह उपदेश पाते हैं कि संसारी जीव-दुःखों से परिपूर्ण है और इन दुःखों से मुक्त होने का साधन अपनी इच्छाओं का निरोध अथवा नाश करना है और इच्छाओं के नाश का नाम ही निर्वाण है। परन्तु जैन धर्म एक दूसरे ही प्रकार से शिक्षा

देता है। वह कहता है "वीर बनो, जिन बनो और अपने सर्वानन्दमय स्वभावको प्राप्त करो।

तुम्हारा आत्मा आनन्द चाहता है, उत्कर्ष चाहता है। तुम्हारा उत्कर्ष भाव इस दुःखमय कारागार (शरीर) में रहते नहीं होगा, तुम परमात्मा हो। परमेश्वर से किसी प्रकार कम नहीं हो, तुम्हारे स्वाभाविक गुण पृथ्वी रज में नहीं पाये जाते। तुम इससे बहुत ऊंचे हो, तुम प्रताप सूर्य हो। ऐ मर्त्य मनुष्य! भय मत करो, तुम अविनाशी ईश्वर हो—शक्ति रूपसे परमात्मा हो—ये केवल तुम्हारे कर्म हैं जो तुम्हें पुद्गल के साथ बाँधे हुए हैं और वे भी तुम्हारे कर्म—सदाचार—ही होंगे जो तुम्हारी बेड़ियों को काट कर तुम्हें फिर से तुम्हारे सर्वानन्द मय स्वरूप का बोध करावेंगे।"

फिर कहिए! यह धर्म कैसे नास्तिक हो सकता है? परमात्मपद का प्राप्त करना ऐसा सिद्धान्त नहीं जिसका उपहास किया जाय। यह एक गहरे विचार का मामला है।

बहुतसे मनुष्यों ने अज्ञानवश जैनधर्म को अनीश्वर वादी एक प्रकार का नास्तिक—समझा है। परन्तु वास्तव में यह वैसा नहीं है। यह वर्तमान युग का नास्तिक नहीं है। यह योरोप का अनीश्वरवादी नहीं है। यह "खाना पीना और मौज उड़ाना" नहीं है, इस खयाल से कि हमें कल को मरना होगा और कौन जानता है कि मरने के बाद क्या होता है। यह ईश्वर विषय पर 'रेड रशिया वार' (रूसवालों के युद्ध) के साथ सादृश्य नहीं रखता। योरोप के नास्तिक सिद्धान्त में किसी प्रकार के ईश्वर को स्थान नहीं है। वह अनात्मवादी की भांति से ही अनीश्वरवादी है। वह प्रकृति पूजा का एकरूप है। वह शारीरिक सुखों को पुष्ट करने का एक मार्ग है। यही कारण है जो वर्तमान युग सदाचार (नीति) की भयंकर गिरावट—के कारण कष्ट पा रहा है। हमें भयानक अपराधों का, अवक्तव्य पतनों का और घृणा तथा क्रोध से संतप्त संसार की उन जातियों का वृतान्त सुनकर आश्चर्य होता है, जो बाह्य में तो शान्ति दिखाती है, अंतर्राष्ट्रीय सभाएँ स्थापित करती हैं परन्तु भीतर से उनके विचार मार—काट, लूट खसोट, प्रतिहिंसा और लोभ लालच से भरे हुए हैं। वे एक दूसरे की बढ़ती को नहीं देख सकतीं। वे एक मेज के मित्रों की तरह प्रच्छन्न शत्रु हैं जो गुप्त रूप से एक दूसरे का पतन और नाश चाहती हैं।

इन सब बातों के होने का कारण क्या है? उत्तर बहुत सरल है। यही कि मनुष्य ने अपनी नश्वर वासनाओं

को पुष्ट करने का विचार बहुत बढ़ा लिया है। गोबर के ढेर में पड़े हुए गुबरीले की भांति मनुष्य पतन करने वाली वस्तुओं में आनन्द मानता है उन्हें अपने विज्ञान की उत्तम प्राप्ति समझता है और इन तपस्या के आचारों की हँसी उड़ाता है—धार्मिक विचारों का उपहास करता है।

अब विज्ञान ने तो ईश्वर और आत्मा के प्रश्न को उठा दिया है, उसके लिए तो एकमात्र शरीर का ही प्रश्न अवशिष्ट रहगया है। परन्तु जैन धर्म उसकी इस बात से किसी तरह भी सहमत नहीं है।

हाँ, हम लोगों के लिए जो एक ईश्वर में श्रद्धा रखते हैं एक सर्वेश्वर व्यक्ति परमात्मा की अश्रद्धा से सम्बन्ध रखने वाली उसकी व्याख्याओं को मानना कठिन है। परन्तु एक ईश्वर के मानने वालों में जो परस्पर मतभेद विरोध—है उसे देखते हुए एक मनुष्य स्वभाव से ही ईश्वर के अस्तित्व विषय में मूढ़ हो जाता अथवा संदेह करने लगता है। उदाहरण के तौर पर संसार के वर्तमान ईश्वर वादी (आस्तिक) मतों को लीजिए। मुसलमानों का खुदा आर्यों के ईश्वर से भिन्न है और यहूदियों का परमात्मा हिन्दुओं के तथा ईसाइयों के भी ईश्वर से अधिक भिन्न है। इनधर्मों के अनुयायी सदा एक दूसरे से झगड़ा करते हैं। हमेशा के लिए एक दूसरे के धार्मिक विचारों को पाखण्ड बतलाते हैं—एक दूसरे के ईश्वर की निन्दा करते हैं। वे सदा अपने ही सिद्धान्तों को ठीक बतलाते और अपने धर्मशास्त्रों को ईश्वर प्रेषित प्रतिपादन करने का यत्न करते हैं। तथा साथ ही, वे अन्य धर्मों को क्षुद्र और असत्य ठहराना चाहते हैं। कहिए! ईश्वर अपने ही विरुद्ध कैसे खड़ा हो सकता है—बोलसकता—और आँख मिचौनी खेल सकता है? और फिर कैसे यह अविरुद्ध हो सकता है यहां तक कि एक सर्वशक्तिमान, सर्वानन्दमय, विश्व प्रेमी और परमदयालु परमात्मा ऐसे विश्व की सृष्टि करे जो दुखदर्दों तथा कष्टों से पूर्ण है? एक विचारशील के लिये यह बात बहुत ही खटकती है। ईश्वर इन दीन मर्त्य प्राणियों के कष्टों को जानते हुए भी व्यर्थ दुःख उठाने के लिए उनकी सृष्टि कैसे कर सकता है? यदि ईश्वर वास्तव में जगत का परमपिता होता तो क्या वह मर्त्य पिता से भी अधिक निर्दयता के साथ यह चाहता कि उसके बच्चे ये अनन्त कष्ट भोगें? यही कारण है कि प्रायः सभी ईश्वरवादी धर्मों में हमें दो ईश्वरों के अस्तित्व का सिद्धान्त दिखाई देता है, एक पापका ईश्वर और दूसरा पुण्य का ईश्वर है। दोनों समान शक्ति-

शाली हैं और बराबर एक दूसरे के साथ युद्ध करते हैं। और बेचारे दीन मनुष्य दोनों के निर्दय संग्राम में पीड़ जाते हैं। ईसाई मत में, मुसलमानी मजहब में यहूदी और पारसी धर्मों में ईश्वर और शैतान साथ साथ दिखाई पड़ते हैं। और इन एजंटों के द्वारा होने वाले विश्व के दृश्यों की व्याख्या करने के लिए बहुत से सिद्धान्त गढ़े गए हैं। परन्तु दुःख, मृत्यु और परलोक का प्रश्न अभी तक गहरे अन्धकार में ही पड़ा हुआ है—ये धर्म इस विषय में कुछ भी स्पष्ट नहीं बतलाते। यदि कहा जाय कि आत्मा अपने कर्मों के अनुसार दुःख भोगता है और ईश्वर इस में हस्तक्षेप करने के लिए असमर्थ है, वह केवल आत्मा के कष्ट भोग का साक्षी मात्र है तो क्या फिर ऐसे निर्बल और निःशक्त ईश्वर की उपेक्षा करना और अकेले कर्म पर ही भरोसा रखना अधिक युक्तियुक्त न होगा ?

यदि कोई मनुष्य अपने हाथ अग्नि में डाले तो वह अवश्य जल जायगा। हम जैसा बीज बोते हैं वैसा ही फल पाते हैं, शायद इसी युक्ति के आधार पर परमात्म पद—प्राप्ति के युद्ध में आत्मा को वीर बलिष्ठ बनाने के लिए जैन धर्म ने ईश्वर के प्रश्न को बिलकुल ही छोड़ दिया है।

चाहे कुछ भी हो हम लोग जो केवल ईश्वर में विश्वास रखते हैं अब भी इस विषय में मतभेद को लिए हुए हैं और एक अदृष्ट परमात्मा पर भरोसा करते हैं और अपनी समस्त निर्बलताओं तथा त्रुटियों को उसी के कंधों पर डाल देते हैं और एक अज्ञात व्यक्ति की पूजा—प्रार्थना करना पसंद करते हैं। यही हमारी कमजोरी है। शायद वह समय शीघ्र आजाय कि हमारी यह कमजोरी भी न रहे। और मैं कहती हूं कि वह समय निकट आ-गया है। पाश्चात्य संसार ने ईश्वर के अस्तित्व को हृदय से प्रायः निकाल ही दिया है, और उसके स्थान पर ऐसे विभिन्न सम्प्रदाय तथा विभिन्न समाज उदय को प्राप्त हो गए हैं जो जैन धर्म के साथ बहुत ही सादृश्य रखने वाले विचारों को मानते और उन पर अमल करते हैं।

उदाहरण के तौर पर हम थ्योसो-फिकल सोसाइटियों को ले सकते हैं। उनकी शिक्षाएँ और आत्म-तत्त्व-प्रचार की बातें जैन धर्म के साथ बहुत ही मिलती जुलती हैं, वे भी एक प्रकार से जैन धर्म के ही शिक्षक हैं। ऐसे समाज की संख्या दिन—पर—दिन बढ़ती जा रही है इस समय उगते हुए युवक-संसार का यह मत है कि या तो धर्म में सहिष्णुता हो, या एकता हो अथवा

बिलकुल ही कोई धर्म न रहे; धर्म ने संसार को बहुत ही अस्वस्थ-असाधु बना दिया है। इस लिए उसे छोड़ देना चाहिए। और उसके स्थान पर वे मनुष्यता तथा विश्वबन्धुता का उपदेश देते हैं। क्या यह सब महर्षि महावीर की शिक्षाओं का सार नहीं है ? जब पारस्परिक मतभेद-विरोध-दूर हो जाते हैं तो केवल प्रीति और मित्रता रह जाती है, जो आपस में बन्धुता के भाव पैदा कर देती है। ये मर्त्य मनुष्य, जिनमें आप और मैं सब सम्मिलित हैं, वस्तुतः दिव्य ईश्वर तुल्य प्राणी हैं, यह विचार आत्मा को शान्ति और संतोष का दाता है इससे क्षोभ मिट जाता है। नरक का भय दूर हो जाता है और हम ऊंचे से ऊंचे उठते एवं उन्नति करते चले जाते हैं।

जब सब लोग इन उदात्त सिद्धान्तों को समझ जायँगे, जब पशु से मनुष्य तक सभी एक दूसरे से भाई की तरह हाथ मिलायँगे और संपूर्ण सृष्टि परस्पर आनन्द-मग्न होगी तो उस समय यह संसार कितना सुंदर एवं मनोज्ञ मालूम देगा।

यह रहस्य महर्षि महावीर स्वामी के ज्ञान में झलका। उन्होंने इसे स्वयं देखा, अनुभव किया और संसार के हित के लिये—अपने दुःखित भाइयों के लिये—इसका उपदेश दिया।

उनका संदेश संसार भरके उन सभी प्राणियों के लिये, जो असंख्य जन्मों तथा मरणों के थका देनेवाले मार्ग में परिभ्रमण कर रहे हैं, यह है कि—तुम्हारे ही कर्मों से दुःख दूर होंगे, पाप धुल जायँगे और तुम पूर्ण सुखी तथा आनन्दमय ईश्वर हो जाओगे। और यह सब कुछ तुम्हारे ही हाथ की बात है। यह किसी सुरलोकस्थ ऐसे महान् देवता की शक्ति के आधीन नहीं है जो तुम से बहुत दूर है—तुम्हारे दुखों, शोकों तथा कष्टों के क्षणों से दूरवर्ती है। यह तुम से बाहर नहीं है, मुक्ति तुम्हारे ही अन्दर है, पूर्ण आनन्द का रम्य स्थान तुम्हारे ही आत्मा के भीतर विद्यमान है। ये सब तुम्हारे ही कृत्य होंगे जो उस अपूर्व आनन्द का तुम्हारे आत्मा में विकाश करेंगे। क्यों दुःख उठाते और चिल्लाते हुए धूल में पड़े हो ? निर्बलता, अन्धकार (अज्ञान) भय और मृत्यु से ऊपर उठो। तुम अविनाशी हो, तुम दिव्य हो। संसार इस दिव्य गीत को हर्षावेश से सुनता है और इसी में उसकी मुक्ति है।

सारांश महावीर स्वामी की शिक्षा में सत्य के तीन बड़े सिद्धान्त संनिहित हैं—एक अहिंसा, दूसरा नश्वर वासनाओं

पर विजय, और तीसरा परमात्मपद की प्राप्ति। अब आप स्पष्ट देख सकते हैं कि ये तीनों अवस्थाएं एक दूसरे के साथ सम्बन्ध हैं। मनुष्य अहिंसा का पालन करता है और उसके पालन द्वारा नश्वर विषय वासनाओं पर विजय प्राप्त करता है और इस तरह परमात्मपद को प्राप्त हो जाता है।

यही भगवान् महावीर की शिक्षाओं का सार है। उन्हों ने खुद अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन किया, संसार के विषय भोगों को त्याग दिया और परमात्मपद को प्राप्त किया।

क्या ही अच्छा हो कि हम उनके इस पवित्र आदर्श का अनुकरण करें और शुद्ध कैवल्य तथा नित्यानंद अवस्था को प्राप्त हो जांय।

अनेकान्त सं० १९८७ पृ०
४५१ ४-५-६-७-८ पर से

(२०)

महात्मा बुद्ध के विचार

एकमिदा हं, महानाम, समयं राजगहे विहरामि गिज्झकूटे पब्बते। तेन खो पन समयेन संबुहुला निगण्ठा इसिगिलिपस्से काल सिलायं उब्भत्थका होन्ति आसन पटिक्खित्ता, ओपक्कमिका दुक्खातिप्पा कटुका वेदना वेदयन्ति। अथ खो हं, महानाम, सायण्ह समयं पटिसल्लाणा वुट्ठितो येन इसिगिलिपस्सम कालसिला येन ते निगण्ठा तेन उपसंकमिम्। उपसंकमित्वा ते निगण्ठे एतदवोचम् किन्नु तुम्हे आउसो निगण्ठा उब्भट्ठका आसनपटिक्खित्ता, ओपक्कमिका दुक्खा तिप्पा कटुका वेदना वेदियथ ति। एवं वुत्ते, महानाम, ते निगण्ठा मं एतदवोचुं, **निगण्ठो, आउसो नायपुत्तो सव्वञ्ञु, सव्वदस्सावी अपरिसेसं ञाण दस्सनं परिजानाति:** चरतो च मे तिट्ठता च सुत्तस्स च जागरस्स च सततं समितं ञाणदस्सनं पच्चुपट्ठितंति:, सो एवं आह: अत्थि खो वो निगण्ठा पुब्बे पापं कम्मं कतं, तं इमाय कटुकाय दुक्करिकारिकाय निज्जरेथ, यं पनेत्थ एतरहि कायेन संवुता, वाचाय संवुता, मनसा संवुता तं आयतिं पापस्स कम्मस्स अकरणं, इति पुराणानं कम्माणं तपसा व्यन्ति भावा नवानं कम्मानं अकरणा आयतिं अनवस्सवा, आयति अनवस्सवा कम्मक्खयो, कम्मक्खया दुक्खक्खयो, दुक्खक्खया वेदनाक्खयो, वेदनाक्खया सव्वं दुक्खं निज्जिण्णं भविस्सति **तं च पन अम्हाकं रूच्चति चेव खमति च तेन च आम्हा अत्तमना ति।**

अर्थात्–महात्मा बुद्ध कहते हैं "हे महानाम ! मैं एक समय राजगृह में गृद्धकूट नामक पर्वतपर विहार कर रहा था। उसी समय ऋषि गिरिके पास 'काल शिला' (नामक पर्वत) पर बहुत से निर्ग्रन्थ (मुनि) आसन छोड़ उपक्रम कर रहे थे और तीव्र तपस्या में प्रवृत्त थे। हे महानाम ! मैं सायंकाल के समय उन निर्ग्रन्थों के पास गया और उनसे बोला 'अहो निर्ग्रन्थ। तुम आसन छोड़ उपक्रम कर क्यों ऐसी घोर तपस्या की वेदनाका अनुभव कर रहे हो ?' हे महानाम! जब मैंने उनसे ऐसा कहा तब वे निर्ग्रन्थ इस प्रकार बोले '**अहो, निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, वे अशेष ज्ञान और दर्शन के ज्ञाता हैं।** हमारे चलते, ठहरते, सोते, जागते समस्त अवस्थाओं में सदैव उनका ज्ञान और दर्शन उपस्थित रहता है। उन्होंने कहा है:– 'निर्ग्रन्थो ! तुमने पूर्व (जन्म) में पापकर्म किये हैं, उन की इस घोर दुश्चर तपस्यासे निर्जरा कर डालो। मन, वचन और कायकी संवृत्तिसे (नये) पाप नहीं बंधते और तपस्या से पुराने पापों का व्यय हो जाता है। इस प्रकार नये पापों के रुक जाने से और पुराने पापों के व्यय से आयति रुकजाती है, आयति रुक जाने से कर्मों का क्षय होता है, कर्म क्षय से दुक्ख क्षय होता है, दुक्ख क्षय से वेदना–क्षय और वेदना क्षयसे सर्व दुःखों की निर्जरा हो जाती है" इस पर बुद्ध कहते हैं '[1]**यह कथन हमारे लिये रुचिकर प्रतीत होता है और हमारे मन को ठीक जचता है।**'

कामताप्रसादजी लिखित "महावीर भगवान्" पृष्ट २७५–६–७ पर से

भगवान् महावीर एक अनुपम नेता थे। वे अनुभवी मार्ग प्रदर्शक थे। बहु प्रख्यात थे और जनता द्वारा सम्मानित थे।

ता, १ नवम्बर ३२ के "वीर" से

(२१)

डा. विमलचरण ला॰ एम. ए. बी. एल. पी॰ एच. डी. एफ॰ आर. हिस्ट॰ एस॰ (लन्दन)

वे भगवान् सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त केवलज्ञान के धारी, चलते–बैठते–सोते–जागते सब समयों में सर्वज्ञ थे। वे जानते थे कि किसने किस प्रकार का

१– इस वाक्य से तपस्या करने की उत्तम पद्धति और भगवान् महावीर को सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी मानने के लिए महात्मा बुद्ध भली भांति अपनी स्वीकृति बतलाते हैं।

पाप किया है और किसने पाप नहीं किया हैं। वे प्रख्यात् चारित्रिक महावीर अपने शिष्यों के पूर्वभव भी बता सक्ते थे।

ज्ञात्रि क्षत्रिय महावीर बहुत ही होशियार और परम विद्वान्, एक दातार पुरुष, चतुप्रकार से इन्द्रिय निग्रह में दत्तचित्त और स्वयं देखी सुनी वस्तुओं को बतलानेवाले थे। जनता उन को बहुत ही पूज्य दृष्टि से देखती थी।

(२२)

मि. के. जी. मशरूवाला अहमदाबाद

महावीर

(१) जम्भक ग्राम से भगवान् महावीरने अपना उपदेश प्रारम्भ किया। (आपने कहा) सर्व धर्मों का मूल दया है। परन्तु दया के पूर्ण उत्कर्ष के लिए क्षमा, नम्रता, सरलता, पवित्रता, संयम, संतोष, सत्य, तप, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये दश धर्म सेवन करना चाहिए। शान्त, दान्त, व्रत नियम में सावधान और विश्ववत्सल मोक्षार्थी मनुष्य निष्कपट रूप में जो जो क्रिया करता है उनसे गुण की वृद्धि होती है। हे विचारशील पुरुष! जन्म के और जरा के दुःखों को देख। जिस प्रकार तुझे सुख प्रिय है उसी प्रकार सर्व जीवों को भी है यह विचार कर किसी भी जीव को मार मत और न दूसरों से मरवा। लोगों के दुःखों को जानने वाले सर्वज्ञानी पुरुषों ने मुनियों और गृहस्थों, रागियों और त्यागियों, एवं भोगियों और योगियों के प्रति यह धर्म कहा है। किसी भी जीव को मारना नहीं उन पर हुकूमत चलाना नहीं, उनको पराधीन करना नहीं, और हैरान भी करना नहीं। पराक्रमी पुरुष संकट पड़ने पर भी दया को छोड़ते नहीं। हे मुनि! अन्दर में युद्ध कर, दूसरे बाहरी युद्ध की क्या आवश्यकता है? युद्ध की सामग्री मिलना अति कठिन है। ....विवेक हो तो ग्राम में रहते हुए भी धर्म है और वन में रहते हुए भी धर्म है। विवेक न होवे तो दोनों स्थानों का रहना अधर्म रूप है।"

कामताप्रसादजी लिखित "महावीर
भगवान्" पृष्ट २१० पर से

(२३)

बुद्ध-महावीर

(२) बुद्ध और महावीर ये आर्यों की प्रकृति के दो भिन्न स्वरूप हैं। जगत में

जो सुख और दुःख का सर्व को अनुभव होता है वह सत्कर्म और दुष्कर्म के परिणाम रूप है ऐसा स्पष्ट जाना जाता है। जो सुख अथवा दुःख का कारण ढूंढ नहीं सकता वह किसी समय कृत कर्म का ही परिणाम हो सक्ता है। मैं कभी नहीं था और कभी नहीं होऊंगा, यह कभी मुझे प्रतीत होता नहीं। इस पर से हमें देखना चाहिए कि हम गत जन्म में क्या थे और मृत्यु के पश्चात् भविष्य जन्म में क्या होंगे। गत समय मैं ने कर्म किये थे और वह ही इस जन्म के सुख दुःख के कारण होना चाहिए। घड़ी का लटकन जिस प्रकार इधर से उधर चलता रहता है, उसी प्रकार मैं जन्म और मरण के मध्य झूलने वाला जीव हूँ। कर्म की चाबी करके यह लटकन सदृश गति मिली है और जब तक यह चाबी लगी रहेगी तब तक मैं इस झूले से निकल नहीं सक्ता। यह झूले की स्थिति दुःख कारक है। इस में कभी ही सुख का अनुभव होता है, परन्तु वह अत्यन्त क्षणिक है। यह इतना ही नहीं बल्कि इससे आघात पहुँचता है। इसलिए परिणाम में दुःख रूप है। मुझे इस दुख कारक झूले में से छूटना चाहिए। किसी भी प्रकार से मुझे इस चाबी के फेर हटाना चाहिए। इस प्रकार की विचार श्रेणी से प्रेरित हो कितनेक आर्यगण जन्म मरण के झूले में से छूटने के लिए—मोक्ष हो कितनेक आर्यगण जन्म मरण के झूले में से छूटने के लिए—मोक्ष पाने के लिए विविध प्रयत्न करते हैं। कर्म की चाबी को किसी तरह खपा देने के यह प्रयत्न करते हैं। महावीर स्वामी इसी प्रकृति की एक प्रतिमा हैं। बुद्ध की प्रकृति इस से भिन्न है। पहिले जन्म की और मृत्यूपरान्त दूसरी स्थिति की चिन्ता करना उस के निकट आवश्यक नहीं। जन्म जो दुःख रूप होय तो फिर इस जन्म के दुःख तो सहन हो गए। पुनर्जन्म यदि होता होगा तो वह इस जीवन के सुकृत और दुष्कृत के अनुसार होगा। इस लिए यही जन्म सर्व का आधार है। बुद्ध ने इसी विश्वास के अनुसार वर्तमान दुःख की स्थिति को दूर करने के प्रयत्न किए, और अपने अष्टाङ्गिक मार्ग का उपदेश दिया।

कामताप्रसादजी लिखित 'महावीर भगवान' पृष्ठ १७२—३ पर से

(२४)

लाला विष्णुस्वरूपजी

अब से ढाई हजार वर्ष पूर्व भी भारत की पवित्र भूमि पाप और हिंसा के कारण अत्याचारों का स्थल बन रही थी, पशु वध किये जाते थे, रक्त की नदियां बहती थी, धर्म के नाम पर मूक पशुओं की बली दी जाती थी, निरपराध मनुष्यों को भी यज्ञ में

आहुत करना, परमात्मा को प्रसन्न करने का उपाय समझा जाता था, या इसी प्रकार के और भी पाप करने में कोई संकोच नहीं होता था। उन अत्याचारों का नाश करने और संसार को सुख और शान्ति देने के लिये ही मानो भगवान् महावीर का जन्म हुआ, किसी देश की उत्क्रान्ति दो प्रकार अर्थात् खड्ग या आत्मा के बल से होती है, खड्ग का शासन भयानक है जो शासक के समय तक रहता है और आत्मबल का शासन प्रेम पूर्ण है जो चिरस्थायी होता है।

भगवान् महावीर भी राजपुत्र थे परन्तु उन्होंने अत्याचारों का अंत राजबल से नहीं किया किन्तु आत्म बलसे उनकी जड़ काटना अभीष्ट समझा, यह विचार करके भगवानने प्रभावशाली आत्म बल प्राप्त करने के अभिप्राय से स्वयं राजसी भोगों का परित्याग किया गृहस्थावस्था को छोड़ कर बनवासी हो गये। १२ वर्ष कठिन तपस्या के बाद कर्मावरण को काट कर स्वपर कल्याण कारी पूर्ण ज्ञान लाभ किया और फिर अहिंसा मय धर्म का उपदेश देकर जगत का उपकार करने में लगगये। उनके बचनामृत से उस समय ही आत्मायें बलिष्ट हो कर कल्याण मार्गमें प्रविष्ट ही नहीं हुई किन्तु उनके उपदेश का आज भी बड़े२ देश नेता देशका कल्याण करने के अर्थ अनुकरण करते हुये दृष्टिगोचर होते हैं। आत्मिक बल वाला मनुष्य दूरवर्ती जङ्गल में बैठा हुआ अपनी इच्छानुसार संसार का उपकार कर सकता है, महावीर भगवान ने भी किसी के कान में अहिंसा का मंत्र चुपके से नहीं फूंका किन्तु बन में विराजमान रहते हुये ही अपने आत्मयोग से देश की पापात्मक परिस्थिति में पूर्णतया परिवर्तन कर दिया, हमारा कर्तव्य है कि भगवान् का आदर्श लेकर अपनी अपनी आत्माओं को बलवान् बनायें और स्व पर कल्याण का लक्ष्य सामने रख कर कार्य करें।

जैन मित्र मण्डल देहली का
सं. २४५६ वीर जयन्ति उत्सव के
पृ ३७-८ पर से

(२५)

आद्य हिन्दी प्रचारक

बाबू हरिश्चंद्र पटना

अहो तुम बहु विधि रूप धरो,
जब जब जैसो काम परै,
तब तैसो भेस धरो.

जिस समय जिस बात की आवश्यकता पड़ती है मानव शक्ति अथवा उस शक्ति का प्रेरक एक नयाही रूप धारण कर उपस्थित होता है । हिन्दू जातिके आत्मा ने, ऐसे समय में जब कि देश का मुख्य भोजन मांस था, महावीर ज्ञात पुत्र के रूप में अवतार लेकर कहा 'बस ! बहुत हुआ, छुरीके स्थान दया धारण करो' निर्ग्रंथ ज्ञातपुत्र ने मनुष्येतर प्राणियों को भी निर्ग्रंथ-स्वतंत्र किया । भागलपुर के समीपस्थ एक छोटे से राज्य के राजकुमार में दया द्वारा दिग्विजय करने की कामना जागृत हुई । उस समय भारत वर्ष में चारों ओर राजनैतिक दिग्विजय की कामना हवा-पानी और पेड़ के पत्तों तक में भर रही थी । छोटे छोटे राज्य पांडव--महाराज्य जैसे राज्य स्थापित करना चाहते थे । उन के (महावीर के) पवित्र--अंगरुपी क्षेत्र में एक फूल खिला--वह 'अहिंसा विजय' रूपी फूल था । विजय और उसी के साथ अहिंसा ! जिन अर्थात् विजेता और वे एक कीड़ी को भी कष्ट नहीं देते ! ज्ञातपुत्र की विजय हुई । ग्रामों में ऐसी कहावत है कि 'साँई चले पहुला पहुला चिउंटी बचाय के' कीड़ी को भोजन देने वाले, गौशालाएं बनानेवाले नीलकंठ को व्याध के हाथ से छुड़ाने वाले हिन्दुओंने, अपनी दया पर घमंड करनेवाले हिन्दुओं ने, ज्ञातपुत्र की बात मानली । अपने से निर्बल को मारने में कायरता और पाप समझनेवाले वीरको हिन्दुओं ने बराबर 'महावीर' की उपाधि से विभूषित किया । वे चंद्र और सूर्य पर्य्यंत भारत के ही नहीं बल्कि संसार के महावीरों में गिनें जायंगे ।

"जिन"--ज्ञानपुत्र का निर्वाण दिन उसके जन्म दिन की अपेक्षा अधिक उत्सव--दिवस था क्योंकि महावीर ने उस दिन निर्वान--मोक्ष पदको प्राप्त किया था । उनका मोक्ष कार्तिक विदी अमावस्या के दिन हुआ । उनके मोक्ष प्राप्ति के अवसर पर पावापुरी निवासियों ने 'दीपावलि' की थीं ।

उसी दिन से एक पावापुरी नहीं बल्कि भारतवर्ष की सभी नगरियों में महावीर निर्वाण के उपलक्ष्य में दीपोत्सव करने लगे हैं और वह कई सदियों से जातीय महोत्सव होगया है । दीपक ज्ञान का द्योतक है । ज्ञानी और ज्ञानदाता महावीर की स्मृति के लिए इस से अधिक उपयुक्त महोत्सव और कौनसा हो सकता है ?

प्राकृत जैन कल्पसूत्र (१२३ से आगे) में महावीर के जीवन चरित्र में जहाँ उनका निर्वाण-पावापुरी में हुआ लिखा है वहीं उनके निर्वाण के उपलक्ष्य में दीपोत्सव होना भी लिखा है । हमारे प्राचीन ग्रन्थों में दीपावली--महोत्सव कथा का कहीं भी वर्णन नहीं लिखा है । हम हिन्दू जिस प्रकार अपनी अनेक जातीय बातों को भूल गए हैं उसी प्रकार इस महोत्सव के मूल्य को भी भूलगए हैं ।

जो तितिक्षा बाबू हरिश्चन्द्र (हिंदी भाषा के प्रसिद्ध कवि) में थी वही हमारे पूर्वजों में थी पूर्वजों ने भगवान् बुद्ध को परमात्मा का अवतार मानलिया उसी प्रकार हरिश्चन्द्र ने महावीर को तथा उनके पहले के तीर्थंकर पार्श्वनाथ को अवतार कहा। तो फिर पूजार्ह अर्हंत महावीर की स्मृति में हिन्दू जाति ने एक महोत्सव प्रारम्भ किया उसमें आश्चर्य ही क्या है ? हरिश्चन्द्र कहते हैं कि—

जैनको नास्तिक भाखै कौन
परम धरम जो दया अहिंसा,
सोइ आचरत जौन,
सत्कर्मनको फल नित मानत,
अति विवेक के भौन ।
निनके मतहिं विरुद्ध कहत जो,
महा मूढ़ है तौन ।

" जैनयुग ' से अनुवादित वर्ष २ अंक १-२
मूल लेख प्रो०—जायसवाल के ' पाटलिपुत्र '
नामक पत्र से अनुवादित ।

(२६)

जर्मन विद्वान जॉंस एक्स

अहिंसा और ईसामसीह का महान् प्रेम ही हमारे आज के आर्थिक, सामाजिक, जातीय और राष्ट्रीय पतित जीवन में शान्ति पाने का मार्ग है और यही एक बात इस जमाने में महावीरजी के महत्व की प्रदर्शक है।

ता. १ नवम्बर ३२ के " वीर " से

(२७)

इटली के विद्वान् डा० अल्बर्तें पांज्जी

महावीरजी की शिक्षायें ऐसी प्रतीत होती हैं, मानो विजयी आत्मा का विजय ज्ञान हो, जिसने आखिर इसी लोक में स्वाधीनता और प्राण पा लिया हो ! हजारों आदमी उन की ओर टकटकी लगाये हैं। उन्हें वैसी ही पवित्रता और पूर्णता की चाह है—अनुभव है ! "

ता. १ नवम्बर ३२ के "वीर" से

(२८)

होमरूल हिन्दुस्तान

हिन्दू धर्म को जब संकुचित हृदय और स्वार्थी ब्राह्मणों ने जाति उपजाति की बेडियां और हँसी के योग्य वहम की बातों के जाल में जकड़ दिया और समाज को निकम्मा बना दिया था तब महावीर स्वामी ने एक महान् धर्म गुरू के रूप में प्रकट होकर उदार सिद्धान्तों द्वारा समाज को बलवान और वीर्यवान बनानेका भगीरथ प्रयत्न किया। और इस वक्त उनका मिशन जो जैन धर्म के विजयशाली नाम से पुकारा जाता है, वह एक समय हिन्दुस्तान का लोक प्रिय धर्म हो गया था।

ब्यावर से प्रकाशित 'अन्य धर्मों से
जैन धर्म में विशेषताएँ' पर से

(२९)

डा० शतीश्चन्द्र विद्या भूषण, एम. ए. पी-एच. डी

हिन्दुस्तान में महावीरने जिन्हें वर्धमान भी कहते हैं और जो इस वर्तमान काल में जैनियों के अन्तिम तीर्थंकर हुये हैं अपने आत्म संयम के सिद्धान्त को प्रकाशित किया।

"दिगम्बर जैन" वर्ष २१ वां अङ्क ११ वें पर से

(३०)

श्रीयुत लक्ष्मण रघुनाथ भिडे

(१) अन्य धर्मावलम्बियों के दुराग्रह और अज्ञान जन्य टीकाओं द्वारा भारतवर्ष में जैन धर्म के विषय में अज्ञानता फैल रही है। सर्वसाधारण का मत हो रहा है कि जैन धर्म अव्यवहार्य सिद्धान्तों पूर्ण और नास्तिक होने के कारण वेदवर्जित है। परन्तु जैन धर्म पूर्ण रुपेण व्यवहारिक और आस्तिक तथा स्वतंत्र धर्म है।

ऐसा कहा जाता है कि जैन धर्म विकृत हिन्दू धर्म ही है। परन्तु वस्तुतः हिन्दू धर्म ही सनातन तथा पुरातन जैन धर्म का विकृत रूप है यह बात जैन धर्म के सम्पूर्ण ज्ञान वेत्ता विद्वानों को स्वीकार करना पड़ेगा।

आज तक यूरोपीय विद्वानों की ऐसी कल्पना थी कि अहिंसा तत्व और निरीश्वरवाद इन दो तत्वों के साम्य से बौद्ध और जैन धर्म एक ही हैं। परन्तु इन दोनों धर्मों में आकाश पाताल का अंतर है। बौद्ध धर्म का अहिंसा तत्व केवल दया भाव पर ही अधिष्ठित है परन्तु जैन धर्म का अहिंसा, आत्म तत्व के गंभीर, गूढ और दुर्गम तत्वों पर अधिष्ठित है। बुद्ध ने सृष्टि कर्तृत्व के विषय में मौन रक्खा जब कि जैन धर्म ने ईश्वर की स्वयंभू, निष्कलंक, वीतराग निरुपाधिक और चैतन्यरूप व्याख्या कर के 'ईश्वर कर्तृत्ववाद' का खंडन किया।

यह स्वाभाविक है कि पूर्व कालीन जैन धर्म का बौद्ध धर्म पर प्रभाव पड़ा हो परन्तु जैन धर्म के सिद्धान्त अन्य धर्मों से अत्यंत भिन्न तथा स्वतंत्र हैं।

जिस समय महावीर भगवान अर्हत शासन का संसार में प्रचार करते थे उस समय उन के शुद्ध उपदेश को तथा दैवी आचरण को देख कर स्वयं बुद्ध ने भी उनकी हृदय से प्रशंसा की थी। उन्हें धन्य समझा था।

जैन तीर्थंकरों के लिए श्रुतियों और स्मृतियों में भी स्थल स्थल पर आदर युक्त उद्गार दृश्यमान होते हैं। नवमें तीर्थंकर सुविधिनाथ के समय में शौंडिल्य, याज्ञवल्क्य और पीप्पलादि ऋषियों ने हिंसात्मक वेदों की रचना की थी।

उनके पहले से ही जैनागम विद्यमान थे उन से स्पष्ट होता है कि वेद अपौरुषेय नहीं इस लिए जैन नास्तिक नहीं।

जैन लोग महाविद्वान पराक्रमी और तपस्वी थे। आज उन की संख्या अधिक नहीं, परन्तु आज संसार भर में उस का अहिंसा धर्म विजयी और अमर हो गया है इस लिए प्रत्येक विद्वान् को जैन धर्म का सूक्ष्म अभ्यास करना आवश्यक है।

आत्म तत्व के परम आर्हत जैनों की भांति उतनी एक निष्ठा, तत्व ज्ञान और व्यवहार में अन्य विरले ही धर्म प्रवृतकों ने दर्शाया होगा।

परम अर्हत जैनों की भांति आत्म तत्व पर एक निष्ठा का दर्शन तत्व ज्ञान और व्यवहार में किसी विरले ही अन्य धर्मप्रवृतक ने बताया होगा। ऐसी

स्थिति में जैनों को निरीश्वर वादी और नास्तिक कहना महान् सत्य वंचना और अज्ञान का द्योतक है। वस्तुतः वेही निरीश्वरवादी हैं जिनका विश्वास आधिभौतिक और पशुबल पर है। वही सच्चा आस्तिक है जो आत्मा का आस्तित्व मानता है तथा भौतिक विषय से भी आध्यात्मिक विषय को अधिक महत्पूर्ण समझता है।

वेदों का अपौरुषेयत्व, ईश्वर का सृष्टि कर्तृत्व, जीवात्माओं का ईश्वराधीनत्व आदि सभी भ्रामक कल्पनाओं का हृदय में धारण करना मिथ्यात्व का लक्षण है। मिथ्यात्व त्याग और सम्यक्त्व ग्रहण जैन धर्मका बड़ा गुण है। दुराग्रह को त्याग कर सत्य को ग्रहण करने का गुण इसमें अद्वितीय है। इस गुण के अभाव से ही आज संसार में कलह फैलरहा है। जैन धर्म ही विश्व धर्म होने योग्य है।

जिस प्रकार जैन धर्म का तत्वज्ञान विशुद्ध और निष्कलंक है उसी प्रकार उसका आचार भी शुद्ध है। जैन धर्म में तत्वज्ञानका अभाव बताने वाले स्वयं अज्ञानी हैं। आज जैन धर्म का विजयडंका संसार भर में गूंज रहा है उसका श्रेय उसके मूल कारण शुद्ध और दंभ रहित आधार धर्म का है। जैन धर्म के आधार धर्म की विशेषता यह है कि वह स्वेच्छानुकूल नहीं। समाज को चिरकाल तक टिका रखने के लिए जैन धर्म सत्य को असत्य और असत्य को सत्य कहना कभी नहीं चाहता। परन्तु जो ऐसा करते हैं वे ही मिथ्यात्वी हैं। इसी मिथ्यात्व के कारण पाखंड फैल रहा है। जैन धर्म की तो यह शिक्षा है कि मिथ्यात्वका नाशकरो, जैन धर्म अपने कम अनुयायियों की ओर ध्यान न देकर प्रत्येक आत्माको शुद्ध बननेके लिए स्पष्टमार्ग का आदेश करता है। वह आत्मबल प्राप्त करने के हेतु पशु बलकी भूलसे भी आवश्यकता नहीं बताता, पशुबल और आत्मबल दो भिन्न यंत्रों के तार हैं वे एक ही राग नहीं अलाप सकते, कारण इसका यह है कि ईश्वर और चैतन्य के मार्ग भिन्न २ हैं।

जैनाचार्यों ने स्वेच्छानुकूल धर्म न बता कर संसार को सम्यक्त्व धर्म का उपदेश दिया। जैनों की यह अपूर्व सत्य निष्ठा है। तीर्थंकरों ने जिस शाश्वत धर्म का प्रतिपादन किया उसी धर्म को प्रत्येक तीर्थंकर सिद्ध, आचार्य उपाध्याय और मुनिगण आज भी उपदेश कर रहे हैं।

(२)

जिन शासन की शुद्धता आज सभी स्वीकार करते हैं। परन्तु कितनेक बुद्धिवादी अब एक अन्य प्रकार का आक्षेप करने लगे हैं कि यह शासन

व्यवहार में नहीं लाया जा सकता। वास्तवमें इस आक्षेप द्वारा ही सिद्ध होता है कि जैन शासन अबाध्य है। क्योंकि यह आक्षेप ही ऐसा है कि जो अन्य तत्वों पर आक्षेप न कर सकने के कारण किया गया है। आक्षेपक की यह निर्बलता है जो जैन शासन की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए उसपर अव्यवहारिक होने का आक्षेप करते हैं। शासन को अव्यवहार्य का विशेषण देकर भले ही आक्षेपक अपनी निर्बलताओं को ढकने का प्रयत्न करें परन्तु ऐसे आक्षेपों से शासन दूषित नहीं होता।

फिर अव्यवहारिक भी क्यों कहा जाय? क्या यह शासन अस्वभाविक है जो आचरण में नहीं लाया जा सकता? जैन शासन तो ऐसा नहीं—क्योंकि अनंतानंत तीर्थंकर, सिद्ध, आचार्य और उपाध्यायों अथवा निर्ग्रन्थ साधुओं ने शासन की आज्ञानुसार आचरण करके बताया है। जहां तक एक भी मनुष्य किसी कार्य को बता सकता है तथा बताता है तब तक वह कार्य अव्यवहार्य नहीं कहा जा सकता। जन साधारण का जो व्यवहार है उससे भिन्नमार्गिक जैन शासन उपदेश करता है इस कारण भले वह कठिन अथवा तो लोकरुचिके विरुद्ध हो सकता है परन्तु उसे अव्यवहारिक कहकर अपनी निर्बलता को सिद्ध करना है। परन्तु व्यवहारी लोगों ने ऐसा प्रपञ्च रचा है कि उसमें दुर्बलता के गुण को सद्गुण रूप दिया और जबकुछ व्यवहारी लोग किसी कार्य को अव्यवहारिक कहते हैं तो वे स्वयं मुत्सफी बनते हैं और इस कार्य को तुच्छ सिद्ध करना चाहते हैं।

महावीर प्रभो अथवा गौतम बुद्ध से नेपोलियन, रास्किन, टॉल्स्टॉय और महात्मा गांधी जैसे महा पुरुष आजतक जितने भी हुए हैं उनमें अव्यवहारिकता का जाल रचकर प्रपञ्ची लोगों ने अपनी निर्बलता को ढककर उसे सुन्दर रूप देने के अनेक प्रयत्न किए हैं। उनके ऐसे प्रपञ्चों में फंसकर अल्पज्ञ लोग अपने प्राप्त गुणों को त्यागकर पुरुषार्थ हीन बन जाते हैं। अपने लिए संभव बातको भी असंभव समझने लगते हैं प्रयत्न को छोड़कर आत्मनाश करते हैं।

वीर शासन के विषय में भी ऐसा ही बनाव बना है। गौतम बुद्ध ने अपने मध्यम मार्ग का उपदेश कर नातपुत्त (महावीर) के मार्ग को असाध्य कहा तो वैदिक मतावलंबियों ने लोकाभिरुचि के अनुकूल मार्ग बता कर निर्ग्रन्थ सिद्धों के मार्ग को अव्यवहार्य कह दिया! परन्तु हम तो जानते हैं कि नातपुत्त

के मार्ग को भी अनेक पुरुषों ने व्यवहार में लाकर बताया और इस मार्ग के अनुसरण किए बिना मुमुक्षु लोगों का निस्तार ही नहीं। वीर शासन आत्म सिद्धि का सरल मार्ग बतलाता है। पुद्गल परमाणुओं के सम्बन्ध से बंधनों में जकड़े हुए लोगों को उन्हें बढ़ाने का मार्ग बतलाना।

इस बंधन से मुक्त होने का मार्ग बताना ही शेष रहा। जड़ और चैतन्य दोनों स्वभाव से भिन्न हैं इस लिए उनके मार्ग भी भिन्न ही हैं इन दोनों में परस्पर समानता कभी नहीं हो सकती।

वर्द्धमान स्वामी ने जिन शासन के अनुसार स्वयं आचरण कर के उसे व्यवहार्य सिद्ध कर बताया प्रभो बालकपन से ही विज्ञान वेत्ता थे। परन्तु पूर्व भव में उन्होंने उस के लिए अनेक प्रयत्न किए थे। साँप के काटने और व्यंतर देवताओं के बाधा करने पर भी प्रभो समभाव रखते थे ऐसा पुरुषार्थ अनंत वीर्य के सिवाय अन्य में नहीं होता। महावीर प्रभो जब वर्ष के युवक थे उस समय गौतम बुद्ध मध्यम मार्ग का उपदेश करता था और उसने अनेकों को भिक्षुकी दीक्षा दी। परन्तु महावीर प्रभो अपने श्रावक व्रत को छोड़ कर उसके पीछे नहीं दौड़े वे भावना प्रधान नहीं थे। वे सर्व तत्त्व-वेत्ता और व्यवहारिक पुरुष थे। जब चारों ओर से आपत्तियाँ उठें तब भी अपने मत पर अचल रहना युवक के लिए कितना कठिन कार्य होता है? महावीर प्रभो ने छः वर्ष से ही माता पिता और बन्धु आदि पूज्य सम्बन्धियों की सेवा की थी और योग्य होने पर दीक्षा ग्रहण की थी। वे परिस्थितियों के दास नहीं थे परन्तु उन्होंने अकाल की परिस्थिति को भी दास बना लिया था। ऐसा नहीं होता तो प्रभो भी अन्य की भांति भिक्षुक बनते, वे भी शिकार खेलते और अन्य युवकों की भांति विषयोपभोग में लिप्त हो जाते। परन्तु अनंत वीर्यवान प्रभो वीर के समक्ष एक महान् उद्देश्य था और उसकी सिद्धि के हेतु ही वे प्रयत्न करते थे। दीक्षा लेने के पश्चात् उन्होंने ऐसी घोर तपस्या की कि उन्हें केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ! मोहम्मद पैगम्बर, यीशु ख्रीष्ट, में से कोई भी धर्म संस्थापक इतना तप करने को समर्थ नहीं हुआ। गौतम बुद्ध ने भी जिस तप को आधा कर के ही छोड़ दिया उसे महावीर ने सामान्य तप की भांति किया था। इतना ही नहीं परन्तु किसी अन्य तीर्थंकर ने भी श्री वीर निर्ग्रंथ तपस्वी जितना तप नहीं किया था।

केवल ज्ञान प्राप्त होजाने पर भी प्रभो मुनिव्रत का आचरण करते थे तथा

विहार करते थे और भव्य जीवों को उपदेश करते थे। प्रभो का भाषण शैली ऐसी सरल भाषा में थी कि किसी भी जाति का जीव उनके उपदेश को समझ जाता था यह भाषा आत्मा की भाषा थी, किसी पर्याय या प्रदेश की नहीं थी प्रपञ्ची लोग भले इस बात को न समझ सकें परन्तु ऐसा होना असम्भव नहीं। महावीर निर्वैर थे इसीलिए उनके पास जीवगण अपने नैसर्गिक वैर को भूल जाते थे। प्रेम बल से यह सभी होता था। सरकार आदि में भय से जब ऐसा होना संभव है तो प्रेम से होना किसी प्रकार असम्भव नहीं।

इस प्रकार महावीर स्वयं विवेकी और व्यवहार चतुर होने के कारण उन्होंने उपदेश भी शुद्ध व्यवहार पूर्ण किया था। जो धर्माचरण करेंगे उन्हें ईश्वर अच्छा फल देगा और बुराई करने पर नाराज होगा ऐसी भावना पूर्ण विवेक हीन वचन भी महावीर ने कभी नहीं कहे। तुम धर्माचरण करोगे तो तुम्हें अच्छा फल मिलेगा ही। ईश्वर की कृपा अथवा अकृपा का उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं। भला वीतराग ईश्वर का क्या कभी किसीपर नाराज अथवा राजी होना सम्भव है? यह बात अव्यवहारिक है। वीतराग और निरुपाधि ईश्वर को ये कार्य तथा उपाधियां नहीं लगी रहतीं। महावीर प्रभो की ऐसी विवेकपूर्ण वृत्ति थी।

एकान्त मत अव्यवहार्य होता है। महावीर ने अपेक्षा युक्त अनेकांत मत का उपदेश किया। कोई भी विधान अपेक्षा से सत्य होता है न कि सदा ही सत्य। अन्य मतोपदेशकों की ऐसी भूल प्रभो के शासन में नहीं अर्थात् उनका स्याद्वाद विवेक पूर्ण अथवा पूर्ण नीति से व्यवहार्य है।

कितनेक मतोपदेशकों का विवेकहीन और अव्यवहार्य उपदेश है कि हिंसादि पाप कर्म भी पुण्यकर्मोपार्जन करते हैं। वीर प्रभुने सम्यक् धर्म का उपदेश दिया है जिसमें लेशमात्र भी कल्मष नहीं।

प्रभो ने 'मेरी पूजा करो, मेरी शरण में आने से तुम्हारा कल्याण होगा, मैं देव पुत्र हूँ, देवदूत हूँ,' ऐसे अविवेक पूर्ण वचन नहीं कहे। उन का कथन था कि सम्यक् धर्म का पालन करने से तुम्हारा कल्याण होगा यदि ऐसा न करोगे तो संसार रूपी समुद्र में डूबे ही रहोगे। तुम्हारी मुक्ति अन्य पर अवलम्बित नहीं, तुम्हारा भला और बुरा तुम्हारे ही हाथ में है—ऐसे सत्य वचन प्रभो महावीर के थे।

प्रभु ने कभी किसी प्रकार का प्रपंच कर किसी को झूठा उभाड़ नहीं दिया। उन्होंने सत्य और अबाध्य मार्ग का उपदेश किया था। ऐसे आत्म मार्ग-उपदेश को प्राणियों के ध्यान में लाने के लिए उन्होंने स्वयं आचारण में ला कर व्यवहारिक सिद्ध कर बताया था। वीर से अधिक व्यवहारी कौन हो सकता है अथवा उनके बताए हुए शासन से अधिक विवेक पूर्ण कौनसा शासन हो सकता है? ऐसे शासन को अव्यवहार्य कह कर मूढ़ लोग अपनी निर्बलता अथवा अज्ञानता प्रगट करते हैं। सामान्य पुरुषों को पुद्गलानंद में ही लीन रहने के कारण उन्हें आत्मनंद की बात नहीं रुचती। इस कारण यदि कोई पुद्गलानंदी आत्मानन्द का अस्तित्व ही न माने तो यह उस ही बुद्धि का दोष है। प्रयत्न से यह स्थिति प्राप्त की जा सकती है प्रयत्न करने वालों के लिए यह शासन अव्यवहार्य नहीं। वीर शासन सपूर्ण प्रकार से व्यवहार्य, निष्कलंक, निराबाध्य है वह सर्व प्राणियों के लिए सुसाध्य है।

ऐसे शासन की सदा जय हो!

'जैन युग' के गुजराती लेख से अनुवित
वर्ष २ अंक ८

(३१)

श्री पण्डित रामचरित उपाध्याय

श्रीमन्महावीरी विजय का गान करना चाहिये,
तल्लीन हो कर आज उनका ध्यान करना चाहिये।
जिन देव के उपकार का सम्मान करना चाहिये,
उनके पगों पर प्राण अपना दान करना चाहिये॥ १॥
जिन के स्मरण से कल्मषों का नाश होता देह से,
उनका भजन करिये सदा मन को लगा कर स्नेह से।
कलि में जिन्हों ने सत्य युग का धर्म सिखलाया हमें॥
भव बन्धनों से मुक्ति का सन्मार्ग दिखलाया हमें॥ २॥
गतराग उन भगवान की वार्षिक जयन्ती आज है,
उपदेश से जिन के जगत भर में अहिंसा राज हो।
ऊंचे स्वरों में एक स्वर हो हम उन्हीं की जय करें॥

जीवित रहें जब तक जिनेश्वर–भक्त बन निर्भय रहें ॥ ३ ॥
जैनेन्द्र का अवतार यदि संसार में होता नहीं,
खोता न भू से पाप हिंसक–प्रबल दल सोता सही।
बहती दया–सरिता नहीं रहती न चर्चा धर्म की,
सहती मही दुःख, दुर्गढ़ी ढहती नहीं दुष्कर्म की ॥ ४ ॥
विद्या–विनय–संयम–दया-संयुक्त रहना चाहिये,
पर-दुःख मिटाने के लिये ही दुःख सहना चाहिये।
जिन धर्म पर रहना अटल यह धर्मिकों का काम है,
निष्काम हो कर काम करना सब दुःखों का धाम है ॥५॥
संसार के उपकार में मिट जाँय यदि तो हानि क्या ?
निन्दा करें यदि मूढ़ तो उसकी हृदय में ग्लानि क्या ?
भव–ताप के संहार कर ने से हटा जलवाह क्या ?
यदि आक जलते हैं जलें उसकी उसे परवाह क्या ॥ ६ ॥
इस विश्व में प्राचीन तम पावन हमारा धर्म है,
अपकार करना ही, न पर का यह हमारा कर्म है।
वह धर्म क्या हिंसा जहां वह कर्म क्या यदि स्वार्थ हो,
जीवन हुआ उसका वृथा जिससे न कुछ परमार्थ हो ॥७॥
निज पूर्व गौरव के लिये उद्योग यदि करते नहीं,
हरते रहे पर–दुःख को दुष्कर्म से डरते रहें।
फिर क्यों न अर्हद्धर्म की फिर भी ध्वजा फररायगी ?
फिर क्यों न हिंसा की प्रथा संसार से उठ जायगी ? ॥८॥
भव में असंभव कुछ नहीं बस शक्ति होनी चाहिये,
विश्वास पूर्वक धर्म में बस भक्ति होनी चाहिये।
सोत्साह साहस के सहित उद्योग यदि करते चलें,
फिर क्यों नहीं पाकर समय हम पूर्ववत् फूलें फलें ॥ ९ ॥
घटते निरन्तर क्यों हमी, अन्यान्य क्यों बढ़ते सभी ?
इस बात की फिर भी हमें होती न क्यों चिन्ता कभी।
सोते बहुत दिन हो चुके, अबतो तनिक द्रग खोलिए,
जैनेन्द्र की जय बोलिए जैनेन्द्र की जय बोलिए ॥ १० ॥

आत्मानन्द वर्ष- २ अङ्क ५ अम्बाला से

(३२)

नारायण प्रसाद "बेताब"

अध्यक्ष

बेताब प्रिन्टिङ्ग वर्क्स चाहरहट, देहली।

जैन पंडितों के बड़े बड़े उपदेश भये,
बानी रस खानी मानो अमृत में सानी है।
शब्द जो सुनाये मोती बरसाये तो भी,
क्षमा कीजियेगा नहीं गौरव निशानी है।
मेरे एक बोल का है मोल सौ महोपदेश,
चाहे चार पंक्ति वीर जीवनी बखानी है।
पूज्य वर्द्धमान मुनि मानेंगे हजार गुनी,
वो थी जैन जिह्वा ये अजैन की जबानी है ॥१॥

॥ महावीर महिमा ॥

धन्य धन्य कुण्डल पुरेश सिद्ध अर्थ भूप
धन्य पुण्यराज, धन्य पुण्यराज धानी है।
लोक में विख्यात मात त्रिशला की कोंख धन्य,
धन्य श्री त्रिशला माननीया महारानी है ॥ १ ॥
जिनके सुगर्भ भगवान वर्द्धमान स्वामी,
पावन दरश दिखलावनकी ठानी है।
पीड़ित की हरे पीर दुःख में बंधावे धीर,
शान्ति की कुटीर महावीर की कहानी है ॥ २ ॥
भूख प्यास राग द्वेश जन्म जरा रोग क्लेश,
चिन्ता भय रहित तीर्थंकर निशानी है।
अहिंसा का मित्र दया भाव का है चित्रपूर्ण,
पावन पवित्र सच्चरित्र निर्वानी है।
शैशव की लीला नागराज को भी कीला-किया,

पांव राख ढीला भीति नेकहून मानी है।
पीड़ित की हरे पीर दुःख में बंधावे धीर,
शान्ति की कुटीर महावीर की कहानी है ॥ ३ ॥
हाथी मदमातो एक आतो जो दिखाई दियो,
टोली बालकों की ताह देख अकुलानी है।
मूर्तिमान धीर भो वीर जांय बांध लियो,
वीर महावीर कियो साहस लसानी है।
क्रीडा सुपुनीत मति संग करे याही रीत,
शैशव व्यतीत भयो आई नौजवानी है।
पीड़ित की हरे पीर दुःख में बंधावे धीर,
शान्ति की कुटीर महावीर की कहानी है ॥ ४ ॥
यम नियमासनादि अष्ट अंग योग विधि,
पतञ्जलि मुनि ने सुनाई पुराब बानी है।
यमके बताये सांच प्रथम ही पांच भेद,
जांच देखो तिन में अहिंसा की प्रधानी है।
यही उपदेश दियो वर्द्धमान महाराज,
प्राणसम चाहो चाहे कोई क्षुद्र प्रानी है।
पीड़ित की हरे पीर दुःख में बंधावे धीर,
शान्ति की कुटीर महावीर की कहानी है ॥ ५ ॥
हिंसा से न दूर है तौरत या जबूर ग्रन्थ,
देखी इनजील पढ़ी आयत की कुरानी है।
नरक नज़ारा न हो कैसे स्वर्ग द्वारा जहां,
खंजर दुधारा और पशु कुरबानी है।
भक्त भगवान को मिलाप बिना शुद्धी कहां ?
शुद्ध कहां भक्त जहां रक्त की खानी है।
पीड़ित की हरे पीर दुःख में बंधावे धीर,
शान्ति की कुटीर महावीर की कहानी है ॥ ६ ॥
मनसे बचनसे शरीर से न हिंसा करें,
वेद अनुकूल यह नीति वर्द्धमानी है।

याही ते नवाय सीस मान लई विसे बीस,
जीव को असीर रूपही मुनास बानी है।
आर्य या सनातनी हैं जैनियों के साथ साथ,
मुक्ति हेत तीनों न अहिंसा मुख्यमानी है।
पीड़ित की हरे पीर दुःख में बंधावे धीर,
शान्ति की कुटीर महावीर की कहानी है॥ ७॥
कहे हों कठोर शब्द कुछ तो न क्रोध कीजे,
कारण की मो अबोध की असावधानी है।
जानत हैं आप हैं बेताब महामन्द मति,
जैन धर्म ग्रन्थन की महिमा न जानी है।
मानस अजैन बोल रह्यो जैन वेदा पर,
नहीं सत्य कथन में न कोई आनी कानी है।
पीड़ित की हरे पीर दुःख में बंधावे धीर,
शान्ति की कुटीर महावीर की कहानी है॥ ८॥

(३३)

तुम थे करुणा क्षीर सिंधु के कौस्तुभ मणि अनुपम अवदात,
त्याग तुम्हारा सर्वोपरि था, तीर्थंकर समर्थ प्रख्यात।
सरल अहिंसा तुम से जन्मी जिस पर हुआ मुग्ध संसार,
तुम से निकली पतितपावनी, सत्कृति की गंगा की धार॥
कोमलता में निहत विरता, हिंसा पर वह विजय ललाम,
कौन कल्पना कर सकता है, मन था कितना शोभा धाम।
उठा तुम्हारी मृदु वाणी में, जैन धर्म का जो संगीत,
करता स्वर्गिक स्वर लहरी से, सदा रहेगा जगत पुनीत॥
आध्यात्मिक शुचि प्रजा तंत्र के, संस्थापक अति चतुर सुजान,
व्यक्ति गुप्त हैं अगणित ईश्वर, ताका दिया जगत को ज्ञान!

'गन्धर्व'

(३४)

जीवन के समुद्र को चिन्तन द्वारा मथ कर खूब,
ऐसा अमृत पिलाया तुमने गये देव भी ऊब।

मृर्त्यलोक ही स्वर्ग बनेगा कर स्वीकृत उपदेश,
विघ्न इसी से डाल रहा था बार बार अमरेश ॥
किन्तु, विजय थी तुमने पाई बाधाओं को तोड़,
तुम्हें डिगाता कौन ? दिया था इच्छा गला मरोड़ ।
तपस्वियों में श्रेष्ठ ! तुम्हारा सार्थक ही है नाम,
तुम्हीं सिखा कर गये जगत को काम उच्च निष्काम ॥

'गिरीश'

जैन जगत् ता. १ जून स. १९२६ पर से

(३५)

आज कैसी छाई शुभ्र सुखमा नगर बीच, चहूं ओर वगर रही शोभा सुख साज की ।
विद्युत् प्रकाश छाये जिनको उजास देखि, फीकी पड़जात जोत जासों दिन राजकी ॥
बड़े बड़े वीर धीर साहसी सुजान बैठे, बैठी है समाज एक ओर कविराज की ।
देवन समाज लिये मानो देवराज आये, आज यहां देखन 'जयन्ती जिनराज' की ॥

पं० विभूति पांडेय

(३६)

वाणी सुखसानी सरसानी सत्य शील मांहि,
महिमा अपार पार सीवाँ सुरराज की ।
जीव हित चित्त की जलान को सुधा में पगी,
जो है अहिंसा छवि प्रतिभा दिनराज की ॥
शांति के सरोवर में बोरयो संसार सकल,
झाँकी दिखलाई तप ब्रह्म सुख साज की ।
त्रिशला के अंक के मयक की अपूर्व प्रभाः,
स्मरण दिलाती है जयन्ती जिनराज की ॥ १ ॥
सुख सरसावन को चित्त हरषावन को,
सुधा वरषावन को उत्पति स्वराज की ।
शान्ती उपजावन को ज्ञान उर छावन को,
ऐक्यता बढ़ावन को समता समाज की ॥
अज्ञात नशावन को लावन बिचार धार,
पावन उपदेश ज्यों हाँक मृगराज की ।

हिंसा मिटावन फैलावन महि आत्म तत्व,
आई मन भाई है जयन्ती जिनराज की ॥ २ ।
द्वैष भाव टारन को शत्रु घट मारन को,
पतित उबारन को उपमा जहाज की ।
प्रेम विस्तारन को रिपु ताप जारन को,
धारन विवेक मात्र भाषा हिय राज की ॥
विनय उचारन को ध्यान उर धारन को,
आतमा पुकारती है सकल समाज की ।
जौन पथ धारे हैं पधारे पूर्व दिव्य तेज,
हमें सिखलाती है सो जयन्ती जिनराज की ॥ ३ ॥
हिंसा को अखण्ड राज छायो बन विश्व देख,
आवैं वीर केशरी जै बोली सरताज की ।
दिव्य उपदेश की दहाड़ सों भगावैं पाप,
लवा से लुकावैं ज्यों झपेट वर बाज की ॥
शान्ति की सुगन्ध पुण्य पुष्प सों उड़ावैं आप,
बंधन छुड़ावैं काट पाश यमराज की ।
एही आश धारे प्रति साल प्यारे आपही के,
स्वागत के हेत है जयन्ती जिनराज की ॥ ४ ॥

राधेलाल अग्रवाल

(३७)

ज्ञानी जीतते हैं कर्म शत्रुओं को कर्म से ही,
ज्ञानी को कहीं न मार सकता है घात की ।
ज्ञानी का सभी से योग होता रहता है,
और ज्ञानी को न होती प्रीति भ्रातृ मातृ तात की ।
ज्ञानी एक सा सभी को देखते हैं 'विष्णु कवि',
ज्ञानी को न चिन्ता होती है किसी भी बात की ।
ज्ञानी ज्ञान में ही नित्य सोते और जागते हैं,
ज्ञानियों को होती फिक्र दिन की न रात की ॥ १ ॥

गंगाविष्णु पाण्डेय विद्या भूषण "विष्णु"

(३८)

वीरन में वीर अरु धीरन में धीर बड़े,
साहसी अपार हैं प्रतिष्ठा जाके बात की।
राजन के राजे सुकुमार वर्धमानजी,
लीन्हों औतार भार दूर करन जात की।
दया संचार कियो जैन मत प्रचार कियो,
भारत की आरत मिटायो सब बात की।
सुख दुख एक जान धर्म के प्रचारन में,
रही सुधी नाहिं कछु दिन की न रात की॥ १॥

पं० विभूती पाण्डेय विद्यार्थी

(३९)

दिनन परम पवित्र दिन मानों याहि,
नीरन में नीर जैसे गंग नीर कातिकी।
लिन्हों अवतार महावीर तीरथंकर जू,
महिमा महान भई त्रिशला सुमात की॥
मोदके विनोद में भुलानो मन मोद हू को,
धर्म लहरानो थहरानों पाप पात की।
सिद्ध औ संतन को सुधि न रही आनन्द में,
गेह की न देह की न दिन की न रात की॥ १॥

पं० छाजूरामजी 'छावेश'

(४०)

आत्म पद लागी चाह, त्याग दीनो राज पाट,
मोह की न रेखा रही, तात की न मात की।
जाके बन खंड वस्त्र, भूषण उतारे सर्व,
ममता न शेष रही, अपने ही गात की॥
करते थे हिंसा महा, यज्ञ के विधान लोग,
तोड़न ठानी प्रथा, जीवन के घात की।
भाषें 'बटु' महावीर, धर्म के प्रचार मग्न,

सुध हू न होती उन्हैं, दिन की न रात की ॥ १ ॥
आज नहीं होती दया, जीवन को नाश देखे,
चाहना रही है शेष, मीठे मीठे भात की।
षोडश संस्कार छूटे, विद्या को अभाव वाल,
केवल रही है हा ! सजावट स्वगात की ॥
इन्द्रिन के जीतबे की, गाथा क्या सुना वैं तुम्हैं,
नारिन को देखिकै, लगाते दृष्टिपात की।
भाषे " बटु " मित्र प्यारे, स्वार्थ में स्याने बड़े,
धर्म में न बीते घड़ी, दिन की न रात की ॥ २ ॥

\+ × ×

नाशन को हिंसा सर्व, आये महावीर धीर,
धर्म के प्रचार माहिं, इच्छा नहीं ताज की।
कटती हैं गौवें अहा ! देश में अहिंसा व्रती,
लग्न क्यों विसारी मित्र, ऐसे शुभ काज की ॥
कर्म के विधान वाले, कर्म को दिखाओ विश्व,
कर्म के विहीन वृथा, माया सुख साज की।
भाषैं " बटु " बन्धुवीरो, जैन धर्म धारी सुनो,
कोरी न मनाओ या जयन्ती जिनराज की ॥ १ ॥
दुखित विचारी वंश, विधवा विलाप मारैं,
होते व्यभचार भूष, हत्या ओट लाज की।
बाल वृद्ध ब्याह से, निराली दशा नारिन की,
यवन कुजाती जातीं, मारी फिरैं गाज की ॥
गणिका छबीली बनैं, तीर्थन में जाय देखो,
लिखती हैं सभी यही, पत्रिकायें आज की ॥
भाषैं " बटु " विश्वनाथ, प्रार्थना विनीत मेरी,
जैनिन जगावै या जयन्ती जिनराज की ॥ २ ॥

बटूलाल (बटु)

(४१)

कुंडल पुरेश भूप सिद्धारथ के सुपुत्र,
चैत्रसुदी तेरस में त्रिशला के जाये हो।

प्रकटे नक्षत्र हस्त आप प्रभु ज्ञान पुंज,
पतित पुनीत करि मुक्तिको पठाये हो ॥
ऊंचे छियत्तर हाथ वर्ण है सुवर्ण को सो,
बहत्तर वर्ष आयु वर्द्धमान पाये हो ।
पायो निरवाण पद त्याग को बतायो भेद,
महावीर नारायण याही ते कहाये हो ॥

पं० शिवनारायण शर्मा वैद्य
धर्मपुरा, दिल्ली,

(४२)

दारुण दुखों को देख हिंसा प्रपंच पेख,
होकर दयार्द्र दया धर्म धारी धीरने ।
परम पवित्र प्यारा प्रवर प्रमोद वाला,
प्राण प्रतिपाल व्रत पाला प्रण वीर ने ॥
शांति सुधा सरिता बहाई भव्य भारत में,
प्रेम लहर लहराई सन्मति समीर ने ।
ब्रह्म ज्ञान धारे–जिन, मानियों के मान मारे,
स्याद्वाद ज्ञान राखी वीर महावीर ने ॥ १ ॥

श्रीअयोध्याप्रसाद आनन्द

(४३)

जन्म से ही मति–श्रति–अवधिका ज्ञान प्राप्त,
कर लिया था स्वयं ही योगी महावीर ने ।
माया–मोह–भोग और वैभव को छोड़ कर,
युवावस्था में ही दीक्षा ली है महावीर ने ॥
धारण किया है मौन व्रत बारा वर्ष तक,
तारा चंड कौशिकको स्वामी महावीर ने ।
" विष्णु " ज्ञान प्राप्त कर कार्तिकी अमावस को,
पाया निर्वाण पद वीर महावीर ने ॥ १ ॥

शीतता औ उष्णता को झेलते हुए किया है,
जङ्गलों में घोर तप वीर महावीर ने।
पालन किया है पूर्ण संयम का "विष्णु कवि"
रोक कर इन्द्रियों को धीर महावीर ने।
उन्नत चरित्र और त्याग की विशेषता से,
भूमि पर पाया है महत्व महावीर ने।
दिव्य ज्ञान और शान्ति का किया प्रचार खूब,
घूम घूम चारों ओर वीर महावीर ने ॥ २ ॥
तप नाश करने को अप्सरायें आईं किंतु,
उन को हरा दिया है वीर महावीर ने।
"संगम" की माया का किया विनाश तुरन्त,
आत्म शक्ति बल से ही वीर महावीर ने।
काट लेने पर भी न सर्प दिया है शाप,
क्षमा सर्वदा ही की है वीर महावीर ने।
जन्म भर देते उपदेश रहे श्रावकों को,
कीर्ति प्राप्त की अखंड वीर महावीर ने ॥ ३ ॥

गङ्गा विष्णु पाण्डेय, विद्या भूषण 'विष्णु' जबलपुर
जैन मित्र मण्डल देहली द्वारा प्रकाशित महावीर जयंति की रिपोर्टों से

(४४)

वीर-स्तुति

सुनादो वीर वाणी को, जगादो देश भारतको।
उभारो जैन जातीको, तिरादो दुःखसे जगको ॥ १ ॥
भयंकर कालमें तुमने, अहिंसा धर्म विस्तारा।
परिसह कर्म सह करके, दुखी जीवोंको निस्तारा ॥ २ ॥
करोड़ों जीव दुखियारे, हवन में होगए स्वाहा।
करा उपदेश जब तुमने, हुवे कहने लगे आहा ॥ ३ ॥
मिटाया मान गौतमका, छुटाए कर्म झंझटको।
तुम्हारा नाम लेलेकर, हो गए मोक्ष चटपटसे ॥ ४ ॥

गर्भ माताके जब आए, रतन वर्षे घनेरे थे ।
हुवा जब जन्म भारतमें, नरकमें भी सुखेरे थे ॥ ५ ॥
सहस्रों ग्राम पतनमें, जहां जावें वहां जाते ।
अनेकों कष्ट सह करके, किया उपदेश भारतमें ॥ ६ ॥
हुई दीपवाली तबसे, जभीसे वीर गति पाई ।
उसीसे होगया तीरथ, जहां सब कर्म नशजाई ॥ ७ ॥
विनय ' विष्णू ' की सुनलो तुम, हजारों तिरगए पापी ।
हमारी आगई वारी, भरोसा नाथ का भारी ॥ ८ ॥

विष्णु दत्त शर्मा
रामनगर

ॐ शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!

याही ते नवाय सीस मान लई विसे बीस,
जीव को असीर रूपही मुनास बानी है।
आर्य या सनातनी हैं जैनियों के साथ साथ,
मुक्ति हेत तीनों न अहिंसा मुख्यमानी है।
पीड़ित की हरे पीर दुःख में बंधावे धीर,
शान्ति की कुटीर महावीर की कहानी है ॥ ७ ॥
कहे हों कठोर शब्द कुछ तो न क्रोध कीजे,
कारण की मो अबोध की असावधानी है।
जानत हैं आप हैं बेताब महामन्द मति,
जैन धर्म ग्रन्थन की महिमा न जानी है।
मानस अजैन बोल रह्यो जैन वेदा पर,
नहीं सत्य कथन में न कोई आनी कानी है।
पीड़ित की हरे पीर दुःख में बंधावे धीर,
शान्ति की कुटीर महावीर की कहानी है ॥ ८ ॥

(३३)

तुम थे करुणा क्षीर सिंधु के कौस्तुभ मणि अनुपम अवदात,
त्याग तुम्हारा सर्वोपरि था, तीर्थंकर समर्थ प्रख्यात।
सरल अहिंसा तुम से जन्मी जिस पर हुआ मुग्ध संसार,
तुम से निकली पतितपावनी, सत्कृति की गंगा की धार॥
कोमलता में निहत त्रिरता, हिंसा पर वह विजय ललाम,
कौन कल्पना कर सकता है, मन था कितना शोभा धाम।
उठा तुम्हारी मृदु वाणी में, जैन धर्म का जो संगीत,
करता स्वर्गिक स्वर लहरी से, सदा रहेगा जगत पुनीत॥
आध्यात्मिक शुचि प्रजा तंत्र के, संस्थापक अति चतुर सुजान,
व्यक्ति गुप्त हैं अगणित ईश्वर, ताका दिया जगत को ज्ञान!

'गन्धर्व'

(३४)

जीवन के समुद्र को चिन्तन द्वारा मथ कर खूब,
ऐसा अमृत पिलाया तुमने गये देव भी ऊब।

मृर्त्यलोक ही स्वर्ग बनेगा कर स्वीकृत उपदेश,
विघ्न इसी से डाल रहा था बार बार अमरेश ॥
किन्तु, विजय थी तुमने पाई बाधाओं को तोड़,
तुम्हें डिगाता कौन ? दिया था इच्छा गला मरोड़ ।
तपस्वियों में श्रेष्ठ ! तुम्हारा सार्थक ही है नाम,
तुम्हीं सिखा कर गये जगत को काम उच्च निष्काम ॥

'गिरीश'

जैन जगत् ता. १ जून स. १६२६ पर से

(३५)

आज कैसी छाई शुभ्र सुखमा नगर बीच, चहूं ओर वगर रही शोभा सुख साज की ।
विद्युत् प्रकाश छाये जिनको उजास देखि, फीकी पड़जात जोत जासों दिन राजकी ॥
बड़े बड़े वीर धीर साहसी सुजान बैठे, बैठी है समाज एक ओर कविराज की ।
देवन समाज लिये मानो देवराज आये, आज यहां देखन 'जयन्ती जिनराज' की ॥

पं० विभूति पांडेय

(३६)

वाणी सुखसानी सरसानी सत्य शील मांहि,
महिमा अपार पार सीवाँ सुरराज की ।
जीव हित चित्त की जलान को सुधा में पगी,
जो है अहिंसा छवि प्रतिभा दिनराज की ॥
शांति के सरोवर में बोरयो संसार सकल,
झाँकी दिखलाई तप ब्रह्म सुख साज की ।
त्रिशला के अंक के मयक की अपूर्व प्रभाः,
स्मरण दिलाती है जयन्ती जिनराज की ॥ १ ॥
सुख सरसावन को चित्त हरषावन को,
सुधा वरषावन को उत्पति स्वराज की ।
शान्ती उपजावन को ज्ञान उर छावन को,
ऐक्यता बढ़ावन को समता समाज की ॥
अज्ञात नशावन को लावन बिचार धार,
पावन उपदेश ज्यों हाँक मृगराज की ।

हिंसा मिटावन फैलावन महि आत्म तत्व,
आई मन भाई है जयन्ती जिनराज की ॥ २ ॥
द्वैत भाव टारन को शत्रु घट मारन को,
पतित उबारन को उपमा जहाज की ।
प्रेम विसूतारन को रिपु ताप जारन को,
धारन विवेक मात्र भाषा हिय राज की ॥
विनय उचारन को ध्यान उर धारन को,
आतमा पुकारती है सकल समाज की ।
जौन पथ धारे हैं पधारे पूर्व दिव्य तेज,
हमें सिखलाती है सो जयन्ती जिनराज की ॥ ३ ॥
हिंसा को अखण्ड राज छायो बन विश्व देख,
आवैं वीर केशरी जै बोलौ सरताज की ।
दिव्य उपदेश की दहाड़ सौं भगावैं पाप,
लवा से लुकावैं ज्यों झपेट वर बाज की ॥
शान्ति की सुगन्ध पुण्य पुष्प सों उड़ावैं आप,
बंधन छुड़ावैं काट पाश यमराज की ।
एही आश धारे प्रति साल प्यारे आपही के,
स्वागत के हेत है जयन्ती जिनराज की ॥ ४ ॥

राधेलाल अग्रवाल

(३७)

ज्ञानी जीतते हैं कर्म शत्रुओं को कर्म से ही,
ज्ञानी को कहीं न मार सकता है घात की ।
ज्ञानी का सभी से योग होता रहता है,
और ज्ञानी को न होती प्रीति भ्रातृ मातृ तात की ।
ज्ञानी एक सा सभी को देखते हैं 'विष्णु कवि',
ज्ञानी को न चिन्ता होती है किसी भी बात की ।
ज्ञानी ज्ञान में ही नित्य सोते और जागते हैं,
ज्ञानियों को होती फिक्र दिन की न रात की ॥ १ ॥

गंगाविष्णु पाण्डेय विद्या भूषण "विष्णु"

(३८)

वीरन में वीर अरु धीरन में धीर बड़े,
साहसी अपार हैं प्रतिष्ठा जाके बात की।
राजन के राजे सुकुमार वर्धमानजी,
लीन्हों औतार भार दूर करन जात की।
दया संचार कियो जैन मत प्रचार कियो,
भारत की आरत मिटायो सब बात की।
सुख दुख एक जान धर्म के प्रचारन में,
रही सुधी नाहिं कछु दिन की न रात की ॥ १ ॥

पं० विभूती पाण्डेय विद्यार्थी

(३९)

दिनन परम पवित्र दिन मानों याहि,
नीरन में नीर जैसे गंग नीर कातिकी।
लिन्हों अवतार महावीर तीरथंकर जू,
महिमा महान भई त्रिशला सुमात की ॥
मोदके विनोद में भुलानो मन मोद हूको,
धर्म लहरानो थहरानों पाप पात की।
सिद्ध औ संतन को सुधि न रही आनन्द में,
गेह की न देह की न दिन की न रात की ॥ १ ॥

पं० छाजूरामजी 'छावेश'

(४०)

आत्म पद लागी चाह, त्याग दीनो राज पाट,
मोह की न रेखा रही, तात की न मात की।
जाके बन खंड वस्त्र, भूषण उतारे सर्व,
ममता न शेष रही, अपने ही गात की ॥
करते थे हिंसा महा, यज्ञ के विधान लोग,
तोड़न ठानी प्रथा, जीवन के घात की।
भाषें 'बटु' महावीर, धर्म के प्रचार मग्न,

सुध हू न होती उन्हें, दिन की न रात की ॥ १ ॥
आज नहीं होती दया, जीवन को नाश देखे,
चाहना रही है शेष, मीठे मीठे मात की ।
षोडश संस्कार छूटे, विद्या को अभाव बाल,
केवल रही है हा ! सजावट स्वगात की ॥
इन्द्रिन के जीतबे की, गाथा क्या सुना वैं तुम्हें,
नारिन को देखिकै, लगाते दृष्टिपात की ।
भाषै " बद्दु " मित्र प्यारे, स्वार्थ में स्याने बड़े,
धर्म में न बीतै घड़ी, दिन की न रात की ॥ २ ॥

\+ × ×

नाशन को हिंसा सर्व, आये महावीर धीर,
धर्म के प्रचार माहिं, इच्छा नहीं ताज की ।
कटती हैं गौवें अहा ! देश में अहिंसा व्रती,
लग्न क्यों विसारी मित्र, ऐसे शुभ काज की ॥
कर्म के विधान वाले, कर्म को दिखाओ विश्व,
कर्म के विहीन वृथा, माया सुख साज की ।
भाषैं " बद्दु " बन्धुवीरो, जैन धर्म धारी सुनो,
कोरी न मनाओ या जयन्ती जिनराज की ॥ १ ॥
दुखित विचारी वंश, विधवा विलाप भारैं,
होते व्यभचार वृथा, हत्या ओट लाज की ।
बाल वृद्ध ब्याह से, निराली दशा नारिन की,
यवन कुजाती जातीं, मारी फिरैं गाज की ॥
गणिका छबीली बनैं, तीर्थन में जाय देखो,
लिखती हैं सभी यही, पत्रिकायें आज की ॥
भाषैं " बद्दु " विश्वनाथ, प्रार्थना विनीत मेरी,
जैनिन जगावै या जयन्ती जिनराज की ॥ २ ॥

बद्दूलाल (बद्दु)

(४१)

कुंडल पुरेश भूप सिद्धारथ के सुपुत्र,
चैत्रसुदी तेरस में त्रिशला के जाये हो ।

प्रकटे नक्षत्र हस्त आप प्रभु ज्ञान पुंज,
पतित पुनीत करि मुक्तिको पठाये हो ॥
ऊंचे छियत्तर हाथ वर्ण है सुवर्ण को सो,
बहत्तर वर्ष आयु वर्द्धमान पाये हो ।
पायो निरवाण पद त्याग को बतायो भेद,
महावीर नारायण याही ते कहाये हो ॥

पं० शिवनारायण शर्मा वैद्य
धर्मपुरा, दिल्ली,

(४२)

दारुण दुखों को देख हिंसा प्रपंच पेख,
होकर दयाद्र दया धर्म धारी धीरने ।
परम पवित्र प्यारा प्रवर प्रमोद वाला,
प्राण प्रतिपाल व्रत पाला प्रण वीर ने ॥
शांति सुधा सरिता बहाई भव्य भारत में,
प्रेम लहर लहराई सन्मति समीर ने ।
ब्रह्म ज्ञान धारे-जिन, मानियों के मान मारे,
स्याद्वाद शान राखी वीर महावीर ने ॥ १ ॥

श्रीअयोध्याप्रसाद आनन्द

(४३)

जन्म से ही मति—श्रुति—अवधिका ज्ञान प्राप्त,
कर लिया था स्वयं ही योगी महावीर ने ।
माया—मोह—भोग और वैभव को छोड़ कर,
युवावस्था में ही दीक्षा ली है महावीर ने ॥
धारण किया है मौन व्रत बारा वर्ष तक,
तारा चंड कौशिकको स्वामी महावीर ने ।
"विष्णु" ज्ञान प्राप्त कर कार्तिकी अमावस को,
पाया निर्वाण पद वीर महावीर ने ॥ १ ॥

शीतता औ उष्णता को झेलते हुए किया है,
जङ्गलो में घोर तप वीर महावीर ने ।
पालन किया है पूर्ण संयम का "विष्णु कवि"
रोक कर इन्द्रियों को धीर महावीर ने ।
उन्नत चरित्र और त्याग की विशेषता से,
भूमि पर पाया है महत्व महावीर ने ।
दिव्य ज्ञान और शान्ति का किया प्रचार खूब,
घूम घूम चारों ओर वीर महावीर ने ॥ २ ॥
तप नाश करने को अप्सरायें आई किंतु,
उन को हरा दिया है वीर महावीर ने ।
"संगम" की माया का किया विनाश तुरन्त,
आत्म शक्ति बल से ही वीर महावीर ने ।
काट लेने पर भी न सर्प दिया है शाप,
क्षमा सर्वदा ही की है वीर महावीर ने ।
जन्म भर देते उपदेश रहे श्रावकों को,
कीर्ति प्राप्त की अखंड वीर महावीर ने ॥ ३ ॥

गङ्गा विष्णु पाण्डेय, विद्या भूषण 'विष्णु' जबलपुर

जैन मित्र मण्डल देहली द्वारा प्रकाशित महावीर जयंति की रिपोर्टों से

(४४)

वीर-स्तुति

सुनादो वीर वाणी को, जगादो देश भारतको ।
उगारो जैन जातीको, तिरादो दुःखसे जगको ॥ १ ॥
भयंकर कालमें तुमने, अहिंसा धर्म विस्तारा ।
परिसह कर्म सह करके, दुखी जीवोंको निस्तारा ॥ २ ॥
करोड़ों जीव दुखियारे, हवन में होगए स्वाहा ।
करा उपदेश जब तुमने, हुवे कहने लगे आहा ॥ ३ ॥
मिटाया मान गौतमका, छुटाए कर्म झंझटको ।
तुम्हारा नाम लेलेकर, हो गए मोक्ष चटपटसे ॥ ४ ॥

गर्भ माताके जब आए, रतन वर्षे घनेरे थे।
हुवा जब जन्म भारतमें, नरकमें भी सुखेरे थे ॥ ५ ॥
सहस्रों ग्राम पतनमें, जहां जाते वहां जाते।
अनेकों कष्ट सह करके, किया उपदेश भारतमें ॥ ६ ॥
हुई दीपवाली तबसे, जभीसे वीर गति पाई।
उसीसे होगया तीरथ, जहां सब कर्म नशजाई ॥ ७ ॥
विनय 'विष्णू' की सुनलो तुम, हजारों तिरगए पापी।
हमारी आगई बारी, भरोसा नाथ का भारी ॥ ८ ॥

विष्णु दत्त शर्मा
रामनगर

ॐ शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!

(१) आदर्श-मुनि।

(सचित्र)

इस पुस्तक में जैन धर्म की प्राचीनता के साथ ही साथ प्रसिद्धवक्ता पण्डित मुनि श्री चौथमलजी महाराज के ओज पूर्ण व्याख्यानों से व चारित्र बल से जैन समाज में कितने महत्व पूर्ण उपकार हुए हैं उनका दिग्दर्शन कराया गया है। इस की भूमिका लेखक श्रीमान् कजोड़ीमलजी साहेब एम. ए. सेशन जज धोलपुर हैं। अजुरी जैसे अनेक पत्र पत्रिकाओंने प्रशंसा की है। पृष्ठ संख्या ४५० हिन्दी में और गुर्जर भाषा में ६०० के लग भग हैं। पुस्तक अवश्य पठनीय है। मूल्य १।) रुपया मात्र है।

(२) निर्ग्रन्थ-प्रवचन।

वीरवाणी, अर्धमागधी में होने के कारण मनुष्य उससे चाहिये वैसा लाभ न उठा सकते हैं। जैनेतर भाइयों को तो आभास भी न मिलता होगा। उसी कठिनाई को दूर कर सर्वसाधारण व लोक कल्याण के लिये प्रसिद्ध वक्ता पं० मुनि श्री चौथमलजी म० सा० ने मुनि धर्म की अनेक कठिनाईयों का सामना करते हुवे भी वीर वाणी द्वादशांगी में से सर्वोपयोगी नाना विषयों की गाथाओं की छटनी कर सुबोध गम्य एवं सरल भाषा में अनुवाद किया है। यह निर्ग्रन्थ प्रवचन मनुष्य मात्र की जीवन यात्रा में दीप स्थंभ है। भूले हुवे को राह पर लाने के लिये पथ-प्रदर्शक है। ऐसी पुस्तक अपनी समाज में अभी तक नहीं निकली है। महाराज श्री ने इस कमी की पूर्ति कर संसार का महान् उपकार किया है। आशा है सर्व साधारण गण इस पुस्तक से उचित लाभ उठावेंगे। पृष्ठ संख्या ३५० से ऊपर पक्की कपड़े की जिल्द सहित पुस्तक का मूल्य मात्र ॥)

(३) उदयपुर में अपूर्व उपकार (सचित्र)

( ) धर्मोपदेश............................"

प्रसिद्धवक्ता पण्डित मुनि श्री चौथमलजी महाराज के द्वारा हिज हाईनेस दी महाराजाधिराज स्वर्गीय महाराणा श्री फतेसिंहजी साहेब और वर्तमान हिज हाईनेस दी महाराजाधिराज महाराणा श्री भूपालसिंहजी साहेब को दिये गये उपदेश का सारांश, और दरबारने मुनि श्री को भेंट स्वरूप में अभयदानात्मक सनदें दी उसका इस पुस्तक में उल्लेख किया गया है। पुस्तकें बहुत उपयोगी हैं। पाठक एक बार अवश्य पढ़ें मूल्य क्रमशः।) =॥)

(५) भगवान् महावीर का दिव्य संदेश।

(हिन्दी और मरेठी में)

पतित पावन अहिंसा महोदधि भगवान् महावीर ने जनता के हित के लिए क्या

क्या दिव्य संदेश दिये थे। उन अमूल्य संदेशों को अनेक स्थानों से संग्रह कर इस पुस्तक में दिये गए हैं। पुस्तक सभी पाठक पाठिकाओं के मनन करने योग्य है। मूल्य क्रमशः ≈)॥ =)।

(६) सती अंजना और वीर हनुमान।

सचित्र

इस पुस्तक में सती अंजना ने किस तरह नाना प्रकार के कष्टों को सहन कर अपने सतीत्व धर्म को कायम रक्खा और श्रीरामचन्द्रजी महाराज के अनन्य स्वामी भक्त वीर हनुमान को किस प्रकार जन्म दिया इसका विस्तृत विवरण रोचक भाषा में दिया गया है। साथ ही वीर हनुमानजी पर अनेक अनभिज्ञ लोग झूंठे आक्षेप रखते हैं। उन सभी आक्षेपों का ठीक निराकरण किया गया है। पुस्तक अवश्य पढ़ने योग्य है। मूल्य।–)

(७) सीता बनवास।

इस पुस्तक में विदुषी श्रीमती सीताजी को कैसे वनवास हुआ, और किस प्रकार धैर्यता धारण कर जनता के सम्मुख अग्नि कुंड पर सतीत्व धर्म प्रकट किया। आदि विवरण सुललित शब्द सन्दर्भित गायन व भाषा टीका में किया हुआ है। महिलाओं के लिए तो अत्यन्त उपयोगी पुस्तक है। मूल्य ऽ। भाषा टीका सहित ≈)

(८) राम मुद्रिका।

इस पुस्तक में श्रीमती सीताजी की शोध करने को हनुमानजी राम-मुद्रिका लेकर लंका में किस प्रकार गये और वहां लंकेश्वर को अपना बल परिचय दे कर सीता जी को विश्वास देते हुए लौटती वक्त चूड़ामणि कैसे लाये आदि सुन्दर विवरण गायन और भाषा टीका में किया हुआ है। पढ़ने से नीति का अपूर्व आनन्द आता है। मू० –॥)

(९) अष्टादश पाप निषेध।

आत्मा किन २ पापों से इस लोक और परलोक में कष्ट उठाती है। साथही उन पापों पर सरकारी कानून भी कैसे लागू होते हैं उसका गायन और भाषा दोनों में वर्णन किया गया है। पुस्तक छोटी है पर पाप से बचने के लिए काफी दीपक है। मूल्य मूल ऽ॥ भाषा सहित =)

(१०) मृगा-पुत्र (सचित्र)

इस में उत्तराध्ययनजी सूत्र का १६ वां अध्याय मूल, संस्कृत छाया, अन्वयार्थ और भावार्थ सहित दिया गया है। राजकुँवार मृगा पुत्र ने राजश्री लक्ष्मी को ठुकरा कर किस प्रकार वैराग्य प्राप्त किया है। इस का दिग्दर्शन कराया गया है। मूल्य।–)

(११) इक्षुकाराध्ययन (सचित्र)

इस में उत्तराध्ययनजी सूत्र का १४ वां अध्याय मूल, संस्कृत छाया, अन्वयार्थ और भावार्थ सहित दिया गया है। इस में किस प्रकार भृगु पुरोहित और इनकी स्त्री एवं इनके दोनों पुत्र इन चारों ने क्रोड़ो की सम्पत्ति छोड़कर जैन श्वेताम्बर दीक्षा धारण की और राजा इक्षुकारजी किस प्रकार उस प्रजा-सम्पत्ति को अपने कोष में डालते हुए अपनी रानी के द्वारा कोसे गये आदि आदि वैराग्योत्पादक विषय का वर्णन किया गया है। पुस्तक जीवन सुधारकों के लिए बड़ी उपयोगी है। मूल्य ।)

(१२) सुश्रावक कामदेव सचित्र।

(१३) " अरणक "

इन दोनों पुस्तकों में अपने धर्म के लिए प्राणों तक की बाजी लगाने में तनिक भी हिचकिचाहट न की ऐसे दो धर्मवीरों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। मूल्य क्रमशः -॥) =)

(१४) महावीर स्तोत्र।

इस पुस्तक में जैनागम-सूत्र कृताङ्गजी का छट्ठा अध्याय है। साथ में शब्दार्थ और विवेचन भी किया है। श्रीमहावीर स्वामी की स्तुति करने का अत्युत्तम पुस्तक है। प्रत्येक जैनियों के पास कम से कम एक पुस्तक तो अवश्य रखने योग्य है। मूल्य ।-)

(१५) गुरु गुण महिमा।

इस पुस्तक में श्वेताम्बर स्थानक वासी साधुओं की प्रवृत्ति दी गई है जिस को एक बार पढ़ने से क्रिया विषयिक किसी को किसी प्रकार का प्रश्न करने का कष्ट न उठाना पड़े। सभा सोसाईटियों में वितरण करने के लिए अत्युच्च पुस्तक है। हिन्दी अंग्रेजी, उर्दू, मराठी, इन चारों भाषाओं में छप चुकी है। कि. -)

(१६) व्याख्यान मौक्तिक माला।

(गुजराती)

इस पुस्तक में संवत् १९८८ को अलबेली बम्बई में दिए हुए प्रसिद्ध वक्ता पण्डित मुनि श्री चौथमलजी महाराज के नव व्याख्यानों का संग्रह किया गया है मूल्य ।)

(१७) स्थानकवासियों की प्राचीनता।

इस पुस्तक में स्थानकवासी-साधुमार्गी जैन धर्म की प्राचीनता के विषय में काफी प्रकाश डाला गया है। मूल्य ।)

(१८) सुख-साधन।

इस पुस्तक में महामंत्र, ग्रहों के उपशान्ति के मंत्र, मन को स्थिर करने के यंत्र अर्थ सहित सामायिक, प्रत्याख्यान की विधि, प्रातः स्मरणीय भजन और अमूल्य शिक्षाएं आदि दिये गए हैं। पुस्तक प्रत्येक के लिए बहुत उपयोगी है। वास्तविक पूछा जाय तो इस पुस्तक का जैसा नाम है वैसा ही इस में गुण है। मूल्य अजिल्द पक्का पुट्ठा, कपड़े का पुट्ठा क्रमशः =॥), ।), ~).

(१९) समकित सार।

इस पुस्तक मे आत्मा के निज गुणों ही पर लक्ष रखने से आत्मा उच्च पद पर पहुँच सकती है। इस विषय का महत्व पूर्ण विवेचन किया गया है। और मूर्ति-पूजा के अवलम्बनों की असारता युक्ति सिद्ध की गई है। पुस्तक बड़ी पढ़ने योग्य है पृष्ठ संख्या ४७५ सजिल्द मूल्य ॥।)

(२०) आगमानुसार मुंहपत्ति निर्णय।

जाहिर उद्घोषणा नं० १-२-३ का उत्तर

(सचित्र)

इस पुस्तक में मुँहपति मुँह पर बान्धना चाहिये इस विषय को शास्त्रीय प्रमाणों से और अन्य ग्रन्थों से भी युक्ति पूर्ण सिद्ध किया गया है। और तत्सम्बन्ध में जो लोग कुयुक्तियें देते हैं उनका मजबूत प्रमाणों से भली प्रकार खण्डन किया गया है पृष्ठ संख्या ३६८ मूल्य ॥)

(२१-२२-२३-२४-२५) जैन सुख चैन बहार।

पांचों ही भाग

इन पांचों ही पुस्तकों में नाना विषयों पर अपने निराले ही ढंग के कई राग रागिनियों में सुललित पद दिये गये हैं। जिस के पढ़ने से धार्मिक ज्ञान और गायन दोनों का एक ही साथ सरलता पूर्वक अनुभव कर सकते है। कि० क्रमशः =) =) =) =॥) ~)

(२६) जैन सत्योपदेश भजन माला।

इस किताब में नाना विषयों पर कई तर्ज के मधुर शब्द-सन्दर्भित चुटकले भजन दिये गये हैं। एक बार पढ़ने से अनेक बार पढ़ने की इच्छा होती है कि. =॥)

(२७) स्त्री शिक्षा भजन संग्रह

यह पुस्तक स्त्री वर्ग के लिये अत्यन्त उपयोगी और शिक्षा प्रद है । इस के अर्थ सासु, ससुर, पति ज्येष्ठ और देवर आदि को किस प्रकार नम्रता पूर्वक सन्मान देना एतद्विषयिक इस में कई राग के पद दिये गये है मूल्य ऽ।।।

(२८) जैन ग़ज़ल गुल चमन बहार

यह पुस्तक बहुत छोटी पर अधिक उपयोगी है । इस में एक ही तर्ज के नाना विषयों पर ग़ज़ल अत्युत्तम दी गई हैं । पाठक गण कम से कम एक बार तो अवश्य देखे । हिन्दी, ऊर्दू, मरेठी इन तीन भाषाओं में कई संस्करण निकल चुके है । मू०ऽ।।।

(२९) ज्ञान गीत संग्रह

इस पुस्तक में महिलाओं के लिये कई रागों में ज्ञान युक्त गीत दिये हैं । स्त्रियों के लिये बड़ी रोचक और उपयोगी चीज है । मू० =)

(३०) जैन ग़ज़ल बहार

इस किताब में बड़ी रसिक कई ग़ज़ले नाना विषयों पर दी गई हैं । पढ़ते समय बड़ा लुत्फ आता है । प्रत्येक मतानुयायी को निस्सन्देह उपयोगी है । मू० =)

(३१) जैन सुबोध-गुटका

इस पुस्तक में वैराग्योत्पादक ४०४ भजन प्रसिद्धवक्ता पण्डित मुनि श्री चौथमलजी महाराज के बनाये हुए नाना तर्जों में दिए गये हैं । पढ़ने से मुक्ति सार और संसार असार रूप में दिखने लगता है । सजिल्द मूल्य ।।।)

(३२) श्रीपाल चरित्र

उपन्यासों में यह उपन्यास एक और ढंग का है । इस में श्रीपाल नरेश्वर के लिए आजन्म से स्वर्ग पर्यन्त तक क्या क्या घटनाएं हुई ? उनका मधुर शब्द सन्दर्भित गायन में उल्लेख किया गया है । पढ़ने से बड़ा आनन्द आता है मूल्य -)

(३३) चम्पक चरित्र

यह छोटा सा उपन्यास है पर इस में परोपकार की छटा सब से निराली और अद्भुत है । इस के पढ़ने से कृत कृत्य का भान मनुष्यों को भली भांति होता है मूल्य -)

(३४) सम्यक्त्व कौमुदी (अर्हद्दास चरित्र) मू० -।)

(३५) धर्म बुद्धि चरित्र मू० -।।)

(३६) पार्श्वनाथ-चरित्र मू० ≡)

(३७) महाबल-चरित्र मू० ।=)

(३८) सुपार्श्वनाथ-चरित्र मू० ॥)

(३९) हरिश्चन्द्र-चरित्र मू० ।)

(४०) जम्बू-चरित्र मू० ।॥)

(४१) त्रिलोक सुन्दरी-चरित्र (छुपरहा है)

(४२) धन्नाशालिभद्र-चरित्र मू० ≡)

(४३) हरिबल-चरित्र

(४४) अनन्तमति-चरित्र

(४५) चतुर्थरत्नमाला (भृगु पुरोहित, लीलावती, विजय कुंवर दाम नखा ये चार चरित्र)

(४६) गुण सुन्दरी-चरित्र

(४७) मुखवस्त्रिका निर्णय सचित्र

इस पुस्तक में अनेक शास्त्रीय प्रमाणों और फोटुओं द्वारा मुखवस्त्रिका को मुख पर बांधना साबित किया गया है। मूल्य मात्र ।) चार आना।

उपरोक्त निर्दिष्ट नामवाले के साथ प्रायः सम्बन्ध रखने हुए सभी चरित्र दत्त, सत्य, शील आदि मानव गुणों को व्यक्त करनेवाले रोचक भाषा में हैं। इनमें से कोई भी आप चरित्र पढ़िए उसे पूर्ण पढ़े बिना उसको दृष्टि से विलग रखने में जी नहीं चाहेगा। सच पूछिए तो नैतिक और धार्मिक शिक्षाओं से ओत प्रोत हैं।

मिलने का पताः—

मंत्री श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति,

रतलाम.

नोट—पुस्तकों का डाक खर्च मंगानेवाले पर है। १) से कम पुस्तकें वी० पी० द्वारा नहीं भेजी जा सकेंगी। कम पुस्तकें मंगाने वालों को मूल्य व डाक व्यय टिकिट के रूप में भेजना चाहिये।